ओ३म्

। अथ न्यायार्य्यभाष्यभूमिका ।

दोहा

वैदिकमतभूषण रचा, अणु आरम्भकवाद ।
यातें मुनिमन में बसे, गौतम और कणाद ॥
शङ्करमतमति ना रुचे, द्व्यणुकपरमाणुवाद ।
वेदबाह्य तांते कथे, गौतम और कणाद ॥

न्यायदर्शन-"प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः"=प्रमाणों से पदार्थों की परीक्षा का नाम "न्याय" और "दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्"=जिससे पदार्थों का यथार्थज्ञान हो उसका नाम "दर्शन" है, इस प्रकार "न्यायदर्शन" के अर्थ वेदाविरोधि तर्क द्वारा वैदिकधर्मोपयोगी पदार्थों को प्रतिपादन करने वाले शास्त्र के हैं, और इसी भाव को धर्मशास्त्र में इस प्रकार वर्णन किया है कि :—

आर्षधर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते सधर्मं वेद नेतरः ॥

अर्थ—ऋषिप्रणीत वाक्य और धर्मोपदेश को जो वेदशास्त्राविरोधी तर्कद्वारा निर्णय करता है वही धर्म को जानता है अन्य

नहीं, इससे सिद्ध है कि यह तर्कशास्त्र वैदिकधर्म के निर्णय में प्रमाण है।

यद्यपि धर्मनिर्णय में वैदिक लोगों के लिये ईश्वर प्रणीत होने के कारण सर्वथा भ्रान्तिशून्य होने से वेद ही मुख्य प्रमाण है तथापि वेदविरोधी चार्वाकादि मतों के खण्डनार्थ मुख्यतया प्रमाण होने से इस शास्त्र का वैदिक धर्म की सिद्धि में परमोपयोग है अर्थात् चार्वाकादि निरीश्वरवादियों का यह कथन कि ईश्वर कोई नहीं यह जगत् स्वाभाविक है, यदि यह कहो कि इस रचनाविशेष का कर्त्ता ईश्वर है तो यह इसलिये ठीक नहीं कि इस सम्पूर्ण संसार की रचना स्वाभाविक=स्वतःसिद्ध होने के कारण किसी कर्त्ता से जन्य नहीं ? इसका उत्तर तर्कशास्त्र यह देता है कि जो कार्य्य होता है वह किसी कर्त्ता से जन्य होता है स्वतःसिद्ध नहीं, जैसाकि "**मही महीधरमहार्णवादयश्चेतनकर्तृकाःकार्य्यत्वात् घटवत्**"= घट की भांति कार्य्य होने से पृथिवी, हिमालय तथा समुद्रादि किसी चेतनकर्त्ता से जन्य हैं, और जो इनका कर्त्ता है वही सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर है।

निरीश्वरवादी लोग उक्त अनुमान के विरुद्ध यह तर्क करते हैं कि हिमालय तथा समुद्रादि पदार्थ किसी कर्त्ता से जन्य नहीं, क्योंकि जो कार्य्य होता है वह शरीरीकर्त्ता से जन्य होता है और जो शरीरीकर्त्ता से जन्य नहीं वह घटादि की भांति कार्य्य नहीं होता, जैसाकि आकाश शरीरीकर्त्ता से जन्य न होने के कारण

कार्य्य नहीं, इस तर्क में दोष यह है कि आकाश निरवयव है, इसलिये किसी का कार्य्य नहीं परन्तु हिमालय, समुद्रादि पदार्थ सावयव होने से कार्य्य हैं, और यह नियम है कि जो पदार्थ सावयव होता है वह घटादि की भांति किसी कर्त्ता से जन्य होता है,इससे सिद्ध है कि उक्त पदार्थ सावयव होने से आकाशादि की भांति अजन्य नहीं किन्तु जन्य हैं, दूसरी बात यह है कि आकाश के दृष्टान्त से ईश्वर कर्त्ता का निषेध करना ऐसा ही तर्काभास है जैसे कोई कहे कि "**नरकपालं शुचि प्राण्यङ्गत्वात् शंखवत्**"=शंख के समान मनुष्य के कपाल की हड्डी पवित्र है।

और जो निरीश्वरवादी का यह कथन है कि :—

कुम्भकाराद्यधिष्ठानं घटादौ यदि चेष्यते ।
नेश्वराधिष्ठतत्वंस्यादस्ति चेत्साध्य हीनता ॥

अर्थ—घट के दृष्टान्त से कुम्भकार जैसा कर्त्ता इष्ट होने के कारण ईश्वर की सिद्धि नहीं होसक्ती, क्योंकि घट का कर्त्ता कुलाल ईश्वर नहीं,इसलिये ईश्वर की सिद्धि में घट का दृष्टान्त देना साध्य से हीन है अर्थात् जब दृष्टान्त में ही साध्य नहीं तो दार्ष्टान्त में साध्य की सिद्धि कैसे ? इसका उत्तर यह है कि धूमहेतु से जो अग्निसिद्धि का अनुमान किया जाता है उसमें भी यदि दृष्टान्त की विवेचना कीजाय कि इसमें अग्नि करीर की अभिप्रेत है अथवा शमी वृक्ष की तो पर्वतीय वन्हि की सिद्धि ही नहीं होसक्ती, क्योंकि पर्वत में उक्त वन्हि का

अभाव पाया जाता है, इसलिये जैसे दृष्टान्त में सामान्य अग्नि अभिप्रेत है इसी प्रकार ईश्वरवादी को भी घट दृष्टान्त में सामान्य चेतन अभिप्रेत होने से दृष्टान्त साध्यहीन नहीं रहता, इस प्रकार नाना तर्कों से ईश्वरवाद का मण्डन इस शास्त्र में बलपूर्वक कियागया है जो पाठकों को भाष्य के अवलोकन से स्पष्टतया ज्ञात होगा।

और जब नास्तिक यह प्रश्न करता है कि ईश्वर की सिद्धि में क्या प्रमाण ? तो आस्तिक यह उत्तर देता है कि ईश्वर की सिद्धि में वेद प्रमाण है, इस पर नास्तिक कहता है कि वेद ईश्वरकृत होने से प्रमाण है जब प्रथम ईश्वर ही सिद्ध नहीं तो फिर उसकी सिद्धि में वेद प्रमाण कैसे ? यदि यह कहो कि वेद से ईश्वर की सिद्धि कर लेंगे फिर ईश्वरवचन होने से वेद की प्रमाणता सिद्ध होजायगी, यह कथन अन्योन्याश्रय दोष से दूषित है, क्योंकि ईश्वर की सिद्धि में वेद की आवश्यकता और वेद की प्रमाणता में ईश्वर की आवश्यकता है, एवं परस्पर एक दूसरे को दूसरे की आवश्यकता का नाम "अन्योन्याश्रय" है, ऐसे स्थलों में इस तर्कशास्त्र की रीति से यह उत्तर होगा कि ईश्वर की सिद्धि में अनुमानप्रमाण और वेद की प्रमाणता में ईश्वर रचितत्व हेतु है, इस प्रकार उक्त अन्योन्याश्रय दोष का परिहार करना इस तर्कशास्त्र का मुख्य काम है।

और बात यह है कि जगत् के उपादानकारण का इस तर्क शास्त्र में बलपूर्वक मण्डन कियागया है कि कोई कार्य्य पदार्थ सर्वथा नाश नहीं होता किन्तु परमसूक्ष्मावस्था में परमाणुरूप होकर विद्य-

मान रहता है, इस बात को केवल हमी नहीं कहते किन्तु आजकल के पदार्थविद्यावेत्ता=साइन्स के जानने वाले भी परमाणुओं का स्वीकार करते हैं अर्थात् आजकल का साइन्स जिसका अभाव सब धर्मों की फ़िलासफ़ी पर पड़ा हुआ है वह भी इस बात में सहमत है कि यह सावयव जगत् खण्ड २ होकर अत्यन्तनाश नहीं होता किन्तु एक ऐसी अवस्था में जाठहरता है जिसका फिर उत्तरोत्तर विभाग नहीं होता वही परमाणु हैं।

और जो स्वामीशङ्कराचार्य्य ने ब्रह्म को उपदानकारण मानकर परमाणुओं का इस प्रकार खण्डन किया है कि परमाणुओं के भीतर आकाश व्यापक होने से वह सच्छिद्र हैं और जो पदार्थ सच्छिद्र होता है वह सावयव होने से नित्य नहीं होसक्ता, अतएव द्व्यणुकादि की भांति नित्य न होने के कारण परमाणुओं को नित्य मानना ठीक नहीं? इसका उत्तर यह है कि परमाणुओं के निरवयव होने से आकाश उनके भीतर नहीं किन्तु दोनों एक ही स्थान में हैं, इसलिये उनको सच्छिद्र कथन करना साहसमात्र है अर्थात् जिस प्रकार निरवयव जीवात्मा के भीतर आकाश नहीं और नाही वह आकाश की व्यापकता से सच्छिद्र होसक्ता है इसी प्रकार द्व्यणुक त्र्यणुकादि की भांति सच्छिद्र न होने के कारण परमाणु निरवयव हैं।

भाव यह है कि भीतर बाहर शब्दों का प्रयोग सावयव द्रव्य में होता है निरवयव में नहीं, और सब मूर्त्त पदार्थों के साथ संयोगी होने से आकाशादि पदार्थ व्यापक हैं निरवयव नित्य द्रव्यों के

भीतर होने के अभिप्राय से नहीं, इसलिये स्वामी शङ्कराचार्य का उक्त परमाणुविषयक आपेक्ष सर्वथा अनुपपन्न होने के कारण परमाणुवाद का बाधक नहीं होसकता।

और तर्क यह है कि जहां दोनों ही मूर्त्त पदार्थ हों वहां ही उन दोनों से एकदेश के घेरने में दोष आता है अन्यत्र नहीं अर्थात् जहां एक मूर्त्त दूसरा अमूर्त्त अथवा दोनों ही अमूर्त्त हों वहां उन पदार्थों का एकस्थान में सहानवस्थानरूप विरोध नहीं आता, जैसाकि दिशा, काल, परमाणु तथा आत्मा यह सब पदार्थ एक ही स्थान में रहसकते हैं एक दूसरे के भीतर नहीं, इस प्रकार परमाणुस्थान में आकाश के रहने किंवा आकाशस्थान में परमाणुओं के रहने से उनमें सावयवत्व की आपत्ति नहीं होसक्ती, इसी अभिप्राय से कई एक स्थलों में निरक्षेप विभु पदार्थ का सब द्रव्यों के भीतर बाहर होना कथन किया गया है परमाणु आदि निरवयव पदार्थों के सच्छिद्र होने के अभिप्राय से नहीं, और यही व्यवस्था "य आत्मनि तिष्ठन्" बृह० अंत० ब्रा० इत्यादि वाक्यों में जाननी चाहिये।

और जो स्वामी शङ्कराचार्य ने यह लिखा है कि परमाणुओं का पूर्वोत्तर दिशा भेद पाये जाने से वह अनित्य हैं, यह इसलिये ठीक नहीं कि अनित्यत्व का प्रयोजक परिच्छिन्नत्व नहीं किन्तु सावयवत्व है, यदि अणु पदार्थ का पूर्वोत्तर दिशाभेद अनित्यत्व का प्रयोजक होता तो इसी युक्ति से जीवात्मा भी अनित्य होता पर

ऐसा मानना वैदिक लोगों को अभिमत न होने से सिद्ध है कि पूर्वोत्तर दिशाभेद मात्र ही पदार्थ की अनित्यता का साधक नहीं,इस विषय को महर्षिगौतम ने न्या० ४।२।१८-१९-२० इत्यादि सूत्रों में स्पष्ट रीति से लिखा है कि निरवयव होने के कारण परमाणुओं में आकाशादि के भीतर बाहर होने का दोष नहीं आता और उनमें दिशाभेद द्वारा अवयव कल्पना गौण है ।

और जो उक्त स्वामीजी ने 'स्वपक्षदोषाच्च' ब्र०सू० २।१।१९ के भाष्य में यह लिखा है कि यदि परमाणुओं को सर्वदेश से संयुक्त मानाजाय तो कार्य्य में मुटाई न होनी चाहिये, क्योंकि जब दो परमाणु सर्वदेश से जुड़गये तो उनका परिमाण द्व्यणुकमात्र ही रहेगा अधिक नहीं अर्थात् व्याप्यवृत्तिसंयोग से कार्य्य में स्थूलता नहीं आसकती, यदि अव्याप्यवृत्तिसंयोग मानाजाय तो एकदेश से संयुक्त घटपट की भांति परमाणु सावयव ठहरते हैं, इस प्रकार दोनों रीति से परमाणुवाद सिद्ध नहीं होसक्ता, स्वामीजी के इस भाष्य पर मायावादियों ने अपना यहां तक गौरव दिखलाया है कि माया से भिन्न कोई उपादानकारण निर्दोष नहीं, "वाचस्पतिमिश्र" यह लिखते हैं कि "एषदुर्वारोदोषो न पुनरस्माकं मायावादिनामित्याह परिहृतस्त्विति"=प्रधान तथा परमाणुओं को जगत् का उपादान कारण मानने वालों के मत में उक्त दोष दुर्वार=अटल है और हमारे मायावादियों के मत में नहीं, और स्वामीजी के दूसरे शिष्य "रत्नप्रभाकार" यह लिखते हैं

कि "मायावादे सर्वं समञ्जसं"=स्वप्नसृष्टि की भांति मायावाद में कोई दोष नहीं आता अर्थात् जैसे स्वप्न के पदार्थों का मायामात्र ही कारण है वैसे ही जाग्रत् के पदार्थों का उपादान-कारण एकमात्र माया ही है अन्य नहीं? इसका उत्तर यह है कि जब उनके मत में माया मायामात्र ही है तो फिर उसमें उपादानत्व ही क्या, क्योंकि मायावाद में माया के अर्थ मोह, अविद्या तथा अज्ञान के हैं और वह अज्ञान जगत् का उपादान कारण नहीं होसक्ता और न उसकी सिद्धि होसक्ती है क्योंकि जब जीव से प्रथम अज्ञान हो तो उससे जीव बने और जब जीव बने तब उसके सहारे अज्ञान रहे, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष पायेजाने तथा जाग्रत् के पदार्थों का अज्ञान उपादानकारण न बनसकने से मायावाद ठीक नहीं, और जो मायावादियों ने "आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि" ब्र० सू० २।१।२८ "सर्वोपेता च तद्दर्शनात्" ब्र० सू० २।१।३० "मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" ब्र० सू० ३।२।३ इत्यादि सूत्रों का अन्यथा भाष्य करके जो अपना मत सिद्ध किया है, वह ठीक नहीं, इसका समाधान हम अपने "वेदान्तार्य्यभाष्य" में भले प्रकार कर चुके हैं जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि माया जगत् का उपादानकारण नहीं, और "स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाण प्रमेय व्यवहारः" न्या० ४।२।३१ तथा "मायागन्धर्व-नगरमृगतृष्णिकावद्वा" न्या० ४।२।३२ इत्यादि सूत्रों द्वारा पूर्वपक्ष करके महर्षि गौतम ने मायावाद का बलपूर्वक खण्डन किया है जो

भाष्य के देखने से स्पष्टतया ज्ञात होगा, यह महर्षि गौतम तथा कणाद का ही महत्व है कि जिनके समर्थन किये हुए परमाणुवाद को कोई अणुमात्र भी अन्यथा नहीं करसकता, अपितु "न प्रलयोऽणुसद्भावात्" न्या० ४।२।१६ "परं वा त्रुटेः" न्या० ४।२।१७ इत्यादि सूत्रों में मण्डन किये हुए परमाणुवाद को सब पदार्थ विद्यावेत्ता सिर झुकाते हैं, और जो परमाणुवाद का इस रीति से खण्डन किया गया था कि परमाणु एक ओर से संयुक्त होते हैं अथवा सब ओर से ? यदि सब ओर से कहें तो ऐसा संयोग असम्भव है और एक ओर से कहें तो नित्य नहीं होसकते, क्योंकि जो पदार्थ एकदेश से जुड़ता है वह सावयव होता है ? इसका समाधान इस प्रकार है कि एकदेश से संयुक्त होना सावयवत्व का साधक नहीं, क्योंकि यदि एकदेश से संयुक्त होना सावयवत्व का साधक माना जाय तो विभु पदार्थों का संयोग सर्वदेश से परिच्छिन्न पदार्थों के साथ नहीं होता,इससे क्या विभु पदार्थ सावयव हैं?यदि यह कहाजाय कि विभु में प्रदेश कल्पित है तात्विक नहीं ? तो प्रष्टव्य यह है कि क्या विभु सर्वत्र संयुक्त है ? यदि सर्वत्रसंयुक्त है तो यह बात किसी के अनुभव में नहीं आती कि घटपटादि के साथ जो परमात्मा का संयोग है वह परमात्मा के सर्वदेश में है यदि सर्वदेश में मानाजाय तो वेद के साथ विरोध भी आता है जैसाकि "पादोऽस्यविश्वाभूतानि" ऋ०८।७।१०।३ मंत्र में स्पष्ट लिखा है कि सब भूत परमात्मा के एक देश में हैं,इत्यादि वाक्यों में सर्वभूत तथा भौतिकगुणों को एकदेशी कथन किया है फिर संयोग सर्वत्र कैसे ?

और जो परमाणुवाद का खण्डन करते हुए स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने यह लिखा है कि किसी शिष्ट पुरुष ने भी परमाणुवाद का ग्रहण नहीं किया, इसका उत्तर यह है कि क्या महर्षि "कणाद" तथा "गौतम" शिष्ट न थे जिन्होंने बलपूर्वक परमाणुवाद का ग्रहण किया है और येही नहीं वेदभगवान् स्वयं साक्षी देता है कि "सम्पतत्रै-र्द्यावाभूमी जनयन् देवएकः" ऋग्० ८।६।८१।३= एक अद्वितीय परमात्मा ने परमाणुओं द्वारा पृथिवी आदि लोकों का निर्माण किया, "पतति अनेनेति पतत्रम्"=पृथिव्यादि-भूत जिस रूप द्वारा कारणावस्था को प्राप्त होते हैं उसका नाम "पतत्र" है, इस व्युत्पत्ति से यहां "पतत्र" नाम परमाणुओं का है फिर परमाणुवाद अवैदिक कैसे? और प्रमाण यह है कि इससे प्रथम मंत्र में "आरम्भणंकतमत्स्वित्" इस वाक्य द्वारा उपादान कारणविषयक प्रश्न है अर्थात् "आरभ्यतेऽनेनेति आरम्भणं"= जिससे आरम्भ कियाजाय उसका नाम "आरम्भण" है, इस प्रकार परमाणुओं के आरम्भवाद का कथन वेद ने किया है।

और जो कईएक आचार्य्य यह लिखते हैं कि "तदापरमाण-वोऽपिनासन्"=प्रलयकाल में परमाणु भी न थे, उनका तात्पर्य्य परमाणुवाद के निषेध में नहीं किन्तु उनको ईश्वर की उपादानकारण रूप सामर्थ्य वर्णन करने में है अर्थात् जगत् के उपादानकारण प्रकृति को कोई गुणत्रय की साम्यावस्था से वर्णन करता है, कोई

ईश्वर की सामर्थ्यरूप से वर्णन करता है और वेद ने उसको इस रूप से वर्णन किया है कि :—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अन्ह आसीत् प्रकेतः।
अनीदवातंस्वधयातदेकं तस्माद्धान्यन्नपरःकिंचनास ॥

ऋग्० ८।११।१२१।२

अर्थ–प्रलयकाल में न मृत्यु था न मृत्यु से बचने वाला अमृत रूप प्राण था तथा रात्रि का चिन्ह जो चन्द्रमा है सो भी न था और न दिन का चिन्ह सूर्य्य था उस समय एक अद्वितीय ब्रह्म ही स्वधा= अपने कारणरूप सामर्थ्य के साथ विराजमान था अर्थात् ब्रह्म और उसकी सामर्थ्य से भिन्न अन्य कोई पदार्थ न था, इस मंत्र से स्पष्ट सिद्ध है कि प्रलयकाल में ब्रह्म के साथ स्वधा नाम प्रकृति थी, क्योंकि "स्वस्मिन् धीयते निधीयते इति स्वधा"=जो पदार्थ अपने में धारण कियाजाय उसका नाम "स्वधा" है, इस व्युत्पत्ति से यहां स्वधा नाम प्रकृति तथा परमाणुओं का है और इसी भाव को मुण्डकोपनिषद् में इस प्रकार वर्णन किया है कि :—

दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः स वाह्याभ्यन्तरोह्यजः।
अप्राणोह्यमनाः शुभ्रोह्यक्षरात्परतः परः ॥ मु० २।२

"न क्षरतीत्यक्षरम्"=जिसका कभी नाश न हो किन्तु जो सूक्ष्मरूप से स्थिर रहे उसका नाम "अक्षर" है, इस प्रकार यहां अक्षर शब्द प्रकृति तथा परमाणुओं का बोधक है और अन्य स्थलों

में भी "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" इत्यादि वाक्यों द्वारा जगत् के उपादानकारण प्रकृति का स्पष्ट रूप से वर्णन पायाजाता है और इसी सामर्थ्य को न्याय तथा वैशेषिक में परमाणुरूप से वर्णन किया है, यह शास्त्रों की प्रक्रिया का भेद है सिद्धान्त का नहीं ॥

और बात यह है कि इस शास्त्र में वेदोक्त जीव ईश्वर के भेद का स्पष्ट रूप से वर्णन कियागया है इसलिये यह शास्त्र वेदार्थ का पोषक है, और जो मायावादी इस पर यह कलंक लगाते हैं कि यह शास्त्र जीवात्मा को जड़ मानता है अर्थात् मन के सम्बन्ध से विना जीवात्मा में कोई ज्ञान नहीं मानता, और मुक्ति अवस्था में जीव को पाषाण सदृश मानता है, उनका यह कथन केवल मायामात्र है, क्योंकि "स्मरणन्त्वात्मनो ज्ञ स्वाभाव्यात्" न्या० ३ । २ । ४२ इस सूत्र में आत्मा को स्पष्ट प्रकार से ज्ञानस्वरूप माना है, इससे इस शास्त्र पर जड़ वादी होने का दोष नहीं लगसक्ता और "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" यजु० ३१ । १८ इस मंत्र में स्पष्टतया वर्णन किया है कि परमात्मज्ञान से पुरुष मुक्ति को प्राप्त होता है, इसी वेदार्थ को "तदत्यन्तविमोक्षोपवर्गः" न्या० १ । १ । २२ इस सूत्र में इस प्रकार कथन किया है कि दुःख से अत्यन्त छूट जाने का नाम अपवर्ग है, अपवर्ग, अमृत और मुक्ति यह तीनों एकार्थवाची शब्द हैं ।

और जो कईएक वादियों का यह कथन है कि इस

शास्त्र में पाषाण सदृश एकविंशति दुःखध्वंसरूप मुक्ति का वर्णन पाये जाने के कारण वैदिकमुक्ति का वर्णन नहीं ? इसका उत्तर यह है कि इस शास्त्र में एकविंशति दुःखध्वंसरूप मुक्ति का नाममात्र भी नहीं पाया जाता, यह कथन नव्यनैयायिकों का है महर्षि गौतम प्रभृति प्राचीन नैयायिकों का नहीं, इनके मत में एकविंशति दुःख यह हैं (१) शरीर (२) श्रोत्र (३) त्वक् (४) चक्षु (५) रसन (६) घ्राण (७) मन (८) श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द (९) त्वक् इन्द्रिय का विषय स्पर्श (१०) चक्षुःइन्द्रिय का विषय रूप (११) रसन इन्द्रिय का विषय रस (१२) घ्राण इन्द्रिय का विषय गन्ध (१३) मन इन्द्रिय का विषय सुख दुःख (१४) श्रोत्रेन्द्रिय जन्य श्रावण ज्ञान (१५) त्वग् इन्द्रिय जन्य त्वाच ज्ञान (१६) चक्षुः इन्द्रिय जन्य चाक्षुप ज्ञान (१७) रसनेन्द्रिय जन्य रासन ज्ञान (१८) घ्राणेन्द्रिय जन्य घ्राणज ज्ञान (१९) मन इन्द्रिय जन्य मानस ज्ञान (२०) सुख (२१) दुःख, यह एकविंशति दुःख कहलाते हैं, प्रथम तो इनकी भिन्न २ एकविंशति संख्या ही पूर्ण होना कठिन है, क्योंकि मन इन्द्रिय के विषय सुख दुःख को तेरहवीं संख्या में ग्रहण किया है और फिर बीसवीं तथा इक्कीसवीं संख्या में वह शुद्ध सुख दुःख कहां से आवेंगे जो मानस न होंगे और नवीन नैयायिकों के मत में मन के विषय से भिन्न कोई सुख दुःख नहीं, यदि उक्त दुःखों के ध्वंस का नाम ही मुक्ति मानीजाय तो फिर ऐसी मुक्ति से क्या लाभ, क्योंकि दुःखाभावरूप मुक्ति तो पाषाणादि सब जड़ पदार्थों को प्राप्त है, यह दोष अवैदिक नवीन नैयायिकों की कल्पना

से इस शास्त्र में आया है मूलसूत्रों का तात्पर्य्य दुःख की अत्यन्त निवृत्ति में है ब्रह्मानन्दोपभोगरूप मुक्ति के निषेध में नहीं, क्योंकि "दुःखजन्मप्रवृत्ति०" इस द्वितीय सूत्र में दुःख का कारण मिथ्याज्ञान कथन किया है और प्रथम सूत्र में इससे विपरीत तत्वज्ञान को मुक्ति का कारण माना है, इससे सिद्ध है कि वह तत्वज्ञान जैसे व्यावहारिक पदार्थों विषयक सुख का जनक है इसी प्रकार परमात्म विषयक परमानन्द का जनक है, इस प्रकार विवेचन करने से पाषाणसदृश मुक्ति का दोष इस शास्त्र पर नहीं आता।

इस शास्त्र पर उक्त दोष लगाने का कारण यह है कि यह जीव ईश्वर की भेदसिद्धि में अग्रेसर है, इसलिये मायावादी इस पर अनेक कलंक लगाते हैं, कोई कहता है कि यह शास्त्र स्वरूप से जीव को जड़ मानता है, कोई कहता है कि इसका परमाणुवाद अवैदिक है, कहां तक लिखें इसके दूषित करने में मायावादियों ने कोई यत्न शेष नहीं छोड़ा, जैसाकि :—

कर्म शास्त्रे कुतो ज्ञानं, तर्के नैवाऽस्ति निश्चयः ।
सांख्ययोगौ भिदापन्नौ, शाब्दिकाः शब्द तत्पराः ॥
अन्ये पाखण्डिनः सर्वे ज्ञानवार्तासु दुर्लभा ।
एकं वेदान्त विज्ञानं स्वानुभूत्या विराजते ॥

इत्यादि श्लोक बनाकर यह सिद्ध किया है कि कर्मशास्त्र मीमांसा में ज्ञान कहां और तर्कशास्त्र न्याय में निश्चय का स्थिर

रहना ही दुर्लभ है, सांख्य और योग भेदवादी हैं तथा शब्दशास्त्र वाले केवल शब्दसिद्धि में ही रत हैं और अन्य सब पाखण्डी हैं, इसलिये ज्ञान की बात अति दुर्लभ है, एकमात्र वेदान्त ही ज्ञान का साधन है और सब शास्त्र तुच्छ हैं, यदि कोई यह प्रश्न करे कि उक्त श्लोक किसी प्रामाणिक पुरुष के नहीं तो उत्तर यह है कि श्रीस्वामी शङ्कराचार्य्यजी भी पांचो दर्शनों को इसी भाव से देखते हैं और कहते हैं कि यह सब अवैदिक हैं वैदिकदर्शन एकमात्र वेदान्त ही है, इतना ही नहीं उक्त स्वामीजी भेदवादियों को इस दृष्टि से देखते हैं "कि जो लोग यह प्रश्न करते हैं कि जब एक ही आत्मा है तो जीव के सुखी दुःखी होने से ब्रह्म ही सुखी दुःखी होना चाहिये, उक्त प्रश्न करने वाले मूर्खों से यह पूछना चाहिये कि तुमने यह कैसे जाना कि आत्मा एक ही है ? यदि वह कहें कि "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों से जाना है तो फिर वह अर्द्धजरतीय न्याय का अनुसरण क्यों करते हैं अर्थात् हमारे आधे मन्तव्य को मानकर आधे का परित्याग क्यों करते हैं" ब्र० सू० १।२।८ शं० भा० और उक्त स्वामीजी ने न्याय वैशेषिक के परमाणुवाद को तो तर्कपाद में यहां तक दूषित किया है कि "अत्यन्तमेवानपेक्षास्मिन् परमाणुवादे कार्य्यार्य्यैः श्रेयोर्थिभिः"=इस परमाणुवाद में मोक्षाभिलाषी आर्य्यों को अत्यन्त घृणा करनी चाहिये, और फिर चतुःसूत्री के भाष्य में लिखा है कि "तथाचाचार्य्य प्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम्" "दुःखजन्म प्रवृ-

त्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायाद-पवर्गः;मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानाद्भवति"= आत्मज्ञान में महर्षि गौतमाचार्य्य का रचा हुआ तर्क से विभूपित यह सूत्र है इसके अर्थ यह हैं कि मिथ्याज्ञान के मिट जाने से दोष मिटजाता है, दोष से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से जन्म और जन्म से दुःख मिटजाता है और उक्त मिथ्याज्ञान का नाश जीवब्रह्म की एकता समझने से होता है, न्यायशास्त्रविपयक अन्य आक्षेपों को छोड़कर हम यहां प्रथम स्वामीजी के अर्द्धजरतीयन्याय की विवेचना करते हैं, जब अर्द्धजरतीय का स्वरूप यह है कि आधी वात को मान लेना और आधी को न मानना, तो क्या यहां स्वामीजी ने अर्द्धजरतीय नहीं किया कि यहां तो महर्षिगौतम को आचार्य्य मानकर उनके उक्त सूत्र को सत्तर्कों से विभूपित माना और आगे तर्कपाद में जाकर न्याय तथा वैशेपिक को दुर्युक्तियुक्त और वेद-वाह्य माना हैं, क्या यह अर्द्धजरतीय नहीं, और जो यह लिखा है कि जीवब्रह्म के एकत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है, क्या कोई कहसक्ता है कि यह तात्पर्य्य महर्षि गौतम का है ? गौतम का तात्पर्य्य तो यह है कि प्रमाणादि पोडश पदार्थों के तत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है, जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसाही मानना "तत्वज्ञान" है, जीव को ब्रह्म और ब्रह्म को जीव इस विपरीत ज्ञान का नाम तत्वज्ञान कदापि नहीं किन्तु "विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूप प्रतिष्ठम्" यो० १।८ में लिखा है कि जो ज्ञान

पदार्थ के यथार्थ स्वरूप में स्थिर नहीं अर्थात् जो पदार्थ के सत्स्वरूप को विषय नहीं करता और जो कालान्तर में यथार्थज्ञान से नष्ट होजाता है उसको विपर्य्यय वा मिथ्याज्ञान कहते हैं, उक्त महर्षि को सोलह पदार्थों में उक्त प्रकार का विपर्य्ययज्ञान मिथ्याज्ञान से अभिप्रेत है और इसके नाशकज्ञान का नाम तत्वज्ञान है, जीवब्रह्म विषयक मिथ्याभूत एकत्वज्ञान का नाम तत्वज्ञान नहीं अर्थात् यहां तत्वज्ञान से तात्पर्य्य भेदज्ञान का है अभेदज्ञान का नहीं ।

और जो स्वामी शङ्कराचार्य्य ने इस दर्शन को परमाणुवादी होने से वेदविरोधि कहा है वह इसलिये ठीक नहीं कि परमाणुवादी होना उक्त दर्शन का भूषण है दूषण नहीं,क्योंकि महर्षिअक्षपाद तथा कणाद ने जगत् के उपादानकारण परमाणुवाद का मण्डन करके वैदिकधर्म की शोभा को बढ़ाया है घटाया नहीं, और यह कब सम्भव था कि गौतम जैसा तार्किक जिसकी तर्क के प्रभाव से उस समय के लोगों ने उनको अक्षपाद की पदवी दी थी अर्थात् जब महर्षि गोतम चलते थे तो उनके पांव चक्षु का काम देते थे जिसका तात्पर्य्य यह है कि वह इतने मननशील थे कि चलते हुए भी इतना मनन करते थे कि उनको अपनेमनन से भिन्न अन्य व्यवहार करना कठिन था और महर्षिकणाद जो कणों=क्षेत्र में गिरे हुए शिला को भक्षण करके वैशेषिकशास्त्र लिखते थे, ऐसे संयमी महर्षियों के दर्शन मिथ्या दोषों से दूषित कैसे होसक्ते हैं, यह मायावादियों की ही लीला है जो अनेक प्रकार के श्लोक तथा भाषा छन्दोबन्दी में कई प्रकार की निन्दास्पद तुकबन्दी करके उनके लेखों को मिथ्या कथन हैं जैसाकि :—

कणभुक्अक्षचरणअनुयायी।
ताने मिथ्या गाथागायी॥

इसका एकमात्र कारण यही है कि जब तक परमाणुवाद का प्रबल खण्डन न होजाय तब तक मायावाद का मण्डन नहीं होसक्ता, इसी अभिप्राय से यह लोग अहर्निश परमाणुवाद तथा निमित्त-कारण ईश्वर के खण्डन करने में लगे हुए हैं, जैसाकिः—

सांख्यैःप्रख्यापितं न क्षममिह जगतां निर्मितौ तत्प्रधानं।
हेतुर्नैतादृशेर्थे प्रभवति गदितस्तार्किकैरीश्वरोपि॥
नाणुःकाणादबौद्धक्षपणकभणितोनापि निःसाक्षि शून्यं।
तस्मादास्माकमेव श्रुति गदित परब्रह्म सिद्धं निदानम्॥

अर्थ—सांख्यियों ने जो प्रकृति को जगत् का कारण माना है वह कारण होने का सामर्थ्य नहीं रखती, नाही तर्क-शास्त्र का माना हुआ ईश्वर जगत् का कारण होने योग्य है, न कणाद, बौद्ध तथा क्षपणकों के माने हुए परमाणु जगत् का कारण होसक्ते हैं और नाही शून्यवादियों का शून्य कारण होसक्ता है, एकमात्र हमारा वेदोक्त ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है, इस प्रकार ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण सिद्ध करने के लिये इन्होंने परमाणुवाद तथा नैयायिकों के ईश्वर का खण्डन और दर्शनों को परस्पर विरुद्ध तथा वेदविरुद्ध सिद्ध किया है, इनका यह कथन सर्वथा असङ्गत है, षट्दर्शन परस्पर

विरुद्ध नहीं और नाही वेदविरुद्ध हैं, उनकी सङ्गति इस प्रकार है कि प्रथम वैशेषिकदर्शनकार महर्षि कणाद ने "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" "तद्वचनादाम्नायस्यप्रामाण्यम्" इन सूत्रों में धर्म के व्याख्यान की प्रतिज्ञा करके उस प्रतिज्ञात धर्म का मूल एकमात्र ईश्वर को ठहराया है, इसके अनन्तर न्यायदर्शनकार महर्षि गौतम ने उसी वैदिक धर्म के तत्वज्ञानार्थ प्रमाण, प्रमेय, संशय तथा प्रयोजनादि षोडश पदार्थों का निरूपण किया, और फिर उक्त धर्म के ज्ञान तथा अनुष्ठान के लिये सांख्य तथा योग दर्शनकार महर्षिकपिल तथा पतञ्जलि ने "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिः०" और "अथ योगानुशासनम्" इत्यादि सूत्रों द्वारा वैदिकधर्म का ज्ञान तथा अनुष्ठान वर्णन किया, इसके अनन्तर पूर्वमीमांसादर्शनकार महर्षि जैमिनि ने "अथातो धर्मजिज्ञासा" इस सूत्र से वैदिकधर्म की जिज्ञासा का प्रकरण चलाकर यज्ञादि साधनों द्वारा भलीभांति उक्त धर्म का निरूपण किया और फिर वेदान्तदर्शनकार महर्षिव्यास ने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादि सूत्रों द्वारा वैदिकधर्म के आश्रयभूत नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव ब्रह्म के स्वरूप बोधनार्थ ब्रह्मसूत्रों को रचा, इस प्रकार षट्दर्शनों की परस्पर संगति से इनका मुख्यसिद्धान्त एक है और वह इस प्रकार कि:—

१.—छओं दर्शन ईश्वर को मानते हैं।

२—पुण्यपापद्वारा जीव के सुखदुःख की व्यवस्था करते हैं।

३—जगत् के उपदानकारण को ब्रह्म से भिन्न निरूपण करते हैं।

४—जीव को अणु=एकदेशी और ब्रह्म को विभु=सर्वव्यापक कथन करते हैं, जैसाकि "पदोऽस्य विश्वाभूतानि" ऋग्० ८। १०। ७। ३ इत्यादि मंत्रों में निरूपण किया है, उक्त रीति से स्पष्टसिद्ध है कि षट्दर्शनों के सब सिद्धान्त परस्पर अविरोधी तथा वैदिक हैं, इसलिये मायावादी तथा अन्य मतानुयायियों का षट्दर्शनों को परस्परविरुद्ध कथन करना साहसमात्र है, और जो कईएक वादी दर्शनों पर यह आक्षेप करते हैं कि दर्शन तर्क का अवलम्बन करने से वेदोक्तधर्म के प्रतिपादक नहीं? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो सब दर्शन तर्क का अवलम्बन नहीं करते,जैसाकि सांख्य,योग तथा पूर्वमीमांसा, और दूसरे न्याय, वैशेषिक तथा वेदान्त जो तर्क के साहाय्य से वैदिकधर्म का निरूपण करते हैं वह वेदाविरोधि तर्क से करते हैं वेदविरोधी तर्क से नहीं, जैसाकि "तर्काप्रतिष्ठानात्" ब्र० सू० २।१।११ "नैषातर्केण मतिरापनेया०" कठ०२।८ इत्यादि वाक्यों में शुष्कतर्क का अनादर किया है, इससे स्पष्टसिद्ध है कि दर्शनों का निर्भर वेदविरोधी तर्क पर नहीं किन्तु वेदार्थनिर्णायक तर्क पर है और यस्तर्केणानुसन्धत्ते सधर्मं वेदनेतरः" मनु० १२।१०५ इत्यादि धर्मशास्त्र में भी वेदाविरोधी तर्क को ही धर्म का निर्णायक माना है जैसाकि पीछे निरूपण कर आये हैं।

और बात यह है कि महर्षि गौतम तथा कणाद के दर्शन तर्क प्रधान इसलिये हैं कि इन्होंने वेदविरोधी मतों को दूर करने के लिये तर्करूपी खड्ग को धारण किया है, तर्क का सामान्य रीति से स्वरूप यह है कि "यदि पर्वते वन्हिर्नस्यात्तर्हि धूमोपि न स्यात्"=यदि पर्वत में तालाब के समान वन्हि न होता तो धूम भी न होता, इस प्रकार जो ऊहा की जाती है उसका नाम "तर्क" है, इस ऊहा की वेदवादियों को परमावश्यकता है और इसका महत्व महर्षि गौतम प्रणीत न्यायदर्शन में ही पाया जाता है अन्यत्र नहीं परन्तु इस शास्त्र पर आजकल जालग्रन्थ इतने बढ़गये हैं कि पाठकों को घटपटादि से भिन्न अन्य किसी विषय पर तर्क करने का अवकाश ही नहीं मिलता, यही कारण है कि पण्डित मण्डली में भी प्रायः ऐसे ही प्रश्न उठा करते हैं कि "ईश्वर सद्भावे किंमानम्"=ईश्वर के होने में क्या प्रमाण ? अन्यथा कब सम्भव था कि गौतम के अनुयायी मुख्य ईश्वर को ही सन्देहास्पद समझते जबकि उक्त महर्षि ने "ईश्वरःकारणंपुरुषकर्माफल्यदर्शनात्" न्या० ४।१।१९ यह सिद्धान्त सूत्र रखकर ईश्वर को सिद्ध किया है अर्थात् उक्त महर्षि ने पूर्वपक्ष करके ईश्वर की सिद्धि नहीं की किन्तु सिद्धान्त सूत्र रखकर फिर इस पर पूर्वपक्ष उठाया है, इससे सिद्ध है कि आधुनिक नैयायिकों ने न्यायसूत्रों का गन्धमात्र भी अनुसरण नहीं किया जो अद्यावधि ईश्वर को सन्दिग्ध मानते हैं।

हमारे विचार में नास्तिकमत के प्रभाव का भी यही कारण हुआ जो मूल दर्शनों की पठनपाठनप्रणाली सर्वथा ही आर्य्यजाति से उठगई और इनके स्थान में शुष्कतर्क ने ऐसा प्रभाव जमाया कि "व्याप्तिवाद" पर अवच्छेदका अवच्छिन्नछद्म की ऐसी छाया पड़ी कि एक जन्म तो क्या सहस्रों जन्म भी नवीन न्याय के अध्ययनार्थ पर्याप्त न रहे और नास्तिकों के मर्मोच्छेदी विषयों पर गन्धमात्र भी किसी ने दृष्टिपात न की अर्थात् "नानित्यतानित्यत्वात्" न्या० ४।१।२६ "अन्तवत्वमसर्वज्ञता वा" ब्र० सू० २।२।४१ इत्यादि सूत्रों में वर्णित नास्तिकमतप्रहाररूप खड्ग को किसी ने भी दृढ़ हाथों से न पकड़ा, उक्त सूत्रों का भाव यह है कि जो नास्तिक सब पदार्थों को अनित्य माने तो उसका मत इसलिये ठीक नहीं कि सबकी अनित्यता वादी के मत में नित्य है अथवा अनित्य? यदि नित्य माने तो सबको अनित्य कथन करना ठीक नहीं, यदि अनित्य मानें तो अनित्यत्व का साधक=हेतु नित्य न होने से सब अनित्य नहीं ठहर सक्ते, और दूसरे सूत्र का भाव यह है कि ईश्वर अपने आदि अन्त तथा इयत्ता=यहां तक हूं, इस ज्ञान का ज्ञाता है वा नहीं? यदि अपने आदि अन्त को जानता है तो नित्य नहीं रह सकता अर्थात् उत्पत्ति विनाश तथा मध्यम परिमाण वाला होकर विनाशी ठहरता है? इसका उत्तर यह है कि जब ईश्वर में आदि अन्त है ही नहीं और न इयत्ता=सीमा है, तो फिर इस का ज्ञान ही कैसे होसक्ता है, क्योंकि ज्ञान तो पदार्थ के होने पर होता है न होने पर नहीं, क्या शशशृङ्ग को न जानने वाला कभी अज्ञानी

कहला सकता है कदापि नहीं, इसलिये उक्त दोष ईश्वर पर नहीं आता अर्थात् उक्त मिथ्याभावों के न जानने से ईश्वर में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती ।

सार यह है कि दर्शनों के ऐसे २ गूढ़ विषयों को सरल करने के लिये तथा ब्रह्मोपादानकारणवादी, मायावादी, सर्वानित्यत्ववादी, सर्वमिथ्यावादी, सर्वनित्यत्ववादी और शून्यवादी, इत्यादि अनेक मतवादी अवैदिकों का स्पष्टतया खण्डन करने के लिये हमने इस दर्शन पर आर्य्यभाष्य किया है ।

इस भाष्य में अन्य भाष्यों से विलक्षणता यह है कि प्रमाण, प्रमेयादि षोडश पदार्थों के लक्षण तथा परीक्षा इसमें भलीभांति कीगई है और "ईश्वरः कारणं०" तथा "कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः" न्या० १ । १ । ४० इत्यादि वैदिकधर्म्म के मर्म बोधक ऐसे २ सूत्रों पर विस्तारपूर्वक भाष्य करके वैदिकधर्म्म की शोभा को बढ़ाया है और :—

सांख्यमतो उरहेरहतोअब योगमहेश्वर बैन बखाने ।
है परमेश्वर चालक ताह सुनाह प्रधान स्वतन्तर ठाने ।
आहकुलालसमानसदावह कार्य्य कोटिअनेक पछाने ।
याविधिबैनबखानतहैं अब होतसुनो मत तांहकोहाने ।

इस प्रकार दर्शनशास्त्र विषयक मिथ्या आक्षेपों को दबाया है और इस भाव को दर्शाया है कि :—

सांख्य प्रधान बतावत सेश्वर सेश्वरयोग महेश्वर माने ।
जैमिनि व्यास कथें मतवैदिक वैदिकधर्म कणादप्रमाने ।
गौतम मानतहै जगदीश्वर तत्त्व यही सब कोविद जाने ।
याविधि से मुनि ग्रन्थन में षटदर्शन के मत एकबखाने ।

आर्य्यमुनिः
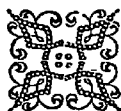
न्यायार्य्यभाष्य का विषयसूची

पृष्ठ	पंक्ति	विषय
१	३	प्रमाणादि पदार्थों के तत्वज्ञान से निःश्रेयस प्राप्ति की प्रतिज्ञा।
२	४	निःश्रेयस का लक्षण।
५	६	आन्वीक्षिकी विद्या का लक्षण।
८	११	निःश्रेयस प्राप्ति का क्रमवर्णन।
१०	३	अपर और पर भेद से दो प्रकार की मोक्ष का वर्णन।
११	२	मिथ्याज्ञान का लक्षण।
१६	२	प्रमाणों का विभाग तथा लक्षण।
२१	१८	प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण।
४४	८	अनुमान प्रमाण का लक्षण तथा उसके भेदों का वर्णन।
५६	१२	उपमान प्रमाण का लक्षण।
६४	११	शब्दप्रमाण का लक्षण।
६६	२	आकांक्षा का लक्षण।
६६	१४	योग्यता का लक्षण।
६७	८	आसत्ति का लक्षण।
६७	१७	तात्पर्य्य का लक्षण।
७०	१०	यौगिक, रूढ़ि और योगरूढ़ि का लक्षण।
७१	१५	लक्षणा का लक्षण तथा उसके भेदों का वर्णन।
७४	९	आधुनिक वेदान्तियों के मतानुसार उक्त लक्षणों का लक्षण।

पृष्ठ	पंक्ति	विषय
७८	१४	शब्दप्रमाण का भेद।
७६	१७	प्रमेय का समान्यलक्षण तथा उसके भेदों का वर्णन।
८४	१८	आत्मा का लक्षण।
८८	७	शरीर का लक्षण।
६१	४	इन्द्रिय का सामान्य लक्षण तथा उसके भेदों का वर्णन।
६६	५	पांच भूतों का लक्षण।
६७	५	अर्थप्रमेय का लक्षण तथा उसके भेदोंका वर्णन।
९८	११	बुद्धि का लक्षण तथा उसके भेदों का वर्णन।
१०६	१	मन का लक्षण।
१०९	१८	प्रवृत्ति का लक्षण तथा उसके भेदों का वर्णन।
१११	४	दोष का लक्षण।
११२	८	प्रेत्यभाव का लक्षण।
११६	५	फल का लक्षण।
११७	५	दुःख का लक्षण।
१२१	६	अपवर्ग का लक्षण।
१२४	८	संशय का लक्षण।
१३६	१०	प्रयोजन का लक्षण।
१४३	३	दृष्टान्त का लक्षण।
१४७	१३	सिद्धान्त का लक्षण तथा उसकेभेदोंका वर्णन।
१५७	११	अवयव का सामान्य लक्षण तथा उसके भेदों का वर्णन।
१५९	१७	प्रतिज्ञा का लक्षण।
१६१	२१	हेतु का लक्षण तथा उसके भेदों का वर्णन।

पृष्ठ	पंक्ति	विषय
१६५	२०	उदाहरण का सामान्यलक्षण तथा उसके भेदों का वर्णन।
१७१	१७	उपनय का लक्षण।
१७४	६	निगमन का लक्षण।
१७८	८	तर्क का लक्षण।
१८१	११	उक्त विषय में "उदयनाचार्य्य" की कारिका।
१९६	१	निर्णय का लक्षण।
२०२	८	वाद का लक्षण।
२११	७	जल्प का लक्षण।
२१७	४	वितण्डा का लक्षण।
२१८	१९	हेत्वाभास का सामान्यलक्षण तथा उसके भेदों का वर्णन।
२२३	१६	सव्यभिचार का लक्षण।
२२९	२०	विरुद्ध का लक्षण।
२३४	४	प्रकरणसम का लक्षण।
२४६	१५	साध्यसम का लक्षण।
२५८	१८	अतीतकाल का लक्षण।
२७३	६	छल का लक्षण।
२७४	५	छल के भेदों का वर्णन।
२८४	१८	छल की परीक्षा में पूर्वपक्ष।
२८५	७	उक्त पूर्वपक्ष का समाधान।
२८७	११	जाति का लक्षण।
२८९	१	निग्रहस्थान का लक्षण।
२९२	९	संशय की परीक्षा में पूर्वपक्ष का निरूपण।
२९८	१५	उक्त पूर्वपक्ष का समाधान।

पृष्ठ	पंक्ति	विषय
२१५	१७	प्रमाण प्रमेय की उपपत्ति का वर्णन।
२२०	१६	प्रत्यक्ष के लक्षण में आक्षेप।
२३२	१६	पूर्वपक्षी का प्रत्यक्ष को अनुमान सिद्ध करना।
२३४	१०	उक्त पूर्वपक्ष का समाधान।
२४१	१०	अनुमान की परीक्षा में पूर्वपक्ष।
२४३	२	उक्त पूर्वपक्ष का समाधान।
३४४	६	वर्तमान काल की सिद्धि में पूर्वपक्ष।
३४५	३	उक्त पूर्वपक्ष का समाधान।
३४९	१८	उपमान की परीक्षा में पूर्वपक्ष।
३५१	५	उक्त पूर्वपक्ष का समाधान।
३५५	१४	शब्द की परीक्षा में पूर्वपक्ष।
३५८	१५	उक्त पूर्वपक्ष का समाधान।
३६४	१७	ब्राह्मणवाक्यों की परीक्षा में पूर्वपक्ष।
३६७	२	उक्त पूर्वपक्ष का समाधान।
३६८	४	व्याघात दोष का परिहार।
३७१	१७	विधिवाक्य का लक्षण।
३७२	११	अर्थवाद वाक्य का लक्षण तथा उसके भेदों का वर्णन।
३७४	८	अनुवाद का लक्षण।
३७६	७	वेद की प्रमाणता का कथन।
३७९	८	प्रमाणों की चार संख्या में पूर्वपक्ष।
३८१	६	उक्त पूर्वपक्ष का समाधान।
४८५	१४	अभाव के प्रमाणत्व में पूर्वपक्ष।
३८६	५	उक्त पूर्वपक्ष का समाधान।
३९१	७	शब्द में संशयपूर्वक अनित्यत्व की सिद्धि का कथन।

पृष्ठ	पंक्ति	विषय
४१९	१७	शब्दपरिणाम का खण्डन करने के लिये संशय का कथन।
४३६	८	सिद्धान्त की रीति से शब्द में विकार व्यवहार की उपपत्ति।
४३७	१३	पद का निरूपण।
४३८	४	पदार्थ निरूपण के लिये संशय का कथन।
४३८	२१	पदार्थ में व्यक्तिशक्तिवादी के मत का कथन।
४४०	७	उक्त मत में दोष का कथन।
४४१	९	केवल व्यक्ति में उपचार द्वारा व्यवहार की सिद्धि का कथन।
४४३	१३	आकृतिशक्तिवादी के मत का कथन।
४४४	१२	उक्त मत के खण्डनपूर्वक जातिशक्तिवाद का स्थापन।
४४५	९	उक्त मत में दोष का वर्णन।
४४५	१९	सिद्धान्त की रीति से पदशक्ति का निरूपण।
४४६	१७	व्यक्ति का लक्षण।
४४७	२०	आकृति का लक्षण।
४४८	१०	जाति का लक्षण।
४५०	६	आत्मा का इन्द्रियादि संघात से पृथक् कथन।
४६८	१५	आत्मा के नित्यत्व का कथन।
४७६	१८	अस्मदादि शरीरों के पार्थिव होने का कथन।
४७७	१८	उक्त अर्थ में अन्य आचार्य्यों के मतों का वर्णन।
४८६	३	इन्द्रियों के भौतिक होने का कथन।
४९६	१४	इन्द्रियों के नानात्व का कथन।

पृष्ठ	पंक्ति	विषय
४९७	९	इन्द्रियैकत्ववादी का कथन।
५०५	३	अर्थरूप प्रमेय का वर्णन।
५१३	७	बुद्धि की परीक्षा में संशय का कथन।
५१३	१५	पूर्वपक्ष की रीति से बुद्धि के नित्यत्व का वर्णन।
५१४	७	उक्त पूर्वपक्ष का समाधान।
५२०	११	उक्त विषय में योगाचार का मत।
५३८	१५	ज्ञान तथा इच्छादि गुणों को आत्माश्रित होने का कथन।
५४२	१६	मन में इच्छादि के अभाव का कथन।
५४३	१६	ज्ञानादिकों को आत्मा के गुण होने का कथन।
५५९	१६	मन का निरूपण।
५६४	७	शरीर की उत्पत्ति का निरूपण।
५७५	८	प्रवृत्ति की परीक्षा।
५८४	१३	जगत् के उपादानकारण का कथन।
५९३	१	जगत् के निमित्तकारण ईश्वर का विस्तारपूर्वक निरूपण और केवल कर्मों से उत्पत्ति मानने वालों के मत का खण्डन।
५९७	११	ईश्वर में वैषम्य नैर्घृण्य दोषों का निवारण।
५९८	२	ईश्वर के स्वरूप का वर्णन।
५९८	८	अनीश्वरवादियों की ओर से ईश्वर में विस्तारपूर्वक पूर्वपक्ष।
६०१	११	उक्त पूर्वपक्ष का समाधान।
६१०	१४	जगत्कर्त्ता को शरीरी मानने वालों के मत-खण्डनार्थ छः विकल्पों का कथन।
६१३	८	पदार्थों के परस्पर कार्य्यकारणभाव का नियम।

पृष्ठ	पंक्ति	विषय
६१५	४	ईश्वर की सिद्धि में वेदप्रमाण तथा अन्य आचार्यों के मत से उसकी विशेषरूपता में अनुमान।
६१६	६	कुमारिलभट्ट के अनुमान में उपाधियोंका कथन।
६१७	८	कुमारिलभट्ट के "अन्य" अनुमान का विकल्प द्वारा खण्डन।
६१८	३	अशरीरी ईश्वर की इच्छानुसार जड़ परमाणुओं में क्रिया होने की युक्ति।
६१९	१६	जगत्कारणवाद में स्वभाववादी का आक्षेप।
६२१	१	उक्त आक्षेप का सिद्धान्त की रीति से समाधान
६३१	४	वृत्तिकार के मत से अद्वैतवाद का खण्डन।
६३२	१८	फलप्रमेय की परीक्षा में संशय का कथन।
६३३	११	उक्त अर्थ में स्वसिद्धान्त निरूपण।
६३५	१२	कार्य्यकारणभाव में पूर्वपक्ष।
६३६	१८	उक्त पूर्वपक्ष का समाधान।
६४०	१९	दुःख प्रमेय की परीक्षा का निरूपण।
६४३	१२	अपवर्ग में पूर्वपक्ष।
६४४	१९	उक्त पूर्वपक्ष का समाधान।
६५१	२०	मुक्ति में रागादि दोषों का अभाव।
६५६	९	तत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति का कथन।
६५९	१२	अवयवी की सिद्धि में संशय का कथन।
६६०	४	उक्त कथन का समाधान।
६७०	१४	परमाणुवाद का स्थापन।
६७१	७	परमाणु का लक्षण।
६८४	१	प्रमाण प्रमेय व्यवहार में पूर्वपक्ष।
६८४	१८	उक्त पूर्वपक्ष का समाधान।

पृष्ठ	पंक्ति	विषय
६८०	७	तत्वज्ञान की दृढ़ता के लिये उपाय का कथन।
६८२	१६	समाधिलाभार्थ एकान्तस्थानों का कथन।
६९४	५	मोक्षावस्था में शरीराभाव का कथन।
६८५	१२	न्यायशास्त्र के अध्ययन में पूर्वपक्ष।
६९५	१४	उक्त पूर्वपक्ष का समाधान।
६९५	२०	संवाद का लक्षण।
६८७	११	जल्प तथा वितण्डा कथा का उपयोग।
७००	८	जातियों के चौबीस भेदों का निरूपण।
७५८	६	षट्पक्षी का निरूपण।
७६७	७	निग्रहस्थानों के भेद और उनके लक्षणों का वर्णन।

~~~~~~~~~~~~~~~~
~~~~~~~~~~~~~~~~

ओ३म्

अथ न्यायार्य्यभाष्यं प्रारभ्यते
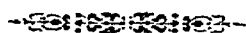
सङ्गति—महर्षि गोतम निःश्रेयस के हेतु तत्त्वज्ञान का उपदेश करने के लिये न्यायशास्त्र का प्रारम्भ करते हुए प्रथम प्रमाणादि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस प्राप्ति की प्रतिज्ञा करते हैं:—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ।१।

पद०—प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां । तत्त्वज्ञानात् । निःश्रेयसाधिगमः ।

पदा०—(प्रमाण प्रमेय०) प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान, इन सोलह पदार्थों के (तत्त्व-

ज्ञानात्) तत्त्वज्ञान से (निःश्रेयसाधिगमः) निःश्रेयस की प्राप्ति होती है ॥

भाष्य—त्रिविध दुःखों की निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति का नाम "निःश्रेयस" और प्रमाणादि पदार्थों के यथार्थज्ञान का नाम "तत्त्वज्ञान" है, इन्हीं पदार्थों के यथार्थ-ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

भाव यह है कि उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा भेद से इस शास्त्र की प्रक्रिया तीन प्रकार की है, वस्तुनिर्देश का नाम "उद्देश" उद्देश कीहुई वस्तु के असाधारण धर्म का नाम "लक्षण" और जिसका लक्षण कियाजाय उसके सत्यासत्य विचार का नाम "परीक्षा" है, इस सूत्र में पदार्थों का उद्देश मात्र कथन किया गया है लक्षण तथा परीक्षा का निरूपण आगे किया जायगा, इस प्रकार लक्षण और परीक्षा द्वारा उक्त पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति कथन की है, यहां प्रश्न यह होता है कि सिद्धान्त में आत्मा आदि द्वादश प्रमेय पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति मानी है इसलिये प्रमाण आदि सोलह पदार्थों द्वारा निःश्रेयस प्राप्ति की प्रतिज्ञा ठीक नहीं ? इसका उत्तर यह है कि प्रमाण आदि पदार्थों का उपदेश तत्त्वज्ञान का उपयोगी होने से कियागया है इसलिये कोई दोष नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार वैद्यकशास्त्र में रोग, रोग-हेतु, आरोग्य और औषधि, इन चार अवयवों का वर्णन शास्त्र

की पूर्णता के लिये किया है इसीप्रकार इस शास्त्र में भी हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय इन चारों का निरूपण है, त्रिविधदुःख का नाम "हेय" दुःख के कारण मिथ्याज्ञान का नाम "हेयहेतु" दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति का नाम "हान" और उसके हेतु तत्त्वज्ञान का नाम "हानोपाय" है, इनका विस्तारपूर्वक निरूपण "योगार्य्यभाष्य" में किया है, उक्त चारों का ज्ञान प्रमाणादि तत्त्वज्ञान के अधीन है अर्थात् जबतक प्रमाणादि पदार्थों का यथार्थज्ञान न हो तबतक दुःखादि हेयप्रमेय का यथार्थज्ञान नहीं होसकता, इसी अभिप्राय से वार्तिककार "उद्योतकराचार्य्य" ने कहा है कि "एतस्मिंश्चतुर्वर्गे प्रमाणस्य प्राधान्य प्रदर्शनार्थञ्चेति" न्या० वा० = प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति, इन चारो में से प्रमाण की प्रधानता है, क्योंकि प्रमाण द्वारा ही प्रमाता विषय को उपलब्ध करके उसके ग्रहण वा त्याग की इच्छा करता हुआ कृतकृत्य होता है। "यस्येप्साजिहासा-प्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता, स येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणं, योऽर्थः प्रमीयते तत्प्रमेयं, यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः" न्या० भा० = ग्रहण वा त्याग की इच्छा से प्रवृत्त होनेवाले का नाम "प्रमाता" और प्रमाता जिस साधन से विषय को उपलब्ध करता है उसका नाम "प्रमाण" विषय का नाम "प्रमेय" और विषय के यथार्थज्ञान का नाम "प्रमिति" है. प्रमिति तथा

मेया यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं ।

वात्स्यायनमुनि" ने प्रमेय पदार्थ में संशय आदि पदार्थों के अन्तर्भाव को लापन करते हुए यह कथन किया है कि "संशयादीनां पृथक्वचनमनर्थकं, संशयादयो यथासंभवं प्रमाणेषु प्रमेयेषु चान्तर्भवन्तो न व्यतिरिच्यन्ते, सत्यमेतत् इमास्तु चतस्रोविद्याः पृथक्प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते यासाञ्चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या तस्याः पृथक् प्रस्थानं संशयादयःपदार्थाः तेषां पृथक्वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात् यथोपनिषदः तस्मात्संशयादिभिः पदार्थैः पृथक् प्रस्थाप्यते" न्या० भा० = संशय आदि पदार्थ प्रमेय के अन्तर्भूत होने से स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, इसलिये उक्त सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस प्राप्ति मानना ठीक नहीं ? इसका उत्तर यह दिया है कि संशय आदि पदार्थ इस शास्त्र के भिन्न २ अधिकरण होने से इनका पृथक् २ उपदेश कियागया है, यदि इनका प्रमेय पदार्थ से पृथक् उपदेश न कियाजाता तो यह शास्त्र भी उपनिषदों की भांति केवल आध्यात्मिक शास्त्र ही मानाजाता तर्कशास्त्र नहीं, इसलिये उक्त दोष नहीं आता ।

सार यह है कि जिसप्रकार भिन्न २ विषयों के प्रतिपादक होने से त्रयी, वार्त्ता तथा दण्डनीति यह स्वतन्त्र विद्या मानीजाती

हैं इसीप्रकार संशय आदि पृथक् २ विषयों के प्रतिपादन करने से यह शास्त्र भी स्वतन्त्ररूप से चौथीविद्या = न्यायशास्त्र कहलाता है, इसी भाव को कामन्दकीयनीतिसार में इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्तादण्डनीतिश्च शाश्वती ।
विद्याश्चतस्र एवैता लोकसंस्थिति हेतवः । का० नी० सा०

अर्थ—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति यह चारो विद्या संसार की मर्य्यादा को स्थिर रखने के लिये परम उपयोगी हैं, प्रमाणादि पदार्थों के निरूपणपूर्वक आत्मादि प्रमेय को निरूपण करने वाली तर्कविद्या का नाम "आन्वीक्षिकी" है अर्थात् "प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं सान्वीक्षा तया प्रवर्तत इति आन्वीक्षिकी" न्या० भा० = प्रत्यक्ष तथा शब्द प्रमाण से अविरोधि अनुमान को "अन्वीक्षा" और उक्त अनुमान प्रधान शास्त्र का नाम "आन्वीक्षिकी" विद्या है, आन्वीक्षिकी, तर्कविद्या और न्यायशास्त्र यह तीनों पर्याय शब्द हैं, स्वतःप्रमाणभूत कर्मादि तीन काण्डों के निरूपण करने से वेद विद्या का नाम "त्रयी" जिसमें कृषि तथा वाणिज्य द्वारा अर्थ लाभ के उपाय निरूपण किये हों उसका नाम "वार्त्ता" और राज्यव्यवहार की स्थिति को निरूपण करने वाली विद्या का नाम "दण्डनीति" है ।

"जयन्तभट्ट" का कथन यह है कि "आत्मापवर्गपर्य्यन्तद्वादशविधप्रमेयज्ञानं तावदन्यज्ञानानौपयिकमेव साक्षादपवर्गसाधनम्, तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञाननिरासे सति तन्मूलः संसारो निवर्त्तते इति प्रमेयं तावदवश्योपदेश्यं तस्य तु प्रमेयस्यात्मादेरपवर्ग साधनत्वाधिगम आगमैकनिबन्धनः।

तस्य प्रामाण्यनिर्णीतिरनुमाननिबन्धना।
आप्तोक्तत्वञ्च तल्लिङ्गमविनाभावि वक्ष्यते॥ न्या०मं०

अर्थ—आत्मा से लेकर अपवर्ग पर्य्यन्त द्वादश प्रमेय पदार्थों का यथार्थज्ञान निःश्रेयस प्राप्ति का साधन है और तत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति द्वारा संसारप्रवाह की अत्यन्तनिवृत्ति होजाती है, इसलिये प्रमेय पदार्थ का उपदेश करना आवश्यक है परन्तु प्रमेय का यथार्थज्ञान निःश्रेयस का साधन है यह बात केवल आगम प्रमाण से जानी जाती है, जैसाकि " निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते " में कहा है कि आत्मा को जानकर पुरुष जन्म मरण के बन्धन से मुक्त होजाता है और इसी अर्थ को वेद में इस प्रकार स्फुट किया है कि:—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ यजु० ४०।७

अर्थ—ईश्वर के एकत्व को अनुभव करने वाले सर्वात्मदर्शी ब्रह्मवेत्ता का शोक मोह नष्ट होजाता है, और *आगम की प्रमाणता* अनुमान प्रमाण के अधीन है जिसका निरूपण आगे द्वितीयाध्याय के प्रथमान्हिक की समाप्ति में किया जायगा, यद्यपि स्वतःप्रमाणभूत वेदरूप आगम की प्रमाणता के लिये स्वतन्त्ररूप से अनुमान की अपेक्षा नहीं तथापि दुर्जनतोपन्याय से अनुमान द्वारा उसकी प्रमाणता में साहाय्य प्रकट करने से कोई बाधा नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि प्रमाणादि पदार्थों के विना प्रमेय की सिद्धि और प्रमेय के यथार्थज्ञान विना निःश्रेयस की प्राप्ति नहीं होती, इसलिये ऋषि ने सोलह पदार्थों का पृथक् २ उपदेश किया है।

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्त्तिता॥ न्या० भा०

अर्थ—यह शास्त्र सब विद्याओं के अर्थ को प्रकाशित करने के कारण प्रदीप के समान है अर्थात् जिस प्रकार अन्धकार में प्रदीप से घटपटादि पदार्थों का यथार्थ साक्षात्कार होजाता है इसीप्रकार इस शास्त्र से प्रमाणादि पदार्थों द्वारा सब विद्याओं के अर्थों का यथावत् प्रकाश होजाता है और "प्रमाणादिप्रतिपादितमर्थमितराः विद्याःप्रतिपद्यन्ते" न्या० वा० = अन्य सब विद्यायें प्रमाणादि से सिद्ध हुए अर्थ को प्राप्त होकर ही सार्थक होती हैं

परन्तु यह विद्या सब कर्मों की सिद्धि में एकमात्र उपाय है अर्थात् जो अन्य शास्त्र प्रमाणसिद्ध अर्थ का विधान वा निषेध करते हैं वह इसी शास्त्र से सिद्ध होता है, जैसाकि मनुधर्मशास्त्र में भी कहा है कि "यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः" मनु० १२।१०५= जो वेदशास्त्र से अविरोधि तर्क द्वारा विचार करता है वही धर्म को जानता है। यहां केवल प्रमाणोपदेश का अर्थ कथन किया है प्रयोजन आदि शेष पदार्थों के पृथक् २ उपदेश का असाधारण प्रयोजन तथा प्रमेय पदार्थ में अन्तर्भाव की रीति उस २ पदार्थ के लक्षण प्रकरण में निरूपण करेंगे॥

सं०—अब निःश्रेयस प्राप्ति का क्रम कथन करते हैंः—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः॥२॥

पद—दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम्। उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायात्। अपवर्गः।

पदा०—(दुःखजन्म०) दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान, इनमें से (उत्तरोत्तरापाये) उत्तरोत्तर की निवृत्ति द्वारा (तदनन्तरापायात्) पूर्व२ के निवृत्त होने से (अपवर्गः) निःश्रेयस की प्राप्ति होती है॥

भाष्य—पीड़ा का नाम "दुःख" पूर्वशरीर के त्याग

पूर्वक उत्तर शरीर के साथ प्राणों के संयोग का नाम " जन्म " धर्माधर्म का नाम " प्रवृत्ति " रागद्वेष का नाम " दोष " अन्य वस्तु में अन्य बुद्धि का नाम " मिथ्याज्ञान " और निवृत्ति का नाम " अपाय " है ।

मिथ्याज्ञान के अपाय से दोषों का अपाय, दोषों के अपाय से प्रवृत्ति का अपाय, प्रवृत्ति के अपाय से जन्म का अपाय और जन्म के अपाय से दुःखात्यन्तनिवृत्ति रूप निःश्रेयस की प्राप्ति होती है अर्थात् " निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः " = निमित्त के अभाव से नैमित्तिक का अभाव होता है, इस नियम के अनुसार जिस प्रकार घ्राणादि इन्द्रियों की निवृत्ति से सुषुप्ति में तन्निमित्तक गन्धादि ज्ञान की निवृत्ति होती है अथवा जैसे अपेक्षाबुद्धि के नाश से तन्निमित्तक द्वित्वज्ञान का नाश होता है इसी प्रकार मिथ्याज्ञान के अभाव से उसके कार्य्य दोषादिकों के अभाव द्वारा त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है, मोक्ष तथा निःश्रेयस यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, यद्यपि वैदिकसिद्धान्त में तत्त्वज्ञान से दुःखात्यन्तनिवृत्ति पूर्वक स्वरूप से ब्रह्मानन्दोपभोग का नाम मोक्ष माना है केवल दुःखात्यन्तनिवृत्ति ही नहीं तथापि दुःखात्यन्तनिवृत्ति के अनन्तर ब्रह्मानन्दोपभोग अवश्यंभावी होने से सम्पादनीय नहीं किन्तु दुःखात्यन्तनिवृत्ति ही सम्पादन करने योग्य है, इसलिये कोई दोष नहीं, इस विषय को विस्तारपूर्वक " वैशेषिका-

र्य्यभाष्य " में लिखा है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

भाव यह है कि अपर तथा पर भेद से मोक्ष दो प्रकार का है, तत्त्वज्ञान के निरन्तर अभ्यास से मिथ्याज्ञान के निवृत्त होने पर भी प्रारब्ध कर्म के अनुसार यथाप्राप्त भोग में समदर्शी योगी को प्राप्त हुए ब्रह्मानन्दोपभोग का नाम " अपरमोक्ष " और भोग से प्रारब्ध कर्म की समाप्ति होने पर तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति द्वारा पूर्व २ दुःखादिकों की निवृत्तिपूर्वक दुःखात्यन्तनिवृत्ति के उत्तरकाल में होने वाले ब्रह्मानन्दोपभोग का नाम " परमोक्ष " है, अपरमोक्ष को " जीवन्मुक्ति " तथा परमोक्ष को " विदेह-मुक्ति " कहते हैं, जिस आत्मवेत्ता का प्रारब्ध कर्म अभी शेष भोक्तव्य है वह तत्त्वज्ञान से जीवन्मुक्ति को प्राप्त होता है क्योंकि भोग से विना प्रारब्ध कर्म क्षय नहीं होते अर्थात् शुभाशुभ प्रारब्ध कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं, जीवन्मुक्ति यहां इस अभिप्राय से कथन की है कि तत्त्ववेत्ता सुख दुःख में कोई राग द्वेष बुद्धि नहीं करता ॥

मोक्ष का विस्तारपूर्वक निरूपण " योगार्य्यभाष्य " में किया है और यहां भी आगे अपवर्ग के लक्षण में निरूपण किया जायगा ॥

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि " अतस्मिंस्तद्बुद्धि-

विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानम्" = अन्य वस्तु में अन्य बुद्धि को विपर्य्यय वा मिथ्याज्ञान कहते हैं, जैसाकि योगशास्त्र में भी वर्णन किया है कि "विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्" यो० १।८ = जो ज्ञान वस्तु के यथार्थरूप में स्थिर नहीं अर्थात् वस्तु के सत्यरूप को विषय नहीं करता और जो कालान्तर में वस्तु के यथार्थज्ञान से नष्ट होजाता है उसको विपर्य्यय वा मिथ्याज्ञान कहते हैं जैसाकि रज्जु में सर्पज्ञान, शुक्ति में रजतज्ञान, एक चन्द्र में द्विचन्द्रज्ञान, इत्यादि ॥

"तत्रात्माद्यपवर्गपर्य्यन्तप्रमेये मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारकं वर्तते आत्मनि तावन्नास्तीति अनात्मन्यात्मेति सुखे दुःखमिति अनित्ये नित्यमित्यादि" न्या० भा० = आत्मा से लेकर मोक्ष पर्य्यन्त प्रमेय पदार्थों में अनेक प्रकार का मिथ्याज्ञान है, जैसाकि प्रमाणसिद्ध भावरूप आत्मा में "नास्त्यात्मा" = आत्मा नहीं है, इस प्रकार अभाव ज्ञान, देह आदि अनात्म पदार्थों में "गौरोऽहम्" = मैं गौर हूं, इस प्रकार आत्मज्ञान, सुख = मोक्ष में दुःख तथा दुःख = विषय सुख में सुखज्ञान और आत्मादि नित्य पदार्थों में अनित्य तथा देह गेहादि अनित्य पदार्थों में नित्यज्ञान, इत्यादि अनेक प्रकार का मिथ्याज्ञान है, इसी अभिप्राय से महर्षिपतञ्जलि का कथन है कि "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" यो०

२।५=अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म पदार्थों में नित्य, शुचि, सुख और आत्म बुद्धि का नाम "अविद्या" है, इसी अविद्या के वशीभूत होकर जब पुरुष पुत्र कलत्रादि अनुकूल पदार्थों में राग तथा शत्रु आदि प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष करता है तब "दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवृत्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति वाचानृतपुरुषसूचनासम्बद्धानि मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यञ्चेति सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय, अथ शुभा-शरीरेण दानं परित्राणं, परिचरणं, वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायञ्चेति. मनसा दयामस्पृहां श्रद्धाञ्चेति सेयं धर्माय" न्या० भा०= रागादि दोषों से वञ्चित हुआ शरीर से हिंसा, अस्तेय और परस्त्रीगमन, वाणी से मिथ्याभाषण तथा कठोर वचन आदि और मन से परद्रोह, स्तेयकामना तथा नास्तिकता को धारण करता है, जीव की यह पापात्मिका प्रवृत्ति केवल नरक भोग के लिये है परन्तु जब पुरुष शास्त्र के चिन्तन वा विद्वानों के सत्संग से शरीर द्वारा दान, रक्षा तथा महात्माओं की सेवा, वाणी से सत्य, प्रिय, हित और स्वाध्याय, मनसे दया, अस्पृहा=दूसरे के द्रव्य को लेने की इच्छा न करना, वेद पर श्रद्धा रखना आदि शुभ कार्य्यों के करने में प्रवृत्त होता है तब स्वर्ग अर्थात् सुखविशेष का अधिकारी होजाता है॥

यद्यपि उक्त दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों में से अशुभ प्रवृत्ति अत्यन्त दुःख का हेतु है तथापि जब तक दोनों प्रवृत्तियें बनी रहती हैं तब तक जन्मरूप दुःख की निवृत्ति नहीं होसकती, इसलिये मुमुक्षु पुरुष को दोनों प्रवृत्तियें हेय हैं, जिस प्रकार " **अन्नं वै प्राणिनःप्राणः** " = प्राणों की रक्षा के हेतु अन्न को प्राण कहा जाता है, इसी प्रकार धर्माधर्म के हेतु प्रवृत्ति का नाम भी धर्माधर्म जानना चाहिये और यही रीति जन्म शब्द के दुःखार्थ में समझनी चाहिये, क्योंकि जन्म होने से ही जीव को अनेक प्रकार के दुःख होते हैं, इसलिये दुःख के हेतु जन्म का भी विवेकी पुरुष दुःख शब्द से व्यवहार करते हैं और " **त इमे दुःखादयो मिथ्याज्ञानपर्य्यवसाना अविच्छेदेन प्रवर्त्तमानाः संसार इति** " न्या० वा० = दुःख से लेकर मिथ्याज्ञान पर्य्यन्त पदार्थों के तैल धारावत् अनवरत प्रवाह का नाम ही संसार है अर्थात् मिथ्याज्ञान से जन्म जन्म से मिथ्याज्ञान बना रहता है, जैसाकि " **कः पुनरयं संसारः दुःखादीनां कार्य्य-कारणभावः, सचानादिः पूर्वापरकालानियमात्** " न्या० वा० = में कहा है कि दुःखादिकों का परस्पर कार्य्य कारणभाव रूप संसार अनादि है, क्योंकि ऐसा कोई नहीं कह सकता कि पहले जन्म और पीछे मिथ्याज्ञान वा पहले मिथ्याज्ञान और पीछे जन्म होता है, जैसे बीज से अङ्कुर तथा अङ्कुर से बीज

का प्रवाह अनादि होने से अन्योऽन्याश्रय दोष युक्त नहीं इसी प्रकार दुःखादिकों के परस्पर कार्य्यकारणभाव में भी कोई दोष नहीं, और "यदातु तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानमपैति यस्मान्मिथ्याज्ञानं तत्त्वज्ञानञ्च एकस्मिन्विषये विरुध्येते वस्तुनो द्वैरूप्यासम्भवात् नह्येकं वस्तु द्विरूपं भवति तस्मान्मिथ्याज्ञानं तत्त्वज्ञानेन निवर्त्यत इति" न्या० वा० = एक विषय में दो परस्पर विरुद्ध ज्ञान नहीं रहसकते, इस नियम के अनुसार तत्त्वज्ञान द्वारा मिथ्याज्ञान के निवृत्त होने पर सकल दुःखों की निवृत्ति से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

यहां कई एक लोग यह आशंका करते हैं कि पूर्वकाल में विद्यमान मिथ्याज्ञान की तत्त्वज्ञान से निवृत्ति का कथन केवल साहसमात्र है, इसका उत्तर यह है कि "मिथ्याज्ञानस्यासहायत्वात, मिथ्याज्ञानमसहायमतो निवर्त्यते, सम्यग्ज्ञानस्य च विषयः सहायो भवति कस्मात् तथात्त्वेनावस्थानात् तथा भूतोऽसौ विषयो यथा तत्र तत्त्वज्ञानमिति" न्या० वा० = जिस विषय में मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है वह विषय तत्त्वज्ञान का सहकारी है मिथ्याज्ञान का नहीं, क्योंकि जिस रूप को विषय करता हुआ तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है उसी रूप में विषय स्थिर रहता है और जिस स्वरूप में विषय स्थिर होता है उसी रूप को तत्त्वज्ञान विषय करता है परन्तु मिथ्या

ज्ञान इससे विपरीत है, जैसाकि पीछे निरूपण कर आये हैं, दूसरी बात यह है कि "**प्रमाणान्तरानुग्रहाच्च**" न्या० वा० = शब्द तथा अनुमान आदि प्रमाण तत्त्वज्ञान के सहकारी होते हैं मिथ्याज्ञान के नहीं, इसीलिये तत्त्वज्ञान से मिथ्यज्ञान का बाध होता है, इस आशय को सर्वतन्त्रस्वतन्त्र "**वाचस्पतिमिश्र**" ने योगभाष्य की टीका के समाधिपाद में इस प्रकार वर्णन किया है कि "**इह तु स्वकारणादन्योऽन्यनिरपेक्षे ज्ञाने जायेते इति नोत्तरस्य पूर्वमनुपमृद्योदयमनासादय तस्तदपबाधात्मैवोद्भयो नतु पूर्वस्योत्तरबाधात्मा तस्य तदानीमप्रसक्तेः, तस्माद् भूतार्थविषयत्वात् प्रमाणेना-प्रमाणस्य बाधनं सिद्धम्**" यो० वाच० टी० = जहां एक पदार्थ में परस्परविरोधी दो ज्ञान उत्पन्न होते हैं वहां पूर्वज्ञान की निवृत्ति करता हुआ उत्तर ज्ञान उत्पन्न होता है, इस-लिये पूर्वज्ञान से उत्तर ज्ञान की निवृत्ति मानना ठीक नहीं, क्यों-कि प्रमाणजन्य होने से उत्तरज्ञान = यथार्थज्ञान मिथ्याज्ञान का बाधक है, जैसाकि शुक्तिज्ञान रजतज्ञान का तथा एकचन्द्र ज्ञान द्विचन्द्रज्ञान का बाधक है, इससे सिद्ध है कि तत्त्वज्ञान से पूर्वकालीन मिथ्याज्ञान की निवृत्ति द्वारा प्रवृत्ति आदि के अपाय से दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सं०—अब प्रमाण का विभाग और उसका सामान्य

लक्षण कथन करते हैं:—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ ३ ॥

पद०—प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः । प्रमाणानि ।

पदा०—(प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द यह चार (प्रमाणानि) प्रमाण हैं ।

भाष्य—"प्र" उपसर्गपूर्वक "मा" धातु के उत्तर "ल्युट्" प्रत्यय लगाने से "प्रमाण" पद की सिद्धि होती है, "प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्"=जिससे यथार्थज्ञान की उपलब्धि हो उसको "प्रमाण" कहते हैं अर्थात् "प्र" उपसर्ग का उत्कृष्ट "मा" धातु का ज्ञान और "ल्युट्" प्रत्यय का करण अर्थ है, इस प्रकार प्रमाण का सामान्य लक्षण यह हुआ कि "प्रमाकरणंप्रमाणम्"= जो प्रमा का असाधारण कारण हो उसको "प्रमाण" कहते हैं, जो वस्तु जिस रूप से विद्यमान हो उसको उसी रूप से अनुभव करना ज्ञान का उत्कर्ष कहाता है अर्थात् "यथार्थानुभवः प्रमा" = यथार्थ ज्ञान का नाम "प्रमा" है, संशय, विपर्यय तथा तर्कज्ञान में अतिव्याप्ति की निवृत्ति के लिये "यथार्थ" तथा स्मृतिज्ञान में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ "अनुभव" पद का निवेश किया है, और दिगम्बर मतावलम्बी "अज्ञातार्थ

ज्ञप्तिःप्रमा" = अज्ञात अर्थ के ज्ञान का नाम "प्रमा" कथन करते हैं, वह धारावाहिक ज्ञान में अव्याप्ति तथा विपर्य्यय = भ्रम ज्ञान में अतिव्याप्ति होने के कारण ठीक नहीं, जैसाकि "उदयनाचार्य्य ने लिखा है किः—

अव्याप्तेरधिकव्याप्तेरलक्षणमपूर्वदृक् ।
यथार्थानुभवो ज्ञानमनपेक्षतयोच्यते ॥ न्या० कु०

"अयंघटः" "अयंघटः" = यह घट है, यह घट है, इस प्रकार एक ही घट आदि में उत्तरोत्तर होने वाले समानाकार, घटादि विषयक-ज्ञान को "धारावाहिकज्ञान" कहते हैं, यदि अज्ञात अर्थ के ज्ञान को ही प्रमा मानाजाय तो उक्त धारावाहिक ज्ञान में अर्थात् द्वितीय तृतीयादि ज्ञान में लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि द्वितीयादि ज्ञान अज्ञात नहीं, और जहां शुक्ति में "इदंरजतं" = यह रजत है, इस प्रकार का विपर्य्यय ज्ञान होता है वहां उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति स्पष्ट है, क्योंकि विपर्य्यय ज्ञान भी अज्ञात होता है, इसलिये यथार्थ अनुभव का नाम ही "प्रमा" है, यदि यह कहाजाय कि प्रथम ज्ञान का प्रथम क्षण तथा द्वितीयादि ज्ञान को द्वितीयादि क्षण विशेषण है तो उत्तरोत्तर ज्ञान में पूर्व२ क्षणरूप विशेषण के न होने से उत्तरोत्तर काल में पूर्व२ क्षणरूप विशेषण के अभाव द्वारा घटरूप विशेष्य का अभाव बना रहेगा, इसप्रकार

प्रत्येक क्षण में क्षणरूप नूतन विशेषण वाले अज्ञात घट के धारा-वाहिक ज्ञान में अव्याप्ति-दोष नहीं आसकता ? इसका उत्तर यह है कि "प्रत्यक्षेण सूक्ष्मकालभेदानाकलनात्" त० भा० = अत्यन्त सूक्ष्म काल का प्रत्यक्ष न होने के कारण धारावाहिक ज्ञान में विषय भेद नहीं पाया जाता, इसलिये द्वितीयादि क्षण में होनेवाला घटादिज्ञान अज्ञातविषयक नहीं होसकता, इस प्रकार धारावाहिक बुद्धि में अव्याप्ति दोष बना रहता है, इससे सिद्ध है कि अज्ञात अर्थ के ज्ञान को प्रमा नहीं कहसकते, यथार्थ अनुभव का नाम ही "प्रमा" है, और वह प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति तथा शाब्दी भेद से चार प्रकार की है, इस प्रकार प्रमा के चार भेद होने से प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द भेद से प्रमाण भी चार प्रकार का है, इनका विशेष लक्षण आगे कथन करेंगे ॥

प्रमाण के सामान्य लक्षण में ज्ञान = प्रमा पद से अनुभव ज्ञान ही विवक्षित है स्मृतिज्ञान नहीं, यदि स्मृतिज्ञान भी माना जाय तो इसका भी असाधारण कारणरूप पांचवां प्रमाण माननापड़ेगा परन्तु महर्षि गोतम के मत में स्मृतिज्ञान को प्रमा नहीं माना किन्तु यथार्थ अनुभवजन्य स्मृति "यथार्थ" और भ्रम रूप अनुभव के संस्कार से उत्पन्न होने वाली "अयथार्थ" होती है, इससे सिद्ध है कि प्रमाणजन्य न होने के कारण स्मृतिज्ञान प्रमा नहीं ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि जो कार्य्य की उत्पत्ति से

अव्यवहित पूर्व क्षण में नियम से विद्यमान होता है अर्थात् सहकारी कारणों के होने पर भी जिसके न होने से कार्य्य की उत्पत्ति नहीं होती उसको "**कारण**" तथा व्यापार वाले असाधारण कारण को "**करण**" कहते हैं, और जो कारण से जन्य होकर कारणजन्य कार्य्य का जनक होता है उसका नाम "**व्यापार**" है, जैसाकि घटोत्पत्ति में कपालरूप कारण से जन्य होकर कार्य्य घट का जनक होने से "**कपालद्वयसंयोग**" व्यापार तथा उक्त व्यापारवाला असाधारण कारण होने से "**कपाल**" कारण है, इस प्रकार सन्निकर्ष आदि व्यापार वाले चक्षुरादि प्रमा के असाधारण कारण होने से प्रमाण हैं।

यहां कई एक लोग यह आशंका करते हैं कि उद्देश आदि भेद द्वारा शास्त्र की तीन प्रकार से प्रवृत्ति = प्रक्रिया कथन करके पुनः विभागरूप चौथी प्रवृत्ति का कथन परस्पर विरुद्ध है? इसका उत्तर यह है कि उद्देश तथा विभाग समानार्थक होने के कारण उक्त दोष नहीं आता, क्योंकि विभाग भी उद्देश के अन्तर्गत है, यहां केवल न्यूनाधिक संख्या की व्यावृत्ति के लिये पुनः विभाग की प्रतिज्ञा कीगई है अर्थात् विभाग से उक्त चार प्रमाणों का ही नियम कथन किया है अन्य का नहीं।

यदि यह कहा जाय कि प्रमाणों के लक्षण से उनकी चार संख्या का नियम होसकता है पुनः विभाग वचन निरर्थक है,

इसका उत्तर यह है कि "लक्षणस्येतरव्यवच्छेदहेतुत्वात् लक्षणं खलु लक्ष्यं समानासमानजातीयेभ्यो व्यवच्छिनत्ति नियमं तु न शक्नोति कर्तुमन्यार्थत्वादिति" न्या० भा० = समान तथा असमान जाति वाले पदार्थों से भिन्न करना ही लक्षण का प्रयोजन है, जैसाकि "गन्धवत्व" लक्षण पृथिवी को समानजातिवाले जलादिकों से तथा असमान जातिवाले गुणादिकों से भिन्न करता है, इसलिये लक्षणमात्र से संख्या का नियम नहीं होसकता, इसी भाव को "जयन्तभट्ट" ने इस प्रकार स्फुट किया है कि:—

एकेनानेन सूत्रेण द्वयं चाह महामुनिः ।
प्रमाणेषु चतुःसंख्यं तथा सामान्य लक्षणम् ॥ न्या०मं०

महर्षि गोतम ने इस एक सूत्र से ही प्रमाणों की चार संख्या का नियम और सामान्य लक्षण कथन किया है ।

यह भी स्मरण रहे कि "प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां संकरोऽभिसंप्लवः, असंकरो व्यवस्था" न्या० भा० = ज्ञेय = विषय में प्रमाणों के सांकर्य्य = एकत्रित होने का नाम "संप्लव" और असांकर्य्य का नाम "व्यवस्था" है अर्थात् जहां प्रमाता अनेक प्रमाणों से एक विषय को उपलब्ध करता है वहां प्रमाणों का "संप्लव" और जहां एक ही प्रमाण

से एक विषय को जानना है वहां " व्यवस्था " होती है, जैसाकि " अग्निराप्तोपदेशात्प्रतीयतेऽत्राग्निरिति, प्रत्यासीदता धूमदर्शनेनानुमीयते, प्रत्यासन्नेन च प्रत्यक्षत उपलभ्यते" न्या० भा० = " इस पर्वत में अग्नि है " इस प्रकार आप्तोपदेश से अग्नि की प्रतिपत्ति वाला पुरुष पर्वत के समीप जाकर दूर से धूम द्वारा अग्नि का अनुमान करता हुआ पर्वत के अतिनिकट होकर प्रत्यक्ष से अग्नि को उपलब्ध करता है, इस प्रकार एक ही अग्निरूप विषय में जो शब्द, अनुमान तथा प्रत्यक्ष प्रमाण का सांकर्य्य पाया जाता है उसको " प्रमाणसंप्लव " कहते हैं, और " व्यवस्था पुनरग्निहोत्रंजुहुयात्स्वर्गकामः" न्या० भा० = स्वर्ग की कामना वाला पुरुष अग्निहोत्र करे, इस आगम प्रमाण से स्वर्ग = सुखविशेष का ज्ञान होता है वह केवल शब्दप्रमाणजन्य है प्रत्यक्ष वा अनुमान जन्य नहीं, क्योंकि स्वर्ग में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा लिङ्गदर्शन नहीं पाया जाता, इस प्रकार स्वर्गरूप विषय में एक शब्दप्रमाण की स्थिति का नाम ही " प्रमाणव्यवस्था " है, यही रीति अन्य विषयों में भी जाननी चाहिये ।

सं०—अब प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण कथन करते हैं:—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं

प्रत्यक्षम् ॥४॥

पद०—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं । ज्ञानम् । अव्यपदेश्यम् । अव्यभिचारि । व्यवसायात्मकम् । प्रत्यक्षम् ।

पदा०—(इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं) इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले (अव्यपदेश्यम्) अशाब्द (अव्यभिचारि) भ्रमभिन्न (व्यवसायात्मकं) संशयरहित (ज्ञानं) ज्ञान का नाम (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष है ।

भाष्य—पद पदार्थ के सम्बन्धज्ञान से होने वाले ज्ञान का नाम "व्यपदेश्य" वा "शाब्द" और इससे भिन्न ज्ञान का नाम "अव्यपदेश्य" वा "अशाब्द" है, जो ज्ञान इन्द्रिय तथा अर्थ=विषय के सन्निकर्ष=सम्बन्ध से जन्य हो और व्यपदेश्य, भ्रम तथा संशय से रहित हो उसका नाम "प्रत्यक्ष" है अर्थात् संशय, भ्रमरहित और शब्दार्थसंम्बन्ध से न होने वाले इन्द्रियजन्य ज्ञान को "प्रत्यक्ष" कहते हैं ।

भाव यह है कि "यावदर्थं नामधेयशब्दास्तैरर्थसम्प्रत्ययः अर्थसम्प्रत्ययाच्च व्यवहारः, तत्रेदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नमर्थज्ञानं रूपमिति वा, रस इत्येवं वा भवति, रूप रस शब्दाश्च विषय नामधेयं तेन व्यपदिश्यते ज्ञानं रूपमिति जानीते, रस इति जानीते, नाम-

धेय शब्देन व्यपदिश्यमानं सत् शाब्दं प्रसज्यते अत आह। अव्यपदेश्यमिति" न्या० भा० = प्रत्येक अर्थ के नामधेय = वाचक शब्द भिन्न २ होते हैं, उनसे अर्थ की उपलब्धि और अर्थोपलब्धि से व्यवहार की सिद्धि होती है। इस नियम के अनुसार जहां इन्द्रियजन्य ज्ञान के अनन्तर "यहरूप है" "यह रस है" इस प्रकार रूप रसादि वाचक शब्दों से ज्ञान का व्यपदेश किया जाता है अर्थात् "रूपमिति जानीते" = रूप को जानता है, "रसइति जानीते" = रस को जानता है, जहां यह व्यवहार पाया जाता है वहां वाचक शब्दों से व्यवहृत = व्यवहार में आनेवाला रूपादिज्ञान "शाब्दज्ञान" कहलाता है, उक्त ज्ञान में अतिव्याप्ति निवृत्ति के लिये "अव्यपदेश्य" पद ज्ञान का विशेषण कथन किया है॥

"जयन्तभट्ट" का कथन यह है कि "नच शब्दानुसन्धान रहितः कश्चित्प्रत्ययो दृश्यते, अनुल्लिखितशब्दकेष्वपि प्रत्ययेष्वन्ततः सामान्य शब्द समुन्मेष सम्भवात्, तदुल्लेखव्यतिरेकेण प्रकाशात्मिकायाः प्रतीतेरसम्भवात्" न्या०मं० = ऐसा कोई ज्ञान नहीं जिसका व्यवहार शब्द से न होसके, जो ज्ञान नामधेय शब्द से व्यवहृत नहीं होता उसका अन्ततः किसी न किसी सामान्य शब्द से व्यवहार किया

जाता है, क्योंकि वाचक शब्द के उल्लेख = उच्चारण बिना विषय की स्फुट प्रतीति नहीं होसकती । जैसाकि भर्तृहरिकारिका में वर्णन किया है कि:—

नसोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन जन्यते ॥ भं० ह० का०

सब ज्ञान वाचक शब्द से व्यवहृत होते हैं अर्थात् ज्ञानमात्र का व्यवहार वाचक शब्द से पायाजाता है, इस प्रकार प्रत्यक्ष लक्षण में असम्भव दोष की निवृत्ति के लिये " अव्यपदेश्य " पद का निवेश किया है अर्थात् " यदिदमविदित पद पदार्थ सम्बन्धस्य ज्ञानमुपपद्यते विदित सम्बन्धस्यापि वा यत्प्रथमाक्ष सान्निपातसमये एव ज्ञानमनुल्लिखितशब्दकं शब्दानुस्मरणेहेतुभूतमुपजायतेतदशाब्दम् " न्या० मं० = पद पदार्थ के सम्बन्ध = वाच्यवाचकभाव ज्ञान के बिना वा होने पर जो प्रथम काल में विषय के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध द्वारा शब्दोल्लेख के बिना ही ज्ञान उत्पन्न होता है वह अशाब्द ज्ञान " प्रत्यक्ष " कहलाता है, शब्दोच्चारण का नाम " शब्दोल्लेख " है, इस रीति से प्रत्यक्ष का लक्षण यह हुआ कि " अशाब्दावच्छिन्न विषयमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् " = शाब्द ज्ञान से भिन्न जो ज्ञान इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होता है उसको " प्रत्यक्ष " कहते हैं, परन्तु ऐसा लक्षण करने पर

भी मिथ्याज्ञान में अतिव्याप्ति दोष बना रहता है, क्योंकि वह भी अशाब्द तथा इन्द्रियजन्य है, उक्त ज्ञान में अतिव्याप्ति निवृत्ति के लिये सूत्र में "अव्यभिचारि" पद का निवेश किया ह अर्थात् "ग्रीष्मेमरिचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा सन्निकृष्यंते तत्रेन्द्रियार्थ सन्निकर्षादुदकमिति ज्ञानमुत्पद्यते तच्च प्रत्यक्षं प्रसज्यत इत्यत आह अव्यभिचारीति" न्या० भा० = जब ग्रीष्म ऋतु में चमकती हुई सूर्य की किरणें पृथिवी की ऊष्मा = भाप के साथ मिलकर दूरस्थ द्रष्टा पुरुष के नेत्र से संयुक्त होती हैं तब उसको "इदंजलम्" = यह जल है, इस प्रकार व्यभिचारी ज्ञान = मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है वहभी इन्द्रियजन्य तथा अशाब्द होने से प्रत्यक्ष होना चाहिये, उक्त ज्ञान में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ "अव्यभिचारी" पद दिया है, और "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" = यह स्थाणु है वा पुरुष है, इस संशय में अतिव्याप्ति के निरासार्थ "व्यवसायात्मक" पद का निवेश किया है, यदि उक्त पद का निवेश न किया जाता तो इन्द्रियजन्य होने के कारण उक्त संशय में प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति ज्यों की त्यों बनी रहती, इस प्रकार प्रत्यक्ष का निष्कृष्ट लक्षण यह हुआ कि "संशय भ्रम भिन्नत्वेसति इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यमशाब्दं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" = संशय भ्रम तथा शाब्दज्ञान से भिन्न

इन्द्रिय तथा विषय के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसको "प्रत्यक्षप्रमा" कहते हैं।

चाक्षुष, त्वाच, रासन, घ्राणज, श्रोत्रज और मानस भेद से "प्रत्यक्षप्रमा" छः प्रकार की है, और वैसे ही इसका कारण = व्यापार इन्द्रिय अर्थ का सन्निकर्ष भी संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्त-समवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषण विशेष्य-भाव = विशेषणतासम्बन्ध से छः प्रकार का है, द्रव्य के प्रत्यक्ष में "संयोग" द्रव्य में "समवेत" रूपादि गुणों के प्रत्यक्ष में "संयुक्त-समवाय" द्रव्य समवेत रूपादि गुणों में समवायसम्बन्ध से रहने वाले रूपत्वादि जाति के प्रत्यक्ष में "संयुक्तसमवेतसमवाय" तथा शब्द के प्रत्यक्ष में "समवाय" शब्दत्व जाति के प्रत्यक्ष में "समवेतसमवाय" और अभाव के प्रत्यक्ष में "विशेषण-विशेष्यभाव" सन्निकर्ष कारण है ॥

तात्पर्य्य यह है कि चाक्षुषप्रमा के हेतु चक्षुःसंयोग चक्षुः संयुक्तसमवाय, चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवाय और चक्षुःसम्बद्धविशे-षणता यह चार सन्निकर्ष हैं, उक्त सन्निकर्ष चाक्षुषप्रमा की उत्पत्ति में व्यापार तथा चक्षुरिन्द्रिय करण है अर्थात् जो चक्षु की क्रिया से द्रव्य के साथ संयोगसम्बन्ध होता है वह चक्षुः कारण से जन्य होकर चाक्षुषप्रमारूप कार्य्य का जनक होने से व्यापार तथा उक्त व्यापार वाला चक्षुरिन्द्रिय करण है, इस प्रकार जहां चक्षुः से

द्रव्यगत घटत्वादि जाति तथा रूप, संख्या आदि गुणों का प्रत्यक्ष होता है वहां "संयुक्तसमवायसन्निकर्ष" है, क्योंकि चक्षुः संयुक्त घटादि में घटत्वादि जाति तथा रूपादि गुण समवायसम्बन्ध से रहते हैं। गुण गुणी आदि के नित्य सम्बन्ध का नाम "समवाय" समवाय से रहने वाले का नाम "समवेत" और रूपत्वादि जाति के प्रत्यक्ष में "संयुक्तसमवेतसमवाय" सन्निकर्ष है, क्योंकि चक्षुःसंयुक्त घटादि में समवेत रूपादिकों के साथ रूपत्वादि जाति का समवायसम्बन्ध होता है, और जहां भूतल में "घटाभाववद्भूतलं" = घट के अभाव वाला भूतल है, यह चाक्षुप प्रतीति होती है वहां भूतल के साथ चक्षुः का संयोग तथा चक्षुःसम्बद्ध भूतल के साथ अभाव का "विशेषणता" सम्बन्ध है, क्योंकि अभाव भूतल का विशेषण है और "भूतले घटाभावः"= भूतल में घट का अभाव है, ऐसी प्रतीति में भूतल विशेषण तथा घटाभाव विशेष्य है, इसलिये घटाभाव की "विशेष्यतासम्बन्ध" से प्रतीति होती है उक्त दोनों प्रकार से अभाव की चाक्षुषप्रमा के हेतु सन्निकर्ष को "विशेषणविशेष्यभाव" कहते हैं, इस प्रकार पीत घट में नीलरूपाभाव का चाक्षुषप्रत्यक्ष चक्षुःसम्बद्ध विशेषणता से होता है, क्योंकि चक्षुःसम्बद्ध पीतघट का नीलरूपाभाव विशेषण है और चक्षुःसंयुक्त घट में समवायसम्बन्ध से रहने वाले पीतरूप में नीलत्वजाति का अभाव "चक्षुःसंयुक्तसमवाय सम्बद्धविशेषणता" से होता है, यही रीति सर्वत्र अभाव के प्रत्यक्ष

में जाननी चाहिये । अभावप्रमा के हेतु सन्निकर्ष का विशेष प्रकार "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में स्फुट किया गया है, इसलिये यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं ।

जहां त्वक् इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है वहां स्पर्श के आश्रय द्रव्य तथा स्पर्शाश्रित स्पर्शत्व जाति और स्पर्शाभाव का प्रत्यक्ष भी त्वचा से जानना चाहिये, इस प्रकार त्वाचप्रमा का हेतु सन्निकर्ष भी त्वक्संयोग, त्वक्संयुक्तसमवाय, त्वक्संयुक्तसमवेतसमवाय तथा त्वक्सम्बद्धविशेषणता भेद से चार प्रकार का होता है, त्वचा से घट के प्रत्यक्ष में "त्वक्संयोग" घटगत कठिन कोमलतादि स्पर्श के प्रत्यक्ष में "त्वक्संयुक्तसमवाय" तथा स्पर्शत्वादि जाति के प्रत्यक्ष में "त्वक्संयुक्तसमवेतसमवाय" और जहां कोमल द्रव्य में कठिन स्पर्शाभाव तथा शीतल में ऊष्णस्पर्शाभाव का त्वचा से प्रत्यक्ष होता है वहां "त्वक्सम्बद्धविशेषणता" सम्बन्ध जानना चाहिये ।

रसनेन्द्रिय से द्रव्य का प्रत्यक्ष न होने के कारण रासनप्रमा के हेतु केवल तीन सन्निकर्ष हैं अर्थात् फलवृत्ति मधुर रस के प्रत्यक्ष में "रसनसंयुक्तसमवाय" रसत्व जाति तथा मधुरत्व, अम्लत्व, लवणत्व कषायत्व और तिक्तत्वरूप छः धर्मों के प्रत्यक्ष में "रसनसंयुक्तसमवेतसमवाय" और फलवृत्ति मधुर रस में अम्लत्वाभाव तथा अम्लरस में मधुरत्वाभाव के प्रत्यक्ष में "रसन-

सम्बद्धविशेषणता" सन्निकर्ष है ॥

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि फल तथा रसनेन्द्रिय का परस्परसंयोगसम्बन्ध और रसनसंयुक्त फल में रस गुण का समवायसम्बन्ध होने के कारण फलवृत्ति मधुर रस के रासनप्रत्यक्ष में जो "संयुक्तसमवायसन्निकर्ष" को व्यापार माना है उसमें व्यापार का लक्षण नहीं बन सक्ता, क्योंकि समवायसम्बन्ध नित्य है और व्यापार कारण से जन्य होता है ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि उक्त सम्बन्ध में समवाय अंशजन्य नहीं तथापि रसनेन्द्रि से जन्य होने के कारण संयोगांश रासनप्रमा का व्यापार और उक्त व्यापार वाला रसनेन्द्रिय करण होने से प्रमाण और रासन प्रमा फल है ।

इसी प्रकार घ्राणजप्रमा के हेतु घ्राणसंयुक्तसमवाय, घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवाय तथा घ्राणसम्बद्धविशेषणता भेद से तीन सन्निकर्ष हैं, पुष्पवृत्ति गन्ध के प्रत्यक्ष में "घ्राणसंयुक्तसमवाय" गन्धत्व जाति तथा उसके व्याप्य सुगन्धत्व दुर्गन्धत्व के प्रत्यक्ष में "घ्राण संयुक्तसमवेतसमवाय" और सुगन्धत्व दुर्गन्धत्वाभाव तथा दुर्गन्ध में सुगन्धत्वाभाव के प्रत्यक्ष में "घ्राणसम्बद्धविशेषणता" व्यापार है ।

ननु—दूरस्थ पुष्पादिकों में क्रिया के न पाये जाने से घ्राणेन्द्रिय के साथ संयोग नहीं होता और गुण होने के कारण

गन्ध में क्रिया नहीं होसक्ती, इसलिये दूरस्थ पुष्प के गन्धप्रत्यक्ष में घ्राणसंयुक्तसमवायसन्निकर्ष के न होने से गन्ध ज्ञान न होना चाहिये ? उत्तर—गन्ध के आश्रय पुष्पादिकों के सूक्ष्म अवयवों में वायुनैमित्तक क्रिया द्वारा घ्राण के साथ संयोग होने से उक्त व्यापार के सिद्ध होने पर गन्ध के साक्षात्कार में कोई अनुपपत्ति नहीं।

श्रोत्र से शब्द के साक्षात्कार में समवाय, शब्दत्व तथा उसके व्याप्य तारत्वादि धर्मों के साक्षात्कार में समवेतसमवाय और शब्दाभाव के प्रत्यक्ष में विशेषणतासन्निकर्ष होता है अर्थात् गुण गुणी का समवाय होने से आकाशरूप श्रोत्र का शब्द के साथ समवायसम्बन्ध है और यह शब्द के प्रत्यक्ष में कारण है।

यहां प्रश्न यह होता है कि सर्वत्र त्वाच आदि प्रत्यक्ष प्रमा की उत्पत्ति में इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग सम्बन्ध इन्द्रिय से जन्य होकर इन्द्रियजन्य प्रमा का जनक होने के कारण व्यापार होसक्ता है परन्तु श्रोत्रज प्रमा की उत्पत्ति में समवाय नित्य होने से जन्य नहीं, इसलिये व्यापार रूप से उक्त प्रमा का जनक नहीं होसक्ता ? इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः उक्त प्रमा की उत्पत्ति में "श्रोत्रमनःसंयोग" व्यापार है अर्थात् मन की क्रिया द्वारा जन्य होकर श्रोत्रजन्य प्रमा के जनक श्रोत्रमनः संयोग के व्यापार मानने में कोई दोष नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि आत्ममनःसंयोग ज्ञानमात्र के प्रति साधा

रण कारण है अर्थात् ज्ञान की सामान्यसामग्री आत्मनःसंयोग तथा विशेषसामग्री इन्द्रियादिक हैं, कारण समुदाय का नाम "सामग्री" है अर्थात् आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन ततो ज्ञानम्' = आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रिय के साथ, इन्द्रिय का विषय के साथ संयोग होने से विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इस नियम के अनुसार आत्ममनःसंयोग अनुमिति आदि ज्ञानों का भी कारण होने से ज्ञान का "सामान्यकारण तथा मन, इन्द्रियादि का संयोग प्रत्यक्षमात्र का कारण होने से ज्ञान का विशेष कारण कहाता है, जैसे श्रोत्रज प्रमा के पूर्वक्षण में आत्ममनः संयोग विद्यमान है, इसीप्रकार श्रोत्रमनःसंयोग भी विद्यमान है क्योंकि श्रोत्रमनःसंयोग के विना श्रोत्रज प्रमा की उत्पत्ति नहीं होसकी, इससे सिद्ध है कि श्रोत्रमनःसंयोग श्रोत्र से उत्पन्न होकर श्रोत्रजन्य प्रमा का जनक होने से व्यापार है, यही रीति चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ मनःसंयोग के विशेष कारण होने में जाननी चाहिये।

श्रोत्र समवेत शब्द में समवायसम्बन्ध से रहनेवाली शब्दत्व जाति के प्रत्यक्ष में "समवेतसमवाय" और शब्दाभाव का प्रत्यक्ष "विशेषणता" सन्निकर्ष से होता है॥

भाव यह है कि जिस अधिकरण में वस्तु का अभाव होता

है उस अधिकरण में अभाव का विशेषणता सम्बन्ध है, इस नियम के अनुसार जैसे वायु में रूपाभाव का तथा भूतल में घटाभाव का विशेषणता सम्बन्ध है इसी प्रकार शब्द रहित श्रोत्र में भी शब्दाभाव का विशेषणता सम्बन्ध जानना चाहिये, और जब श्रोत्र समवेत ककार में खत्वाभाव का प्रत्यक्ष होता है तब श्रोत्र का खत्वाभाव के साथ "समवेतविशेषणता" सन्निकर्ष है, क्योंकि श्रोत्र में समवायसम्बन्ध से रहने वाले ककार में खत्वाभाव विशेषण है, इस रीति से श्रोत्रजप्रमा का हेतु समवाय, समवेतसमवाय तथा विशेषणता भेद से तीन प्रकार का सन्निकर्ष है ॥

यहां इतना विशेष ध्यान रहे कि बाह्य तथा आन्तर भेद से प्रत्यक्ष प्रमा दो प्रकार की है, चक्षुरादि इन्द्रियों से होने वाली प्रत्यक्ष प्रमा का नाम "बाह्यप्रत्यक्षप्रमा" तथा मनरूप अन्तरिन्द्रिय से होने वाली प्रत्यक्षप्रमा का नाम "आन्तरप्रत्यक्षप्रमा" है, जिस प्रकार बाह्यप्रत्यक्षप्रमा के करण चक्षुरादि इन्द्रिय हैं इसी प्रकार आन्तरप्रत्यक्षप्रमा का करण मन है अर्थात् ज्ञान इच्छादि आत्मगुणों के साक्षात्कार में मन करण आत्ममनः संयोग व्यापार तथा ज्ञानादि का साक्षात्कार फल है, इस प्रकार ज्ञानादि प्रमा का असाधारण कारण होने से मन प्रमाण है, परन्तु मन का ज्ञानादिकों के साथ साक्षात्सम्बन्ध नहीं किन्तु "परम्परासम्बन्ध" है, अपने सम्बन्धी के सम्बन्ध को "परम्परासम्बन्ध" कहते हैं, आत्मसमवेत ज्ञानादिकों के सम्बन्धी आत्मा के साथ मन का

संयोग ही परम्परासम्बन्ध कहाता है अर्थात् ज्ञानादिकों के प्रत्यक्ष में "स्वसमवायिसंयोगसम्बन्ध" कारण है, क्योंकि "स्व" पद से ग्रहण किये हुए ज्ञानादिकों का समवायी आत्मा है और उसके साथ मन का संयोग होता है इस प्रकार मन का ज्ञानादिकों के साथ "मनःसंयुक्तसमवाय" सम्बन्ध है, क्योंकि मन के संयोग वाले आत्मा में ज्ञानादिकों का समवाय है और ज्ञानत्व, इच्छात्व आदि जाति के प्रत्यक्ष में "स्वाश्रयसमवायिसंयोग" सम्बन्ध जानना चाहिये "स्व" पद से ज्ञानत्वादिजाति का ग्रहण है और उसके आश्रयभूत ज्ञानादिकों के समवायी आत्मा के साथ मन का संयोग है, और मन का ज्ञानत्वादिकों के साथ "मनःसंयुक्त समवेतसमवाय" सम्बन्ध है, क्योंकि मनःसंयुक्त आत्मा में ज्ञानादिक समवेत और उनमें ज्ञानत्वादि जाति का समवायसम्बन्ध पाया जाता है, मनःसंयुक्त आत्मा में सुखाभाव तथा दुःखाभाव विशेषण होने से सुखाभाव तथा दुःखाभाव के साक्षात्कार में "मनःसम्बद्ध विशेषणता" सन्निकर्ष होता है, इस प्रकार मानसप्रत्यक्षप्रमा के हेतु मनःसंयुक्तसमवाय, मनःसंयुक्तसमवेतसमवाय तथा मनःसम्बद्धविशेषणता यह तीन सन्निकर्ष हैं परन्तु जिन "विश्वनाथादि" नवीन नैयायिकों ने आत्मा का मानस लौकिक प्रत्यक्ष माना है उनके मत में मनःसंयोग भी चौथा सन्निकर्ष है ॥

उक्त प्रत्यक्ष निर्विकल्पक तथा सविकल्पक भेद से दो प्रकार का है विशेषण, विशेष्य तथा उनके संसर्ग = सम्बन्ध की प्रतीति

से रहित "यह कुछ है" इस प्रकार इन्द्रियद्वारा प्रत्येक वस्तु के सामान्य ज्ञान का नाम "निर्विकल्पक" तथा विशेषण विशेष्य और उनके सम्बन्ध को विषय करने वाले "अयंदण्डी"=यह दण्ड वाला है "अयं धार्मिकः"=यह धार्मिक पुरुष है, इत्यादि इन्द्रियजन्य ज्ञान का नाम "सविकल्पक" है, इस प्रकार जो छः प्रकार का प्रत्यक्ष कथन किया है वह इन्द्रियजन्य होने के कारण "लौकिक" कहाता है, इन्द्रियों का नाम प्रत्यक्षप्रमाण, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष व्यापार तथा प्रत्यक्षज्ञान का नाम "प्रत्यक्षप्रमा" है ॥

अलौकिक प्रत्यक्ष का हेतु सन्निकर्ष समान्यलक्षण तथा योगजधर्म भेद से तीन प्रकार का है, "सामान्यलक्षणंस्वरूपं यस्य स सामान्यलक्षणः"=जिसका लक्षण=स्वरूप सामान्य=जाति हो उसको "सामान्यलक्षण" कहते हैं, इस व्युत्पत्ति से सामान्यलक्षणसन्निकर्ष धूमत्वादि जाति का बोधक है, यदि "लक्षण" पद से विषय का ग्रहण किया जाय अर्थात् "सामान्यं लक्षणं विषयो यस्य स सामान्यलक्षणः"=सामान्यरूप विषय वाले का नाम "सामान्यलक्षण" है, इस व्युत्पत्ति से धूमत्वादि जाति के ज्ञान का नाम "सामान्यलक्षण" सिद्ध होता है, प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार "सामान्यलक्षणसन्निकर्ष" का यह लक्षण हुआ कि "इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूतं सा-

मान्य सामान्यलक्षणसन्निकर्षः "=चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ संयोगादि लौकिकसम्बन्ध वाला पदार्थ जिस ज्ञान का विशेष्य हो ऐसे चक्षुरादि ज्ञान में विशेषणभूत जाति का नाम "सामान्यलक्षणसन्निकर्ष" है, जैसाकि महानसादि में धूम के साथ चक्षु का संयोग होने पर "अयंधूमः"=यह धूम है, इस चाक्षुषज्ञान का चक्षुइन्द्रियसंयुक्त धूम "विशेष्य" और धूमवृत्ति धूमत्वजाति "विशेषण" है, इस प्रकार "अयंधूमः" इस धूम विशेष्यक प्रत्यक्ष ज्ञान में विशेषणभूत धूमत्वजाति ही "सामान्य लक्षण सन्निकर्ष" कहाता है, जिसका विशेष्य धूम हो उसको "धूमविशेष्यक" कहते हैं।

भाव यह है कि पुरोवर्त्ती धूम के साथ चक्षुःसंयोग के अनन्तर "अयं धूमः" इस ज्ञान का कारण संयोगसम्बन्ध है, इसलिये उक्त ज्ञान लौकिकसम्बन्धजन्य होने से लौकिक कहाता है और धूम के प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय धूम तथा धूमत्व दोनों समान हैं, इन दोनों में धूम "विशेष्य" और धूमत्व "विशेषण" है; जिस प्रकार धूमत्वजाति समवायसम्बन्ध से पुरोवर्त्ती धूम में रहती है इसी प्रकार भूत, भविष्यत तथा धूमत्वजाति देशान्तरवर्त्तीधूम में भी पाईजाती है, "अयंधूमः "इस चाक्षुष प्रत्यक्ष के अनन्तर धूमत्वरूपसामान्यलक्षणसन्निकर्षद्वारा प्रमाता को "सर्वेधूमः"=

सब धूम हैं, यह अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है अर्थात् पुरोवर्त्तिधूम के ज्ञानकाल में चक्षुःइन्द्रिय का "**स्वजन्य ज्ञान प्रकारीभूत धूमत्ववत्ता**" सम्बन्ध सब धूमों के साथ है, इसलिये चक्षु इन्द्रियजन्य सब धूमों का अलौकिक साक्षात्कार द्वितीय क्षण में होता है। प्रकृत में "**स्व**" पद से चक्षु इन्द्रिय का ग्रहण है और तज्जन्य "**अयंधूमः**" इस लौकिक ज्ञान में विशेषणभूत धूमत्व की आधारता सब धूमों में सामान है, इस रीति से अलौकिकसम्बन्धजन्य सब धूमों का ज्ञान भी अलौकिक कहाता है, इस ज्ञान में इन्द्रिय करण, उक्त सम्बन्ध व्यापार और धूममात्र का ज्ञान फल है, यह रीति प्राचीन नैयायिकों की हैं और नवीन नैयायिकों के मत में पुरोवर्त्ति, देशान्तर तथा कालान्तरवर्त्ती धूम का अलौकिकसम्बन्ध द्वारा एक ही क्षण में साक्षात्कार होता है, यही रीति वन्हि आदि के अलौकिक प्रत्यक्ष में भी जाननी चाहिये।

जो लोग "**सामान्यलक्षण**" पद में "**लक्षण**" शब्द से विषय का ग्रहण करते हैं उनका आशय यह है कि यदि धूमादि वृत्ति धूमत्वादि जाति को ही उक्त रीति से अलौकिक सम्बन्ध मानाजाय तो "**अयंधूमः**" इस ज्ञान के दूसरे दिन में धूम के साथ चक्षु इन्द्रिय का संयोग न होने पर भी धूमत्वजाति के विद्यमान होने से सब धूमों का अलौकिक साक्षात्कार होना चाहिये परन्तु नहीं होता, इससे सिद्ध है कि धूमत्वादि जाति के ज्ञान को

ही "सामान्यलक्षणसन्निकर्ष" मानना ठीक है अर्थात् चक्षु इन्द्रियजन्य धूमविषयक "अयंधूमः" इस ज्ञान में विशेषणभूत जाति का ज्ञान ही "सामान्यलक्षणसन्निकर्ष" है जाति नहीं।

जहां इन्द्रियाग्राह्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने पर इन्द्रियाग्राह्य पदार्थ का स्मृतिज्ञान होता है वहां इन्द्रियसन्निकर्षजन्यज्ञान अंश में वस्तु का लौकिकज्ञान तथा स्मृति अंश में ज्ञान लक्षण सन्निकर्षजन्य अलौकिक ज्ञान मानाजाता है, जैसाकि दूर से देखकर "सुरभि चन्दनम्"=चन्दन सुगन्धवाला है, यह सुगन्ध का चाक्षुष प्रत्यक्ष "ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष" से होता है अर्थात् चन्दनत्वधर्म वाला चन्दन चक्षुग्राह्य और तद्वृत्ति सुगन्ध गुण घ्राण इन्द्रियग्राह्य होने के कारण सुगन्ध का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होसकता, परन्तु घ्राण इन्द्रिय के साथ संयोग के विना भी दूर से देखकर "सुरभिचन्दनम्" इस कथन से सुगन्ध का चाक्षुष प्रत्यक्ष सर्वानुभव सिद्ध है, इसलिये उक्त ज्ञान का हेतु जो "स्वसंयुक्त मनः संयुक्तात्मसमवेतज्ञान" है वही ज्ञान "लक्षणसन्निकर्ष" कहाता है प्रकृत में "स्व" पद से चक्षुरिन्द्रिय का ग्रहण है उसके साथ संयुक्त मन के संयोगवाले आत्मा में समवायसम्बन्ध से सुगन्ध का स्मृतिज्ञान रहता है, वह स्मृतिज्ञान ही सुगन्ध के "सुरभिचन्दनम्" इस अलौकिक चाक्षुष ज्ञान में कारण है और यही सन्नि-

कर्ष रज्जु आदि में सर्प्पादि के मिथ्याज्ञान का कारण जानना चाहिये ।

तात्पर्य्य यह है कि जहां रज्जु में "अयंसर्पः" = यह सर्प है, इस प्रकार सर्प का भ्रान्तिरूप चाक्षुप प्रत्यक्ष होता है वहां दूरदेशस्थ सर्प ही अन्धकारादि दोषों से रज्जु देश में प्रतीत होता है परन्तु दूरदेशस्थ सर्प के साथ चक्षु इन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध नहीं, और इन्द्रिय सम्बन्ध के विना विषय की प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होसकती, अतएव सर्प के सादृश्य ज्ञान से पूर्वदृष्ट सर्प संस्कारों के उद्बोध द्वारा उत्पन्न हुआ सर्प का स्मृतिज्ञान ही चक्षु इन्द्रिय का दूरदेशस्थ सर्प के साथ "ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष" है जिससे रज्जु में "अयंसर्पः" यह भ्रान्तिज्ञान होता है, यहीरीति रजतादिकों के भ्रान्तिज्ञान में भी जाननी चाहिये ।

ननु—उक्त रीति से दोनों सन्निकर्ष ज्ञानस्वरूप ही सिद्ध होते हैं फिर दो सन्निकर्षों के मानने की क्या आवश्यकता है ? उत्तर—सामान्यलक्षणसन्निकर्ष धूमत्वादि जाति के आश्रय भूत सर्व धूमादिकों के अलौकिक साक्षात्कार का और ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष अपने विषयभूत केवल सुगन्धादि के प्रत्यक्ष का कारण है, सुगन्धादि के आश्रय का नहीं, इसलिये दोनों परस्पर भिन्न हैं ।

"योगाभ्यासजनितोधर्मविशेषोयोगजधर्मलक्षणसन्निकर्षः" = योगाभ्यास से उत्पन्न होने वाले धर्म

विशेष का नाम "योगजधर्मसन्निकर्ष" है, उक्त सन्निकर्ष द्वारा योगियों को करामलकवत् साक्षात्कार होता है, इसका विस्तार पूर्वक निरूपण "योगार्य्यभाष्य" में किया है ।

वृत्तिकार "विश्वनाथ" ने इससूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि आत्ममनःसंयोगजन्य सुखादि गुणों में अतिव्याप्ति के निरासार्थ "ज्ञान" पद का निवेश किया है, यद्यपि आत्मा तथा मन के संयोगजन्य होने के कारण ज्ञानमात्र में अतिव्याप्ति तथा ईश्वर प्रत्यक्ष में अव्याप्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है तथापि "साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसायसिद्धसाक्षात्त्वजात्यवच्छिन्नं ज्ञानमित्यन्तस्यतात्पर्य्यम्" न्या०वृ० = मैं साक्षात् जानता हूं, इस अनुभवविशेष प्रत्यक्षत्व जाति वाले ज्ञान की विवक्षा से कोई दोष नहीं अर्थात् अनुमिति आदि ज्ञानों में प्रत्यक्षत्व जाति के न होने से अतिव्याप्ति और ईश्वरीय प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षत्व जाति के पाये जाने से अव्याप्ति नहीं होसकती, परन्तु जो लोग जाति घटित लक्षण को प्रामाणिक नहीं मानते उनके मत में "ज्ञानाकरणक-भ्रमभिन्नज्ञानत्वं प्रत्यक्षस्य लक्षणम्" = जिसका ज्ञान करण न हो तथा भ्रम से भिन्न हो उसको "प्रत्यक्ष" कहते हैं, क्योंकि अनुमिति में व्याप्तिज्ञान, उपमिति में सादृश्यज्ञान, शाब्दबोध में पदज्ञान करण है, अतएव भ्रमभिन्न होने पर भी अनुमिति आदि "ज्ञानाकरणक" नहीं, इसलिये उनमें प्रत्यक्ष लक्षण की

अतिव्याप्ति नहीं होसकती, और ईश्वर के नित्य प्रत्यक्ष में अव्याप्ति इसलिये नहीं कि उसके ज्ञान का कोई करण नहीं अर्थात् उसका ज्ञान भ्रमभिन्न तथा ज्ञानाकरणक ही होता है, इसी अभिप्राय से "नतस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते" इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि उसका कोई कार्य्य वा करण नहीं, इस रीति से ईश्वर प्रत्यक्ष में भी कोई दोष नहीं।

ननु—प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण की प्रतिज्ञा करके प्रत्यक्षप्रमा के लक्षण का कथन असङ्गत है? उत्तर—"अत्र च यत इत्याध्याहृत्य यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् तत्प्रत्यक्ष-मिति प्रमाणवाची प्रत्यक्ष पदं योजनीयम्" न्या० वा० ता० = "यत्" तथा "तत्" शब्द का नित्य सम्बन्ध होता है, इस नियम के अनुसार सूत्र में "यतः" पद का अध्याहार करके प्रमाणवाचि प्रत्यक्ष पद की योजना करने से कोई दोष नहीं आता अर्थात् "यतः" पद के अध्याहार से सूत्र का यह अर्थ होता है कि "जिससे इन्द्रियजन्य ज्ञान हो वह प्रत्यक्षप्रमाण है" और यही बात प्रत्यक्ष पद के समाख्याबल = व्युत्पत्ति बल से भी पाई जाती है, जैसाकि "प्रतिगतमक्षं प्र-त्यक्षं" न्या०वा० = विषय में प्राप्त होने वाले इन्द्रिय को "प्रत्य-क्षप्रमाण" कहते हैं, और वात्स्यायनमुनि का भी कथन है कि उपलब्धि साधनानीति प्रमाणानि समाख्या निर्वचन

सामर्थ्याद्बोद्धव्यम्, प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दस्तद्विशेषसमाख्याया अपि तथैव व्याख्यानम् " न्या०भा० = प्रमा का साधकतम = करण प्रमाण है, यह अर्थ व्युत्पत्ति बल से सिद्ध होता है, जैसाकि प्रमाण के सामान्य लक्षण में कथन कर आये हैं, और जिस प्रकार व्युत्पत्ति बल से प्रमाण का सामान्यलक्षण सिद्ध होता है इसी प्रकार उसके प्रत्यक्षादि भेदों में भी व्युत्पत्ति द्वारा लक्षणार्थ की सिद्धि पाई जाती है, इसलिये प्रमाण लक्षण की प्रतिज्ञा असङ्गत नहीं, यही रीति शेष प्रमाणों के लक्षण में भी जाननी चाहिये।

सार यह है कि "इन्द्रियजा प्रमा साक्षात्कारिणी तस्याः करणमर्थादिन्द्रियमेव प्रत्यक्षं प्रमाणम्" = इन्द्रियजन्य प्रमा का नाम प्रत्यक्षप्रमा है और उसके करण = इन्द्रिय को प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि जैसे छेदनरूप क्रिया में कुठार करण, कुठारकाष्ठसंयोग व्यापार तथा छेदन क्रिया फल है इसीप्रकार प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रिय करण, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष व्यापार तथा प्रत्यक्ष प्रमा फल है, परन्तु जब "यह कुछ है" इस प्रकार इन्द्रिय द्वारा वस्तु का समान ज्ञान होता है तब इन्द्रिय करण, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष व्यापार और निर्विकल्पक प्रमा फल है, इस ज्ञान के अनन्तर "अयं देवदत्तः" = यह देवदत्त है,

" अयं वेदावत् " = यह वेदवेत्ता है, इस विशेषणविशेष्य तथा उनके सम्बन्ध को विषय करने वाले सविकल्पक ज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण, निर्विकल्पकज्ञान व्यापार और सविकल्पक प्रमा फल है, जब उक्त सविकल्पक प्रमा के अनन्तर हान = त्याग, उपादान = ग्रहण और उपेक्षा बुद्धि होती है तब निर्विकल्पक प्रमा करण सविकल्पक प्रमा व्यापार और हान, उपादान तथा उपेक्षाबुद्धि फल होता है, जैसाकि " वात्स्यायनमुनि ' ने कहा है कि "अक्षस्य अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षं, वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमिति यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्" न्या० भा० = इन्द्रिय के स्वर विषय में वृत्ति = व्यापार को " प्रत्यक्ष" तथा सन्निकर्ष वा ज्ञान को ' वृत्ति ' कहते हैं, और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के करण होने में " सविकल्पक प्रमा " तथा ज्ञाननिर्विकल्पक प्रमा के करण होने में हानादि बुद्धि " फल " है।

यहां पर कई एक लोग यह आशङ्का करते हैं कि प्रमाता, प्रमेय आदि प्रमा के अनेक कारण प्रमाण लक्षण के अन्तर्गत होने चाहिये ? इसका उत्तर यह है कि " अन्यत्र मना अभूवंनाश्रौषम् " = मेरा चित्त अन्यत्र आसक्त था इसलिये नहीं सुना, यहां प्रमाता प्रमेय के होने पर भी प्रमा के न होने से और इन्द्रिय संयोगादि के अव्यवहित उत्तर क्षण में प्रमारूप फल के पाये जाने

से इन्द्रियसंयोगादि ही करण हैं प्रमाता आदि नहीं, क्योंकि प्रमाता आदि प्रमा के कारण होने पर भी साधकतम न होने से करण नहीं होसकते, और महर्षि पाणिनि ने भी कहा है कि "साधकतमं करणम्" = अष्टा० १।४।४२ = क्रिया के साधन काल में जिसके व्यापारानन्तर ही फल = क्रिया की सिद्धि हो वह साधकतम कारक करणसंज्ञक होता है और यही आशय हरिकारिक में भर्तृहरि ने इस प्रकार स्फुट किया है कि:—

क्रियायाः फल निष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम् ।
विवक्ष्यते यदायत्र करणं तत्तदा स्मृतम् ॥ ह० का०

जिसके व्यापारोत्तर क्षण में ही क्रिया की सिद्धि विवक्षित हो उसको "करण" कहते हैं ।

सार यह है कि जो व्यापार वाले असाधारण कारण को करण मानते हैं उनके मत में इन्द्रिय "करण" उक्त छःप्रकार का सन्निकर्ष "व्यापार" तथा प्रत्यक्ष प्रमा "फल" है और जो करण का उक्त लक्षण नहीं मानते अर्थात् "यस्मिन्सत्यविलम्बेन कार्य्यमुत्पद्यते तत्करणम्" = जिसके होने से अव्यवहित उत्तर क्षण में कार्य्य की उत्पत्ति हो उसको "करण" कहते हैं, ऐसा कथन करते हैं, उनके मत में इन्द्रिय करण नहीं किन्तु इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ही करण है, क्योंकि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के होने पर ही अव्यवहित उत्तर क्षण में प्रत्यक्ष प्रमा रूप कार्य्य की

उत्पत्ति होती है न होने से नहीं, इस मत में घट का करण कपाल नहीं किन्तु कपालद्वयसंयोग है, प्रथम पक्ष "विश्वनाथ" प्रभृति नवीन नैयायिकों का और द्वितीय पक्ष "गौरीकान्तसार्वभौम भट्टाचार्य्य" आदि प्राचीन नैयायिकों का है, वैदिकसिद्धान्त में दोनों पक्ष माननीय हैं ॥

सं०—अब अनुमान का लक्षण तथा उसके भेद कथन करते हैं:—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेष-वत्सामान्यतोदृष्टञ्च ॥ ५ ॥

पद०—अथ । तत्पूर्वकं । त्रिविधं । अनुमानं । पूर्ववत् । शेषवत् । सामान्यतोदृष्टं । च ।

पदा०—(तत्पूर्वकं) लिङ्ग के देखने से जो लिङ्गी का ज्ञान होता है उसको (अनुमानं) अनुमान कहते हैं (च) और वह (पूर्ववत्) पूर्ववत् (शेषवत्) शेषवत् (सामान्यतोदृष्टं) सामान्यतोदृष्ट भेद से (त्रिविधं) तीन प्रकार का है ॥

भाष्य—सूत्र में "अथ" शब्द प्रत्यक्ष तथा अनुमान का कार्य्यकारणभाव कथन करने के लिये आया है । लिङ्ग से जन्य ज्ञान का नाम अनुमान = अनुमिति है और अनुमिति के करण को "अनुमान" कहते हैं अर्थात् "अनु" उपसर्ग पूर्वक "मा" धातु

के उत्तर भावार्थ में अथवा करण अर्थ में "ल्युट्" प्रत्यय के लगाने से "अनुमान" शब्द सिद्ध होता है, प्रथम अर्थ में "अनुमीयत इति अनुमानम्"=जो हेतु से सिद्ध कियाजाय उसको "अनुमान" कहते हैं, इस व्युत्पत्ति से "अनुमान" पद अनुमिति प्रमा का और दूसरे अर्थ में अनुमीयतेऽनेनेति अनुमानम्"=जिससे अनुमिति हो उसका नाम "अनुमान" है, इस व्युत्पत्ति से अनुमान पद अनुमिति प्रमा के करण का वाचक है, इससे सिद्ध है कि लिङ्ग के देखने से जो ज्ञान होता है उसका नाम "अनुमिति" और अनुमिति प्रमा के असाधारण कारण का नाम "अनुमान" है, और वह पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट भेद से तीन प्रकार का है, "परोक्षार्थो लिङ्ग्यतेगम्यतेऽनेनेति लिङ्गम्"=जिससे परोक्ष अर्थ जानाजाय उसका नाम "लिङ्ग" और "लिङ्गमस्यास्तीतिलिङ्गी"= जो लिङ्ग से सिद्ध हो उसका नाम "लिङ्गी" है, लिङ्ग, हेतु यह दोनों और लिङ्गी तथा साध्य यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं।

"यत्र कारणेन कार्य्यमनुमीयते यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति" न्या०भा०=कारण को देखकर कार्य्य के अनुमान को "पूर्ववत्" कहते हैं, जैसाकि मेघों को देखकर भविष्यत् वृष्टि का अनुमान होता है।

कई एक लोग "तेनतुल्यं क्रिया चेद्वति" अष्टा० ५।१।११५ इस सूत्र से "वति" प्रत्यय लाकर यह अर्थ करते हैं कि "पूर्वेण तुल्यं पूर्ववत्" = जो पूर्व के सदृश हो उसको "पूर्ववत्" कहते हैं-अर्थात् "सम्बन्ध ग्रहण काले लिङ्गलिङ्गिनो प्रत्यक्षतः स्वरूपमवधार्य्य पुनस्तादृशेवलिंगेनतादृगेवलिंगीतत्पूर्वेण तुल्यं वर्तत इति पूर्ववदनुमानम् यथा महानसे धूमाग्नी सहचरितौ दृष्ट्वा पुनः पर्वते धूमाग्न्यनुमानम्" न्या० मं० = जहां हेतु होता है वहीं साध्य रहता है; इस व्याप्ति के ज्ञानपूर्वक लिङ्ग लिङ्गी के स्वरूप को प्रत्यक्षद्वारा अनुभव करके किसी अन्य काल में वैसे ही लिङ्ग से वैसे ही लिङ्गी के अनुमान का नाम "पूर्ववत्" है, जैसाकि महानस में देखे हुए धूम के समान पर्वतवृत्ति धूम से महानसवर्त्ति वन्हि के सदृश ही पर्वतवृत्ति वन्हि का अनुमान "पूर्ववत्" है।

"शेषवत् यत्रकार्य्येणकारणमनुमीयते पूर्वोदक विपरीतमुदकं नद्यापूर्णत्वं शीघ्रत्वं च दृष्ट्वानुमीयते भूतावृष्टिरिति" न्या० भा० = कार्य्य को देखकर कारण क अनुमान को "शेषवत्" कहते हैं, जैसाकि नदी की बाढ़ को देखकर ऊपर हुई वृष्टि का अनुमान होता है, इसका दूसरा लक्षण

यह है कि:—

" शेषवन्नामपरिशेषः, सच प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः सदनित्यमेवमादिना द्रव्यगुणकर्मणामविशेषेण सामान्यविशेषसमवायेभ्यो निर्भक्तस्य शब्दस्य तस्मिन् द्रव्यगुणकर्म संशये न द्रव्यमेकद्रव्यत्वात्, न कर्मशब्दान्तरहेतुत्वात्,यस्तु शिष्यते सोयमिति शब्दस्य गुणत्व प्रतिपत्तिः " न्या० भा०=प्राप्त के निषेध तथा अन्य में अप्राप्ति द्वारा शेष विषय में अनुमिति के हेतु का नाम " परिशेष " है, परिशेष तथा शेषवत् यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, जैसाकि जो सत्ता वाला अनित्य होता है वह द्रव्य, गुण वा कर्म होता है यह नियम है, इस *नियम के अनुसार शब्द भी सत्तावालाऔर अनित्य होने के कारण* द्रव्य, गुण अथवा कर्मरूप होना चाहिये परन्तु एक द्रव्य के आश्रित होने से वह द्रव्यरूप नहीं क्योंकि अनित्य द्रव्य अनेक द्रव्यों के आश्रित होते हैं, यदि शब्द द्रव्यरूप होता तो घटादि अनित्य द्रव्यों की भांति अनेक द्रव्याश्रित होता परन्तु वह ऐसा नहीं और कर्म इसलिये नहीं कि अपने से उत्तरवर्त्ति शब्द का कारण है तथा कर्म कर्मान्तर का कारण नहीं होसक्ता, और सामान्य, विशेष तथा समवाय में उसकी प्राप्ति नहीं अर्थात् सामान्य आदि सत्ता वाले तथा अनित्य नहीं होते, अतएव शब्द को सामान्य आदि

रूप मानना ठीक नहीं, परिशेष से जो गुण पदार्थ है. वही शब्द है, इस प्रकार शब्द का गुण रूप से अनुमान " शेषवत् "कहाता है।

" सामान्यतोदृष्टं नाम यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनो सम्बन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षोलिङ्गी गम्यते यथेच्छादिभिरात्मा " न्या० भा० = लिङ्ग के प्रत्यक्ष होने पर भी लिङ्गी के प्रत्यक्ष न होने से लिङ्गलिङ्गी की सामान्य व्याप्ति द्वारा जिससे परोक्ष लिङ्गी का ज्ञान होता है उसको " सामान्यतोदृष्ट " कहते हैं, जैसाकि जो गुण है वह गुणी के आश्रित रहता है, इस प्रकार सामान्यव्याप्ति द्वारा आत्मा की सिद्धि में इच्छा आदि गुण " सामान्यतोदृष्ट " अनुमान है।

" विश्वनाथ " का कथन यह है कि " पूर्ववत् " से "केवलान्वयी " का, " शेषवत् " से " केवलव्यतिरेकी " तथा " सामान्यतोदृष्ट " से " अन्वयव्यतिरेकी " अनुमान का ग्रहण है, " निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः असद्विपक्षः केवलान्वयी " = जिसमें साध्याभाव का निश्चय हो उसको " विपक्ष " तथा जिसका कोई विपक्ष नहो उसको "केवलान्वयी " कहते हैं, जैसाकि " पटःप्रमेयोऽभिधेयत्वात् घटवत् " = जो अभिधेय होता है वह " प्रमेय " है, इस

नियम के अनुसार घट की भांति अभिधेय होने से पट प्रमेय है, इस अनुमान में "अभिधेयत्वात्" हेतु केवलान्वयी है, क्योंकि पदार्थमात्र अभिधेय तथा प्रमेय होने से प्रमेयरूप साध्याभाव का निश्चायक कोई विपक्ष नहीं पायाजाता, इसलिये विपक्षवाला न होने के कारण उक्त हेतु "केवलान्वयी" कहाता है, प्रमा के विषय का नाम "प्रमेय" तथा "इस पद से यह अर्थ जानाजाता है" इस प्रकार पदशक्ति के विषय का नाम "अभिधेय" है,

"निश्चितसाध्यवान्सपक्षः, असत्सपक्षःकेवलव्यतिरेकी"=जिसमें साध्य का निश्चय हो वह "सपक्ष" तथा जिस हेतु का कोई सपक्ष न हो उसको "केवलव्यतिरेकी" कहते हैं जैसाकि "प्रत्यक्षादिकं प्रमाणं प्रमाकरणत्वात् यत्प्रमाणं न भवति न तत्प्रमाकरणं यथा प्रत्यक्षाभासः न पुनस्तथेदं तस्मान्न तथेति" त० भा० = प्रमा का करण होने से प्रत्यक्षादिक प्रमाण हैं, इस अनुमान में "प्रमाकरणत्वात्" हेतु "केवलव्यतिरेकी" है, क्योंकि उसका कोई सपक्ष नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि साध्याभाव का व्यापक जो अभाव उसके प्रतियोगित्व का नाम "व्यतिरेकव्याप्ति" और उक्त व्याप्तिवाले हेतु को "केवलव्यतिरेकी" कहते हैं, जैसाकि उक्त अनुमान में "यत्रप्रमाणाभावस्तत्रप्रमाकरणत्वा-

भाव:" = जहां प्रमाण का अभाव है वहां प्रमाकरणत्व का भी अभाव है, इस नियम से प्रमाण का अभाव व्याप्य तथा प्रमाकरणत्व का अभाव व्यापक है, इसलिये प्रमाण रूप साध्य के अभाव का व्यापक जो प्रमाकरणत्व का अभाव उसका प्रतियोगि होना ही प्रमाकरणत्व हेतु में प्रमाण साध्य की "व्यतिरेकव्याप्ति" कहाती है और उक्त व्याप्ति वाले प्रमाकरणत्व हेतु को "केवलव्यतिरेकी" कहते हैं, व्याप्ति के आश्रयभूत धूमादि हेतुओं को "व्याप्य" तथा जिसकी हेतु में व्याप्ति पाईजाय उसको "व्यापक" कहते हैं।

भाव यह है कि प्रत्यक्षादि पक्षरूप होने के कारण उक्त हेतु का कोई सपक्ष नहीं इसलिये वह केवलव्यतिरेकी है, "पक्ष से भिन्न दृष्टान्त होता है" यदि इस नियम को न माना जाय तो उक्त अनुमान के मानने की कोई आवश्यकता नहीं, इस बात को "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में विस्तारपूर्वक लिखा है इसलिये यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं।

"सत्सपक्षविपक्षः अन्वयव्यतिरेकी" = जिसके सपक्ष तथा विपक्ष दोनों पाये जायं उस अनुमान को "अन्वयव्यतिरेकी" कहते हैं जैसाकि "पर्वतो वन्हिमान् धूमवत्त्वात् महानसवत्" = जहां धूम है वहां वन्हि है, इस नियम

से महानस की भांति धूमरूप हेतु के पाये जाने से पर्वत वन्हि वाला है, इस अनुमान में "धूमवत्त्वात्" हेतु अन्वयव्यतिरेकी है अर्थात् उक्त हेतु का दृष्टान्तभूत सपक्ष महानस है क्योंकि उसमें प्रथम वन्हि रूप साध्य का निश्चय किया गया है और महाह्रद विपक्ष इसलिये है कि "जहां वन्हि नहीं वहां धूम नहीं" इस व्यतिरेकव्याप्ति से महाह्रद में वन्हिरूप साध्य का अभाव पायाजाता है, इस प्रकार सपक्ष तथा विपक्षवाला होने के कारण "धूमत्वात्" हेतु अन्वय-व्यतिरेकी कहाता है, यही रीति सर्वत्र अनुमानों के लापन में जाननी चाहिये ॥

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि अन्वयव्याप्ति, व्यतिरेकव्याप्ति तथा अन्वयव्यतिरेकव्याप्ति भेद से व्याप्ति तीन प्रकार की है, साध्य साधन की व्याप्ति का नाम "अन्वयव्याप्ति" साध्याभाव साधनाभाव की व्याप्ति का नाम "व्यतिरेकव्याप्ति" तथा दोनों की व्याप्ति का नाम "अन्वयव्यतिरेकव्याप्ति" है, इस प्रकार व्याप्ति के तीन भेद होने के कारण अनुमान के भी उक्त तीन भेद हैं, और मीमांसाभाष्यवार्तिक में कथन किया है कि:—

अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते ।
साध्याभावोऽन्यथा व्याप्यः व्यापकः साधनात्ययः ॥
व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते ।
तयोरभावयोस्तस्माद्विपरीतः प्रतीयते ॥

व्याप्यस्य वचनं पूर्वं व्यापकस्य ततः परम् ।
एवं परीक्षिता व्याप्तिः स्फुटीभवति तत्वतः ॥

अर्थ–अन्वयव्याप्ति में धूम आदि हेतु "व्याप्य" तथा वन्हिआदि साध्य "व्यापक" होते हैं परन्तु व्यतिरेकव्याप्ति में इससे विपरीत नियम है अर्थात् व्यतिरेकव्याप्ति में वान्हि आदि साध्य का अभाव व्याप्य तथा धूम आदि साधन का अभाव "व्यापक" है और व्याप्ति के ज्ञापन काल में प्रथम "व्याप्य" का उच्चारण करना चाहिये और पीछे "व्यापक" का जैसाकि "यत्र२ धूमः तत्र२ वन्हिः" =जहां२ धूम है वहां२ वान्हि है, इस अन्वयव्याप्ति में प्रथम व्याप्य धूम का तथा पीछे व्यापक वन्हि का कथन है, और "यत्र२वन्ह्यभावस्तत्र२ धूमाभावः" = जहां २ वन्हि का अभाव है वहां २ धूम का भी अभाव है, इस व्यतिरेकव्याप्ति में प्रथम व्याप्य वन्ह्यभाव का और पीछे व्यापक धूमाभाव का कथन है, इस प्रकार परीक्षा द्वारा व्याप्ति का बोध भ्रान्ति रहित होजाता है ॥

यहां यह विशेष स्मरण रहे कि "तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनो सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनञ्चाभिसम्बध्यते लिङ्गलिङ्गिनोःसम्बद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गस्मृतिरभिसम्बध्यते स्मृत्यालिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते" न्या० भा० ="तत्पूर्वक" पद से लिङ्गलिङ्गी के सम्बन्ध का ज्ञान

तथा लिङ्ग ज्ञान अभिप्रेत है अर्थात् "लिङ्गलिङ्गिसम्बन्ध दर्शनमाद्यं प्रत्यक्षं लिंगदर्शनं द्वितीयं, बुभुत्सावतो द्वितीयाल्लिङ्गदर्शनात्संस्काराभिव्यक्त्युत्तरकालंस्मृतिः स्मृत्यनन्तरञ्चपुनर्लिंगदर्शनमयंधूम इति तदिदमन्तिमं प्रत्यक्षं पूर्वाभ्यां प्रत्यक्षाभ्यां स्मृत्याचानुगृह्यमाणं परामर्शरूपमनुमानं भवति, यत्पुनरस्यफलमग्नि विषया प्रतिपत्तिः" न्या० वा० = महानसादि में लिङ्गलिङ्गी के व्याप्ति ज्ञान रूप प्रथम प्रत्यक्ष के अनन्तर पर्वतादि पक्ष में धूमादि लिङ्ग का द्वितीय प्रत्यक्ष होने पर अनुमित्सा वाले पुरुष को संस्कारों के उद्बोध द्वारा "जहां धूम है वहां वन्हि है" इस व्याप्ति ज्ञान का स्मरण होता है, और उक्त व्याप्ति स्मृति के अनन्तर जो "अयं धूमः" = यह धूम है, इस प्रकार तृतीय लिङ्गदर्शन अर्थात् धूम हेतु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वही अनुमिति का करण होने से अनुमान कहाता है जिसका फल "पर्वतो वन्हिमान्" = पर्वत वन्हि वाला है, इस प्रकार की अनुमिति प्रमा है, अनुमान की इच्छा को "अनुमित्सा" तथा तृतीय लिङ्गज्ञान को "लिङ्गदर्शन" वा "लिङ्गपरामर्श" कहते हैं, इसी अभिप्राय से "वाचस्पतिमिश्र" का कथन है कि

"सम्बन्धस्मृतिसहकारिणेन्द्रियेणस्वसाध्याविनाभूत लिंगविज्ञानंयदुपजन्यते तत्परामर्श इत्याख्यायते" न्या०वा०ता० = जो व्याप्ति स्मृतिपूर्वक अपने साध्य के एक अधिकरण में रहने वाले लिङ्ग का इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है उसी का नाम **"परामर्श"** है ॥

यहां पर कई एक लोग यह आशंका करते हैं कि "कथं-पुनरन्यविषयंकरणमन्यविषयां क्रियां करोति, न पुनः शाल्यादि विषयस्य मुषलादेः करणस्य श्यामाकेऽभि-हतिर्भवति" न्या०वा० = जिस वस्तु का जो करण होता है वह उसमें फल उत्पन्न करता है, यह नियम है, इस नियम के अनु-सार जैसे धान कूटने से मूषल की क्रिया सांवा में नहीं पाई जाती इसी प्रकार धूम विषयक परामर्श = धूमज्ञानरूप करण से वन्हि का अनुमितिरूप फल नहीं होना चाहिये ? इसका उत्तर यह है कि "यद्विषयं करण तद्विषया क्रियेति न नियमोऽस्ति, दृष्टा हि वृक्षादिविषयस्य छेदनस्यावयवक्रियेति, वृक्षः छिद्यतेऽवयवे क्रियेति" न्या०वा० = जिस प्रकार वृक्ष के अवयवों में होने वाले पतनरूप व्यापार से तज्जन्य छेदन फल वृक्ष में पायाजाता है इसी प्रकार धूमविषयक परामर्श से पर्वत में वन्हिविषयक अनुमिति के होने में कोई दोष नहीं अर्थात् करण

का फल अपने विषय में ही होता है अन्यत्र नहीं, यह सार्वभौम नियम नहीं होसकता किन्तु "यथादर्शनं नियमः" = दर्शन के अनुसार करण के फल का नियम है, जैसाकि तण्डुलवृत्ति पाकानुकूल व्यापार पाकरूप फल को तण्डुलों में और वृक्षावयववृत्ति कुठार व्यापार छेदन फल को अवयवी वृक्ष में उत्पन्न करता है, प्रकृत में भी कुठार व्यापार की भांति धूमविषयक परामर्श वन्हि विषयक अनुमिति फल का जनक समझना चाहिये।

तात्पर्य्य यह है कि "स्वाभाविकासम्बन्धो व्याप्तिः" = साध्यसाधन के स्वाभाविक सम्बन्ध का नाम व्याप्ति है, और "व्याप्तिवलेनार्थगमकंलिंगम्" = व्याप्ति वल से परोक्ष अर्थ के बोधक हेतु को "लिङ्ग" कहते हैं, जैसाकि वन्हि धूम के व्याप्ति ज्ञान से पर्वत में वन्हि साध्य की अनुमिति का हेतु धूमलिङ्ग है, महानसादि में अनेक वार धूम तथा वन्हि के देखने से वन्हि धूम के स्वाभाविक सम्बन्ध का प्रथम ज्ञान तथा पर्वतादि पक्ष में दूसरी वार धूम दर्शन के अनन्तर "जहां धूम है वहां वन्हि है" इस प्रकार व्याप्ति स्मृति के उत्तर काल में जो पर्वतवृत्ति धूम लिङ्ग का तृतीय ज्ञान होता है उसको "लिङ्गपरामर्श" कहते हैं, और यही अनुमिति का करण होने से अनुमान है, इस प्रकार तत्पूर्वक पद का यह अर्थ हुआ कि "ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वे यस्य प्रत्यक्षस्य तदिदं तत्पूर्वकं प्रत्यक्षमिति" न्या० भा० = जिसके पूर्वकाल में दोनों प्रत्यक्ष हों उस प्रत्यक्ष का नाम "तत्पूर्वक" है और वह

उक्त रीति से लिङ्गपरामर्शात्मक तृतीय ज्ञान ही अनुमिति का करण माना गया है, यह मत प्राचीन नैयायिकों का है नवीनों का मत तथा अनुमान की विशेष प्रकार से लापन की रीति "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में विस्तारपूर्वक निरूपण कीगई है ॥

स्मरण रहे कि "सद्विषयं च प्रत्यक्षं सदसद्विषयं-चानुमानं कस्मात् तत्रैकाल्यग्रहणात् त्रिकालयुक्ता अर्थानुमानेन गृह्यन्ते भविष्यतीत्यनुमीयते भवतीति चाभूदिति" न्या०भा० = प्रत्यक्ष का विषय केवल वर्त्तमान पदार्थ हैं परन्तु अनुमान से त्रैकालिक पदार्थों का बोध होता है, जैसाकि पीछे कार्य्य कारणादि अनुमान द्वारा भूत, भविष्य वृष्टि का तथा धूम से वन्हि का ज्ञान कथन कर आये हैं ॥

सं०—अब उपमान का लक्षण कथन करते हैं :—

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ।७।

पद०—प्रसिद्धसाधर्म्यात् । साध्यसाधनम् । उपमानम् ।

पदा०—(प्रसिद्धसाधर्म्यात्) प्रसिद्ध पदार्थों के साधर्म्य से (साध्यसाधनम्) साध्य की सिद्धि को (उपमानम्) उपमान कहते हैं ।

भाष्य—पूर्वज्ञात का नाम "प्रसिद्ध" और समानधर्म का नाम "साधर्म्य" है, साधर्म्य, सापेक्ष तथा सारूप्य यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, पूर्व ज्ञात पदार्थ के समान धर्म द्वारा साध्य =

उपमेय की सिद्धि को उपमान = उपमिति कहते हैं और वह जिस कारण द्वारा ज्ञात हो उसका नाम "उपमान" है, अनुमान की भांति उपमान भी करणवाची और भाववाची जानना चाहिये, जैसाकि "गवय" पद के वाच्यार्थ को न जानने वाले नगर निवासी पुरुष ने वनवासी पुरुष से पूछा कि "कीदृशोगवयः" = गवय कैसा होता है, तब वनवासी ने कहा कि "गोशदृशो गवय" = गौ के सदृश गवय होता है, इस प्रकार वनवासी पुरुष के वाक्य को सुनकर नगरनिवासी पुरुष ने वन में जाकर गोसदृश व्यक्ति को देखा और "गोसदृशोगवयः" इस वाक्यार्थ के स्मरण से "अयंगवयपद्वाच्यः" = यह गवय पद का वाच्यार्थ है अर्थात् इस पशु की गवय संज्ञा है, उसको जो ज्ञान उत्पन्न हुआ उसका नाम "उपमिति" और "उपमिति" के असाधारण कारण का नाम "उपमान" है।

इस प्रकार उपमान का निष्कृष्ट लक्षण यह हुआ कि "सादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानम् उपमानम्" = सादृश्यवाली व्यक्ति के ज्ञान का नाम "उपमान" और "उपमानजन्यंज्ञानमुपमिति" = उपमान जन्य ज्ञान का नाम "उपमिति" है अर्थात् "अयंगवयपद्वाच्यः" = यह गवय पद का वाच्यार्थ है, इस प्रकार पदपदार्थ के सम्बन्धज्ञान = शक्तिज्ञान को उपमिति

कहते हैं, इस रीति से सादृश्यज्ञान "करण" आप्तवाक्यार्थ की स्मृति "व्यापार" तथा गवयादि पदों का शक्तिज्ञान "फल" है

भाव यह है कि जब पुरुष आप्तवाक्यार्थ से "गौ के समान गवय है" इस गौ, गवय के साधर्म्य को जान लेता है तब उसको कालान्तर में साधर्म्य ज्ञान द्वारा जो गवयादि पदों का अपने अर्थ के साथ संज्ञासंज्ञीसम्बन्ध का ज्ञान होता है वही उपमान प्रमाण का फल उपमिति ज्ञान कहाता है, जैसाकि :—

सम्बन्धस्य परिच्छेद संज्ञायाः संज्ञिना सह ।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः ॥ न्या० कु०

जो गवयादि संज्ञावाची पदों का गवयादि व्यक्ति विशेष के साथ शक्ति का निश्चय होता है वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा नहीं होसक्ता किन्तु उक्त निश्चय का असाधारण कारण उपमान प्रमाण है ।

कई एक लोग सादृश्यज्ञान की भांति वैधर्म्य ज्ञान को भी उपमिति का कारण मानते हैं, उनका कथन यह है कि खड्गमृग पद के वाच्यार्थ को न जानने वाले नगरवासी ने वनवासी से सुना कि **उष्ट्रविधर्म्मा नासिकाग्रे च लसदेकशृङ्गः खड्गमृगः** = ऊंट से विपरीत ह्रस्व ग्रीवादि अवयवों वाला और नासिका के अग्रभाग में सींग वाला पशुविशेष खड्गमृग = गेंडा पद का वाच्यार्थ है, इस प्रकार वनवासी पुरुष के वाक्य को सुन

कर नगरनिवासी ने वन में जाकर वैसेही पशु को देखा और उक्त वाक्यार्थ के स्मरण से उसको यह ज्ञान हुआ कि "अयंखड्गमृग वाच्यः" = यह खड्गमृग पद का वाच्यार्थ है, इसी का नाम उपमिति है, इस उपमिति का वैधर्म्यज्ञान "करण" वाक्यार्थ स्मृति "व्यापार" तथा उष्ट्रविरुद्धधर्मवाली व्यक्ति का प्रत्यक्ष सहकारीकारण है परन्तु नवीन नैयायिक उक्त व्यक्ति के इन्द्रियजन्य ज्ञान को करण, वाक्यार्थस्मृति को व्यापार और वाक्यार्थज्ञान को सहकारी कारण मानते हैं पर उक्त दोनों मतों में कारणभेद होने पर भी फल भेद नहीं।

आधुनिक वेदान्ती उपमान को इस प्रकार लापन करते हैं कि जब गो व्यक्ति के देखने वाला ग्रामवासी वन में जाकर गवय को देखता है तब उसको प्रथम "अयंगोसदृशः" = यह पशु गौ के सदृश है, इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और उस के अनन्तर "अनेनसदृशीमदीयागौ" = मेरी गो इस गवय के सदृश है, जो यह ज्ञान होता है उसीको "उपमिति" कहते हैं अर्थात् गवय में गोसादृश्य ज्ञान "उपमानप्रमाण" और गौ में गवय सादृश्य ज्ञान "उपमिति" फल है, इस मत में उपमान लक्षण का भेद न होने पर भी उपमिति के स्वरूप तथा लक्षण का भेद स्पष्ट पाया जाता है अर्थात् न्याय मत में संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध ज्ञान का नाम "उपमिति" है, और नवीन वेदान्ती-

"सादृश्यज्ञानजन्यंज्ञानमुपमिति" = सादृश्य ज्ञान से जन्य ज्ञान को उपमिति कहते हैं, इस रीति से गवयवृत्ति गौ का सादृश्य ज्ञान करण और गोवृत्ति गवय का सादृश्य ज्ञान फल है। कई एक लोगों का कथन है कि जहां उपमान उपमेय भाव पायाजाय वहीं उपमान प्रमाण का विषय होसकता है सर्वत्र नहीं, जैसाकि "माषेणमाषपर्णीमुपमिनोमि" = माष से माषपर्णी का उपमान करता हूं, इस ज्ञान में माष उपमान तथा माषपर्णी उपमेय है, जिसकी उपमा हो उसको "उपमान" तथा जिसके लिये उपमा कथन कीजाय उसको "उपमेय" कहते हैं, इस प्रकार उक्त अनुभव द्वारा उपमान उपमेय भाव के सिद्ध होने पर माष के सादृश्य ज्ञान से माषपर्णी की उपमिति में कोई बाधा नहीं परन्तु वैधर्म्यज्ञानजन्य उपमिति के उदाहरणों में उपमानोपमेयभाव न होने से उपमिति का कथन केवल साहस मात्र है? इसका उत्तर यह है कि यदि वैधर्म्य ज्ञान से होने वाली उपमिति को उपमान प्रमाण सिद्ध न मानाजाय तो उसके लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता होगी और वह जिस प्रमाण से सिद्ध कीजायगी उसीसे सादृश्यज्ञानजन्य उपमिति ज्ञान भी होजायगा फिर उपमान प्रमाण का मानना ही निरर्थक है, यदि यह कहाजाय कि गवय के प्रत्यक्ष काल में गौ के सादृश्य का प्रत्यक्ष होता है परन्तु गौ में गवय के सादृश्य का प्रत्यक्ष नहीं होसक्ता क्योंकि धर्म्मी के साथ इन्द्रियसंयोग के उत्तर काल में संयुक्तसमवायसम्बन्ध

द्वारा सादृश्यधर्म्म का प्रत्यक्ष होता है, यह नियम है, इस नियम के अनुसार गोरूप धर्म्मी के साथ इन्द्रियसंयोग का अभाव होने से गौ में गवय सम्बन्धी सादृश्य प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं, इस लिये गो में गवय के सादृश्यज्ञान का हेतु गवय दृत्ति गो सादृश्य ज्ञान रूप उपमान प्रमाण के माने विना निर्वाह नहीं, होसकता, इसका उत्तर यह है कि खड्गमृग पशु में ऊंट के वैधर्म्म का प्रत्यक्ष होने पर भी ऊंट के साथ इन्द्रियसंयोग न होने से ऊंट में खड्गमृग के वैधर्म्म का ज्ञान प्रत्यक्षरूप नहीं होसक्ता, अतएव ऊष्ट्रवृत्ति खड्गमृग के वैधर्म्म ज्ञान का हेतु खड्गमृग में होने वाले ऊष्ट्र सम्बन्धी वैधर्म्म ज्ञान रूप उपमान प्रमाण का मानना आवश्यक है ॥

"जयन्तभट्ट" ने प्राचीन नैयायिकों के मत को इस प्रकार लापन किया है कि "संज्ञासंज्ञीसम्बन्धप्रतीतिफलं प्रसिद्धेतरयोः सारूप्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमेवोपमानम्" न्या०मं० = पूर्वज्ञात गो आदि व्यक्ति तथा अज्ञात गवादिकों के सादृश्य को प्रतिपादन करने वाला "गोसदृशोगवयः" यह वाक्य ही उपमान प्रमाण है सादृश्य ज्ञान नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य ही प्रसिद्ध गौ द्वारा अप्रसिद्ध गवय के सादृश को प्रतिपादन करता हुआ गवय संज्ञा के वाच्यार्थ को बोधन करता है, इससे सिद्ध है कि सादृश प्रतिपादक वाक्य "करण" वाक्य स्मरण "व्यापार" और संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति "फल"

है, और गौ का सादृश ज्ञान वाक्यानुभवजन्य संस्कारों का उद्बोधक होने से केवल सहकारी कारण है करण नहीं।

ननु–उक्त वाक्य शब्द रूप होने से शब्दप्रमाण ही मानना चाहिये उपमान प्रमाण नहीं, क्योंकि यदि संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध ज्ञानरूप फल भेद से उक्त वाक्य की उपमान संज्ञा कीजाय तो अनन्त प्रमाणों की कल्पना करनी पड़ेगी अर्थात् जिस प्रकार भिन्न २ फल प्रतिपादक लौकिक वैदिक विधि निषेध वाक्य एक ही शाब्दीप्रमा के हेतु होने से शब्दप्रमाण माने जाते हैं इसी प्रकार "यथा गौ तथा गवयः" यह वाक्य फलभेद होने पर भी शब्द प्रमाण से पृथक् नहीं होसकता ? उत्तरः—

"यत्र शब्दप्रत्ययादेव तत्प्रणेतृ पुरुष प्रत्ययादेव वा अर्थ तथात्वमुपायान्तरानपेक्षमेव गम्यते स आगम एव ततस्तदर्थप्रतीतेः यत्र तु पुरुषः प्रतीत्युपायमपरमुपदिशति तत्र तत एवोपायात्तदर्थावधारणम्, उपायमात्रावगमे तु शब्दव्यापारो यथा परार्थानुमानेऽभिमानयं पर्वतो धूमवत्त्वात् महानसवत् अत्र हि न पुरुषोपदेश विश्वासादेव शैलस्य कृशानुमत्तां प्रतिपत्ता निमित्तान्तरनिरपेक्षः प्रतिपद्यते अपि तु तदवबोधक धूमाख्यलिंगसामर्थ्यादेव तदिह यद्याटविको नागर

काय गवयार्थिने तदवगमोपायं प्रसिद्ध साधर्म्मेना-भ्यधास्य तर्हि तदुपदेश आगम एवान्तरभविष्यत् तदुपदेशात्तु तत एव तदर्थाधिगम इति सत्यापि शब्द स्वभावतो प्रमाणान्तरमेवेदम् प्रतिपत्तापि नागरको नारण्यक वाक्यादेव तं प्राणिनं गवयशब्दवाच्यतया बुध्यते किन्तु सारूप्यं प्रसिद्धेन गवा पश्यति॥न्या०मं०

अर्थ—जहां प्रमाता केवल शब्द की प्रतीति से अथवा शब्द प्रयोक्ता पुरुष के विश्वासमात्र से वस्तु के तात्विक ज्ञान को प्राप्त होता है वहां पर शब्द प्रमाण ही मानाजाता है, क्योंकि वह प्रतीति केवल शब्दजन्य होने से प्रमाणान्तरजन्य नहीं होसकती, परन्तु जब उपदेष्टा शब्दद्वारा वस्तु प्रतीति के साधनान्तर को कथन करता है तब श्रोता को शब्द भिन्न साधन से ही पदार्थ की उपलब्धि होती है जैसाकि "महानस की भान्ति धूमहेतु से यह पर्वत वन्हि वाला है" इस परार्थानुमान के वाक्य में शब्द का व्यापार केवल वन्हि सिद्धि के लिये धूमहेतु के बोधन करने में है वन्हि बोधन करने में नहीं, यदि उक्त वाक्य वन्हिबोधन करने में समर्थ होता तो वन्हिजिज्ञासा वाला पुरुष पुनः धूम लिङ्ग द्वारा वन्हि का निश्चय कदापि न करता, इससे स्पष्ट है कि जहां केवल शब्द से पदार्थ का बोधन कियाजाय वहां "शब्द प्रमाण" और जहां पदार्थ ज्ञान के लिये शब्द द्वारा कोई अन्य उपाय कथन किया जाय वहां शब्द से भिन्न प्रमाण मानना ही ठीक है।

तात्पर्य्य यह है कि यदि वनवासी पुरुष नगरवासी पुरुष को गवय ज्ञान के हेतु गौ के सादृश्य ज्ञान का उपदेश न करता तो "गो सादृशो गवयः" यह वाक्य शब्द प्रमाण के अन्तर्गत माना जाता और तज्जन्य गवय ज्ञान भी उपमिति न कहाता किन्तु उस ज्ञान का "शाब्दबोध" नाम से व्यवहार किया जाता, परन्तु ऐसा नहीं, क्योंकि नगरवासी पुरुष वनवासी के वाक्यमात्र से गवय पद के वाच्यार्थ को न जानता हुआ पूर्वज्ञात गौ के सादृश्य ज्ञान द्वारा ही "इस पशु की गवय संज्ञा है" इस गवय के वाच्यार्थ को जानकर सफल प्रवृत्ति वाला होता है।

सं०—अब शब्द प्रमाण का लक्षण कथन करते हैं:—

आप्तोपदेशः शब्दः। ७।

पद०—आप्तोपदेशः। शब्दः।

पदा०—(आप्तोपदेशः) आप्तोपदेश का नाम (शब्दः) शब्द प्रमाण है।

भाष्य—"आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्म्मायथादृष्टस्यार्थस्यचिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा" न्या०भा० = जिस को पदार्थ का ठीक २ साक्षात्कार हुआ हो, और यथार्थ देखे हुए पदार्थ को यथार्थ कथन करने की इच्छा रखता हो, ऐसे उपदेष्टा का नाम "आप्त" और "आप्तोक्त वाक्यं प्रमाणम्" = आप्त के कथन किये हुए वाक्य का नाम "शब्दप्रमाण" है।

"आकांक्षादिमत्पदसमूहो वाक्यम्"=आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति तथा तात्पर्य्य वाले पदों के समुदाय का नाम "वाक्य" है, असमात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इत्यात्मकःसंकेतःशक्तिः, शक्तिमत्पदम्" =इस पद से इस अर्थ का बोध हो, इस प्रकार के संकेत का नाम "शक्ति" या यों कहो कि नियत पद पदार्थ के सम्बन्ध का नाम "शक्ति" तथा उक्त शक्ति के आश्रय-भूत पद का नाम "शक्त" है, आप्त पुरुषों के उपदेश, वृद्ध पुरुषों के व्यवहार तथा प्रसिद्ध अर्थ वाले पद की समीपता से शक्ति का ग्रहण होता है, जब पुरुष को उक्त तीनों कारणों में से किसी एक कारण द्वारा शक्ति का ग्रहण होजाता है तब कालान्तर में पद समुदाय रूप वाक्यविशेष के श्रवण करने से जो वाक्यार्थ का बोध होता है उसी का नाम "शाब्दीप्रमा" है,और उक्त प्रमा के असाधारण कारण आप्तोक्त वाक्य को "शब्दप्रमाण" कहते हैं, शाब्दबोध, वाक्यार्थज्ञान और शाब्दीप्रमा यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं,उक्त शाब्दबोध में शक्ति वाले पदों का ज्ञान "करण" उपस्थित पदजन्य पदार्थ स्मृति "व्यापार" तथा आकांक्षा आदि चारो "सहकारीकारण" हैं, येनपदेनविनायत्पदस्याननुभावकत्वंतत्पदे तत्पदसमभिव्याहारः आकांक्षा" =जिस पद के विना जो पद अर्थ का बोधक न हो उसको उस पद की अपेक्षा का नाम "आकांक्षा" है,

या यों कहो कि एक पद को दूसरे पद के विना अर्थवोध की अजनकता का नाम "आकांक्षा" है, जैसाकि "संध्यामुपासीत" = संध्या करे, इस वाक्य में "सन्ध्या" कारकपद तथा "उपासीत" क्रियापद है, उक्त क्रियापद कारकपद के विना तथा कारकपद क्रियापद के विना "संध्याकरे" इस अर्थ का वोधक नहीं होसक्ता अर्थात् उक्तार्थवोधन करने के लिये जो क्रियापद को कारकपद की तथा कारकपद को क्रियापद की अपेक्षा है वही "आकांक्षा" कहाती है, और उक्त आकांक्षा के न होने से "गौरश्वःपुरुषो हस्तिनि" = गौ, घोड़ा, पुरुष, हाथी, यह निराकांक्ष पदों का समुदायवाक्य नहीं होसक्ता, क्योंकि इनमें वाक्यार्थवोध के लिये एक दूसरे पद की अपेक्षा नहीं पाई जाती।

"एकपदार्थेऽपरपदार्थसम्वन्धो योग्यता" = एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के सम्वन्ध का नाम "योग्यता" है, या यों कहो कि वाधरहित अर्थ का नाम "योग्यता" है, जैसाकि "सत्यंवद" इस वाक्य में सत्य पदार्थ का "अम्" विभक्ति सम्वन्धी कर्मत्व अर्थ के साथ तथा उक्त अर्थ के साथ "वद" धातु के कथन रूप अर्थ का, और कथनार्थ का कथनानुकूल आख्यातार्थ = पुरुष प्रयत्न के साथ जो उत्तरोत्तर सम्वन्ध पाया जाता है वही "योग्यता" है, जैसाकि "अग्निना सिञ्चेत्" = अग्नि से सिञ्चन करे, यहां

अग्नि रूप करण पदार्थ का सेचन पदार्थ में सम्बन्ध रूप योग्यता नहीं अर्थात् अग्नि में जल की भान्ति सिञ्चन क्रिया की योग्यता नहीं पाई जाती, इसलिये उक्त वाक्याभासों से यथार्थ शाब्दबोध नहीं होता ॥

"यत्पदार्थेन सह यत्पदार्थस्यान्वयोऽपेक्षितस्तयोः पदयोरव्यवधानमासत्तिः" = जिस पद के अर्थ का जिस पदार्थ के साथ सम्बन्ध करना अपेक्षित हो उन पदों की व्यवधान रहित उपस्थिति का नाम "आसत्ति" है अर्थात् उन पदों का विलम्ब से उच्चारण न करना ही "आसत्ति" है, जैसाकि "सत्यंवद" आदि वाक्यों में सत्यादि पदार्थ का वदनादि पदार्थ के साथ सम्बन्ध रूप अन्वय अपेक्षित है, इसलिये उन पदों का जो विलम्ब रहित = साथ २ उच्चारण करना ही "आसत्ति" कहाती है, और आज कथन किये "सत्यं" पद की दूसरे दिन कथन किये हुए "वद" पद के साथ आसत्ति के न होने से वाक्यता नहीं होसक्ती ।

"वक्तुरिच्छा तात्पर्य्यम्" = वक्ता के अभिप्राय का नाम "तात्पर्य्य" है, तात्पर्य्य, अभिप्राय यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, तात्पर्य्य का ज्ञान भी आकांक्षादि की भांति शाब्दबोध का कारण है, यदि उक्त ज्ञान शाब्दबोध का कारण न मानाजाय तो

"सैन्धवमानय" = सैन्धव लाओ, इस वाक्य से श्रोता को सर्वत्र लवण वा अश्व के आनयन का ही बोध होना चाहिये, परन्तु नहीं होता, इससे सिद्ध है कि जो श्रोता को सैन्धव पद से भोजन काल में "लवण" तथा गमन काल में "अश्व" का बोध होता है वह वक्ता का अभिप्राय जानकर ही होता है अन्यथा नहीं, इसलिये तात्पर्य्य ज्ञान भी शाब्दबोध में कारण है ॥

कई एक लोग यह आशंका करते हैं कि यदि वाक्यार्थ-बोध में पदजन्य पदार्थ की स्मृति को व्यापार मानाजाय तो घट पद के उच्चारण करने से श्रोता को समवायसम्बन्ध द्वारा आकाशरूप अर्थ की स्मृति के अनन्तर आकाश का बोध होना चाहिये ? इसका उत्तर यह है कि पदजन्य पदार्थ की स्मृति का नियामक सम्बन्ध वृत्तिरूप है समवाय आदि नहीं अर्थात् घटादि पदों का अपने अर्थ के साथ जो वृत्तिरूप सम्बन्ध है वही पदों के श्रवण से पदार्थ स्मृति का नियामक होता है अन्य नहीं।

सार यह है कि " शाब्दबोधहेतुपदार्थोपस्थित्यनुकूलः पदपदार्थयोः सम्बन्धः वृत्तिः " = शाब्दबोध का हेतु जो पदार्थ स्मृति के अनुकूल पदपदार्थ का सम्बन्ध उसको "वृत्ति" कहते हैं, जिस पुरुष को वृत्ति सम्बन्ध ज्ञान है उसको वाक्य श्रवण के अनन्तर सब पदों का साक्षात्कार होता है और जिसको उक्त सम्बन्ध ज्ञात नहीं उसको नहीं होता, इस रीति से जिस पद की जिस अर्थ में वृत्ति ज्ञात है उस पद से उस अर्थ की

स्मृति के अनन्तर जो परस्परसम्बन्ध वाले सब पदार्थों का बोध अथवा सब पदार्थों के परस्परसम्बन्ध का बोध होता है उसी को शास्त्र की परिभाषा में "शाब्दबोध" कहते हैं, जैसाकि गुरु ने शिष्य को कहा कि "त्वं वेदपुस्तकमानयः"=तु वेदपुस्तक लेआ, इस वाक्य में वेदपुस्तक पद की पत्राकार व्यक्तिविशेष में तथा द्वितीयाविभक्ति की कर्म में और आपूर्वक "नी" धातु की आनयन में शक्ति है, यकारोत्तर अकार की प्रयत्नविशेष और प्रेरणा में तथा "त्वं" पद की सम्बोधन योग्य चेतनविशेष=शिष्य में शक्ति है, इस प्रकार पदशक्ति ज्ञान वाले शिष्य की श्रोत्रेन्द्रिय के साथ उक्त गुरुवाक्य का सम्बन्ध होने पर ही प्रथम सम्पूर्ण पदों का श्रावण साक्षात्कार होता है, और "एक सम्बन्धि ज्ञान-मपरसम्बन्धिस्मारकम्"=एक सम्बन्धी का ज्ञान संस्कारों के उद्बोधद्वारा दूसरे सम्बन्धी की स्मृति का हेतु होता है, इस नियम के अनुसार पदरूप सम्बन्धी के श्रावण साक्षात्कार से संस्कारों के उद्बोधद्वारा उत्पन्न हुए अर्थरूप सम्बन्धी के स्मृतिरूप व्यापार वाले उक्त गुरु वाक्य से शिष्य को यह बोध हुआ कि "वेदपुस्तक लेआ" इस प्रकार के बोध का नाम ही "शाब्दबोध" है, यही रीति सर्वत्र वाक्यार्थबोध में जाननी चाहिये।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि शक्ति तथा लक्षणा भेद से पद की वृत्ति-दो प्रकार की है, शक्ति का लक्षण पीछे कथन

कर आये हैं और इसका विस्तारपूर्वक निरूपण द्वितीयाध्याय के द्वितीयान्हिक में करेंगे, उक्त शक्ति योग, रूढ़ि, योगरूढ़ि तथा यौगिकरूढ़ि भेद से चार प्रकार की होती है "अवयवशक्ति-योगः" = पद घटक प्रकृति प्रत्यय के प्रत्येक अवयव में रहने वाली शक्ति का नाम " योग " शक्ति है, जैसाकि " पच " धातु के उत्तर " अक " प्रत्यय लगाने से सिद्ध हुए "पाचक" शब्द के "पच" अवयव की पाकरूप अर्थ में तथा "अक" अवयव की कर्त्तारूप अर्थ में जो शक्ति है वही " योगशक्ति " कहाती है, और उक्त शक्तिवाला " पाचक " शब्द " पच " तथा " अक " रूप अवयवों द्वारा पाककर्त्ता अर्थ का बोधक होने से " यौगिक " होता है, " समुदायशक्तिः रूढ़ि " = प्रकृतिप्रत्यय के अवयवरूप समुदाय में रहने वाली शक्ति को " रूढ़ि " तथा रूढ़िद्वारा अर्थ प्रतिपादक पद को "रूढ़" कहते हैं, जैसाकि "गौ" आदि पद "गम्" आदि प्रकृतिप्रत्यय के समुदाय द्वारा गौ आदि अर्थ के बोधक होने से "रूढ़" हैं "योगार्थवृत्तिरूढ़िर्योगरूढ़ि" = योगशक्ति के अर्थ में रहने वाली रूढ़ि का नाम "योगरूढ़ि " है, या यों कहो कि प्रकृतिप्रत्यय के अवयव और समुदाय दोनों में रहने वाली शक्ति का नाम " योगरूढ़ि " है, और उक्त शक्तिद्वारा अर्थबोधक पद का नाम " योगरूढ़ " है अर्थात् अवयव तथा समुदाय दोनों

के द्वारा अर्थ प्रतिपादक पद का नाम "योगरूढ़" है, जैसाकि " पङ्कज " आदि पद " पङ्क " तथा "ज" रूप अवयवों और पङ्कजरूप समुदाय दोनों के द्वारा कमलादिरूप अर्थ का बोधक होने के कारण योगरूढ़ हैं, " योगार्थभिन्नार्थवृत्तिरूढिः यौगिकरूढिः "=अवयव शक्ति के अर्थ से भिन्न अर्थ में होनेवाली रूढ़ि का नाम " यौगिकरूढ़ि " तथा उक्त शक्ति द्वारा अर्थबोधक पद का नाम " यौगिकरूढ़ " है, जैसाकि उद्भिद् पद अवयवशक्ति द्वारा उद्भेदन कर्त्ता वृक्षादि का और समुदायद्वारा यागविशेष का वाचक होने से " यौगिकरूढ़ " है अर्थात् उद्भिद पद की योगशक्ति तथा समुदायशक्ति भिन्न २ अर्थ में रहती है एकार्थ में नहीं, इसलिये उद्भिद आदि पदवृत्ति शक्ति " यौगिकरूढ़ि " कहाती है, और यौगिकरूढिद्वारा अर्थबोधक पद को "यौगिकरूढ़" कहते हैं, उक्त चार प्रकार की शक्ति के विषयभूत पदार्थ का नाम "शक्य" है, शक्य तथा शक्यार्थ यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, "शक्यसम्बन्धो लक्षणा" = शक्य के साक्षात्सम्बन्ध का नाम " लक्षणा " और लक्षणावृत्ति के विषयभूत पदार्थ को " लक्ष्य " कहते हैं, जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा लक्षितलक्षणा भेद के लक्षणा तीन प्रकार की है " शक्यार्थमनन्तर्भाव्यतत्सम्बन्ध्यर्थान्तर प्रतीतिहेतुका लक्षणा जहल्लक्षणा " = शक्य अर्थ को छोड़

कर तत्सम्बन्धी अर्थ की जिससे प्रतीति हो उसको "जहल्लक्षणा" कहते हैं, जैसाकि "गङ्गायां ग्रामः" = गङ्गा में ग्राम है, इत्यादि वाक्यों में गङ्गा आदि पद उक्त लक्षणा के उदाहरण हैं, "गङ्गा" पद का शब्दार्थ जलप्रवाह और उसका साक्षात्सम्बन्धी "तीर" उक्त लक्षणा का विषय होने से "लक्ष्य" है अर्थात् गङ्गा पद के जलप्रवाहरूप शक्यार्थ का जो तीर के साथ संयोग सम्बन्ध है वही गङ्गा पद की तीर में लक्षणा है, इस प्रकार लक्षणावृत्ति के ज्ञानवाले पुरुष को गङ्गापद के श्रवणोत्तर तीर रूप अर्थ की स्मृति द्वारा "गङ्गातीरवृत्ति घोषः" = गंगा के तट पर ग्राम है, यह शाब्दबोध होता है, "शक्यार्थमन्तर्भाव्यैव तत्सम्बन्ध्यर्थान्तर प्रतीतिहेतुका लक्षणा अजहल्लक्षणा" = जिसमें शक्यार्थ के सहित अर्थान्तर की प्रतीति हो उसको "अजहल्लक्षणा" कहते हैं, जैसाकि छत्रिणो यान्ति = छातेवाले जाते हैं, इत्यादि वाक्यों में "छत्रिणः" आदि पद उक्त लक्षणा के उदाहरण हैं "छत्रिणः" पद का शक्य छातेवाले तथा लक्ष्य छातेवाले और छाते रहित दोनो हैं, कई एक आधुनिक लोग अजहल्लक्षणा का इस प्रकार लक्षण कहते हैं कि "लक्ष्यतावच्छेदकरूपेण शक्यलक्ष्योभयबोध प्रयोजिका लक्षणा अजहल्लक्षणा" लक्ष्यवृत्ति धर्म का नाम "लक्ष्यतावच्छेदक" और उक्त धर्म द्वारा जिसमें शक्य तथा लक्ष्य दोनों की प्रतीति हो उसको "अजह-

लक्षणा" कहते हैं, जैसाकि "काकेभ्यो दधिरक्ष्यताम्" यहां "काकेभ्यः" पद की "दध्युपघातक" में लक्षणा है, जिनके स्पर्श से दधि भक्षण करने योग्य नहीं रहता उनका नाम "दध्युपघातक" और तद्वृत्ति दध्युपघातकत्व धर्म्म लक्ष्यतावच्छेदक है, जिस प्रकार काक पक्षि दधि के उपघातक हैं इसी प्रकार मार्जार = बिल्ला, सारमेय = कुत्ता आदि कई एक पशु पक्षी दधि के उपघातक होते हैं, अतएव वक्ता का तात्पर्य केवल काक पक्षी से दधिरक्षा का नहीं प्रत्युत दध्युपघातक पशु पक्षिमात्र से है, इस प्रकार काक आदि शक्य, लक्ष्य दोनों में रहनेवाले दध्युपघातकत्वरूप लक्ष्यतावच्छेदकधर्मद्वारा काक, मार्जार आदि शक्य, लक्ष्य दोनों की प्रतीति श्रोता को उक्त लक्षणा से होती है, इसलिये उक्त लक्षणा को आलङ्कारिक लोग "अजहत्स्वार्था" भी कथन करते हैं।

"शक्यार्थपरम्परासम्बन्धरूपलक्षणा लक्षितलक्षणा" = शक्यार्थ के सम्बन्ध द्वारा अर्थान्तर की प्रतीति जिससे हो उसको "लक्षितलक्षणा" कहते हैं, जैसाकि द्विरेफो रौति = द्विरेफ शब्द करता है, "सिंहो माणवकः" = यह पुरुष सिंह है, इत्यादि वाक्यों में "द्विरेफ" तथा "सिंह" पद उक्त लक्षणा के उदाहरण हैं, "द्विरेफ" पद का शक्य दो रकार तथा लक्ष्य दो रकार का सम्बन्धी जो

"भ्रमर" पद तत्प्रतिपाद्य मधुप = भौंरा और सिंह पद का शक्य सिंह व्यक्ति तथा लक्ष्य सिंह व्यक्ति सम्बन्धी शूर वीरता आदि गुणों वाला है, उक्त सब प्रकार की लक्षणा का वीज "अन्वयानुपपत्ति" = वाक्यस्थ पदों के परस्पर सम्बन्ध का न वनसकना तथा कहीं "तात्पर्य्यानुपपत्ति" = वाक्यस्थ पदों का अन्वय होजाने पर भी वक्ता के तात्पर्य्य का न वनसकना है, उक्त दोनों के मध्य जिस वाक्य में जिसका सम्भव हो उसमें उसके अनुसार लक्षणा करके वाक्यार्थवोध सम्पादन करना उचित है॥

आधुनिक वेदान्ती कथन करते हैं कि "शक्यतावच्छेदक परित्यागेन व्यक्तिमात्रबोधप्रयोजिका लक्षणा जहदजहल्लक्षणा" = शक्यार्थवृत्ति धर्म का नाम "शक्यतावच्छेदक" तथा उक्त धर्म्म को छोड़कर केवल व्यक्ति की जिससे प्रतीति हो उसका नाम "जहदजहल्लक्षणा" है, और यह लक्षणा उन तीनों से भिन्न है, "सोऽयं देवदत्तः" इत्यादि उक्त लक्षणा के उदाहरण हैं, उक्त वाक्य में तद्देश तथा तत्कालविशिष्ट देवदत्त "सः" पद का और एतद्देश तथा एतत्कालविशिष्ट देवदत्त "अयं" पद का शक्यार्थ है परन्तु तद्देश का एतद्देश के साथ और तत्काल का एतत्काल के साथ अन्वय न बनसकने से उक्त दोनों विशेषणों को छोड़कर केवल देवदत्त व्यक्ति की प्रतीति उक्त लक्षणा से होती है, अतएव विशेषणरूप भाग को

त्यागकर विशेष्यभाग मात्र की प्रतीति का हेतु होने के कारण उक्त लक्षणा को "भागत्यागलक्षणा" भी कहते हैं, और इसी लौकिक उदाहरण के सहारे नवीन वेदान्ती लोग "तत्त्वमसि" वाक्य में "तत्" "त्वं" पद को भी उक्त लक्षणा का उदाहरण कथन करते हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि "शक्त्युपस्थितयोर्विशिष्टयोरभेदान्वयानुपपत्तौ विशेष्ययोः शक्त्युपस्थितयोरेवाऽभेदान्वये विरोधाभावः"=जिस वाक्य में पद विशेषण तथा विशेष्य दोनों के वाचक होते हैं उस वाक्य में अन्वय के अयोग्य विशेषण तथा विशेष्य दोनों के मध्य किसी एक को छोड़कर शेष का अन्वय होकर स्वयमेव वाक्यार्थबोध होजाता है, वहां लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं, जैसाकि "घटोऽनित्यः"= घट अनित्य है, इस वाक्य में "घट" पद विशेषणभूत घटत्व जाति तथा विशेष्यभूत घट व्यक्ति का वाचक है परन्तु नित्य होने के कारण जाति रूप विशेषण का अनित्यत्व के साथ अन्वय नहीं होसकता, इसलिये विशेषणांश को छोड़कर शेष व्यक्तिमात्र के साथ अन्वय होकर "घट विनाशी है" इस वाक्यार्थबोध के स्वयमेव बनजाने से लक्षणा की कल्पना निरर्थक है, और "तत्त्वमसि" वाक्य में तो उक्त लक्षणा का सर्वथा असम्भव है, इसका विस्तार पूर्वक निरूपण "वेदान्तार्य्यभाष्य" में किया है, विशेषाभिलाषियों को उसका अवलोकन करना चाहिये ॥

कई एक लोग निरूढ़ तथा स्वारसिक भेद से लक्षणा के और दो भेद मानते हैं, "अनादितात्पर्य्यविषयीभूतार्थनिष्ठा लक्षणा निरूढ़लक्षणा"=जिससे अनादि तात्पर्य्य के विषयभूत अर्थ की प्रतीति हो उसको "निरूढ़लक्षणा" कहते हैं, जैसाकि "नीलोघटः" इत्यादि वाक्य उक्त लक्षणा के उदाहरण हैं, उक्त वाक्य में जो "नील" पद से नीलगुण वाले द्रव्य की प्रतीति होती है वह निरूढ़लक्षणा से होती है परन्तु यह लक्षणा भी शक्ति के सदृश ही होती है, इसलिये इसकी कल्पना भी गौरवदोष युक्त है, "अधुनातन तात्पर्य्य विषयीभूतार्थानिष्ठा लक्षणा स्वारसिकलक्षणा"=आधुनिक पुरुष कल्पित तात्पर्य्य के विषयभूत अर्थ की जिससे प्रतीति हो उसको "स्वारसिक लक्षणा" कहते हैं, जैसाकि "गंगायां घोषः" इस वाक्य में घोष पद की मत्स्य=मछली में लक्षणा "स्वारसिकलक्षणा" कहाती है, आलङ्कारिक लोग शब्द की तीसरी व्यञ्जनावृत्ति मानते हैं, उनका यह अभिप्राय है कि "तीरे घोषः" इस प्रकार के वाक्य से ही श्रोता को तीरवृत्ति ग्राम का बोध होसक्ता था परन्तु उक्त वाक्य को न कहकर "गङ्गायां घोषः" इस वाक्य का कथन केवल गंगा तीर में शीतलता तथा स्वच्छता बोधन करने के लिये है, और शीतलता स्वच्छता का बोध शक्ति तथा लक्षणावृत्ति से नहीं होसक्ता, क्योंकि शक्यार्थ के बोध को समाप्त करके शक्तिवृत्ति तथा तीर रूप

लक्ष्यार्थ के बोध को उत्पन्न करती हुई लक्षणावृत्ति उपक्षीण = निवृत्त होजाती है, और स्वार्थबोध में उपक्षीण हुई वृत्ति अर्थान्तरबोध का हेतु नहीं होसक्ती, इससे सिद्ध है कि उक्त वाक्य में जिससे शीतलता, स्वच्छता का बोध होता है वह शक्ति लक्षणा से भिन्न पद की तीसरी वृत्ति "व्यञ्जना" है और उक्त वृत्ति के विषयभूत पदार्थ का नाम "व्यङ्ग्य" है।

नैयायिक लोगों का कथन है कि " गंगायां घोषः" इस वाक्य के उच्चारण करने से श्रोता का तात्पर्य्य शीतलता स्वच्छता वाले तीर के बोधन करने में है केवल तीररूपार्थ के बोधनार्थ नहीं, यदि तीररूपार्थ के बोधन करने में ही तात्पर्य्य होता तो "तीरे घोषः" ऐसा ही कथन कियाजाता परन्तु इसको छोड़ कर "गङ्गायां घोष" ऐसा कथन होता है, इससे स्पष्ट है कि वक्ता के तात्पर्य्य की अनुपपत्तिद्वारा श्रोता को गङ्गापद से शीतलता स्वच्छताविशिष्ट तीर का बोध होता है केवल तीर का नहीं, इसलिये शीतलतादि के पृथक् बोधनार्थ वृत्त्यन्तर की कल्पना निरर्थक है।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि जो कई एक लोग इस सूत्र के खण्डन में यह विकल्प उठाते हैं कि आप्तोपदेशरूप शब्दप्रमाण से आप्तपुरुषों की सत्यता का निश्चय होता है अथवा वस्तु के यथार्थरूप की प्रतीति होती है? प्रथमपक्ष तो अनुमानद्वारा आप्तपुरुषों की सत्यता का निश्चय होने के कारण ठीक नहीं

और दूसरा पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि वस्तु के यथार्थरूप की प्रतीति प्रत्यक्ष से भी होसकती है फिर शब्दप्रमाण निरर्थक होने से पृथक् सूत्रकल्पना की आवश्यकता नहीं ? इसका उत्तर यह है कि "इन्द्रियसम्बद्धाऽसम्बद्धेष्वर्थेषु या शब्दोल्लेखेन प्रतिपत्तिः सागमार्थः" न्या० वा० = इन्द्रियसंयुक्त = प्रत्यक्ष तथा इन्द्रियासंयुक्त = परोक्ष विषयों में पदार्थस्मृतिरूप व्यापार द्वारा जो शब्द से उपलब्धि होती है वह आगम प्रमाण का फल है, इस बात को स्पष्ट करने के लिये उक्त सूत्र की कल्पना कीगई है।

तात्पर्य्य यह है कि सूत्र के उक्त आशय को न समझकर बौद्धमतानुयायियों के उक्त दोनों आक्षेप निरर्थक हैं, इस विषय को "वाचस्पतिमिश्र" ने न्या० वा० तात्पर्य्यटीका में विस्तारपूर्वक निरूपण किया है, यहां ग्रन्थगौरव भय से दिङ्मात्र ही दर्शाया है॥

सं०—अब शब्दप्रमाण का भेद कथन करते हैं:—

स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्। ८।

पद०—सः। द्विविधः। दृष्टादृष्टार्थत्वात्।

पदा०—(दृष्टादृष्टार्थत्वात्) दृष्टार्थ तथा अदृष्टार्थ भेद से (सः) शब्द (द्विविधः) दो प्रकार का है।

भाष्य—दृष्टार्थ तथा अदृष्टार्थ भेद से शब्द दो प्रकार का है, "दृष्टःप्रत्यक्षत उपलब्धोऽर्थोऽस्येति स दृष्टार्थः"=जिस शब्द के प्रतिपाद्य अर्थ=विषय की प्रतीति प्रत्यक्ष से होती है उसको "दृष्टार्थ" और "अदृष्टोऽनुमानोपलब्धोऽर्थोऽस्येति अदृष्टार्थः"=जिसके अर्थ की उपलब्धि अनुमानद्वारा हो उसको "अदृष्टार्थ" कहते हैं, जैसाकि घटपटादि शब्दों के अर्थभूत घटादि व्यक्ति की प्रत्यक्ष से प्रतीति होने के कारण घटादि शब्द "दृष्टार्थ" तथा अनुमानद्वारा ईश्वरादि विषयों की प्रतीति होने के कारण ईश्वरादि शब्द "अदृष्टार्थ" हैं।

वार्त्तिककार का कथन है कि जिस शब्द के अर्थ का वक्ता को प्रत्यक्षद्वारा साक्षात्कार हो उसका नाम "दृष्टार्थ" तथा जिस के अर्थ को वक्ता अनुमानद्वारा उपलब्ध करसके उसका नाम "अदृष्टार्थ" है, इस प्रकार वक्ता के दो भेद होने से शब्द के भी दो भेद हैं॥

सं०—अब प्रमेय का सामान्यलक्षण तथा भेद कथन करते हैं:—

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्ति दोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ।९॥

पद०—आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुः-खापवर्गाः । तु । प्रमेयम् ।

पदा०—(आत्म०—) आत्मा आदि (तु) बारह (प्रमेयम्) प्रमेयम् हैं ।

भाष्य—सूत्र में "तु" शब्द न्यायशास्त्र के अभिमत प्रमेय पदार्थ की नियत संख्या को स्फुट करने के लिये आया है, आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग भेद से "प्रमेय" पदार्थ बारह प्रकार का है, रूप रसादि के द्रष्टा तथा भोक्ता का नाम "आत्मा" भोगाधिष्ठान का नाम "शरीर" भोग के साधन चक्षुरादिकों का नाम "इन्द्रिय" रूप रसादिक विषयों का नाम "अर्थ" सुख दुःखादि के अनुभव का नाम "बुद्धि" सुख दुःखादि साक्षात्कार के साधन अन्तरिन्द्रय का नाम "मन" धर्म्माधर्म्म का नाम "प्रवृत्ति" प्रवृत्ति के हेतु रागादिकों का नाम "दोष" पुनर्जन्म का नाम "प्रेत्यभाव" साधनसहित सुखदुःखोपभोग का नाम "फल" अधर्म से जन्य तथा "यह मुझे न हो" इस प्रकार जन्म मरणादि विषयक प्रतिकूल ज्ञान का नाम "दुःख" और दुःखासन्तनिवृत्ति का नाम "अपवर्ग" है, यद्यपि प्रमा का विषय द्रव्य होने के कारण गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि

भेद से और भी कई प्रकार के प्रमेय पदार्थ हैं जैसाकि "द्रव्य-गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम् तद्भेदेन चा-परिसंख्येयम्" वा० भा० में कथन किया है कि द्रव्यादि भेद से तथा उनके प्रत्येक भेद से प्रमेय पदार्थ असंख्येय हैं तथापि "अस्य तु तत्त्वज्ञानादपवर्गः मिथ्याज्ञानात्संसार इत्यत एतदुपदिष्टं विशेषेणेति" वा० भा० = आत्मादि द्वादश प्रमेय पदार्थों के मिथ्याज्ञान से "संसार" और तत्त्वज्ञान से "मोक्ष" होता है, इसलिये न्याय की परिभाषा में इन्हीं बारह पदार्थों का नाम "प्रमेय" है. और यह बात "प्र' उपसर्ग से सूचित कीगई है, इस प्रकार "प्रमेय" का यह लक्षण निष्पन्न हुआ कि "प्रकृष्टं मेयं प्रमेयम्" = जो अन्य ज्ञेय पदार्थों से उत्तम हो अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिये जिसका जानना आवश्यक हो, वह "प्रमेय" है, या यों कहो कि जिनमें से किसी एक के न जानने से मोक्ष न होसके उसका नाम "प्रमेय" है, इसी अभिप्राय से "जयन्तभट्ट" का कथन है कि:—

ज्ञातंसम्यगसम्यग्वायन्मोक्षाय भवाय वा ।
तत्प्रमेयमिहाभीष्टं न प्रमाणार्थमात्रकम् ॥ न्या०मं०

अर्थ—जिसके यथार्थज्ञान से मोक्ष और मिथ्याज्ञान से बन्धन होता है उसका नाम "प्रमेय" है, गोतम के मत में

केवल प्रमाण का विषय ही प्रमेय अभिमत नहीं, इसी आशय को स्फुट करने के लिये सूत्रकार ने "तु" शब्द का प्रयोग दिया है अर्थात् प्रमाण का विषय होने के कारण घट पट आदि असंख्य पदार्थ प्रमेय होने पर भी मोक्ष के हेतु तत्त्वज्ञान के उपयोगी नहीं किन्तु आत्मादि अपवर्ग पर्य्यन्त बारह पदार्थ ही तत्त्वज्ञान के उपयोगी होने से प्रमेय हैं ॥

तात्पर्य्य यह है कि उक्त रीति से पारिभाषिक प्रमेयत्व धर्म्म आत्मादि बारह पदार्थों में ही अनुगत है अन्य में नहीं, और जिस प्रकार "वेदाःप्रमाणम्" = वेद प्रमाण हैं, इस वाक्य से चारो वेदों में "प्रमाणत्व" = प्रमाकरणत्वरूप धर्म्म के समान पाये जाने से "प्रमाण" पद में एकवचन के होने पर भी वाक्यार्थ-बोध में कोई बाधा नहीं, इसी प्रकार उक्त बारह पदार्थों में पारिभाषिक प्रमेयत्व धर्म्म के समान अनुगत होने से "प्रमेय" पद में एकवचन के होने पर भी सूत्र के वाक्यार्थबोध में कोई अनुपपत्ति नहीं ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि उक्त बारह प्रकार का प्रमेय पदार्थ हेय तथा उपादेय भेद से दो प्रकार का होता है जैसाकि न्या०मं० में कथन किया है कि:—

तद्द्वादशविधत्वेऽपिहेयोपादेयभेदतः ।
द्विधोच्यते सुसूक्ष्माणां तथैव ध्यानसिद्धये ॥
तत्र देहादिदुःखान्तं हेयमेव व्यवस्थितम् ।

उपादेयोऽपवर्गस्तु द्विधावस्थितिरात्मनः ॥
सुखदुःखादिभोक्तृत्व स्वभावो हेय एव सः ।
उपादेयस्तु भोगादिव्यवहार पराङ्मुखः ॥

अर्थ—शरीर से लेकर दुःख पर्य्यन्त प्रमेय को "हेय" तथा अपवर्ग = मोक्ष को "उपादेय" कहते हैं, और आत्मा का स्वरूप दोनों के मध्यवर्त्ती है अर्थात् आत्मा का भोक्तृत्व रूप "हेय" और भोगादि से व्यावृत्तरूप "उपादेय" है, यद्यपि वैदिकसिद्धान्त में आत्मा कूटस्थ एकरस है इसलिये हेय उपादेय भेद से उसके दोरूप कथन करना ठीक नहीं तथापि "मनोयोगविशिष्ट आत्मा" के अभिप्राय से उक्त कथन में कोई दोष नहीं आता, इस रीति से प्रमेय पदार्थ की हेयता तथा उपादेयता के तत्त्वज्ञान द्वारा तद्विषयक मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होनेपर दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूप परमपुरुषार्थ की सिद्धि होती है, इसी अभिप्राय से "जयन्तभट्ट" ने न्या० मं० में कहा है कि :—

तत्त्वज्ञानेन तेनाऽस्य मिथ्याज्ञानेऽपबाधिते ।
रागद्वेषादयोदोषास्तन्मूलाः क्षयमाप्नुयुः ॥
क्षीणदोषस्य नोदेति प्रवृत्तिः पुण्यपापिका ।
तदभावान्नतत्कार्य्यं शरीराद्युपजायते ॥

अशरीरश्चनैवात्मास्पृश्यते दुःखडम्बरैः ।
अशेषदुःखोपरमस्त्वपवर्गोऽभिधीयते ॥

अर्थ—प्रमेय पदार्थ के हेयोपादेयरूप तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान के निवृत्त होने पर मिथ्याज्ञानजन्य राग, द्वेष, आदि सब दोषों की निवृत्ति होजाती है और दोषों के निवृत्त होने से धर्म्माधर्मात्मिक प्रवृत्ति की निवृत्ति द्वारा तत्कार्य्यभूत शरीरादिकों के अत्यन्त निवृत्त होने पर जो शरीर रहित आत्मा के दुःखोपभोग की अत्यन्तनिवृत्ति होती है वही "अपवर्ग" है, और यही बारह प्रकार के प्रमेय पदार्थ में से मुख्य उपादेय प्रमेय कहलाता है।

"विश्वनाथ" ने इस सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि आत्मा से लेकर मन पर्य्यन्त पहिले छः "कारण-प्रमेय" तथा प्रवृत्ति आदि पिछले छः "कार्य्यप्रमेय" हैं, अतएव जो जिसकी अपेक्षा से प्रधान है उसका निर्देश प्रथम तथा अप्रधान का पश्चात् किया है और "तावदन्यान्यत्वं प्रमेयम्" = इन बारह से भिन्न पदार्थों का भेद इन्हीं में पायाजाता है, इसलिये स्वाभिन्न पदार्थों के भेद का अधिकरण होना ही प्रमेय पदार्थ का असाधारणधर्म्मरूप लक्षण है ।

सं०—अब आत्मा का लक्षण कथन करते हैं:—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्या-

त्मनो लिङ्गमिति । १० ।

पद०—इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि । आत्मनः । लिङ्गम् । इति ।

पदा०—(इच्छा०) इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान (इति) यह सब (आत्मनः) आत्मा के (लिङ्गम्) लिङ्ग हैं ।

भाष्य—अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम "इच्छा" क्रोध का नाम "द्वेष" चेष्टा के हेतु गुण का नाम "प्रयत्न" धर्म्मजन्य अनुकूल ज्ञान के विषय का नाम "सुख" तथा अधर्म्म जन्य प्रतिकूल ज्ञान के विषय का नाम "दुःख" और सुख दुःखादि विषयों के अनुभव का नाम "ज्ञान" है । इच्छा से लेकर ज्ञान पर्यन्त छः गुण आत्मा के लक्षण हैं अर्थात् जिस प्रकार असाधारण धर्म्म होने से गन्ध गुण पृथिवी का लक्षण है इसी प्रकार इच्छादि गुण आत्मा के लक्षण हैं, इस रीति से आत्मा का यह लक्षण निष्पन्न हुआ कि "समवायेन इच्छाद्यधिकरणमात्मा"=जो समवायसम्बन्ध से इच्छा आदि गुणों का अधिकरण हो उसको "आत्मा" कहते हैं, विषयता सम्बन्ध से घट पट आदि पदार्थ भी इच्छा आदि के अधिकरण हैं इनमें आत्मलक्षण की अतिव्याप्ति के निवारणार्थ "समवायेन" पद का निवेश किया है, यद्यपि घटादि विषय इच्छादि के अधिकरण हैं तथापि समवायसम्बन्ध से नहीं, अतएव उनमें आत्मलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होसक्ती ॥

यहां कई लोग यह आशंका करते हैं कि "अनुमानाच्च प्रतिपत्तव्यः" न्या० भा० = केवल शब्दप्रमाण से ही नहीं किन्तु अनुमान द्वारा भी आत्मा की सिद्धि होती है, इस "वात्स्यायनमुनि" के कथनानुसार सूत्रकार ने केवल इच्छादि लिङ्गों से अनुमान द्वारा आत्मा की सिद्धि कथन की है लक्षण नहीं ? इसका उत्तर यह है कि "लिङ्ग्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति लिङ्गम्" = जिससे वस्तु ज्ञात हो उस असाधारण धर्म्म का नाम "लिङ्ग" है, लिङ्ग तथा लक्षण यह दोनों पर्य्यायशब्द हैं, इस व्युत्पत्ति बल से प्रकृत में लिङ्ग शब्द का अर्थ लक्षण अभिप्रेत है केवल हेत्वर्थकवाची लिङ्ग शब्द नहीं, इसलिये इच्छादि गुण असाधारण धर्म्म होने से आत्मा के लक्षण हैं और लक्षण द्वारा अन्य वस्तु से भेद का अनुमान किया जाता है, यह नियम है, इस नियम के अनुसार जैसे गन्धवत्त्व = गन्ध लक्षण पृथ्वी के भेदानुमान में हेतु है इसी प्रकार आत्मा के भेदानुमान में लक्षणभूत इच्छादि गुणों के लिङ्ग = हेतु होने में कोई दोष नहीं, और न उक्त भाष्यकृत वचन के साथ विरोध आता है, इसी अभिप्राय से वार्त्तिककार "उद्योतकराचार्य्य" का कथन है कि

"आत्मनः समानासमानजातीयविशेषणार्थसूत्रम्"

न्या० वा० = प्रमेयत्वरूप समानजाति वाले शरीर आदिकों से तथा गुणत्व आदि असमान जाति वाले गुणादिकों से आत्मा के

भेद को प्रतिपादन करना इस सूत्र का प्रयोजन है।

सार यह निकला कि हेतु तथा लक्षण उभयार्थवाची एक लिङ्ग पद से ऋषि ने आत्मा के लक्षण तथा अनुमान द्वारा उसकी सिद्धि के प्रकार को कथन किया है अर्थात् लक्षण प्रतिपादन करते हुए सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा इच्छादि गुणों के आश्रय द्रव्य की सिद्धि कथन की है, रूपादि गुणों की भान्ति गुण होने से इच्छा आदि भी किसी द्रव्य के आश्रित होने चाहियें परन्तु वह शरीर आदिकों के आश्रित नहीं होसक्के जैसाकि आत्मादि प्रमेय परीक्षा में निरूपण कियाजायगा, परिशेष से जो उक्त गुणों का आश्रय द्रव्य है वही "आत्मा" है, इस प्रकार इच्छा आदि गुण आत्मसिद्धि में लिङ्ग होने पर भी असाधारणधर्म्म होने से आत्मा के लक्षण हैं, इच्छा आदि लिङ्गों से आत्मसिद्धि के अनुमान का विस्तारपूर्वक निरूपण "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में किया है और यहां भी आगे तृतीयाध्याय में वर्णन किया जायगा।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि जीव तथा ईश्वर भेद से आत्मा दो प्रकार का है और दोनों प्रकार के "आत्मा" का लक्षण सूत्रकार ने इसी एक सूत्र से सूचित कर दिया है अर्थात् जिसमें ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न नित्य हों उसको "ईश्वर" और जिसमें उक्त तीनों अनित्य हों तथा सुख, दुःख और द्वेष भी पायाजाय उसको "जीव" कहते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् जगत्कर्त्ता आदि विशेषणों वाले "ईश्वरात्मा" के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न यह तीन "नित्य" और अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् आदि विशेषणों वाले "जीवात्मा" के उक्त तीनों "अनित्य" हैं, ईश्वरास्तित्व का वर्णन विस्तारपूर्वक आगे किया जायगा ॥

सं०—अब शरीर का लक्षण कथन करते हैं:—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् । ११ ।

पद०——चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः । शरीरम् ।

पदा०—(चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः) जो चेष्टा, इन्द्रिय तथा अर्थ का आश्रय है उसको (शरीरम्) शरीर कहते हैं ।

भाष्य—**प्रयत्नजन्यो हिताऽहितप्राप्तिपरिहारानुकूलः क्रिया विशेषश्चेष्टा** "=प्रयत्नजन्य इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट त्याग के अनुकूल क्रियाविशेष का नाम "**चेष्टा**" गन्धादि विषयक साक्षात्कार के असाधारण कारण घ्राणादिकों का नाम "**इन्द्रिय**" और सुखदुःखान्यतर साक्षात्कार का नाम "**अर्थ**" जिसमें समवायसम्बन्ध से चेष्टा, स्वरूपसम्बन्ध से इन्द्रिय और अवच्छेदकतासम्बन्ध से सुख दुःख हों उसका नाम "**शरीर**" है, अभेद सम्बन्ध का नाम "**स्वरूपसम्बन्ध**" तथा जितने देश में शरीर हो उतने देश में सुखदुःखोत्पत्ति के नियामक सम्ब-

न्ध का नाम " अवच्छेदकतासम्बन्ध " है, यहां अर्थ शब्द से गन्धादि गुणों का ग्रहण नहीं, यदि उक्त गुणों का ग्रहण होता तो शरीरलक्षण की घट पट आदि पदार्थों में अतिव्याप्ति बनी रहती, क्योंकि वह भी गन्धादि गुणों के आश्रय होते हैं, अतएव " कथमर्थाश्रयः, यस्मिन्नायंतने इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नयोः सुखदुःखयोः प्रतिसंवेदनं प्रवर्त्तते स एषामाश्रयस्तच्छरीरम् " न्या०भा० में वर्णन किया है कि जिस अधिष्ठान में आत्मा को इन्द्रिय तथा विषय के परस्पर सम्बन्ध से उत्पन्न हुए सुख दुःख का प्रतिसंवेदन = अनुभवविशेष होता है वह अर्थपदवाच्य सुखादि का आश्रय " शरीर " कहाता है परन्तु उक्त रीति से घट पटादि में अतिव्याप्ति के निवृत्त होने पर भी हस्त, पाद आदि अवयवों में चेष्टा के पाये जाने से शरीरलक्षण की अतिव्याप्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है इसकी निवृत्ति के लिये शरीर लक्षण में " अन्त्यावयवी " पद का निवेश करना चाहिये, उक्त पद के निवेश करने से शरीर का यह लक्षण निष्पन्न हुआ कि " अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टेन्द्रियार्थाश्रत्वं शरीरत्वम् " = जो अन्त्यावयवी होकर चेष्टा आदि का आश्रय हो उसको " शरीर " कहते हैं, " अवयवजन्यत्वेसति अवयविसमवायिअवयवजन्यकारणभिन्नं द्रव्यमन्त्यावयवी " = अवयवी के समवायिकारण से भिन्न द्रव्य का नाम

" अन्त्यावंयवी " है, हस्त पाद आदि अवयव अवयवी = शरीर के समवायिकारण से भिन्न नहीं किन्तु शरीर के समवायि कारण हैं, इसलिये उनमें चेष्टा के होने पर भी अन्त्यावयवित्व धर्म्म के न पायें जाने से अतिव्याप्ति दोष नहीं, और " अन्तःसंज्ञा-भवन्त्येते " = सुख दुःख के सूक्ष्म साक्षात्कार वाले होते हैं, इत्यादि शास्त्रीय वचनों द्वारा वृक्षादिकों में सुखादि अनुभव के सिद्ध होने पर उनमें अव्याप्ति दोष भी नहीं होसकता ।

तात्पर्य्य यह है कि " सुखदुःखान्यतर साक्षात्कारो-भोगः " = सुख तथा दुःख के साक्षात्कार का नाम " भोग " है, और " भोक्तुर्भोगायतनं शरीरम् " = जिस आश्रयविशेष में रहकर जीव उक्त भोग को भोगता है उसको " शरीर " कहते हैं, इष्ट वस्तु के ग्रहण तथा अनिष्ट वस्तु के परित्यागार्थ जीव की प्रवृत्ति शरीर के होने से होती है न होने से नहीं, इसलिये वह जीवकृत प्रयत्न से जन्य चेष्टा = क्रियाविशेष का आश्रय है, और शरीर के नीरोग होने पर चक्षुरादि इन्द्रियों की अपने२ विषयों में प्रवृत्ति पाये जाने से तथा नष्ट होने पर नष्ट होजाने से वह इन्द्रियों का आश्रय कहाता है, जिस प्रकार गृहपति गृहरूप आश्रय के होने से अनेक प्रकार के भोगों को भोगता है न होने से नहीं, इसी प्रकार जीवात्मा भी शरीररूप आश्रय के होने पर ही नाना-प्रकार के सुखदुःख भोगता है अन्यथा नहीं, अतएव उसको

अर्थ=सुखदुःखोपभोग का आश्रय कहते हैं।

सं०—अब इन्द्रिय का सामान्यलक्षण तथा भेद कथन करते हैं:—

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः। १२।

पद०—घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि । इन्द्रियाणि । भूतेभ्यः।

पदा०—(घ्राण०) घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र, यह पांच (इन्द्रियाणि) इन्द्रिय (भूतेभ्यः) महाभूतों से होते हैं।

भाष्य—"इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्" अष्टा० ५।२।९३ इस पाणिनि सूत्र से निष्पन्न हुए इन्द्रिय शब्द का यह अर्थ है कि "इन्द्र आत्मा तस्य लिङ्गमिन्द्रियम्"=जो आत्मसिद्धि में लिङ्ग है उसको "इन्द्रिय" कहते हैं, करण=साधन के विना कर्त्ता क्रिया को सिद्ध नहीं करसक्ता, या यों कहो कि जो साधन है वह कर्त्ता के अधीन होता है, इस नियम के अनुसार जैसे कुठार आदि साधनों से तक्षा=बढ़ई आदि कर्त्ता का अनुमान होता है इसी प्रकार चक्षुरादि ज्ञान साधनों से ज्ञानक्रिया के कर्त्ता आत्मा का भी अनुमान होता है, इसलिये आत्मसिद्धि में करणरूप लिङ्ग होने से चक्षुरादिकों का नाम "इन्द्रिय" है, इस

प्रकार इन्द्रिय का सामान्यलक्षण यह हुआ कि "यच्छरीराश्रितं सत्स्वसंयुक्तेऽर्थेज्ञातुरपरोक्षप्रतीतिसाधनं द्रव्यं तदिन्द्रियम्"=जो शरीराश्रित हुआ स्वविषय के साथ संयुक्त होकर प्रमाता पुरुष के तत्तद्विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन द्रव्य है उसको "इन्द्रिय" कहते हैं, यह लक्षण घ्राणादि बाह्य तथा अन्तरिन्द्रिय मन में समान वर्त्तने से "सामान्यलक्षण" है, और वह घ्राण, रसन, चक्षुः, त्वचा और श्रोत्र भेद से पांच प्रकार का है "जिघ्रत्यनेनेति घ्राणं, रसयत्यनेनेति रसनं, चष्टेऽनेनेति चक्षुः, स्पृशत्यनेनेति स्पर्शनं, त्वक्स्थानमिन्द्रियं त्वक्, तदुपचारः स्थानात् शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्" न्या० भा०=जिससे जीवात्मा को गन्ध का प्रत्यक्ष हो उस इन्द्रिय का नाम "घ्राण" जिससे मधुरादि रसों का प्रत्यक्ष हो उसका नाम "रसन" जिससे नीलपीतादि रूप तथा उसके आश्रय का प्रत्यक्ष हो उसका नाम "चक्षुः" जिससे शीत, उष्ण आदि स्पर्श का प्रत्यक्ष हो उसका नाम "स्पर्शन" और जिससे शब्द का प्रत्यक्ष हो उसका नाम "श्रोत्र" है, त्वक्स्थानी स्पर्शन इन्द्रिय का "त्वक्" पद से व्यवहार उपचार से जानना चाहिये, उक्त पांच इन्द्रिय पृथिवी आदि पांच भूतों से यथाक्रम उत्पन्न होने के कारण अपने२ गन्ध आदि असाधारण विषयों के ग्राहक होते हैं यदि वह पृथक्२ पृथ्वी आदि पांच भूतों का कार्य्य न होते

किसी एक कारण से ही उत्पन्न होते तो विशेष नियम के न पाये जाने से सब इन्द्रियों से सब विषयों का वा किसी एक ही इन्द्रिय से सब विषयों का साक्षात्कार होजाता परन्तु ऐसा नहीं होता किन्तु घ्राण से गन्ध का चक्षुः आदि से पृथक् २ रूप आदि का ज्ञान होता है, इससे सिद्ध है कि चक्षुरादि इन्द्रिय किसी एक उपादान कारण के कार्य्य नहीं अपितु भिन्न २ उपादान के कार्य्य हैं।

यहां पर कई एक लोग यह आशंका करते हैं कि केवल उद्देश के पाये जाने से उक्त सूत्र में इन्द्रियों का भेदमात्र कथन किया है लक्षण नहीं? इसका उत्तर यह है कि:—

"नेदं तथा करणभावात् स्वविषयग्रहणलक्षणत्वमिन्द्रियाणां करणस्वभावकानीन्द्रियाणीति तेषामतीन्द्रियाणामिन्द्रियाणां यत्स्वविषयग्रहणं तेन लक्ष्यन्त इति स्वविषयग्रहणलक्षणत्वं वेदितव्यम्" न्या० भा०

अर्थ—ज्ञान क्रिया के प्रति करण होने के कारण अपने२ विषय का प्रकाश करना ही इन्द्रियों का असाधारणधर्मरूप लक्षण समाख्या = अर्थानुकूल संज्ञा के बल से सूत्रकार ने सूचित किया है, जैसाकि "जिघ्रत्यनेनेति घ्राणम्" = जिससे प्रमाता गन्ध को ग्रहण करता है, इत्यादि पीछे वर्णन कियागया है, इसलिये लक्षणभावरूप न्यूनतादोष नहीं आता, उक्त इन्द्रिय पृथ्वी

आदि पांच भूतों से उत्पन्न होते हैं अर्थात् पृथ्वी से घ्राण, जल से रसना, तेज से चक्षुः, वायु से त्वचा और आकाश से श्रोत्र की उत्पत्ति होती है।

सार यह निकला कि गन्धग्राहक होने से घ्राण "पार्थिव" रसग्राहक होने से रसन "जलीय" रूपग्राहक होने से चक्षुः "तैजस" स्पर्श ग्राहक होने से त्वक् "वायवीय" तथा शब्द ग्राहक होने से श्रोत्र "आकाशीय" है, उक्त इन्द्रियों के पार्थिव आदि होने में अनुमान की रीति विस्तारपूर्वक "वैशेषिकार्य्य-भाष्य" में निरूपण की है विशेषाभिलाषियों को उसका अवलोकन करना चाहिये।

वृत्तिकार "विश्वनाथ" ने इस सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि यद्यपि घ्राण आदि भेद से इन्द्रिय पांच प्रकार के हैं तथापि उपलक्षण से छठा "मन" भी अन्तरिन्द्रिय जानना चाहिये अर्थात् पांच इन्द्रियों के कथन से मन का भी ग्रहण किया है, वास्तव में "भूतेभ्यः" पद के कथन से उक्त सूत्र में बाह्य इन्द्रियों का प्रतिपादन है आभ्यन्तर का नहीं, क्योंकि नित्य होने से "मन" की किसी भूत से उत्पत्ति नहीं मानी गई, और जो यह आशङ्का कीजाती है कि आकाशरूप होने से श्रोत्र भी नित्य है पुनः उस-की उत्पत्ति का कथन व्याघातदोषयुक्त है? इसका उत्तर यह है, कि "भूतेभ्यः" पद में अभेदार्थक पञ्चमी है उपादानार्थक नहीं,

इसलिये उक्त दोष नहीं आता अर्थात् "भूताभिन्नानीन्द्रियाणि" = घ्राण आदि पांच इन्द्रिय भूतों से अभिन्न हैं भिन्न नहीं, इस प्रकार सूत्रार्थ की निष्पत्ति से श्रोत्रेन्द्रिय का आकाश के साथ अभेद होने पर उक्त दोष की सम्भावना नहीं होसक्ती, इससे सिद्ध है कि उक्त सूत्र से वाह्यइन्द्रियों का वर्णन किया गया है अन्तरिन्द्रिय का नहीं, इस प्रकार इन्द्रियों का सामान्य लक्षण यह हुआ कि "प्रत्यक्षकरणत्वमिन्द्रियत्वम्" = जिन के व्यापार = सम्बन्ध से आत्मा को वस्तु का प्रत्यक्ष हो उनको "इन्द्रिय" कहते हैं।

यहां यह स्मरण रहे कि "एतस्मात्प्रजायन्ते मनः सर्वेन्द्रियाणि च" मुण्ड० २।१।३ = परमात्मा की आज्ञानुसार उस मूलकारण से मन तथा सम्पूर्ण इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं, "अन्नमयं हि सौम्य मनः" छां० ६।५।४ = मन अन्न का विकार है, इत्यादि औपनिषद् वाक्यों द्वारा मन की उत्पत्ति पाये जाने से उसको नित्य कथन करना वैदिकसिद्धान्त से विरुद्ध है यदि व्यावहारिक नित्यत्व के अभिप्राय से नित्य कथन कियाजाय जैसाकि "तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते" वै० ३।२।२ में प्रतिपादन किया है कि संयोगादि गुणों का आश्रय होने से मन द्रव्य तथा अवान्तरसृष्टि में उत्पत्ति कारण के न पाये जाने से नित्य है तो कोई दोष नहीं, वस्तुतस्तु वाह्य इन्द्रियों के कथन से इन्द्रियत्वसामान्यद्वारा अन्तरिन्द्रिय मन के ग्रहण होने में

कोई बाधा नहीं, इसलिये "विश्वनाथ" की क्लिष्ट कल्पना सर्वथा निरर्थक है।

सं०—अब प्रसङ्ग सङ्गति से भूतों का लक्षण तथा भेद कथन करते हैं:—

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि। १३।

पद०—पृथिवी। आपः। तेजः। वायुः। आकाशम्। इति। भूतानि।

पदा०—(पृथिवी) पृथिवी (आपः) जल (तेजः) तेज (वायुः) वायु (आकाशम्) आकाश (इति) यह पांच (भूतानि) भूत हैं॥

भाष्य—"वाहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वं भूतत्वम्"=बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष योग्य गन्ध आदि विशेष गुण वाले द्रव्य को "भूत" कहते हैं, पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश भेद से भूत पांच प्रकार के हैं, जिसमें समवायसम्बन्ध से गन्ध रहे उसका नाम "पृथिवी" जिसमें समवायसम्बन्ध से शीतस्पर्श रहे उसका नाम "जल" जिसमें समवायसम्बन्ध से उष्णस्पर्श रहे उसका नाम "तेज" जो रूपरहित होकर समवायसम्बन्ध से स्पर्श का आश्रय हो उसका नाम "वायु" तथा जो समवायसम्बन्ध से शब्द गुण वाला हो उसका नाम "आकाश"

है, इनका विस्तारपूर्वक निरूपण "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में किया गया है, यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं ।

सं०—अत्र अर्थप्रमेय का लक्षण तथा भेद कथन करते हैं:—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादि गुणास्तदर्थाः । १४ ।

पद०—गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः। पृथिव्यादिगुणाः । तदर्थाः ।

पदा०—(गन्ध०) गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द यह पांच (पृथिव्यादिगुणाः) पृथिवी आदि पांच भूतों के गुण और (तदर्थाः) चक्षुरादि इन्द्रियों के विषय हैं ॥

भाष्य—"एकवहिरिन्द्रियमात्रग्राह्यविशेषगुणत्वमर्थत्वम्"=जो केवल एक बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्षयोग्य विशेषगुण है उसको "अर्थ" कहते हैं, जैसाकि गन्ध आदि विशेषगुण एक २ घ्राण आदि इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण "अर्थ" कहलाते हैं, अर्थ, विषय यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, उक्त अर्थ गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द भेद से पांच प्रकार का है और यही पांच पृथिवी आदि पांच भूतों के भिन्न २ विशेषगुण हैं अर्थात् पृथिवी का "गन्ध" जल का "रस" तेज का "रूप" वायु का "स्पर्श" और आकाश का "शब्द" विशेषगुण है ।

तात्पर्य्य यह है कि पृथिवी आदि द्रव्यों के आश्रित होने से गन्धादिकों को "गुण" तथा यथाक्रम चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय होने के कारण "अर्थ" कहते हैं।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि यद्यपि वैशेपिकसिद्धान्त में ९ द्रव्य, २४ गुण, ५ कर्म इन सब को अर्थ माना है और समानतन्त्र होने से इस शास्त्र में भी इन्हीं को अर्थ कहना चाहिये परन्तु इस सूत्र में "अर्थ" शब्द इन्द्रियसम्बन्धी नियत विषयों के अभिप्राय से पारिभापिक दिया है इसलिये कोई विरोध नहीं।

सं०—अब बुद्धि का लक्षण कथन करते हैं:—

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्। १५।

पद०— बुद्धिः। उपलब्धिः। ज्ञानम्। इति। अनर्थान्तरम्।

पदा०—(बुद्धिः) बुद्धि (उपलब्धिः) उपलब्धि (ज्ञानं) ज्ञान (इति) यह (अनर्थान्तरम्) एकार्थवाची हैं।

भाष्य—बुद्धि आदि पर्य्याय शब्दों से जिस पदार्थ का कथन होता है उसका नाम "बुद्धि" अर्थात् "सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञानं बुद्धिः" = यह घट है, यह पट है, इत्यादि सम्पूर्ण व्यवहारों के हेतु ज्ञान का नाम "बुद्धि" है, बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, अनुभूति तथा स्मृति भेद से बुद्धि दो प्रकार की है "संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः" = संस्कारमात्र

से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसको "स्मृति" कहते हैं, या यों कहो कि पूर्व अनुभव किये पदार्थ का जो कालान्तर में संस्कार-द्वारा ज्ञान होता है उसका नाम "स्मृति" है, और भावितस्मर्त्तव्य तथा अभावितस्मर्त्तव्य भेद से स्मृति दो प्रकार की है, स्वप्ना-वस्था में होने वाले ज्ञान का नाम "भावितस्मर्त्तव्य" तथा जाग्र-तावस्था में होने वाले स्मरण का नाम "अभावितस्मर्त्तव्य" है, और "तद्भिन्नंज्ञानमनुभवः" = उक्त स्मृति से भिन्न ज्ञान को "अनुभूति" कहते हैं, अनुभूति तथा अनुभव यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, विद्या तथा अविद्या भेद से अनुभूति दो प्रकार की है "तद्वतितत्प्रकारिकानुभूतिर्विद्या" = रजतत्वधर्म्म वाली रजत में जो रजतत्व प्रकार का ज्ञान होता है उसको "विद्या" कहते हैं, या यों कहो कि जैसी वस्तु हो उसको वैसा ही जानना "विद्या" कहलाती है अर्थात् यथार्थज्ञान का नाम "विद्या" है।

तात्पर्य्य यह है कि रजतत्व धर्म वाली रजत में जो "यह रजत है" इस प्रकार रजतत्वधर्म के ग्रहणपूर्वक रजत को विषय करने वाला ज्ञान होता है उसका नाम "विद्या" है, विद्या, प्रमा तथा यथार्थज्ञान, यह तीनों एकार्थवाची हैं।

प्रत्यक्षा, लैङ्गिकी, औपमानिकी तथा शाब्दी भेद से विद्या चार प्रकार की है, या यों कहो कि प्रत्यक्षज्ञान, अनुमितिज्ञान, उपमितिज्ञान तथा शाब्दज्ञान भेद से विद्या चार प्रकार की होती है

चक्षुरादि इन्द्रियरूप प्रत्यक्षप्रमाण से जन्य यथार्थ अनुभूति का नाम "प्रत्यक्षा" लिङ्गदर्शनरूप अनुमानप्रमाण से जन्य लिङ्ग-गोचर अनुमिति नामक यथार्थ अनुभूति का नाम "लैङ्गिकी" सादृश्यज्ञानरूप उपमानप्रमाण से जन्य यथार्थ अनुभूति का नाम "औपमानिकी" तथा आप्तोपदेशरूपप्रमाण से जन्य यथार्थ अनुभूति का नाम "शाब्दी" विद्या है, या यों कहो कि प्रत्यक्ष प्रमाण से जन्य यथार्थज्ञान का नाम "प्रत्यक्षप्रमा" अनुमान प्रमाण से जन्य यथार्थ ज्ञान का नाम "अनुमितिप्रमा" उपमान प्रमाण से जन्य यथार्थज्ञान का नाम "उपमितिप्रमा" तथा शब्दप्रमाण से जन्य यथार्थ ज्ञान का नाम "शाब्दीप्रमा" है ॥

विद्या की भांति संशय तथा विपर्य्यय भेद से अविद्या भी दो प्रकार की है "एकस्मिन्धर्म्मिणि विरुद्धनानाधर्म्म-प्रकारकं ज्ञानं संशयः" = एक धर्म्मी में स्थाणुत्व, पुरुषत्व आदि विरुद्ध नाना धर्म्मों को विषय करने वाले ज्ञान का नाम "संशय" है, इसका वर्णन वै० २। २। १० के भाष्य में विस्तारपूर्वक किया गया है तथा यहां भी आगे संशय के लक्षण तथा परीक्षा में किया जायगा।

"तदभाववतितत्प्रकारकंज्ञानंविपर्य्ययः" = रजतत्व

धर्म के अभाववाली शुक्ति में जो "यह रजत है" इस प्रकार रजतत्व धर्म के ग्रहणपूर्वक रजतबुद्धि होती है उसको "विपर्य्यय" कहते हैं, या यों कहो कि जो वस्तु जैसी नहीं उसमें वैसी बुद्धि का नाम "विपर्य्यय" है, नैयायिक तथा वैशेषिक लोगों की परिभाषा में उक्त विपर्य्यय ज्ञान को "अन्यथाख्याति" माना है, शुक्ति में रजतज्ञान, रज्जु में सर्पज्ञान, मरुभूमि में जलज्ञान, यह सब इसके उदाहरण हैं। यद्यपि उक्त स्थल में वादियों ने अनेक प्रकार की ख्यातियों की कल्पना की है परन्तु वैदिकसिद्धान्त में सर्वत्र अन्यथाख्याति ही मानी गई है, जिसप्रकार की वस्तु हो उससे भिन्न प्रकार की प्रतीति को "अन्यथाख्याति" कहते हैं, इन ख्यातियों का निरूपण "सांख्यार्य्यभाष्य" में किया गया है विशेषाभिलाषियों को उसका अवलोकन करना चाहिये।

कई एक लोग यह आशंका करते हैं कि उक्त सूत्र से बुद्धि पदार्थ के पर्य्याय शब्दों का कथन किया है लक्षण का नहीं? इसका उत्तर यह है कि "व्यवच्छेदहेतुत्वात्, सर्वं हि लक्षणमितरेतरपदार्थव्यवच्छेदकमेतैश्च पर्य्यायशब्दैर्नान्यःपदार्थोऽभिधीयते इत्यसाधारणत्वाल्लक्षणम्" न्या०वा० = अन्य पदार्थों से व्यावृत्ति = भेद को स्फुट करना लक्षण का प्रयोजन होता है, और व्यवच्छेदक = भेदरूप असाधार

ण धर्म को "लक्षण" कहते हैं, इस नियम के अनुसार जिसप्रकार गन्धवत्त्व लक्षण से केवल पृथिवी का बोध होता है इसी प्रकार बुद्धि आदि पर्य्याय शब्दों से बुद्धि पदार्थ का बोध होता है अन्य का नहीं, इसलिये लक्षण के अभाव की शंका साहस मात्र है।

तात्पर्य्य यह है कि जिस संकेत द्वारा पर्य्याय शब्द स्वार्थ बोधन में समर्थ होते हैं वह सार्वजनीन तथा प्रादेशिक भेद से दो प्रकार का है, सर्वजन प्रसिद्ध संकेत का नाम "सार्वजनीन" तथा एकदेशी संकेत का नाम "प्रादेशिक" है, जैसाकि "यह गौ है" इस प्रकार गोजातिमात्र का वाचक "गौ" शब्द सर्व प्रसिद्ध होने के कारण "सार्वजनीन" संकेत कहलाता है और "यह चैत्र है" "यह मैत्र है" इस प्रकार किसी एक व्यक्ति के वाचक चैत्र मैत्रादि शब्द "प्रादेशिक" संकेत हैं, उक्त दोनों संकेतों के मध्य सार्वजनीन अन्य पदार्थों से व्यावृत्ति-बुद्धि = भेदज्ञान का हेतु होता है, इससे स्पष्ट है कि सार्वजनीन संकेत होने के कारण बुद्धि आदि पर्य्याय शब्द भी स्ववाच्य बुद्धि पदार्थ के इतरव्यावर्त्तकरूप लक्षण होसक्ते हैं, इसलिये पृथक् लक्षण के कथन की आवश्यकता नहीं।

"वात्स्यायनमुनि" तथा तदनुसारी वार्त्तिककार "उद्योतकराचार्य्य" का कथन यह है कि "अचेतनस्य करणस्य

बुद्धेर्ज्ञानं वृत्तिः चेतनस्याकर्त्तुरुपलब्धिरिति युक्तिविरुद्धमर्थं प्रत्याचक्षाणक इवेदमाह" न्या०भा० = "अयं-घटः" = यह घट है, "अयं पटः" = यह पट है, इस प्रकार घटाकार तथा पटाकार आदि वृत्ति अन्तःकरणरूप बुद्धि का धर्म्म है, और इसीको "ज्ञान" कहते हैं, "घटमहञ्जानामि" = मैं घट को जानता हूं, "पटमहञ्जानामि" = मैं पट को जानता हूं, इस प्रकार का पौरुषबोध = प्रमा उक्त प्रमाणभूत चित्तवृत्ति का फल "उपलब्धि" कहलाता है, इस रीति से जो सांख्यसिद्धान्त में ज्ञान तथा उपलब्धि का भेद कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि बुद्धि, उपलब्धि तथा ज्ञान, यह तीनों एकार्थवाची हैं भिन्नार्थवाची नहीं, इसी आशय को स्फुट करने के लिये सूत्रकार ने तीनों शब्दों की पर्य्यायता कथन की है "वाचस्पतिमिश्र" ने उक्त अभिप्राय को न्यायवार्त्तिकतात्पर्य्यटीका में इस प्रकार स्फुट किया है कि:—

बुद्धिः किल त्रैगुण्यविकारः त्रैगुण्यं चाचेतनमित्यचेतनं केवलमिन्द्रियप्रणालिकयाऽर्थाकारेण परिणमते, चितिशक्तिश्चापरिणामिनीनित्यचैतन्यस्वभावा तस्याः सन्निधानादयस्कान्तमणिकल्पाबुद्धिस्तत्प्रतिबिम्बोद्ग्राहितया चैतन्यरूपतामापन्नेवार्थाकारपरिण

ताऽर्थंचेतयते तेन योऽसौ नीलाकारः परिणामोबुद्धेः स ज्ञानलक्षणा वृत्तिरित्युच्यते, आत्मप्रतिबिम्बस्य तु बुद्धिसंक्रान्तस्य यो बुद्ध्याकार नीलसम्बन्धः स आत्मनो व्यापार इवोपलब्धिरात्मनो वृत्तिरित्याख्यायते, तदिदं बुद्धितत्त्वं जलप्रकृतितया इन्दुमण्डलमिव स्वयम प्रकाशं चैतन्यमार्त्तण्डमण्डलच्छायापत्त्या प्रकाशते प्रकाशयाति चार्थान् इति तन्निराकरणाय पर्य्यायोपन्यासः ॥

अर्थ—अचेतन प्रधान = प्रकृति का विकार = कार्य्य होने से जड़बुद्धि इन्द्रियरूप नालीद्वारा घट, पट आदि अनेक प्रकार के विषय समानाकार परिणाम को धारण करती है, वन्हि के सम्बन्ध से वन्हिरूप हुए अयोगोल की भांति अपरिणामी चैतन्यस्वरूप पुरुष के सम्बन्ध द्वारा पुरुष प्रतिबिम्ब के धारण करने से बुद्धि भी चैतन्यरूप होकर नील, पीत आदि विषयों को चिन्तन करती है, इस प्रकार जो उक्त बुद्धि का नीलाकार तथा पीताकार परिणामविशेष है उसको "ज्ञान" कहते हैं और दर्प्पणगतमुखमलीनता की भांति जो बुद्धिगत आत्मप्रतिबिम्ब के साथ बुद्धि के वृत्तिरूप नीलपीतादि ज्ञान का अवास्तविक सम्बन्ध है उसका नाम "उपलब्धि" है, इस प्रकार जलतत्त्व प्रधान स्वयंअप्रकाशस्वरूप सूर्य्यमण्डल की छाया द्वारा प्रकाश

मान चन्द्रमण्डल की भांति जड़प्रकृति का कार्य्य होने से जड़रूप होने पर भी चिति शक्ति के प्रकाश से देदीप्यमान बुद्धि विषयों को प्रकाशित करती है, इस सिद्धान्त का निराकरण करने के लिये सूत्रकार ने बुद्धि आदि पर्य्याय शब्दों का उपन्यास किया है।

सार यह निकला कि जिसप्रकार जलतत्त्वप्रधान चन्द्रमण्डल में तेजःस्वरूप सूर्य्यमण्डल का संक्रम = प्रतिविम्बविशेष होता है इस प्रकार बुद्धि में पुरुष का संक्रम नहीं होसक्ता, क्योंकि वह अपरिणामी है, यदि आग्रहवशात् मान भी लिया जाय तो जिस प्रकार ज्ञान का अधिष्ठान होने से आत्मा चेतन है इसी प्रकार ज्ञान का आश्रय होने से बुद्धि भी चेतन होनी चाहिये और एक शरीर में दो चेतनों का मानना युक्ति विरुद्ध तथा निरर्थक है, इससे सिद्ध है कि देहादि संघात से भिन्न प्रत्येक शरीर में एक२ चेतन के पाये जाने से चेतनाश्रित बुद्धि पदार्थ के वाचक बुद्धि आदि शब्द एकार्थवाची हैं नानार्थ वाची नहीं, इस प्रकार प्रक्रियांश को लेकर "वात्स्यायनमुनि" तथा तदनुसारी "वार्त्तिककार" आदि का कथन सांख्यसिद्धान्त का विरोधि नहीं, क्यों कि प्रक्रियांश में भेद के होने पर भी ऋषियों के सिद्धान्त में भेद नहीं आता, इसका विस्तारपूर्वक निरूपण "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में किया गया है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं ।

सं०—अब मन का लक्षण कथन करते हैं:—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम् ।१६।

पद०—युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः । मनसः । लिङ्गम् ।

पदा०—(युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः) विषयों के साथ इन्द्रियों का युगपत्सम्बन्ध होने पर भी अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति का न होना (मनसः) मन की सिद्धि में (लिङ्गम्) लिङ्ग है ॥

भाष्य—एककाल में होने वाले सम्बन्ध का नाम "युगपत्सम्बन्ध" है, जब आत्मा के प्रयत्न से घ्राणादि इन्द्रियों का गन्धादि विषयों के साथ युगपत्सम्बन्ध होता है तब किसी एक विषय का ज्ञान होने पर भी अन्य विषय का ज्ञान नहीं होता अर्थात् गन्धज्ञान काल में रसज्ञान तथा रसज्ञान काल में गन्धज्ञान का अभाव होता है, इस प्रकार आत्मा का सब इन्द्रियों के साथ तथा इन्द्रियों का सब विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर भी जिसके सम्बंन्ध से ज्ञान होता और न होने से नहीं होता वही द्रव्य ज्ञान के हेतु सम्बन्ध का प्रयोजक "मन" है ॥

भाव यह है कि एक आत्मा में दो अथवा दो से अधिक ज्ञान जिससे युगपत्काल में नहीं होसक्ते वह ज्ञानमात्र का निमित्तकारण "मन" है अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर भी जिसके सम्बन्ध से एक इन्द्रिय ज्ञान को उत्पन्न करता है तथा जिसके सम्बन्ध न होने से दूसरे

इन्द्रिय द्वारा ज्ञान नहीं होता वह ज्ञानमात्र का सामान्यकारण और सुख दुःख आदिकों के प्रत्यक्ष का विशेषकारण आभ्यन्तर इन्द्रिय "मन" है।

इससे मन का यह लक्षण निष्पन्न हुआ कि "सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः"=जो सुखदुःखादि के साक्षात्कार का साधन इन्द्रिय है उसको "मन" कहते हैं, जैसाकि न्या० वा० में वर्णन किया है कि :-

"अनिन्द्रिय निमित्ताः स्मृत्यादयः करणान्तरनिमित्ता भवितुमर्हन्तियुगपच्चखलुघ्राणादीनां गन्धादीनाञ्च सन्निकर्षेषु सत्सु युगपज्ज्ञानानि नोत्पद्यन्ते तेनानुमीयते अस्ति तत्तदिन्द्रियसंयोगि सहकारिनिमित्तान्तरमव्यापि यस्याऽसन्निधेर्नोत्पद्यते ज्ञानं सन्निधेश्चोत्पद्यत इति ॥

अर्थ—जो ज्ञान है वह करणजन्य होता है, इस नियम के अनुसार जिस प्रकार गन्धादि ज्ञान चक्षुरादि करण से जन्य है इसी प्रकार स्मृति तथा सुखादि ज्ञान भी करणजन्य होने चाहियें और बाह्य होने से चक्षुरादि इन्द्रिय सुखादि ज्ञान के करण नहीं होसक्ते, इसलिये जो सुखादिज्ञान का करण है वही प्रत्येक इन्द्रिय के साथ संयोग वाला गन्धादि ज्ञानों की उत्पत्ति में सहकारी निमित्तकारण तथा सुखादि ज्ञानों का असाधारण निमित्तकारण मध्यमपरिमाण वाला आभ्यन्तर इन्द्रिय "मन"

है, आत्मप्रयत्न से जिस इन्द्रिय के साथ उसका संयोग होता है उसी से ज्ञान की उत्पत्ति होती है अन्य से नहीं।

और जो "विश्वनाथ" ने यह कथन किया है कि "ज्ञान-करणाणुत्वं मनसो लिङ्गं लक्षणमित्यर्थः" = इन्द्रियों का विषयों के साथ युगपत्सम्बन्ध होने पर भी जिसका सम्बन्ध होने से ज्ञान होता न होने से नहीं होता अर्थात् जिसके साथ किसी एक इन्द्रिय का सम्बन्ध होकर एक काल में एक ही ज्ञान होता है वह सुखादि ज्ञान का असाधारण कारण अणुपरिमाण वाला द्रव्य "मन" कहलाता है, यह इसलिये ठीक नहीं कि वैदिक-सिद्धान्त में मन का मध्यम परिमाण माना है अणु नहीं, इसका विस्तारपूर्वक निरूपण "तदभावादणुर्मनः" वै० ७। १। २३ के भाष्य में किया है और यहां भी आगे "यथोक्त-हेतुत्वाच्चाणुः" न्या० ३। २। ६३ के भाष्य में वर्णन किया जायगा।

कई एक लोग यह आशंका करते हैं कि यदि मन का मध्यमपरिमाण मानाजाय तो सब इन्द्रियों के साथ समानसम्बन्ध होने से एक काल में सब ज्ञानों की उत्पत्ति होनी चाहिये अर्थात् गन्धज्ञान काल में रसादि का तथा रसादिज्ञान काल में गन्धादि का ज्ञान होना चाहिये? इसका उत्तर यह है कि ज्ञानों के भाव अभाव में केवल इन्द्रियों के साथ मन की सन्निधि वा असन्निधि

प्रयोजक नहीं अर्थात् मन घ्राणादि इन्द्रियों की सन्निधिमात्र से गन्धादि ज्ञानों का साधारण तथा आत्मा की सन्निधि से सुखादि ज्ञानों का असाधारण कारण नहीं किन्तु "आत्मकृत्या तत्तदिन्द्रियप्रदेशे लब्धवृत्तिकस्य मनसः सन्निधानम्" = आत्मा के प्रयत्न से मन के जिस देश में गति = क्रिया उत्पन्न होती है उस देश में ही वह ज्ञान की उत्पत्ति का हेतु होता है अन्य देश में नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि जब घ्राणसंयुक्त मनोदेश में आत्मा के प्रयत्न से क्रिया होती है तब गन्ध का, जब रसनासंयुक्त मनोदेश में क्रिया होती है तब रस का ज्ञान होता है अन्य विषय का नहीं, इस प्रकार सर्वत्र विषयों के ज्ञान में मन हेतु है और उसके मध्यम परिमाण होने पर भी एक काल में सब ज्ञानों की उत्पत्ति का दोष नहीं आता और जो आधुनिक नैयायिकों ने मध्यमपरिमाण के मानने से सब ज्ञानों की उत्पत्ति का दोष कथन किया है वह प्रमाणशून्य होने से आदरणीय नहीं, इसका विस्तारपूर्वक निरूपण "वैशेषिकार्य्यभाष्य" के सप्तमाध्याय में किया गया है।

सं०—अब प्रवृत्ति का लक्षण तथा भेद कथन करते हैं:—

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ इति। १७।

पद०—प्रवृत्तिः। वाग्बुद्धिशरीरारम्भः। इति।

पदा०—(वाग्बुद्धिशरीरारम्भः) वाणी, मन तथा शरीर

से होने वाले व्यापार का नाम (प्रवृत्तिः इति,) प्रवृत्ति है।

भाष्य—"रागजन्यतावच्छेदकतया सिद्धो जाति विशेषः प्रवृत्तित्वं तद्वतीप्रवृत्तिः" = राग = इच्छाविशेष की जन्यता के अवच्छेदक = नियामक धर्म्म का नाम "प्रवृत्तित्व" है और उक्त धर्म्म वाले गुणविशेष को "प्रवृत्ति" कहते हैं अर्थात् इच्छापूर्वक होने वाला जो शरीरादि का व्यापार है उसका नाम "प्रवृत्ति" है और वह वागारम्भ, बुद्ध्यारम्भ तथा शरीरारम्भ भेद से तीन प्रकार की होती है, वाचिक व्यापार का नाम "वागारम्भ" मानसिक व्यापार का नाम "बुद्ध्यारम्भ" और शारीरिक व्यापार का नाम "शरीरारम्भ" है, उक्त प्रवृत्ति पुनः पुण्य पाप भेद से दो प्रकार की होती हुई प्रत्येक दश २ प्रकार की होती है जैसाकि "सेयं प्रवृत्तिः प्रत्येकं दशविधा पुण्या च पापा च पुण्या कायेन परित्राणं परिचरणं दानमिति, वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्याय इति, मनसा दया, स्पृहा श्रद्धा चेति विपर्य्ययेण दशविधैव" न्या०वा० = में वर्णन किया है कि शरीर से रक्षा, सेवा तथा दान, वाणी से सत्यभाषण, हितोपदेश, प्रियवचन और स्वाध्याययज्ञ, मन से दया, अस्पृहा = परद्रव्य के लेने की इच्छा न करना तथा वेदादि सत्शास्त्रों पर श्रद्धा = विश्वासबुद्धि रखना, यह दश प्रकार की प्रवृत्ति धर्म्म का हेतु होने से "पुण्यात्मिका" है, और इससे विपरीत हिंसा आदि

पापात्मिका प्रवृत्ति भी दशप्रकार की जाननी चाहिये, जैसाकि पीछे दूसरे सूत्र के भाष्य में कथन कर आये हैं ॥

सं०—अब दोष का लक्षण कथन करते हैं:—

प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः । १८ ।

पद०—प्रवर्त्तनालक्षणाः । दोषाः ।

पदा०—(प्रवर्त्तनालक्षणाः) जिससे प्रवृत्ति हो उसका नाम (दोषाः) दोष है ।

भाष्य—"प्रवर्त्तना प्रवृत्तिः सा लक्षणमेषामिति प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः" न्या०भं०=प्रवृत्ति का नाम "प्रवर्त्तना" है, और प्रवर्त्तना के कारण को "दोष" कहते हैं अर्थात् "प्रवृत्ति जनकत्वं दोषत्वम्"=जो धर्म्माधर्म्म के हेतु प्रवृत्ति का कारण है उसका नाम "दोष" है, ऐसा लक्षण करने से ईश्वरेच्छा तथा अदृष्ट आदि में दोषलक्षण की अतिव्याप्ति होती है क्योंकि वह भी कार्य्यमात्र के प्रति साधारण कारण हैं इस अतिव्याप्तिदोष की निवृत्ति के लिये दोषों का सामान्यलक्षण यह करना चाहिये कि "लौकिकप्रत्यक्षविषयत्वे सति प्रवृत्ति जनकत्वं दोषत्वम्" =जो लौकिक प्रत्यक्ष का विषय होकर धर्म्माधर्म्म का कारण हो उसको "दोष" कहते हैं, यद्यपि साधारणरूप से ईश्वरेच्छा, अदृष्ट आदि भी धर्म्म आदि के कारण माने गये हैं तथापि लौकिक प्रत्यक्ष के विषय नहीं, इसलिये अतिव्याप्ति

दोष नहीं होसक्ता परन्तु उक्त लक्षण से ईश्वरेच्छादि में अति-व्याप्ति के निवृत्त होने पर भी यज्ञादि विषयक यथार्थज्ञान में अतिव्याप्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है, क्योंकि यज्ञादि विषयक यथार्थज्ञान का मानस लौकिक प्रत्यक्ष होता है और उक्त ज्ञान को धर्म्म की उत्पत्ति का कारण भी माना है इस प्रकार उक्त दोष की निवृत्ति के लिये लक्षण में "प्रमान्यत्वे सति" पद का अधिक निवेश करना चाहिये उक्त निवेश से लक्षण का स्वरूप यह हुआ कि "लौकिक प्रत्यक्षविषयत्वे सति, प्रमान्यत्वे सति प्रवृत्तिजनकत्वं दोषत्वम्" = जो लौकिक प्रत्यक्ष का विषय तथा, प्रमा से भिन्न होकर प्रवृत्ति का जनक हो उसको "दोष" कहते हैं, इस रीति से यज्ञादि विषयक यथार्थज्ञान प्रमा से भिन्न न होने के कारण उक्त अतिव्याप्ति का विषय नहीं होसक्ता, सूत्र में "दोषः" पद के बहुवचन से यह सूचित किया है कि राग, द्वेष तथा मोह भेद से दोष तीन प्रकार का है "अनुकूलेषु पदार्थेष्वभिलाषलक्षणो-रागः, प्रतिकूलेष्वसहलक्षणो द्वेषः, वस्तुपरमार्थपरिच्छेद लक्षणो मिथ्यावसायो मोहः". न्या० मं० = अनुकूल पदार्थ में इष्ट बुद्धि का नाम "राग" प्रतिकूल पदार्थ में अनिष्ट बुद्धि का नाम "द्वेष" और वस्तु के अविवेक रूप मिथ्या निश्चय का नाम "मोह" है।

सार यह निकला कि राग, द्वेष, मोह यह तीनों दोष पुरुष की पुण्यपापात्मक प्रवृत्ति के कारण हैं अर्थात् जिस वस्तु में मोह = मिथ्याज्ञान होता है उसी वस्तु में रागद्वेष होते हैं और जबतक रागद्वेष है तबतक संसार है, तत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान के निवृत्त होने पर रागद्वेष की निवृत्ति से जन्ममरणात्मक संसार की अत्यन्त निवृत्ति होजाती है जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं ॥

सं०—अब प्रेत्यभाव का लक्षण कथन करते हैं:—

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः । १९ ।

पद०—पुनः । उत्पत्तिः । प्रेत्यभावः ।

पदा०—(पुनः) वार २ (उत्पत्तिः) जन्म का नाम (प्रेत्य-भावः) प्रेत्यभाव है ।

भाष्य—"उत्पन्नस्य क्वचित्सत्वनिकाये या मृत्वा पुनरुत्पत्तिः सः प्रेत्यभावः" न्या०भा० = एक शरीर में उत्पन्न हुए जीव का मरकर दूसरे शरीर में उत्पन्न होने का नाम "प्रेत्यभाव" है, प्रेत्यभाव तथा पुनरुत्पत्ति यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, यह प्रेत्यभाव प्रागभाव की भांति अनादिसान्त होने से अपवर्गपर्य्यन्त स्थायी है अर्थात् मोक्ष के अनन्तर प्रेत्यभाव नहीं रहता और जो वैदिकसिद्धान्त में मोक्ष से जीव की पुनः आवृत्ति कथन की है वह प्रेत्यभाव पद का वाच्यार्थ नहीं होसक्ती, क्योंकि अज्ञानियों की भांति अल्पकाल में ही उससे जीव का आगमन नहीं होता ।

भाव यह है कि अज्ञानावस्था में वर्त्तमान जीवों के पुनः २ जन्म मरण को "प्रेत्यभाव" कहते हैं, यहां प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि पुनरुत्पत्ति आत्मा की होती है अथवा शरीर की? प्रथम पक्ष आत्मा के नित्य होने से नहीं बनसकता अर्थात् जब कूटस्थ नित्य आत्मा की उत्पत्ति ही युक्ति विरुद्ध है तो उसकी पुनरुत्पत्ति का कथन अत्यन्त असङ्गत है, दूसरा पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि शरीर की एक वार उत्पत्ति होती है अनेक वार नहीं, क्योंकि एक शरीर एक वार उत्पन्न होकर नष्ट होजाता है फिर उसकी उत्पत्ति नहीं होसक्ती, किन्तु नवीन शरीर उत्पन्न होकर पुनः नष्ट होजाता, और फिर शरीरान्तर की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार पुनरुत्पत्ति का नाम "प्रेत्यभाव" नहीं होसक्ता ? इसका उत्तर यह है कि "पुनःशब्दार्थस्य यत्नत उपदिष्टस्य परिहर्त्तुमशक्यत्वादात्मनश्च स्थायित्वेन क्रियाभ्यावृत्तिसम्भवात् तस्यैव पुनः पुनरुत्पत्तिं ब्रूमः, उत्पत्तिवन्मरणमपि सोयमात्मन एव मृत्वा पुनर्जन्म प्रेत्यभाव इति" न्या० मं० = स्थायी = स्थिर वस्तु में क्रिया की आवृत्ति = वार २ होना पाया जाता है अस्थायी में नहीं, इस नियम के अनुसार स्थिर आत्मा में जन्ममरणरूप क्रिया की आवृत्ति पाये जाने से उसी का प्रेत्यभाव होता है शरीर का नहीं और जन्म मरण आत्मा के स्वरूप में नहीं माने गये किन्तु "मरणमात्मनो भोगायतन

देहेन्द्रियादिवियोग उच्यते जन्म तु तत्सम्बन्धः" न्या० भं० = सुख, दुःख के साक्षात्काररूप भोग का अधिष्ठान जो देह, इन्द्रिय आदि का संघात है उसके साथ आत्मा के वियोग का नाम "मरण" तथा संयोग का नाम "जन्म" है, इस रीति से आत्मा के पुनर्जन्म में कोई दोष नहीं, और पूर्वापर काल सम्बन्धी नियम के न पाये जाने से यह मेलभाव अनादि है।

तात्पर्य्य यह है कि "यदि पूर्वंदुःखं तज्जन्मना विना-न युक्तम्, अथ पूर्वं जन्म तदा धर्म्माधर्म्मावन्तरेण न युक्तम्, अथ पूर्वं धर्म्माधर्म्मौ तावपि विना रागद्वेषा-भ्यां न युक्तौ, अथ पूर्वं रागद्वेषौ न मिथ्याज्ञानादृते तयोः प्रादुर्भाव इति, मिथ्याज्ञानं तर्ह्यादिः, तदपि शरीरादीनन्तरेण न युक्तं सोऽयं दुःखादीनां मिथ्या ज्ञानपर्य्यन्तानां कार्य्यकारणभावोऽविच्छिन्नःसंसार इति, आजरञ्जरीभाव इति चोच्यते" न्या०वा० = जन्म के विना दुःख, धर्म्माधर्म्म के विना जन्म तथा रागद्वेष के विना धर्म्माधर्म्म नहीं होसक्ते, और यदि सब से प्रथम रागद्वेष को मानें तो उनका मिथ्याज्ञान के विना होना तथा मिथ्याज्ञान का शरीरादि के विना होना सर्वथा असम्भव है, इसलिये मिथ्याज्ञानपर्य्यन्त दुःखादिकों का बीजांकुरवत् अनवरत अनादि कार्य्यकारणरूप

संसार ही "प्रेत्यभाव" कहलाता है और इसको न्याय की परि-भाषा में "आजरञ्जरीभाव" कहते हैं, प्रेत्यभाव, संसार, आज-रञ्जरीभाव, यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं ॥

सं०—अब फल का लक्षण कथन करते हैं:—

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् । २० ।

पद०—प्रवृत्तिदोषजनितः । अर्थः । फलम् ।

पदा०—(प्रवृत्तिदोषजनितः) प्रवृत्ति तथा दोष से होने वाले (अर्थः) सुख दुःख का नाम (फलम्) फल है ।

भाष्य—"सुखदुःखसंवेदनं फलम्" न्या० भा० = सुख,दुःख के साक्षात्कार का नाम "फल" है, उक्त फल का प्रयोजक = कारणविशेष धर्म्माधर्म्मात्मक प्रवृत्ति और प्रवृत्ति के कारण दोष हैं जैसाकि पीछे वर्णन किया गया है ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि सुख तथा दुःख यह दोनों "मुख्यफल" तथा सुख दुःख के साधनभूत शरीर, इन्द्रिय आदि "गौणफल" हैं, संसारी जीव इस संसाररूपीघोर जङ्गल में दोनों प्रकार के फलों की अभीप्सा = ग्रहणेच्छा जिहासा = त्यागेच्छा में भटकते फिरते हैं किसी प्रकार भी शान्ति को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि उक्त फलों के ग्रहण तथा त्याग की सीमा कोई नियत नहीं अर्थात् सुख से अधिक सुख तथा दुःख से अधिक दुःख देखने में

आता है कोई संसारी निरातिशय सुखी नहीं होता, इस प्रकार मुमुक्षु को वैराग्य लाभ के लिये फल का उपदेश किया गया है, इसका विशेष विचार परीक्षा प्रकरण में किया जायगा ।

सं०—अब दुःख का लक्षण कथन करते हैं:—

बाधनालक्षणं दुःखम् । २१ ।

पद०—बाधनालक्षणम् । दुःखम् ।

पदा०—(बाधनालक्षणं) पीड़ा का नाम (दुःखम्) दुःख है ।

भाष्य—"बाधना पीड़ा सन्ताप इति लक्षणं स्वरूपं यस्य तद्दुःखम्"=पीड़ा को "दुःख" कहते हैं, बाधना, पीड़ा, सन्ताप यह तीनो पर्य्याय शब्द हैं अर्थात् "अधर्मजन्यं प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्"=अधर्म्म से जन्य तथा "यह मुझे न हो" इस प्रकार प्रतिकूल ज्ञान का विषय जो गुण उसका नाम "दुःख" है, या यों कहो कि जो अधर्म से उत्पन्न हो तथा परम द्वेष का विषय गुण हो उसको "दुःख" कहते हैं, दुःखानुषक्त= दुःख से मिले हुए शरीरादि भी "दुःख" कहलाते हैं ।

कई एक लोग यहां यह आशंका करते हैं कि पूर्वसूत्र में "फल" पद से दुःख का भी ग्रहण किया गया है पुनः दुःखलक्षण का पृथक् उपदेश निरर्थक है, यदि कहाजाय कि सुखाभाव को सिद्ध करने के लिये दुःख का पृथक् उपदेश किया है अर्थात् संसार में सुखमात्र का अत्यन्ताभाव है किन्तु "यत्किञ्चित्तद्दुःखमेव"=

जो कुछ है दुःख ही दुःख है, यह इसलिये ठीक नहीं कि प्राणि मात्र के अनुभव सिद्ध सुख के अपलाप = अस्वीकार से समान युक्ति द्वारा दुःख का अपलाप भी मानना पड़ेगा अर्थात् जिस प्रकार दुःख से सुख का अपलाप किया जाता है इसी प्रकार सुख से दुःख का अपलाप ही क्यों न किया जाय, यदि दुर्जन तोषन्याय द्वारा दुःख से सुखापलाप को मान भी लिया जाय तो प्रमेय सूत्र में "फल" का उपदेश निरर्थक होजायगा ? इसका उत्तर यह है कि "न सुखलेशस्य संसारे जन्तुभिरन्तरारन्तराऽनुभूयमानस्य प्रत्याख्यानाय दुःखग्रहणं सर्वत्र तथात्व भावनोपदेशार्थं, सन्नपि सुखतन्वो दुखमेवेति भावयितव्यः तत्साधनमपि सर्वं दुःखमेवेति मन्तव्यम्" न्या० मं० = प्रत्येक जीव के अनुभव सिद्ध सुख का अपलाप दुःख पद से अभिप्रेत नहीं किन्तु सर्वत्र दुःखानुषक्त होने के कारण सुख तथा सुखसाधनों में दुःखभावना के लिये दुःख का पृथक् उपदेश किया है, क्योंकि संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं जो दुःख से मिली हुई न हो जैसाकि न्या०मं०में किसी वीतराग पुरुष का कथन है कि:—

नतद्व्यवसितं पुंसां न तत्कर्म्म न तद्वचः ।
न तद्भोग्यंसमस्तीह यन्नदुःखाय जायते ॥

अर्थ—इस संसार में मनुष्य का प्रत्येक कर्त्तव्य विचार

तथा भोग सुखसाधन होने पर भी विषसंपृक्त अन्न की भांति दुःखा-नुषक्त ही होता है, इसी अभिप्राय से योगशास्त्र में महर्षि पतञ्जलि ने कथन किया है कि " परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति विरोधाच्च सर्वमेव दुःखं विवेकिनः" यो०२।१९=परि-णामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख इन तीन दुःखों से विषयसुख मिला रहता है, इसलिये विवेकी पुरुष विषयसुख को भी दुःखरूप समझते हैं, इसका विस्तारपूर्वक निरूपण "योगार्य्यभाष्य" में किया है विशेषाभिलाषियों को उसका अवलोकन करना चाहिये।

इसी आशय को "जयन्तभट्ट" ने न्यायमञ्जरी में इस प्रकार स्फुट किया है किः--

तत्वतश्चिन्त्यमानं हि सर्वं दुःखं विवेकिनः।
विषसंपृक्तमधुवत्सर्वं दुःखं भवत्पदः॥
सुखाधिगम लोभेन यतमानो हि पूरुषः।
सहस्र शाखमाप्नोति दुःखमेव तदर्जने॥
एवं सर्वमिदं दुःखमिति भावयतोऽनिशम्।
सर्वोपपत्ति स्थानेषु निर्वेदोऽस्य प्रवर्त्तते॥
निर्विण्णस्य च वैराग्यं विरक्तस्य च देहिनः।
क्लेशकर्म प्रहाणादिद्वारो निःश्रेयसोदयः॥

अर्थ--यदि विचार कर देखाजाय तो सम्पूर्ण संसार का भोग

विषयुक्त मधु की भांति दुःखरूप महान् अनर्थ का कारण है, यत्किञ्चित् विषय सुख के लिये अनेक प्रकार का यत्न करता हुआ पुरुष सुख की अपेक्षा सहस्रगुण दुःख को प्राप्त होता है, इस प्रकार प्रत्येक सुख तथा सुखसाधनों से दुःख की भावना करने वाले मुमुक्षुपुरुष को सांसारिक विषय भोग से तीव्रतर विराग होकर विवेक द्वारा अविद्या आदि पांच क्लेशों की निवृत्ति से ब्रह्मानन्दोपभोगरूप मोक्ष सुख की प्राप्ति में कोई अन्तराय = विघ्न नहीं होता, अतएव मोक्षसुख ही दुःख रहित होने के कारण मनुष्य के लिये उपादेय तथा अन्य सब विषयसुख विषसंपृक्त अन्न की भांति हेय हैं।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि अधिमात्र, मध्यम, हीन तथा हीनतर भेद से दुःख चार प्रकार का है, तिर्य्यग्योनि = कूकर शूकर आदि जन्तुओं का दुःख सबसे अधिक होने के कारण "**अधिमात्र**" है, क्योंकि मनुष्य की भांति तिर्य्यग्योनिजीव अनेकविधदुःखनिवृत्तिरूप साधनों के अभाव द्वारा पुरुषार्थ से वञ्चित रहते हैं, और मनुष्य जाति के जीव अहोरात्र दुःखनिवृत्ति के लिये उपायों का अनुष्ठान करते हुए सुखलाभ करते रहते हैं इसलिये उनका दुःख "**मध्यम**" कहलाता है, मनुष्यों की अपेक्षा देव = विद्वान् लोगों का दुःख "**हीन**" तथा सबकी अपेक्षा वीत राग = जीवन्मुक्त पुरुषों का दुःख "**हीनतर**" होता है।

इति निपुणमतिर्योदुःखमेवेतिसर्वं ।
परिहरति शरीरे क्लेशकर्म्मादि जातम् ॥
अजरममरतत्वं चिन्तयन्नात्मतत्त्वं ।
गतभयमपवर्गं शाश्वतं सोऽभ्युपैति ॥

सं०—अब अपवर्ग का लक्षण कथन करते हैं:—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः । २२ ।

पद०—तदत्यन्तविमोक्षः । अपवर्गः ।

पदा०—(तदत्यन्तविमोक्षः) दुःख की अत्तन्तनिवृत्ति का नाम (अपवर्गः) अपवर्ग है ।

भाष्य—"तेन दुःखेन जन्मनात्यन्तं विमुक्तिरपवर्गः" = दुःखानुषङ्गि = त्रिविध दुःख से मिले हुए जन्म की अत्यन्तनिवृत्ति का नाम "अपवर्ग" है, अपवर्ग, मोक्ष, मुक्ति यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, मोक्ष का विस्तारपूर्वक निरूपण "योगार्य्य भाष्य" में कियागया है तथा यहां भी पीछे मुक्तिक्रम प्रतिपादक द्वितीयसूत्र के भाष्य में किया है यहां विशेष लिखने की आवश्य कता नहीं ।

"जयन्तभट्ट" ने इस सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि "तदिति प्रक्रान्तस्य दुःखस्यावमर्शः, नच मुख्यमेव

दुःखं बाधनास्वभावमवमृश्यते, किन्तु तत्साधनं तदनुषक्तञ्च सर्वमेव तेन दुःखेन वियोगोऽपवर्गः" न्या०मं = मुख्य तथा गौण दोनों प्रकार के दुःख को ग्रहण करने के लिये "तत्" शब्द का निवेश किया है, क्योंकि मुख्य दुःख की भांति गौण दुःख भी पीड़ास्वभाव वाला होने से हेय है, शरीरादि दुःख साधनों का नाम "गौणदुःख" है, और मुख्यदुःख का लक्षण पीछे कथन कर आये हैं, उक्त दोनों दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति को "अपवर्ग" कहते हैं।

ननु—प्रलयकालीन दुःखवियोग का नाम अपवर्ग क्यों नहीं ?

उत्तर—"सर्गसमये पुनरक्षीण कर्माशयानुरूपशरीरादि सम्बन्धे सति दुःखसम्भवादतस्तद्व्यावृत्त्यर्थमत्यन्त ग्रहणम्" न्या०मं० = प्रलयकाल में दुःख के साथ वियोग होने पर भी दुःखहेतु कर्माशय = धर्म्माधर्म्म के बने रहने से पुनः सृष्टि काल में उसके अनुसार ही शरीरादि सम्बन्धद्वारा जीव को दुःख बना रहता है, इसलिये प्रलयकालीन कादाचित्क दुःखवियोग अपवर्ग नहीं होसक्ता, इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने "अत्यन्त" पद का निवेश किया है अर्थात् प्रलयकाल में दुःखवियोग होता है अत्यन्तदुःखवियोग नहीं और "अत्यन्तदुःखवियोग" ही "अपवर्ग" कहलाता है।

सार यह निकला कि :—

यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः ।
तावदात्यन्तिकीदुःखव्यावृत्तिर्नावकल्पते ॥
धर्म्माधर्म्मनिमित्तो हि सम्भवः सुखदुःखयोः ।
मूलभूतौ च तावेवस्तम्भौ संसारसद्मनः ॥
तदुच्छेदेतु तत्कार्य्यं शरीराद्यनुपप्लवात् ।
नात्मनः सुखदुःखेस्त इत्यसौ मुक्त उच्यते ॥
इच्छाद्वेषप्रयत्नादि भोगायतनबन्धनम् ।
उच्छिन्नभोगायतनो नात्मातैरपियुज्यते ॥
प्राणस्यक्षुत्पिपासेद्वे लोभमोहौचचेतसः ।
शीतातपौशरीरस्य षडूर्म्मिरहितः शिवः ॥

अर्थ—जबतक शुभाशुभवासना आदि आत्मा के गुणों की निवृत्ति नहीं होती तबतक दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति नहीं होसक्ती, क्योंकि सुख दुःख के निमित्तकारण धर्म्माधर्म्म ही संसाररूप प्रासाद = महल के महास्तम्भ हैं और तत्वज्ञानद्वारा मिथ्याज्ञान की निवृत्ति से दोषों के निवृत्त होने पर तत्कार्य्यभूत शरीरादि निवृत्ति के अनन्तर सुख दुःख से रहित हुआ आत्मा " मुक्त " कहलाता है अर्थात् इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न आदि आत्मा के विशेषगुण ही भोग का हेतु होने से बन्धन हैं और भोगाधिष्ठान शरीर तथा भोगसाधन मन की निवृत्ति से इच्छादि के साथ

आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये प्राणसम्बन्ध से होनेवाली क्षुधा, पिपासा, चित्तसम्बन्ध से होनेवाले लोभ, मोह, शरीरसम्बन्ध से होनेवाला शीतोष्णता का क्लेश इन छः ऊर्म्मियों = लहरों से रहित होकर कल्याणरूप मोक्षसुख को प्राप्त हुआ शान्तस्वरूप आत्मा "मुक्त" होता है, पुनः उसके लिये कोई शेष कर्त्तव्य नहीं रहता।

सं०—अब क्रमप्राप्त संशय का लक्षण कथन करते हैं:—

समानानेकधर्म्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुप लब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः॥ २३॥

पद०—समानानेकधर्म्मोपपत्तेः। विप्रतिपत्तेः। उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातः। च। विशेषापेक्षः। विमर्शः। संशयः।

पदा०—(समानानेकधर्म्मोपपत्तेः) समानधर्म्म तथा अनेकधर्म्म की उपपत्ति (विप्रतिपत्तेः) विप्रतिपत्ति (च) और (उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातः) उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था से (विशेषापेक्षः) विशेषधर्म के प्रत्यक्ष न होने पर (विमर्शः) एक वस्तु में होनेवाले विरोधि ज्ञान को (संशयः) संशय कहते हैं।

भाष्य—सामान्यधर्म्म के प्रत्यक्ष होने तथा विशेषधर्म्म के प्रत्यक्ष न होने से एक वस्तु में होनेवाले परस्परविरोधि भावाभा-

त्मक ज्ञान का नाम "संशय" है अर्थात् पुरुष तथा स्थाणु आदि पदार्थों में उच्चैस्त्व = ऊंचाहोना, आदि सामान्यधर्म्म और वक्रकोटर तथा करचरणादि विशेपधर्म्म हैं, सन्मुख स्थित दूरवर्त्ति स्थाणु आदि पदार्थों में उच्चैस्त्वादि सामान्यधर्म्मों के प्रत्यक्ष होने तथा वक्रकोटर, करचरणादि विशेषधर्म्म के प्रत्यक्ष न होने से "स्थाणुर्वापुरुषो वा" = यह स्थाणु है किंवा पुरुष है, इसप्रकार का जो ज्ञान होता है उसका नाम "संशय" है।

भाव यह है कि जब कोई पुरुष दूर से पुरोवर्त्ती स्थाणु आदि को देखकर विचार करता है कि "यह स्थाणु है वा पुरुष है" तब उसको प्रथम स्थाणु तथा पुरुष में होनेवाले उच्चैस्त्व आदि सामान्यधर्म का प्रत्यक्ष होता है परन्तु स्थाणुवर्त्ती वक्रकोटरत्व तथा पुरुषवर्त्ती करचरणादि विशेषधर्म्मों का साक्षात्कार न होने से जो "स्थाणुर्वापुरुषो वा" इस प्रकार का अनवधारणरूप = अनिश्चयात्मक पुरोवर्ती स्थाणु आदि धर्म्मों में परस्पर विरुद्ध स्थाणुत्व तथा पुरुषत्वरूप विशेषधर्म्म को अवलम्बन = विषय करने वाला ज्ञान होता है उसको "संशय" कहते हैं, इसी अभिप्राय से "वात्स्यायनमुनि" ने न्यायभाष्य में कथन किया है कि "स्थाणुपुरुषयोः समानंधर्म्ममारोहपरिणाहौ पश्यन् पूर्वदृष्टञ्च तयोर्विशेषं बुभुत्समानः किंस्विदित्यन्यतरन्नावधारयति तदनवधारणं ज्ञानं संशयः" = स्थाणु

तथा पुरुष के आरोह = ऊंचाई, परिणाह = विशालता रूप सामान्य धर्म्म को देखने वाले पुरुष को पूर्वज्ञात वक्रकोटरत्व तथा करच-रणादि विशेष धर्म्म के साक्षात्कार न होने से जो "स्थाणु है किंवा पुरुष है" इस प्रकार का अनिश्चयात्मक ज्ञान होता है वही "संशय" कहाता है, इससे संशय का यह लक्षण निष्पन्न हुआ कि "एकधर्मिणि विरोधेन भावाभावप्रकारकंज्ञानं संशयः" = एक धर्म्मी में परस्पर विरुद्ध धर्म्मों को विषय करने वाले ज्ञान का नाम "संशय" है।

उक्त संशय समानधर्मोपपत्तिजन्य, अनेकधर्म्मोपपत्तिजन्य, विप्रतिपत्तिजन्य, उपलब्ध्यव्यवस्थाजन्य, अनुपलब्ध्यव्यवस्थाजन्य भेद से पांच प्रकार का है "समानः साधारणोधर्मःसमान-धर्मः तस्योपपत्तिः समानधर्मोपपत्तिस्तज्जन्यः समान-धर्मोपपत्तिजन्यः = साधारण धर्म्म का नाम "समानधर्म्म" और समानधर्म्म के ज्ञान से होनेवाले संशय को "समानधर्म्मोप पत्तिजन्य" कहते हैं, जैसाकि "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" यह संशय स्थाणु तथा पुरुषवर्ती उच्चैस्त्वादि सामान्यधर्म्म के ज्ञान से जन्य होने के कारण "समानधर्म्मोपपत्तिजन्य" कहाता है।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि पुरोवर्त्ति धर्म्मी में जिस सा-धारणधर्म के प्रत्यक्ष होने से संशय होता है वह पूर्वानुभूत धर्म्मियों में

होने वाले साधारणधर्म्म के समान होना चाहिये विपरीत नहीं अर्थात् जो स्थाणु वा पुरुष में उच्चैस्त्वादि तथा गौ और गवय में विषाणादि साधारणधर्म्म हैं अन्य काल वा अन्य देश में उन्हीं साधारणधर्म्मों के प्रत्यक्ष होने और वक्रकोटरत्व आदि असाधारणधर्म्मों के प्रत्यक्ष न होने तथा स्थाणुत्व, पुरुषत्व, गोत्व और गवयत्वरूप विशेषधर्मों की स्मृति से पुरोवर्ती स्थाणु आदि धर्मियों में संशय होता है कि यह स्थाणु है वा पुरुष है, गौ है किंवा गवय है, इस विषय का " दृष्टञ्च दृष्टवत् " वै० २ । २ । १८ सूत्र के भाष्य में विस्तारपूर्वक निरूपण किया है ।

" समानासमानजातीयञ्चानेकं तस्माद्विशेषकोधर्म्मोऽसाधारणधर्म्मस्तस्योपपत्तिरनेकधर्म्मोपपत्तिरित्यर्थस्तज्जन्यः अनेकधर्म्मोपपत्तिजन्यः " = समानजातीय तथा असमानजातीय पदार्थों का नाम " अनेक " है, उक्त पदार्थों से व्यावर्त्तक = परस्परभेदक धर्म्म को " विशेषधर्म्म " किंवा " अनेकधर्म्म " कहते हैं, अनेकधर्म्म के ज्ञान से होनेवाले संशय का नाम " अनेकधर्म्मोपपत्तिजन्य " है, जैसाकि " शब्दो नित्यो नवा " = शब्द नित्य है किंवा अनित्य है, यह संशय असाधारण धर्म्म के ज्ञान से जन्य होने के कारण " अनेकधर्म्मोपपत्तिजन्य " कहाता है, क्योंकि शब्दत्व धर्म्म शब्द के समानजातीय गुणादिकों तथा असमानजातीय द्रव्यादिकों से शब्द का व्यावर्त्तक = केवल शब्दवृत्ति होने से " असाधारणधर्म्म "

है, नव्यनैयायिकों की परिभाषा में "समानधर्म्मोपपत्तिजन्य" संशय को "साधारणधर्मज्ञानजन्य" तथा "अनेकधर्म्मोपपत्तिजन्य" को "असाधारणधर्म्मज्ञानजन्य" कहते हैं।

"वात्स्यायनमुनि" ने "अनेकधर्म्मोपपत्तिजन्य" संशय को इस प्रकार ज्ञापन किया है कि "समानासमानजातीयश्चानेकं तस्यानकस्य धर्म्मोपपत्तेर्विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात्, समानजातीयेभ्यश्चासमानजातीयेभ्यश्चार्था विशेष्यन्ते, गन्धवत्वात्पृथिवी अवादिभ्यो विशेष्यते गुणकर्म्मभ्यश्च अस्ति च शब्दे विभागजत्वं विशेषः, तस्मिन्द्रव्यं गुणः कर्म वेति संदेहः विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात् किं द्रव्यस्य सतो गुणकर्म्मभ्यो विशेष आहोस्विद्गुणस्त सत इति अथ कर्म्मणः सत इति" न्या० भा० = समान तथा असमानजातीय को "अनेक" कहते हैं, अनेक व्यावर्त्तक धर्म्म के ज्ञान का नाम "अनेकधर्म्मोपपत्ति" है, जिस प्रकार समानजातीय जलादिक तथा असमानजातीय गुण, कर्म से व्यावर्त्तक होने के कारण गन्धवत्त्व धर्म्म पृथिवी का विशेषधर्म्म कहाता है इसी प्रकार पृथिवीवृत्ति गन्धवत्त्व की भांति

इतर व्यावर्त्तक होने से "विभागजत्व" धर्म्म भी शब्द में विशेष धर्म्म पाया जाता है, उक्त धर्म्म से यह संशय होता है कि "शब्द गुण है, द्रव्य है किंवा कर्म है" क्योंकि विशेषधर्म्म शब्द के समानजातीय गुणों और असमानजातीय द्रव्य तथा कर्म में दोनों प्रकार से पायाजाता है, इसलिये वह गुणादि संशय का हेतु है, विभाग गुण से होने वाले का नाम "विभागज" और तद्वृत्ति धर्म्म का नाम "विभागजत्व" है, जैसाकि वेणु तथा ग्रन्थि के विभाग से होनेवाला शब्द "विभागज" कहलाता है।

तात्पर्य्य यह है कि रूपादि गुण शब्द के समानजातीय तथा द्रव्य और कर्म के असमानजातीय हैं उक्त रूपादि गुणों तथा पृथिवी आदि द्रव्यों किंवा उत्क्षेपणादि कर्मों में रूपत्व, पृथिवीत्व तथा उत्क्षेपणत्व आदि विशेषधर्म गुणत्व, द्रव्यत्व तथा कर्मत्व के समानाधिकरण पाये जाते हैं अर्थात् "योऽयं विशेषः स गुणत्वद्रव्यत्वकर्मत्व समानाधिकरणो दृष्टः" = जो विशेष है वह द्रव्यत्व, गुणत्व, अथवा कर्मत्व के समानाधिकरण देखा जाता है जैसाकि रूपत्व, रसत्व, आदि विशेषगुणत्व के समानाधिकरण तथा पृथिवीत्व, जलत्व आदि विशेषद्रव्यत्व के समानाधिकरण और उत्क्षेपणत्व आदि विशेषकर्मत्व के समानाधिकरण हैं, शब्द में होने वाला "विभागजत्व" विशेष भी रूपत्वादि की भांति गुणत्व, द्रव्यत्व किंवा कर्मत्व के समानाधिकरण होना चाहिये, इस प्रकार विभागजत्वविशेष का सामान्य रीति से प्रत्यक्ष होने पर भी द्रव्या-

अर्थित्व आदि विशेषधर्मों का प्रत्यक्ष न होने से गुणत्व आदि विशेषधर्मों की स्मृति द्वारा यह संशय होता है कि "शब्दो गुणः द्रव्यं कर्मवेति" = शब्द गुण है, द्रव्य है किंवा कर्म है, यहां उक्त संशय का विषय होने से शब्द "धर्म्मी" तथा "विशेष्य" कहलाता है और गुणत्व, द्रव्यत्व, कर्मत्वरूप परस्पर विरुद्धधर्म उसके विशेषण हैं एक अधिकरण में परस्पर विरुद्ध विशेषण नहीं रहसक्ते, इसलिये शब्द में उक्त संशय होता है और वह विभागजत्व असाधारणधर्म से जन्य होने के कारण "अनेकधर्मोपपत्तिजन्य" कहलाता है, प्रकृत में समानधर्म, असाधारणधर्म तथा अनेकधर्म यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं।

यहां प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि विभागजविभाग में विभागजत्व धर्म के पाये जाने से वह शब्द का विशेषधर्म नहीं और विशेषधर्म न होने से शब्द में द्रव्यादि संशय का हेतु नहीं होसक्ता ? कई एक लोग इसका यह समाधान करते हैं कि "सत्यमस्ति विभागेऽपि विभागजत्वं; शब्दे तु विशेषो विवक्षितः द्विविधो हि विभागजो विभागः कारणविभागपूर्वककारणाकारणविभागपूर्वकश्च कारणं समवायिकारणमत्राभिप्रेतं कारणविभागपूर्वकस्तावत्तन्तुविभागात्तन्त्वाकाशविभागः, कारणाकारणविभागपूर्वकस्त्व

ङ्गुल्याकाशविभागाद्धस्ताकाशविभागो हस्ताकाशविभागादपि शरीराकाशविभाग इति शब्दस्तु नियमेनैव कारणविभागपूर्वकविभागप्रभवः वंशदलविभागाद्दलाकाशविभागो दलाकाशविभागाच्च समवायिकारणाच्छब्दो निष्पद्यते इत्यनेन विशेषेणास्येहशविभागजत्वस्यासाधारणत्वं शब्दधर्म्मस्योच्यते" न्या० मं० = कारणविभागजन्य तथा कारणाकारणविभागजन्य भेद से विभागजविभाग दो प्रकार का होता है, यहां कारणपद से "समवायिकारण" अभिप्रेत है, तन्तु के विभाग से होने वाला तन्तु तथा आकाश का विभाग परसमवायिकारण तन्तु के विभाग से जन्य होने के कारण "कारणविभागजन्यविभागजविभाग" कहलाता है और जहां अंगुली की क्रिया से आकाश का विभाग होकर हस्ताकाश का विभाग होता है और तद्द्वारा पुनः शरीर तथा आकाश के विभाग से शरीर में "विभक्तं शरीरम्" = आकाश के विभाग वाला शरीर है, यह प्रतीति होती है वहां शरीराकाश के विभाग में अंगुलीक्रिया व्यधिकरण होने से कारण नहीं अर्थात् एक अधिकरणवृत्ति पदार्थों का कार्य्यकारणभाव होता है, इस नियम के अनुसार शरीराकाश सम्बन्धी विभाग का कारण अंगुलीक्रिया नहीं होसक्ती, क्योंकि दोनों का अधिकरण भिन्न २ है।

भाव यह है कि अवयवी के सब अवयवों में क्रिया के होने से अवयवी में क्रिया मानी जाती है अन्यथा नहीं, प्रकृत में अवयवी शरीर के अंगुलीरूप एकदेश में क्रिया के होने से सब शरीर में क्रिया का व्यवहार नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त प्रतीति से "कारणाकारणविभागजन्य,कार्य्याकार्य्यविभाग" ही मानने योग्य है, यहां कारण शब्द से अंगुली वा हस्त और अकारणशब्द से आकाश का ग्रहण है, क्योंकि अंगुली तथा हस्तादि अवयव शरीर के समवायिकारण हैं और नित्य = व्यावहारिक नित्य होने से आकाश अकारण है, इससे सिद्ध है कि कारणाकारणविभागजन्य जो शरीररूप कार्य्य तथा अकार्य्य आकाश का विभाग है वह "कारणाकारणविभागजन्यकार्य्याकार्य्यविभाग" कहलाता है, और उक्त रीति से अङ्गुली तथा आकाश के विभाग से ही शरीराकाश सम्बन्धी विभाग की उत्पत्ति होती है।

तात्पर्य्य यह है कि विभागजविभाग कभी कारणविभागजन्य विभाग से तथा कभी कारणाकारणविभागजन्य विभाग से उत्पन्न होता है, परन्तु शब्द नियम से कारणविभागजन्य विभाग से होता है, कारणाकारणविभागपूर्वकविभागजन्य नहीं होता और यही विभागजविभाग की अपेक्षा उसमें विशेषता है अर्थात् वंशदल * के विभाग से दल तथा आकाश का विभाग, और दलाकाश के विभागद्वारा आकाशरूप समवायिकारण से शब्द की

* बांस का नाम "वंश" और उसके टुकड़े को "दल" कहते है।

उत्पत्ति होती है, इस प्रकार विभागजविभाग में विभागजत्व धर्म्म के पायेजाने पर भी शब्द में उसकी विलक्षणता होने से विभागजत्व शब्द का विशेषधर्म है और उक्त रीति से वह शब्द में द्रव्यादि संशय का हेतु है, और जो लोग विभागजविभाग नहीं मानते उनके मत से शब्द में विभागजत्व विशेषधर्म्म स्पष्ट है ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि न्यायमत में साधारणधर्म की भांति असाधारणधर्म भी संशय का हेतु माना है जैसाकि पीछे निरूपण करआये हैं, इस प्रकार न्यायमतानुसार शब्दवर्त्ती विभाग-जत्व में विभागजत्वता धर्म के पाये जाने से वह विशेष अर्थात् असाधा-रणधर्म है और असाधारणधर्मरूप से ही वह शब्द में द्रव्यादि संशय का हेतु है जैसाकि ऊपर वर्णन किया गया है परन्तु वैशेषि-क मत में सामान्यधर्म की उपलब्धि को ही संशय का मुख्य कारण माना है, इसलिये उक्त रीति से विभागजत्वरूप विशेषधर्म सामान्य-रूप हुआ ही शब्द में द्रव्यादि संशय का कारण है विशेषरूप से नहीं, इस विषय में शङ्करमिश्र का मत "वैशेषिकार्य्य-भाष्य" में स्पष्ट कियागया है यहां ग्रन्थगौरवभय से नहीं लिखा ।

"विप्रतिपत्तिर्विरुद्धकोटिद्वयोपस्थापकःशब्दःतज्जन्यो विप्रतिपत्तिजन्यः" = एक धर्म्मी में परस्पर दोनों कोटि = धर्म्मों के प्रतिपादक शब्द का नाम "विप्रतिपत्ति" और उससे

होने वाले संशय का नाम "विप्रतिपत्तिजन्य" है, जैसाकि "अस्त्यात्मेत्येकं दर्शनं नास्त्यात्मेत्यपरम्"=वैदिक सिद्धान्त में आत्मा सत्य तथा अवैदिकसिद्धान्त=नास्तिकमत में मिथ्या है, इस प्रकार दोनों वादी प्रतिवादी के वचन को सुनकर मध्यस्थ को "आत्मास्ति नवा"=आत्मा है किंवा नहीं, इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह परस्परविरुद्ध दो पक्षों के बोधक वाक्य से जन्य होने के कारण "विप्रतिपत्तिवाक्यजन्य" है और आधुनिकवेदान्तियों के मत में ब्रह्म से अतिरिक्त सब प्रपञ्च मिथ्या तथा वैदिकसिद्धान्त में सत्य है, इस प्रकार दोनों वादी प्रतिवादी के वचन को सुनकर मध्यस्थ को "प्रपञ्चो मिथ्या नवा"=प्रपञ्च मिथ्या है किंवा सत्य है, इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वह भी परस्परविरुद्धपक्षबोधक वाक्य से जन्य होने के कारण "विप्रतिपत्तिवाक्यजन्य है" इत्यादि उक्त संशय के अनेक उदाहरण हैं।

कई एक लोगों का कथन है कि शब्दज्ञान तथा व्याप्तिज्ञान से निश्चयात्मक ज्ञान की उत्पत्ति होती है संशयात्मक की नहीं, इस नियम से विप्रतिपत्ति संशय का कारण नहीं होसक्ती किन्तु विप्रतिपत्ति दो पक्षों के ज्ञान की उपस्थिति=स्मृति के अनन्तर मानस संशय होता है यही मत समीचीन है।

"उपलब्धेः प्रतीयमानत्वस्य अव्यवस्था अनव

स्थितत्वं, उपलब्ध्यव्यवस्थातज्जन्यः उपलब्ध्यव्यवस्थाजन्यः" = प्रतीति को "उपलब्धि" कहते हैं, और उपलब्धि की अनवस्थिति = अस्थिरता से होने वाले संशय का नाम "उपलब्ध्यव्यवस्थाजन्य" संशय है जैसाकि "सच्चोदकमुपलभ्यते यथा ह्रदादिषु, क्वचिदसच्च यथा भास्करकरनिकरप्रातिफलतरालेतासु मरुस्थलीषु तदेवमुपलब्धेरव्यवस्थितत्वात्क्वचिदुपलभ्यमाने भवति संशयः किमिदंसदुपलभते किमसदिति" न्या०मं० = जलग्रहण की इच्छावाले पुरुष को कभी ह्रदादिकों में सत्य जल की तथा कभी मरुमरीचिका में मिथ्याजल की प्रतीति होती है इसी का नाम उपलब्धि की अव्यवस्था है उक्त उपलब्धि की अव्यवस्थाद्वारा किसी अन्यदेश वा अन्यकाल में जल की प्रतीति से द्रष्टा को यह संशय होता है कि जल सत्य है किंवा मिथ्या है।

"अनुपलब्धिरुपलब्ध्यभावःतस्याव्यवस्था तज्जन्यः, अनुपलब्ध्यव्यवस्थाजन्यः" = उपलब्धि के अभाव का नाम "अनुपलब्धि" और अनुपलब्धि की अव्यवस्था से होने वाले संशय को "अनुपलब्ध्यव्यवस्थाजन्य" कहते हैं, जैसाकि "किञ्चिदसदेवनोपलभ्यते नभःकुसुमादि किञ्चित्सदपिनोपलभ्यते मृदन्तरितशंकुमूलकादितद-

न्यत्रानुपलभ्यमाने संशेरते पुमान् किमिदमसदेव नोपलभते उत सदिति" न्या० मं० = असन्तालीक = शब्द मात्र से जाननेयोग्य तथा स्वरूप से रहित होने के कारण आकाश पुष्प आदि पदार्थों की और पृथिवी से आच्छादित होने के कारण स्वरूप से विद्यमान कीलक तथा वृक्षमूल आदि पदार्थों की उपलब्धि प्रतीत नहीं होती, उक्त दोनों प्रकार की अनुपलब्धि के ज्ञाता पुरुष को किसी अन्य देश वा काल में वस्तु की प्रतीति न होने से यह संशय होता है कि असत् की प्रतीति नहीं होती किंवा सत् की प्रतीति नहीं होती।

सार यह निकला कि जिस प्रकार साधारणधर्म आदि संशय के हेतु माने हैं इसी प्रकार न्यायमत में उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था अर्थात् सत्य तथा मिथ्या वस्तु विशेष का प्रत्यक्ष न होना भी स्वतन्त्ररूप से संशय का कारण माना गया है, भेद केवल इतना है कि साधारणधर्म, असाधारणधर्म स्थाणु आदि विषय वृत्ति और उपलब्धि, अनुपलब्धि यह प्रमातृवृत्ति = ज्ञाता में होने वाले होते हैं, इसलिये यह दोनों संशय आभ्यन्तर विषयक हैं बाह्य विषयक नहीं।

वैशेषिकसिद्धान्त में उपलब्धि तथा अनुपलब्धि संशय का पृथक् कारण नहीं किन्तु एक है अर्थात् जो वस्तु जैसी हो उसको वैसा ही जानने का नाम "विद्या" और विपरीत ज्ञान का नाम "अविद्या" है, विद्या, उपलब्धि, यह दोनों तथा अविद्या, अनुपलब्धि यह दोनों पर्य्यायशब्द हैं,

विद्या अविद्या आभ्यन्तरसंशय का हेतु हैं, जैसाकि जिस पुरुष को एक-वार जल में जलज्ञान यथार्थ और कालान्तर में मृगतृष्णा को देखकर जलज्ञान मिथ्या हुआ हो तब किसी अन्य काल में यथार्थ वा मिथ्या ज्ञानवाले पुरुष ने वन में दूर से वृक्षादि समुदाय को देखकर अनुमान किया कि "यहां जल है" इस प्रकार अनुमान द्वारा उत्पन्न हुए जलज्ञान में उक्त पुरुष को "किमिदं ममोत्पन्नं जलज्ञानं सम्यङ्मिथ्या वा" = यह जलज्ञान मुझे यथार्थ किंवा मिथ्या हुआ है, इस प्रकार का जो ज्ञान होता है उसको "आभ्यन्तरसंशय" कहते हैं, और उक्त रीति से उसका कारण विद्या तथा अविद्या दोनों हैं।

यहां यह विशेष ध्यान रहे कि "इदं जलं" = यह जल है, इत्यादि ज्ञान में प्रामाण्य के संशय से अर्थात् "इदं जलत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा नवा" = यह जलत्व प्रकारक = जलत्वविशेषण विशिष्ट जलज्ञान यथार्थ है वा नहीं? इस प्रकार के प्रमात्व संशय से "इदं जलं नवा" = यह जल है वा नहीं, इस प्रकार का विषय संशय और वन्हि आदि साध्य की व्याप्ति के आश्रयभूत धूम आदि व्याप्य के "पर्वतोधूमवान्नवा" = पर्वत धूमवाला है वा नहीं, इस सन्देह से "पर्वतो वन्हिमान्नवा" = पर्वत वन्हिवाला है वा नहीं, इत्यादि व्यापकसंशय होता है, और "संशयेधर्म्मि-

ज्ञानं धर्म्मीन्द्रियसन्निकर्षौ वा नियमेन कारणम्"= संशय में धर्मी का ज्ञान तथा धर्मी के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नियम से कारण होता है।

संशय ज्ञान में विशेष्य को "धर्म्मी" तथा विशेषण को "धर्म्म" कहते हैं, और धर्मी में प्रतीत होनेवाले धर्म्म का नाम "कोटि" है, कोटि, प्रकार तथा विशेषण यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, संशय ज्ञान का विषय धर्मी होता है, एक धर्मी में परस्परविरुद्ध कोटि को विषय करने वाला संशयात्मकज्ञान द्विकोटिक तथा चतुष्कोटिक भेद से दो प्रकार का है, इसी अभिप्राय से नव्य ग्रन्थों में संशय का यह लक्षण किया गया है कि "भावाभावावगाहि ज्ञानं संशयः"= एक धर्म्मी में भाव तथा अभाव को विषय करने वाले ज्ञान का नाम "संशय" है, "स्थाणुर्नवा"= यह स्थाणु है किंवा नहीं, यह "द्विकोटिक संशय" तथा "स्थाणुर्वा पुरुषो वा"= यह स्थाणु है किंवा पुरुष है, इस प्रकार का ज्ञान "चतुष्कोटिक संशय" कहलाता है अर्थात् प्रथम ज्ञान में स्थाणुरूप धर्मी "विशेष्य" तथा स्थाणुत्व, स्थाणुत्वाभाव यह दोनों उसके "विशेषण" हैं, और एक विशेष्य में दो परस्पर विरुद्ध विशेषण नहीं रहसक्ते, इसलिये एक धर्मी में परस्पर विरुद्ध भावाभावरूप कोटि को विषय करने वाला ज्ञान "द्विकोटिक"

संशय है, और "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" इस ज्ञान में यद्यपि स्थाणुरूप धर्मी द्विकोटिक संशय की भांति एक है तथापि धर्मीरूप विशेष्य में स्थाणुत्व, स्थाणुत्वाभाव तथा पुरुषत्व, पुरुषत्वाभाव, इन चार परस्परविरुद्ध भावाभावरूप विशेषणों के विषय करने से उक्त ज्ञान "चतुष्कोटिक" संशय कहलाता है ।

संशय के वाह्य, आभ्यन्तर तथा दृश्यमानधर्मिक, अदृश्यमानधर्मिक आदि भेदों का विस्तारपूर्वक निरूपण "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में किया है ।

सं०—अब प्रयोजन का लक्षण कथन करते हैं:—

यमर्थमधिकृत्यप्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम् ।२४।

पद०—यं । अर्थम् । अधिकृत्य । प्रवर्त्तते । तत् । प्रयोजनम् ।

पदा०—(यं) जिस (अर्थं) अर्थ के (अधिकृत्य) अधिकार से (प्रवर्त्तते) पुरुष की प्रवृत्ति होती है (तत्) उसको (प्रयोजनम्) प्रयोजन कहते हैं ।

भाष्य—"प्रवृत्तिहेतुत्वादिममर्थमाप्स्यामि हास्यामिवेतिव्यवसायोऽर्थस्याधिकारः" न्या० भा० = इस अर्थ का ग्रहण वा इसका परित्याग करूंगा, इस प्रकार ग्रहण, त्याग

रूप प्रवृत्ति की हेतुभूत इच्छा का नाम "अर्थाधिकार" है, अर्थाधिकार से जिस हेय, उपादेय विषय में पुरुष की प्रवृत्ति होती है उसको "प्रयोजन" कहते हैं, इससे प्रयोजन का सामान्यलक्षण यह हुआ कि "प्रवृत्तिहेत्विच्छाविषयत्वं प्रयोजनत्वम्" = प्रवृत्ति की हेतु इच्छा का जो विषय हो उसका नाम "प्रयोजन" है, या यों कहो कि जिस पदार्थ की इच्छा से मनुष्य की किसी कार्य्य के सम्पादन करने में प्रवृत्ति हो उस पदार्थ का नाम "प्रयोजन" है, और यह मुख्य तथा गौण भेद से दो प्रकार का है, "मुख्यं सुखप्राप्तिर्दुःखपरिहारश्चतत्साधनं गौणम्" = सुख की प्राप्ति तथा दुःख का परित्याग "मुख्यप्रयोजन" और सुखप्राप्ति तथा दुःखपरित्याग के साधन को "गौणप्रयोजन" कहते हैं, इसी अभिप्राय से न्या० वा० में वर्णन किया है कि "सुखदुःखप्राप्तिहानी प्रयोजनमिति, अनेन च प्रयोजनेन सर्वेऽर्थाःसंगृहीता भवन्तीति" = सुखप्राप्ति तथा दुःखपरित्याग ही संसार में "मुख्यप्रयोजन" है, क्योंकि इनमें प्राणिमात्र की प्रवृत्ति पाई जाती है. अतएव शेष सब सुखादिसाधन "गौणप्रयोजन" हैं, इससे सिद्ध है कि जीवेच्छा का विषय होने से सब पदार्थ प्रयोजन होते हैं भेद केवल इतना है कि जो पदार्थ चैत्र के अनुकूल है वह मैत्र के लिये प्रतिकूल और

जो चैत्र के अनुकूल है वही देश काल भेद से मैत्र के प्रतिकूल होजाता है परन्तु उस पदार्थ के प्रयोजनत्व स्वरूप का परित्याग किसी अवस्था में नहीं होसक्ता, अतएव प्राणिमात्र की प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं, इस अभिप्राय को जयन्तभट्ट ने न्या० मं० में इस प्रकार स्फुट किया है किः—

प्रयोजनमतोऽखिलैर्विधिवचोभिरादिश्यते ।
प्रयोजननिबन्धनास्तनुभृतामशेषाः क्रियाः ॥
क्रिमेरपि यथा तथा किमपिजीवितं बिभ्रतः ।
प्रयोजनबहिष्कृतंनखलुचेष्टितं दृश्यते ॥

अर्थ—जिस प्रयोजन से प्राणिमात्र की हिताहित में प्रवृत्ति होती है उसका उपदेश शास्त्र में विधिवाक्योंद्वारा कियागया है अर्थात् हित प्रयोजन के ग्रहण तथा अहित प्रयोजन के परित्यागार्थ ही शास्त्र का उपदेश होता है जैसाकि :—

समिधाग्निंदुवस्यतघृतैर्बोधयताऽतिथिम् ।
आस्मिन्हव्या जुहोतन ॥ यजु० ३ । १

अर्थ—वायु, औषधि और जल आदि की शुद्धि द्वारा सबके उपकारार्थ घृतादि शुद्ध वस्तुओं तथा उत्तम समिधाओं से अग्नि में हवि प्रदान करे, और :—

पूर्वां सन्ध्यांजपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमांतुसमासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ मनु० २।१०१

अर्थ—प्रातः सन्ध्योपासन करता हुआ सूर्य्योदय तक तथा सायं सन्ध्योपासन करता हुआ तारकोदय पर्य्यन्त गायत्री का जप करे, इस प्रकार अग्निहोत्र तथा सन्ध्योपासनादिक शुभक्रिया धर्म्म का हेतु होने से हितप्रयोजन तथा मद्य मांसादि का सेवन अधर्म्म का हेतु होने से अहितप्रयोजन है, इस रीति से सब शुभाशुभ क्रिया सप्रयोजन हैं निष्प्रयोजन नहीं, प्रत्युत कीट, पतङ्ग आदि क्षुद्र जन्तुओं की क्रिया भी किसी न किसी प्रयोजन से पाई जाती है क्योंकि बिना प्रयोजन प्राणिमात्र की चेष्टा सिद्ध नहीं होसक्ती।

सार यह निकला कि "**येन प्रयुक्तः प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम्, यमर्थमभीप्सन् जिहासन्वा कर्मारभते तेनाऽनेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्याः व्याप्ताः तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्त्तते**" न्या०भा० = जिस उद्देश्य से पुरुष की प्रवृत्ति होती ह उसको "प्रयोजन" कहते हैं, सब जीव क्रिया तथा विद्या प्रयोजन से व्याप्त = प्रयोजनसहित हैं निष्प्रयोजन नहीं, अपवर्गादि प्रमेय में यथासम्भव प्रयोजन का अन्तर्भाव होने पर भी उसके उपदेश का प्रयोजन यह है कि न्याय = प्रमाण द्वारा वस्तु की परीक्षा प्रयोजन के अधीन है अर्थात् प्रमाणद्वारा वस्तु के सत्यासत्य विचार का मुख्य उपकारक अङ्ग "प्रयोजन" है, क्योंकि एक

मात्र प्रयोजन की सिद्धि के लिये प्रमाता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से वस्तु के सत्यासत्य का निर्णय करता है ।

सं०—अब दृष्टान्त का लक्षण कथन करते हैं:—

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः॥२५॥

पद०—लौकिकपरीक्षकाणाम् । यस्मिन् । अर्थे । बुद्धिसाम्यम् । सः । दृष्टान्तः ।

पदा०—(यस्मिन्) जिस (अर्थे) पदार्थ में (लौकिकपरीक्षकाणाम्) लौकिक तथा परीक्षक पुरुष की (बुद्धिसाम्यं) समान बुद्धि पाई जाय (सः) उसको (दृष्टान्तः) दृष्टान्त कहते हैं ।

भाष्य—लोकसाम्यमनतीता लौकिका नैसर्गिकं वैनायिकं बुद्ध्यतिशयमप्राप्तास्तद्विपरीताः परीक्षकास्तार्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितुमर्हन्तीति" न्या० भा० = जिनको शास्त्र का अभ्यास न होने से विशेषज्ञान नहीं हुआ, या यों कहो कि जो स्वाभाविक तथा शास्त्राभ्यासजन्य बुद्धि की विशेषता को प्राप्त नहीं हुए ऐसे साधारण = प्राकृत पुरुषों का नाम "लौकिक" तथा इनसे विपरीत स्वभाव अर्थात् शास्त्राभ्यासद्वारा बुद्धि के उत्कर्ष को प्राप्त होकर तर्क तथा प्रमाण से वस्तुतत्व की परीक्षा करनेवाले शास्त्रीय पुरुषों का

नाम "परीक्षक" है, जिस अर्थ में लौकिक तथा परीक्षक पुरुषों की बुद्धि समान हो उसको "दृष्टान्त" कहते हैं, प्राकृत, लौकिक, मूर्ख, यह तीनों तथा शास्त्रीय, परीक्षक, पण्डित यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं।

भाव यह है कि "यमर्थं लौकिका बुद्ध्यन्ते तथा परीक्षका अपि सोऽर्थो दृष्टान्तः" न्या०भा० = जिस पदार्थ को जिस रूप से प्राकृत पुरुप जानते हैं यदि परीक्षक भी तर्क आदि से उसको वैसा ही समझें तो वह पदार्थ "दृष्टान्त" कहलाता है, जैसाकि "शरीरमनित्यं कार्य्यत्वात् घटवत्" = जो कार्य्य = जन्य है वह अनित्य होता है, इस नियम के अनुसार घट की भांति कार्य्य होने से शरीर अनित्य है, इस अनुमान से शरीर में अनित्यता को सिद्ध करने के लिये "घट" दृष्टान्त दिया है क्योंकि जिस प्रकार घट को प्राकृत पुरुष अनित्य जानते हैं इसी प्रकार परीक्षक भी तर्कद्वारा उसको अनित्य मानते हैं, इस प्रकार घट में प्राकृत तथा परीक्षक दोनों की समानबुद्धि पाये जाने से वह "दृष्टान्त" है।

"वार्त्तिककार" का कथन है कि "बुद्धिसाम्यविषयो दृष्टान्तः" = जिसमें बुद्धिमात्र की समानता पाईजाय वही "दृष्टान्त" है, लौकिक तथा परीक्षक पुरुष की समान बुद्धि

में आग्रह नहीं, यदि ऐसा न होता तो आकाशादि अलौकिक अर्थ का दृष्टान्त न दिया जाता क्योंकि प्राकृत पुरुष आकाशादि सूक्ष्म पदार्थों को यथायोग्य नहीं जानसक्ते इससे स्पष्ट है कि जिस पदार्थ में वादी प्रतिवादी दोनों की बुद्धि समान हो वही पदार्थ " दृष्टान्त " होता है अन्य नहीं ।

इसी अभिप्राय से " जयन्तभट्ट " का कथन है कि

" लौकिकपरीक्षकौवादिप्रतिवादिनौ दृष्टान्त-प्रस्तावल्लक्षणाद्वेदितव्यौ नतु मूर्खपण्डितौ प्रकृतासङ्गतेस्तयोश्च सङ्गत्यभावात् तयोर्यस्मिन्नर्थे भावस्वभावेऽभावात्मके वा बुद्धिसाम्यं प्रयोज्य प्रयोजकभावव्यवस्थितसाध्यसाधनधर्म्माधिकरणत्वे, साध्यव्यावृत्तिपूर्वकसाधनधर्म्मव्यावृत्ततायां वा तुल्यरूपा बुद्धि स दृष्टान्तः"

न्या० मं० = लौकिक तथा परीक्षक पद से वादि प्रतिवादि का ग्रहण है मूर्ख और पण्डित का नहीं, क्योंकि दृष्टान्त के लक्षण प्रकरण में मूर्ख पण्डित का कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता, इससे सिद्ध है कि जिस पदार्थ में वादी प्रतिवादी दोनों साध्य, हेतु तथा साध्याभाव और हेत्वभाव का निश्चय करलें वही "दृष्टान्त" है, या यों कहो कि वादी प्रतिवादी की समानबुद्धि के विषयभूत

पदार्थ को "दृष्टान्त" कहते हैं, इसका विशेषस्वरूप उदाहरण के लक्षण में निरूपण किया जायगा।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि सूत्र के "लौकिकपरीक्षकाणां" इस बहुवचनान्त पद से सूचित किया है कि वाद, जल्प, वितण्डा भेद से तीन प्रकार की कथा होती हैं और तीनों कथाओं की प्रवृत्ति का अङ्ग "दृष्टान्त" है, कथा का लक्षण तथा स्वरूप आगे निरूपण किया जायगा और "दृष्टान्तविरोधेन हि प्रतिपक्षाः प्रतिषेद्धव्या भवन्ति, दृष्टान्त समाधिना च स्वपक्षाः स्थापनीया भवन्तीति, अवयवेषु चोदाहरणाय कल्पत इति" न्या० भा० = इसी दृष्टान्त के विरोध से प्रतिवादि के पक्ष का खण्डन तथा उसके अविरोध से अपने पक्ष का समाधान किया जाता है अर्थात् प्रतिवादी के दिये हुए दृष्टान्त में साध्यविकलत्व = साध्य की सिद्धि में असमर्थ होना इत्यादि दोषों के उद्भावन करने से उसके पक्ष का खण्डन होजाता है, अतएव अपने पक्ष की स्थिति के लिये उक्त दोषों का परिहार करता हुआ वादी दृष्टान्त से ही स्वपक्ष की पुष्टि करसक्ता है अन्यथा नहीं, और प्रत्यक्षज्ञान का विषय होने से प्रमेयपदार्थ के अन्तर्भूत होने पर भी इसके पृथक् उपदेश का प्रयोजन न्यायवार्त्तिक में वर्णन किया है कि "सति तस्मिन्ननुमानागमौ स्यातामसति च न स्यातामितिपूर्वप्रत्यक्षदृष्टमर्थमनु-

मिमते, पूर्वं ज्ञातश्चार्थं परस्मै चाचक्षते" न्या० वा० = दृष्टान्त के होने पर अनुमान तथा शब्दप्रमाण अपने २ विषय में समर्थ होते हैं न होने से नहीं, क्योंकि महानसादि दृष्टान्तों में धूम वन्हि आदि साध्यसाधन की व्याप्तिज्ञान के निश्चित होने पर ही पर्वतादि पक्षों में वन्हि आदि साध्य का अनुमान होसक्ता है अन्यथा नहीं, इसी प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा निश्चित वस्तु का उपदेश भी दृष्टान्ताधीन जानना चाहिये, अतएव उक्त दृष्टान्त न्याय के पांच अवयवों में उदाहरणरूप से माना गया है जैसाकि आगे निरूपण किया जायगा, इससे सिद्ध हुआ कि प्रयोजन की भांति न्याय का पूर्वाङ्ग होने के कारण दृष्टान्त का प्रमेय पदार्थ से पृथक् उपदेश आवश्यक है।

सं०—अब सिद्धान्त का लक्षण कथन करते हैंः—

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः । २६ ।

पद०-तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः । सिद्धान्तः ।

पदा०-(तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः) प्रमाण सिद्ध अर्थ के अबाधित निश्चय को (सिद्धान्तः) सिद्धान्त कहते हैं ।

भाष्य—तन्त्रं शास्त्रं तदेवाधिकरणं ज्ञापकतया यस्य तादृशस्य योऽभ्युपगमस्तस्य समीचीनतयाऽसं-

शयरूपतया स्थितिः, तथाच शास्त्रितार्थ निश्चयः सिद्धान्त इति फलितोर्थः ”=दृष्टवस्तु का बोधक होने से शास्त्र का नाम “तंत्र” और तन्त्र प्रतिपादित अर्थ के अबाधित निश्चय का नाम “ सिद्धान्त ” है, “ वात्स्यायनमुनि ” का कथन है कि “अभ्युपगम्यमानोऽर्थः सिद्धान्तः” न्या० भा० = शास्त्र द्वारा सिद्ध अर्थ = विषय को “ सिद्धान्त” कहते हैं, “ उद्योतकराचार्य्य ” ने सिद्धान्त का लक्षण इस प्रकार किया है कि “अभ्युपगमः सिद्धान्तः” न्या० वा० = प्रमाण सिद्ध अर्थ के दृढ़ निश्चय का नाम “ सिद्धान्त” है, इस प्रकार सिद्धान्त लक्षण के भेद होने पर भी तात्पर्य्य में भेद नहीं, क्योंकि विषय तथा ज्ञान को मुख्य गौण कथन करना वक्ता की इच्छा पर निर्भर होता है अर्थात् “वात्स्यायनमुनि” ने विषय को मुख्य तथा ज्ञान को गौण मानकर “ अभ्युपगम्यमानोऽर्थः सिद्धान्तः” यह लक्षण किया है और वार्त्तिककार ने ज्ञान को प्रधान तथा विषय को गौण मानकर दूसरा लक्षण कथन किया है परन्तु दोनों अचार्य्यों ने ज्ञान वा विषय को परित्याग कर सिद्धान्त का लक्षण नहीं किया, इसलिये लक्षण भेद होने पर सिद्धान्त के स्वरूप में कोई भेद नहीं ।

इस प्रकार सिद्धान्त का सामान्यलक्षण यह हुआ कि

"प्रमाणमूलाभ्युपगमविषयी कृतः सामान्यविशेषवानर्थः सिद्धान्तः" = प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध वादि प्रतिवादि के निश्चय से विषय किया हुआ जो सामान्य विशेषरूप अर्थ उस का नाम "सिद्धान्त" है, इसी अभिप्राय से आधुनिक नैयायिकों ने सिद्धान्त का यह लक्षण किया है कि "वादिप्रतिवादिनिर्णीतोऽर्थः सिद्धान्तः" = वादि, प्रतिवादी ने प्रमाणद्वारा जिस अर्थ का निश्चय किया हो उसको "सिद्धान्त" कहते हैं, अर्थरूप वा निश्चयरूप से प्रमेय पदार्थ के अन्तर्गत होने पर भी उक्त सिद्धान्त के पृथक् उपदेश का प्रयोजन यह है कि "सत्सुसिद्धान्तभेदेषु वादजल्पवितण्डाः प्रवर्त्तन्ते नातोऽन्यथेति" न्या०भा० = वाद, जल्प, वितण्डा इन तीन कथाओं की प्रवृत्ति सिद्धान्त भेद से होती है अन्यथा नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि जिस विषय में सिद्धान्त भेद नहीं उस में वादादि कथा की प्रवृत्ति नहीं होती, वाद आदि का लक्षण सूत्रकार आगे स्वयं करेंगे।

सं०—अब सिद्धान्त का भेद कथन करते हैं:—

सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगम संस्थित्यर्थान्तरभावात्। २७।

पद०—एकपद०।

पदा०—(सर्वतन्त्र०) सर्वतन्त्रसिद्धान्त, प्रतितन्त्रसिद्धान्त, अधिकरणसिद्धान्त तथा अभ्युपगमसिद्धान्त भेद से सिद्धान्त चार प्रकार का है।

सं०—अब सर्वतन्त्रसिद्धान्त का लक्षण कथन करते हैं:—

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः । २८ ।

पद०—सर्वतन्त्राविरुद्धः । तन्त्रे । अधिकृतः । अर्थः । सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ।

पदा०—(सर्वतन्त्राविरुद्धः) जिसका सब शास्त्र के साथ विरोध नहो और (तन्त्रे) किसी एक शास्त्र में (अधिकृतः) प्रतिपादन किया जाय उस (अर्थः) अर्थ को (सर्वतंत्रसिद्धान्तः) सर्वतंत्रसिद्धांत कहते हैं।

भाष्य—शास्त्रमात्र के अविरोधी तथा किसी एक शास्त्र में प्रतिपादन किये हुए अर्थ का नाम "सर्वतन्त्रसिद्धान्त" है अर्थात् "स्वशास्त्रोपदिष्टः सर्वशास्त्राविरोध्यर्थः, अर्थनिश्चयो वा सर्वतंत्रसिद्धान्तः"=अपने शास्त्र में प्रतिपादन किये हुए तथा अन्य सब शास्त्रों के साथ विरोधरहित अर्थ किंवा अर्थ के निश्चय को "सर्वतन्त्रसिद्धान्त" कहते हैं, जैसाकि "घ्राणादीनीन्द्रियाणि गन्धादयः इन्द्रियार्थाः

पृथिव्यादीनि भूतानि, प्रमाणैरर्थस्य ग्रहणमिति " न्या०
भा० = घ्राण आदि इन्द्रिय, गन्ध आदि उक्त इन्द्रियों के विषय, पृथिवी आदि पांच महाभूत और प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि यह "सर्वतन्त्रसिद्धान्त" है, क्योंकि इनका न्यायशास्त्र में प्रतिपादन करने पर भी किसी शास्त्र के साथ विरोध नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि जिस सिद्धान्त में वादी प्रतिवादी का ऐकमत्य हो वह "सर्वतंत्रसिद्धांत" कहलाता है।

सं०—अब प्रतितन्त्रसिद्धान्त का लक्षण कथन करते हैं:—

समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्राऽसिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः । २९ ।

पद०—समानतन्त्रसिद्धः । परतन्त्राऽसिद्धः । प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ।

पदा०—(समानतन्त्रसिद्धः) एक शास्त्र के प्रतिपादन किये हुए (परतन्त्रासिद्धः) दूसरे शास्त्र के अनभिमत अर्थ को (प्रतितन्त्रसिद्धान्तः) प्रतितन्त्रसिद्धान्त कहते हैं।

भाष्य—जो अर्थ एक शास्त्र से सिद्ध होने पर भी दूसरे शास्त्र से सिद्ध न होसके उसका नाम "प्रतितंत्रसिद्धांत" है, जैसाकि "नित्यः शब्द इति मीमांसकः, अनित्य इति नैयायिकः" = मीमांसक के मत में शब्द नित्य तथा नैयायिक

और वैशेषिकमत में अनित्य है, शब्द की नित्यता तथा अनित्यता एक शास्त्र द्वारा सिद्ध होने पर भी दूसरे शास्त्र से सिद्ध नहीं, इस-लिये वह "प्रतितंत्रसिद्धांत" है, इसप्रकार प्रतितन्त्रसिद्धान्त का यह लक्षण हुआ कि "वादिप्रतिवाद्येकतरमात्राभ्युपगतस्तदेकतरस्य प्रतितंत्रसिद्धांतः" = जिस अर्थ को वादी प्रतिवादी दोनों में से एक माने दूसरा न माने उसको "प्रतितंत्र सिद्धान्त" कहते हैं, "वात्स्यायनमुनि" ने उक्त सिद्धान्त का उदाहरण यह दिया है कि "यथा नासत आत्मलाभः न सत आत्महानं, निरतिशयाश्चेतनाः, इति सांख्यानाम्, पुरुषकर्म निमित्तो भूतसर्गः कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्च स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुद्ध्यते इति योगानाम्" न्या० भा० = अभाव से भाव तथा भाव से अभाव नहीं होता और उपजन = उत्पत्ति अपाय = नाश आदि धर्म्मों से रहित होने के कारण पुरुष = जीवात्मा अपरिणामी कूटस्थ नित्य है यह सांख्य का मत है और सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति जीवों के अदृष्टाधीन है, रागादि दोष तथा प्रवृत्ति यह दोनों शुभाशुभ क्रिया के कारण हैं और बुद्धि आदि विशेष गुणों वाला चैतन्य जीव है, असत् = अविद्यमान की उत्पत्ति तथा उत्पत्ति वाले का नाश होता है यह मत वैशेषिक तथा नैयायिक लोगों का है, उक्त दोनों सिद्धान्त भिन्न२ शास्त्रद्वारा सिद्ध होने के

कारण "प्रतितन्त्रसिद्धान्त" कहलाते हैं।

सं०—अब अधिकरणसिद्धान्त का लक्षण कथन करते हैं:—

यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः । ३० ।

पद०—यत्सिद्धौ । अन्यप्रकरणसिद्धिः । सः । अधिकरण-सिद्धान्तः ।

पदा०—(यत्सिद्धौ) जिसकी सिद्धि होने पर (अन्यप्रक-रणसिद्धिः) अन्य विषय की सिद्धि हो (सः) वह (अधिकरण सिद्धान्तः) अधिकरणसिद्धान्त कहलाता है।

भाष्य—**यस्यार्थस्य सिद्धौ जायमानायामेवान्यस्य प्रकरणस्य प्रस्तुतस्य सिद्धिर्भवति सोऽधिकरणसिद्धान्त इत्यर्थः**"=जिस विषय के सिद्ध होने से उसके सम्बन्धी दूसरे विषय की सिद्धि होजाय उसका नाम "**अधिकरण सिद्धान्त**" है, जैसाकि "**दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्**"=एक ही घटादि पदार्थ का चक्षुः तथा त्वचा से प्रत्यक्ष होने के कारण चाक्षुष तथा स्पार्शन ज्ञान का अधिकरण आत्मा चक्षुरादि इन्द्रियों से भिन्न है अर्थात् जो कर्त्ता=क्रिया का आश्रय है वह करण से भिन्न होता है, इस नियम के अनुसार आत्मा भी ज्ञान क्रिया का आश्रय होने से उक्त क्रिया के साधन

चक्षुरादि इन्द्रियों से भिन्न है, इस अनुमान द्वारा इन्द्रियों से भिन्न आत्मा के सिद्ध होने पर आत्मसम्बन्धी इन्द्रियों की नानात्व = अनेकता भी सिद्ध होजाती है, इसलिये आत्मसिद्धि में इन्द्रियों की अनेकता "अधिकरणसिद्धान्त" है।

सार यह निकला कि "यदर्थसिद्धिं विना योऽर्थः शब्दादनुमानाद्वानसिद्ध्यतिसोऽधिकरणसिद्धान्तः" = जिस अर्थ की सिद्धि विना जो अर्थ शब्दादि किसी प्रमाण से सिद्ध न हो उसको "अधिकरणसिद्धान्त" कहते हैं, इसी अभिप्राय से आत्मतत्त्वविवेक में "उदयनाचार्य्य" ने लिखा है कि "सोऽयमधिकरणसिद्धान्तन्यायेन स्थूलत्वसिद्धौ क्षणभङ्गभङ्ग इति" आ० वि० = उत्पत्ति से लेकर विनाश पर्य्यन्त जगत् के दृश्य पदार्थों की स्थिरता विना अर्थात् इनमें क्षणिकवाद*के खण्डन विना उक्त पदार्थों की स्थूलता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होसक्ती, इसलिये दृश्य पदार्थों की स्थूलता के सिद्ध होने पर उनको क्षणिक न मानना "अधिकरणसिद्धान्त" कहाता है, इस प्रकार आत्मसिद्धि में गुण का द्रव्याश्रित

---

* क्षणिकवादी "योगाचार" पदार्थों को दो क्षण पर्य्यन्त स्थायी मानता है, इस मत का खण्डन आत्मविवेक में उदयनाचार्य्य ने विस्तारपूर्वक किया है.

होना तथा इन्द्रियों का ज्ञान साधन होना आदि भी " अधि-करणसिद्धान्त " जानना चाहिये ।

सं०—अब अभ्युपगमसिद्धान्त का लक्षण कथन करते हैं:—

अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरी-क्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ।३१।

पद०—अपरीक्षिताभ्युपगमात् । तद्विशेषपरीक्षणम् । अभ्युप-गमसिद्धान्तः ।

पदा०—(अपरीक्षिताभ्युपगमात्) अपरीक्षित पदार्थ को मान-कर (तद्विशेषपरीक्षणम्) उसकी विशेष परीक्षा को (अभ्युपगम-सिद्धान्तः) अभ्युपगमसिद्धान्त कहते हैं ।

भाष्य—जिसका स्पष्टरूप से सूत्रद्वारा कथन नहीं किया उसका नाम "अपरीक्षित" है, और अपरीक्षित के अभ्युपगम = स्वीकार करने से उसकी विशेषपरीक्षा को " अभ्युपगमसि-द्धान्त " कहते हैं अर्थात् " साक्षादसूत्रितस्याभ्युपगमोऽ-भ्युपगमसिद्धान्तः " = जिसका सूत्र द्वारा स्पष्टरूप से विधान नहीं हुआ किन्तु विशेषपरीक्षाद्वारा निश्चित हुआ कि यह पदार्थ अवश्य अपेक्षित है ऐसे पदार्थ का मानना " अभ्युपगमसि-द्धान्त" कहाता है, जैसाकि मन को इन्द्रिय मानना "अभ्युपगम

सिद्धान्त" है, क्योंकि इन्द्रियों के निरूपण में सूत्रकार ने "मन" का नाम नहीं लिखा परन्तु विशेष विचारद्वारा उसको इन्द्रिय मानकर सुखादि प्रत्यक्ष का साधन माना है।

भाव यह है कि "यत्प्रत्यक्षकरणं तदिन्द्रियं"=जो प्रत्यक्षज्ञान का करण है वह इन्द्रिय है, इस नियम के अनुसार जिसप्रकार रूपादि प्रत्यक्ष का करण होने से चक्षुरादि इन्द्रिय हैं इसीप्रकार सुखादिज्ञान का करण होने से "मन" भी इन्द्रिय होना चाहिये, और जन्यप्रत्यक्ष इन्द्रिय के विना नहीं होसक्ता इससे सिद्ध है कि सुखादिप्रत्यक्ष का करण मन "इन्द्रिय" है, उक्त रीति से उसका इन्द्रिय मानना "अभ्युपगमसिद्धान्त" कहलाता है।

"वात्स्यायनमुनि" का कथन है कि "यत्र किञ्चिदर्थजातमभ्युपगम्यते अस्तु द्रव्यं शब्दः, सतु नित्योऽथानित्य इति द्रव्यस्य सतो नित्यताऽनित्यता वा तद्विशेषः परीक्ष्यते सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः" न्या० भा०= अपने अनभिमत= न माने हुए विषय को कुछ काल के लिये मानकर उसकी विशेष परीक्षा का आरम्भ करना "अभ्युपगमसिद्धांत" कहाता है, जैसाकि शब्द को गुण मानने वाला नैयायिक शब्द के द्रव्यत्ववादि मीमांसक से कहे कि "अस्तु द्रव्यं-

शब्दः "=शब्द द्रव्य ही रहो परन्तु वह नित्य है अथवा अनित्य है क्योंकि जो द्रव्य है वह नित्य किंवा अनित्य अवश्य होता है, इस प्रकार अपनी बुद्धि की प्रौढ़ता द्योतन करने के लिये शब्द को द्रव्य मानकर उसकी नित्यता अनित्यतारूप विशेषधर्म्म की परीक्षा करना "अभ्युपगमसिद्धांत" कहाता है, "उद्योतकराचार्य्य" आदि नैयायिकों ने अनेक प्रकार की युक्तियों से उक्त अर्थ में अरुचि प्रकाशित की है परन्तु अनुपयुक्त होने से यहां उसको नहीं लिखा।

सं०—अब अवयवों का सामान्यलक्षण तथा भेद कथन करते हैं:—

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः । ३२ ।

पद०—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि । अवयवाः ।

पदा०—(प्रतिज्ञा०) प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन यह पांच (अवयवाः) अवयव हैं ।

भाष्य—"अनुमानवाक्यस्यैकदेशा अवयवाः"= अनुमान वाक्य के एकदेश को "अवयव" कहते हैं, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन भेद से अवयव पांच प्रकार के हैं, अनुमान का पीछे निरूपण कर आये हैं और प्रतिज्ञा आदि

अवयवों का लक्षण सूत्रकार आगे स्वयं स्पष्ट करेंगे।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान भेद से अनुमान दो प्रकार का है, प्रतिज्ञा आदि पांच अवयवों का नाम "न्याय" जो न्यायसाध्य नहीं उसको "स्वार्थानुमान" तथा न्यायसाध्य अनुमान को "परार्थानुमान" कहते हैं और परार्थानुमानसम्बन्धी वाक्य का एकदेश होने के कारण प्रतिज्ञा आदि उसके अवयव कहलाते हैं, यद्यपि अवयव द्रव्य के होते हैं शब्द के नहीं तथापि शब्दसमूह की अपेक्षाद्वारा शब्द के प्रत्येक खण्ड में अवयवशब्द का प्रयोग किया गया है इसलिये कोई दोष नहीं।

कई एक लोग प्रतिज्ञादि पांच तथा जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास, इन सबको मिलाकर दश अवयव मानते हैं "अप्रतीयमानेऽर्थे प्रत्ययार्थस्य प्रवर्त्तिका जिज्ञासा" = अज्ञात अर्थ में प्रवृत्ति के हेतु इच्छा का नाम "जिज्ञासा" "जिज्ञासाजनकःसाध्यसन्देहः संशयः" = जिज्ञासा के हेतु साध्यविषयक सन्देह का नाम "संशय" "प्रमाणानां ज्ञानजननसामर्थ्यं शक्यप्राप्तिः" = प्रमाणों में ज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति का नाम "शक्यप्राप्ति" "हानादिबुद्धयः प्रयोजनम्" = हान = त्याग तथा ग्रहण आदि बुद्धि का नाम "प्रयोजन" और "तर्कः संशय-

व्युदासः" = तर्क का नाम "संशयव्युदास" है, परन्तु जिज्ञासा आदि प्रतिज्ञा आदि न्यायवाक्य के अन्तर्गत न होने से अवयव नहीं होसकते, यदि केवल न्यायजन्य बोध के अनुकूल होने से जिज्ञासा आदि को अवयव मानाजाय तो "पक्ष" भी एक अधिक अवयव मानना चाहिये, क्योंकि वह भी न्यायजन्य बोध के अनुकूल है परन्तु "पक्ष" को किसी नैयायिक नें अवयव नहीं माना, इससे सिद्ध है कि जो परार्थानुमानवाक्य के एकदेश हैं वही प्रतिज्ञा आदि अवयव हैं जिज्ञासादि नहीं, इसलिये पांच अवयवों का मानना ही ठीक है।

तात्पर्य्य यह है कि इच्छारूप होने से जिज्ञासा, ज्ञानरूप होने से संशय, शक्यप्राप्ति तथा प्रयोजन यह सब प्रमाता के धर्म्म हैं वाक्यावयव नहीं, और प्रतिपक्ष का निषेधरूप संशयव्युदास शब्द-रूप होने पर भी साधनवाक्य = परार्थानुमान वाक्य का अवयव नहीं किन्तु स्वतन्त्रवाक्य है, इससे स्पष्ट है कि जिज्ञासादि वाक्याव-यव नहीं।

सं०—अब प्रतिज्ञा का लक्षण कथन करते हैं:—

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥ ३३ ॥

पद०—साध्यनिर्देशः। प्रतिज्ञा।

पदा०—(साध्यनिर्देशः) साध्य के बोधक वचन का नाम (प्रतिज्ञा) प्रतिज्ञा है।

भाष्य-"प्रज्ञापनीयेन = साधनीयेन धर्म्मेणविशिष्टो धर्म्मी = पक्षः साध्यः तन्निर्द्देशो बोधकवचनं प्रतिज्ञा" = साधन करने योग्य धर्म्मविशिष्ट धर्म्मी = पक्ष को "साध्य" कहते हैं, और साध्यबोधक वचन का नाम "प्रतिज्ञा" है, या यों कहो कि साध्यवाले धर्म्मी के बोधक वचन का नाम "प्रतिज्ञा" है, जैसाकि "अनित्यः शब्दः" = शब्द अनित्य है, यह वाक्य अनित्यत्व साध्यवाले शब्दरूप पक्ष का अथवा "पर्वतो वह्निमान्" यह वाक्य वह्निसाध्यवाले पर्वतरूप पक्ष का बोधक होने से "प्रतिज्ञा" है।

"विश्वनाथ" ने इस सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि "साधनीयस्यार्थस्य यो निर्द्देशः सः प्रतिज्ञा साधनीयश्चवह्निमत्वादिनापर्वतादिस्तथाचपक्षतावच्छेदकविशिष्टपक्षे साध्यतावच्छेदकविशिष्टवैशिष्ट्यबोधक शब्द इत्यर्थः" = सिद्ध करने योग्य साध्यवाले पक्ष के प्रतिपादक वचन को "प्रतिज्ञा" कहते हैं अर्थात् जिस वाक्य से पक्ष तथा साध्य का परस्पर विशेषणविशेष्यभाव प्रतीत हो उसका नाम "प्रतिज्ञा" है, परन्तु निगमन वाक्य में पक्ष साध्य के

परस्पर विशेषणविशेष्यभाव पाये जाने से प्रतिज्ञालक्षण की अतिव्याप्ति के निवारणार्थ साध्य पद के स्थान में "साध्यतावच्छेदकतातिरिक्ताप्रकारकत्व" पद का निवेश करना चाहिये, उक्त पद के निवेश से प्रतिज्ञा का यह लक्षण हुआ कि "**साध्यतावच्छेदकतातिरिक्ताप्रकारकत्वनिर्देशः प्रतिज्ञा**"=जिसमें साध्यतावच्छेदकरूप विशेषण से भिन्न विशेषण का ज्ञान न पाया-जाय ऐसे परस्पर विशेषणविशेष्यरूप से पक्ष तथा साध्य के बोधक वाक्य का नाम "**प्रतिज्ञा**" है, और जिस धर्म्म से साध्य को सिद्ध करना हो उसका नाम "**साध्यतावच्छेदक**" है अर्थात् वह्नि आदि साध्यवृत्ति वह्नित्व आदि धर्म्म को "साध्यतावच्छेदक" कहते हैं, "**तस्मात्तथा=धूमवत्त्वाद्वह्निमान्पर्वतः**"=यह पर्वत धूम हेतु से वह्नि वाला है, इस निगमन वाक्य में पक्ष, साध्य का विशेषणविशेष्यभाव होने पर भी उससे भिन्न हेतुरूप विशेषण के पाये जाने से अतिव्याप्ति दोष नहीं आता और "**पर्वतोवह्निमान्**" इस प्रतिज्ञा वाक्य में वह्नित्वरूप साध्यतावच्छेदक धर्म्म वाला वह्निसाध्य विशेषण तथा पर्वतपक्ष विशेष्य है, उक्त विशेषण से भिन्न पक्ष का दूसरा कोई विशेषण नहीं, इस प्रकार उक्त वाक्य में प्रतिज्ञालक्षण की सङ्गति स्पष्ट है ॥

सं०—अब हेतु का लक्षण तथा भेद कथन करते हैं:—

उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः॥३४॥

पद०—उदाहरणसाधर्म्यात् । साध्यसाधनं । हेतुः ।

पदा०—(उदाहरणसाधर्म्यात्) उदाहरण के साधर्म्यद्वारा (साध्यसाधनं) साध्य के प्रतिपादक वचन को (हेतुः) साधर्म्य हेतु कहते हैं ।

भाष्य—"हीयते ज्ञायते प्रतिज्ञोत्थापिताकांक्षानिवर्त्तकत्वमनेनेति हेतुःलिङ्गाभिधायकं वाक्यमित्यर्थः"= जो प्रतिज्ञा वाक्य द्वारा उत्पन्न हुई इच्छा की निवृत्ति का कारण लिङ्ग प्रतिपादक वाक्य हो उसको "हेतु" कहते हैं, लिङ्ग का लक्षण पीछे अनुमान प्रकरण में निरूपण कर आये हैं, साधर्म्य तथा वैधर्म्य भेद से हेतु दो प्रकार का है, समानधर्म्म का नाम "साधर्म्य" तथा दृष्टान्त का नाम "उदाहरण" है, साधर्म्य, समानधर्म्म यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, "उदाहरणेन सामान्यात् साध्यस्य धर्म्मस्य साधनं प्रज्ञापनं हेतुः" न्या० भा० = दृष्टान्त के समानधर्मद्वारा साध्य के बोधक वचन का नाम "साधर्म्यहेतु" है अर्थात् "साध्ये प्रतिसन्धाय धर्म्ममुदाहरणे च प्रतिसन्धाय तस्य साधनतावचनं हेतुः, उत्पत्तिधर्म्मकत्वादिति, उत्पत्तिधर्म्मकमनित्यं दृष्टमिति" न्या० भा० = दृष्टान्त तथा पक्ष में होनेवाले साध्यरूप धर्म्म की समानता को अनुभव करके कथन किये हुए पक्षवर्त्ती साध्य के प्रतिपादक वचन का नाम "साधर्म्यहेतु" है, जैसाकि "उत्प-

त्तिधर्म्मकत्वात्" यह वचन शब्दवृत्ति अनित्यत्व का प्रतिपादक होने से "साधर्म्यहेतु" है, क्योंकि घटादि दृष्टान्त में होनेवाले अनित्यत्व धर्म के समान ही शब्दरूप पक्ष में होनेवाले अनित्यत्व साध्य का प्रतिपादक है अर्थात् "यत्र उत्पत्तिधर्म्मकत्वं तत्र अनित्यत्वम्" = जो उत्पत्तिधर्म्मक = जन्य है वह अनित्य है, इस नियम के अनुसार घट की भांति उत्पत्तिधर्म्मक होने से शब्द भी अनित्य है, इस प्रकार घट के समान शब्द में अनित्यता सिद्ध कीजाती है और उक्त अनित्यता का प्रतिपादक "उत्पत्तिधर्म्मकत्वात्" यह वचन "साधर्म्यहेतु" कहाता है, इसी प्रकार वह्नि के अनुमान में "धूमत्वात्" यह वचन भी साधर्म्यहेतु जानना चाहिये, क्योंकि यह भी महानस में होने वाले वह्निरूप धर्म के समान ही पर्वतपक्ष में होनेवाले वह्निसाध्य का प्रतिपादक है।

सार यह निकला कि दृष्टान्तवर्त्ती धर्म्म के समान होनेवाले पक्षवृत्ति साध्य के प्रतिपादक = साधक वचन को "साधर्म्यहेतु" कहते हैं, जैसाकि ऊपर के उदाहरण में स्पष्ट है।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि हेतुवचन नियम से पञ्चम्यन्त वा तृतीयान्त होता है, इसलिये नव्यनैयायिक हेतु का सामान्यलक्षण यह करते हैं कि "पञ्चम्यन्तं तृतीयान्तं वा लिङ्गप्रतिपादकवचनंहेतुः" = पञ्चमी किंवा तृतीया विभक्ति वाले लिङ्ग के प्रतिपादक वचन का नाम "हेतु" है, जैसाकि

"उत्पत्तिधर्म्मकत्वात्, उत्पत्तिधर्म्मकत्वेन" किंवा "धूमात्, धूमेन" यह वचन पञ्चमी वा तृतीयाविभक्ति से युक्त होने के कारण "हेतु" हैं।

सं०—अब वैधर्म्यहेतु का लक्षण कथन करते हैं:—

तथा वैधर्म्यात् ॥ ३५ ॥

पद०—तथा। वैधर्म्यात्।

पदा०—(वैधर्म्यात्) उदाहरण के वैधर्म्यद्वारा (तथा) साध्य के प्रतिपादक वचन को वैधर्म्यहेतु कहते हैं।

भाष्य—वैधर्म्य, विरुद्धधर्म्म यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, "उदाहरणवैधर्म्याच्च साध्यसाधनं हेतुः" न्या० भा० = दृष्टान्त के विरुद्धधर्म्मद्वारा साध्य के बोधक वचन का नाम "वैधर्म्यहेतु" है, जैसाकि "अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्म्मकत्वात् अनुत्पत्तिधर्म्मकं नित्यं यथा आत्मादि" = जिसप्रकार उत्पत्ति वाले न होने के कारण आत्मा आदि द्रव्य नित्य हैं इस प्रकार शब्द नहीं वह उत्पत्तिवाला होने से अनित्य है, इस अनुमान के आत्मादि दृष्टान्त में होनेवाले नित्यत्वरूप धर्म्म से विरुद्ध अनित्यत्वरूप साध्य का बोधक "उत्पत्तिधर्म्मकत्वात्" यह वचन "वैधर्म्यहेतु" कहलाता है, इस प्रकार एक ही हेतु दृष्टान्त के साधर्म्यद्वारा साध्य का साधक होने से "साधर्म्यहेतु" तथा

दृष्टान्त के वैधर्म्यद्वारा साध्य का साधक होने से "वैधर्म्यहेतु" कहाजाता है ।

तात्पर्य्य यह है कि दृष्टान्त में देखी हुई व्याप्ति द्वारा साध्य के साधन = सिद्ध करने वाले अवयव को "हेतु" कहते हैं और न्याय वाक्य में हेतु का प्रयोग पञ्चमी वा तृतीया विभक्तिद्वारा किया जाता है और वह केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी भेद से तीन प्रकार का है जैसाकि अनुमानलक्षण प्रकरण में निरूपण कर आये हैं, प्राचीन नैयायिक केवलान्वयी को "साधर्म्यहेतु" तथा केवलव्यतिरेकी को "वैधर्म्यहेतु" कथन करते हैं, और जिस साध्यसाधन की व्याप्ति का दृष्टान्त में निश्चय किया है यदि हेतु में उससे विरुद्ध व्याप्ति पाई जाय तो वह हेतु प्रामाणिक = अपने साध्य की सिद्धि में समर्थ नहीं होता अर्थात् यदि दृष्टान्त में अन्वयव्याप्ति और हेतु में "व्यतिरेकव्याप्ति" किंवा दृष्टान्त में व्यतिरेकव्याप्ति पाई जाय तथा हेतु में अन्वयव्याप्ति ग्रहण कीजाय तो वह हेतु स्वसाध्य की सिद्धि में असमर्थ होता है इसलिये दृष्टान्त में निश्चय कीहुई व्याप्ति के समान ही हेतु में व्याप्ति का ग्रहण करना चाहिये ।

सं०—अब उदाहरण का सामान्यलक्षण तथा भेद कथन करते हैं:—

साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ॥ ३६ ॥

पद०—साध्यसाधर्म्यात् । तद्धर्म्मभावी । दृष्टान्तः । उदाहरणम् ।

पदा०—(साध्यसाधर्म्यात्) पक्ष के साधर्म्य द्वारा (तद्धर्म्मभावी) पक्षवृत्तिधर्म्म के बोधक (दृष्टान्तः) दृष्टान्तवचन को (उदाहरणम्) साधर्म्योदाहरण कहते हैं ॥

भाष्य—" साध्यसाधनयोर्व्याप्ति निदर्शकं वचनमुदाहरणम् " = साध्य साधन के व्याप्ति प्रतिपादक दृष्टान्त वाक्य को "उदाहरण" कहते हैं, साधर्म्योदाहरण, वैधर्म्योदाहरण भेद से उदाहरण दो प्रकार का है, "सिषाधयिषितधर्म्मा पक्षः साध्यः तत्साधर्म्यं लिङ्गवत्ता, तस्मात्साध्यस्य = पक्षस्य यो धर्म्मो वन्ह्यादिस्तस्य भावी बोधको दृष्टान्त उदाहरणं साधर्म्योदाहरणमित्यर्थः " = जिस अधिकरण में वन्हि आदि साध्य सिद्ध कियाजाय उसका नाम साध्य = पक्ष है, प्रकृत में साध्य, पक्ष दोनों एकार्थवाची शब्द हैं और साध्य के समान हेतु का अधिकरण होना " साध्यसाधर्म्य " कहलाता है, साध्यसाधर्म्य, पक्षसमानधर्म्मता यह भी पर्य्याय शब्द हैं, पक्ष के समानधर्म्मद्वारा पक्ष में होनेवाले वन्हि आदि साध्य के प्रतिपादक दृष्टान्त वचन का नाम " साधर्म्योदाहरण" है अर्थात् जिस वचन से वादी, प्रतिवादी दोनों की सम्मति द्वारा दृष्टान्त देने योग्य पदार्थ का बोध हो उसका नाम "उदाहरण" है, या यों कहो कि जिस अधिकरण में साध्य और हेतु की व्याप्ति क

निश्चय प्रत्यक्ष हो उसका नाम " उदाहरण " है, और अन्वयव्याप्ति के प्रतिपादक दृष्टान्त वाक्य को " साधर्म्योदाहरण " कहते हैं, जैसाकि "यो यो धूमवान् स स वन्हिमान् यथा महानसम् " = महानस की भांति जो धूमवाला है वह वन्हिवाला है, यह वाक्य धूम हेतु में वन्हि साध्य की अन्वयव्याप्ति वाले " महानस " दृष्टान्त का प्रतिपादक होने से "साधर्म्योदाहरण" कहलाता है और इसी को साधर्म्यनिदर्शन तथा अन्वयी उदाहरण भी कहते हैं ॥

" वात्स्यायनमुनि " ने उक्त सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि " साध्येन साधर्म्यं समानधर्मता-साध्यसाधर्म्यात्कारणात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त इति " न्या० भा० = प्रकृतसाध्य की सिद्धि के लिये प्रयुक्त हेतु का अधिकरण होना ही साध्य = पक्ष के साथ दृष्टान्त की समानधर्मता है अर्थात् जिसप्रकार साध्य की सिद्धि के लिये दिये हुए जिस हेतु का अधिकरण पक्ष होता है उसी प्रकार उस हेतु का दृष्टान्त भी अधिकरण होना चाहिये, इस प्रकार पक्ष के समान हेतु का अधिकरण होना ही दृष्टान्त का " साध्यसाधर्म्य " है, उक्त साध्यसाधर्म्य = पक्षसाधर्म्य से पक्षवृत्ति वन्हि आदि साध्य के बोधक दृष्टान्तवचन को " साधर्म्योदाहरण " कहते हैं, जैसाकि " अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात् स्थाल्यादिवत् " = स्थाली = बटलोई

आदि कार्यद्रव्यों की भांति उत्पत्तिधर्म्मवाला होने से शब्द अनित्य है, इस अनुमान में स्थाली आदि दृष्टान्त वचन "साधर्म्योदाहरण" हैं।

तात्पर्य्य यह है कि "उत्पत्तिधर्म्मकत्वं साधनमनित्यत्वं साध्यं सोऽयमेकस्मिन्द्वयोर्धर्म्मयोः साध्यसाधनभावः साधर्म्याद्व्यवस्थित उपलभ्यते तं दृष्टान्ते उपलभमानः शब्देऽप्यनुमिनोति शब्दोऽप्युत्पत्तिधर्म्मकत्वादनित्यः स्थाल्यादिवदित्युदाह्रियते, तेन धर्म्मयोः साध्यसाधनभाव उदाहरणम्" न्या० भा० = "उत्पत्तिधर्म्मकत्वात्" हेतु तथा "अनित्यत्व" साध्य का साध्यसाधनभाव = अव्यभिचरित सम्बन्धरूप व्याप्ति समानरूप से एक धर्म्मी = पक्षादि अधिकरण में नियत पाई जाती है उस व्याप्तिज्ञान को स्थाली, घट आदि दृष्टान्तों में उपलब्ध करके प्रमाता शब्द में अनित्यत्व का अनुमान करता है कि स्थाली आदि कार्य्यद्रव्यों की भांति उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है, इस अनुमान में दृष्टान्त के साधर्म्यद्वारा हेतुसाध्य की व्याप्ति पाये जाने से स्थाली आदि "साधर्म्योदाहरण" कहाते हैं, इसी रीति से सर्वत्र अन्वयी अनुमान में साधर्म्योदाहरण को लापन करना चाहिये, यह रीति प्राचीन नैयायिकों की है नवीननैयायिकों की रीति "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में स्फुट है परन्तु दोनों के फल में कोई भेद नहीं।

सं०-अब वैधर्म्योदाहरण का लक्षण कथन करते हैं:—

तद्विपर्य्ययाद्वा विपरीतम् ॥ ३७ ॥

पद०-तद्विपर्य्ययात् । वा । विपरीतम् ।

पदा०-(वा) और (तद्विपर्य्ययात्) पक्ष के वैधर्म्यद्वारा पक्षवृत्ति धर्म्म के बोधक दृष्टान्तवचन को (विपरीतम्) वैधर्म्योदाहरण कहते हैं ।

भाष्य-"साध्यः पक्षः तद्वैधर्म्यं व्यतिरेकिलिङ्गवत्ता, तस्मात्साध्यस्य यो धर्म्मो वन्ह्यादिस्तदभावबोधकं वचनं वैधर्म्योदाहरणमित्यर्थः"=पक्ष के समान हेतु का अधिकरण न होना साध्यवैधर्म्य किंवा "पक्षवैधर्म्य" कहाता है, पक्षवैधर्म्य तथा पक्षविरुद्धधर्म्मता यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, पक्ष के विरुद्ध धर्म्मद्वारा पक्ष में होनेवाले वह्नि आदि साध्य के अभाव का प्रतिपादक जो दृष्टान्तवचन उसका नाम "वैधर्म्योदाहरण" है अर्थात् व्यतिरेकव्याप्ति के प्रतिपादक दृष्टान्त वाक्य को "वैधर्म्योदाहरण" कहते हैं, जैसाकि "यो यो वह्निमान् न भवति स स धूमवान् न भवति"=जो सरोवर की भांति वह्निवाला नहीं वह धूमवाला नहीं, यह वाक्य धूम हेतु में वह्नि साध्य की व्यतिरेकव्याप्तिवाले सरोवर दृष्टान्त का प्रतिपादक होने से "वैधर्म्योदाहरण" कहलाता है और इसी को वैधर्म्यनिदर्शन

तथा व्यतिरेकिउदाहरण भी कहते हैं ।

सार यह निकला कि " पूर्वस्मिन्दृष्टान्ते यौ तौ धर्म्मौ साध्यसाधनभूतौ पश्यति साध्येऽपि तयोः साध्यसाधनभावमनुमिनोति, उत्तरस्मिन्दृष्टान्ते ययोर्धर्मयोरेकस्याभावादितरस्याभावं पश्यति तयोरेकस्याभावादितरस्याभावं साध्येऽनुमिनोतीति " न्या० भा० = अन्वयी दृष्टान्त में जिन धर्म्मों का परस्पर साध्यसाधनभाव = व्याप्तिज्ञान निश्चित किया हो उसके समान ही पक्ष में साध्यसाधनभावद्वारा साध्य का अनुमान होता है परन्तु व्यतिरेकी दृष्टान्त में साधन के अभाव से साध्याभाव का निश्चय होने पर अर्थात् साध्याभाव, साधनाभाव की व्याप्ति के साक्षात्कार से प्रकृत पक्ष में भी साधनाभावद्वारा साध्याभाव का अनुमान कियाजाता है जैसाकि शब्दवृत्ति अनित्यत्व की सिद्धि के लिये कथन कियेहुए आत्मादि दृष्टान्त में " उत्पत्तिधर्मक " साधन = हेतु के अभाव द्वारा अनित्यत्व रूप साध्याभाव के पाये जाने से शब्द रूप पक्ष में विपरीत अनुमान किया जाता है अर्थात् उत्पत्तिधर्म्मकत्व हेतु के अभावाभाव = उत्पत्तिधर्म्मकत्व से अनित्यत्वरूप साध्याभावाभाव = अनित्यत्व का अनुमान होता है, इस व्यतिरेकी अनुमान के ज्ञापन की रीति तथा उसकी व्याप्ति का प्रकार " वैशेषिकार्य्यभाष्य " में विस्तारपूर्वक निरूपण किया है और यहां भी पीछे अनुमान प्रकरण में दिखलाया गया है ॥

वृत्तिकार "विश्वनाथ" का कथन है कि जिसमें साध्य और हेतु की व्यतिरेकव्याप्ति पाईजाय उस दृष्टान्त प्रतिपादक वचन को वैधर्म्योदाहरण = व्यतिरेकी उदाहरण कहते हैं जैसाकि "**जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः**" = जहां आध्यात्मिक = प्राणवायु का सम्बन्ध है वहां आत्मा का सम्बन्ध है, इस नियम के अनुसार आध्यात्मिक वायु के पाये जाने से सजीव शरीर सात्मक = आत्मा वाला है और जो सात्मक नहीं वह सजीव = आध्यात्मिक वायु के सम्बन्ध वाला नहीं, जैसाकि घट सात्मक न होने से सजीव नहीं, इस शरीर वृत्ति आत्मा के अनुमान में घट व्यतिरेकी दृष्टान्त है, क्योंकि घट में "जहां साध्य नहीं वहां हेतु नहीं" इस व्यतिरेक व्याप्ति का निश्चय उक्त रीति से स्पष्ट है और सूत्र में "वा" शब्द के प्रयोग का तात्पर्य्य यह है कि अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में साधर्म्योदाहरण किंवा वैधर्म्योदाहरण का कथन वक्ता की इच्छा पर निर्भर है ॥

सं०—अब उपनय का लक्षण कथन करते हैं :—

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ॥ ३८ ॥

पद०—उदाहरणापेक्षः । तथा । इति । उपसंहारः । न । तथा । इति । वा । साध्यस्य । उपनयः ॥

पदा०-(तथा, इति) यह भी वैसा है (वा) अथवा (न, तथा, इति) यह वैसा नहीं है, इस प्रकार (उदाहरणापेक्षः) उदाहरण के अधीन (साध्यस्य) साध्य के (उपसंहारः) उपसंहार को (उपनयः) उपनय कहते हैं ॥

भाष्य-उदाहरण के अनुसार पक्षसमाप्ति के बोधक वचन का नाम "उपनय" है अर्थात् "उदाहृत व्याप्तिविशिष्टत्वेन हेतोः पक्षधर्मता प्रतिपादकं वचनमुपनयः" = जिस व्याप्ति को उदाहरण से प्रतिपादन किया है उस व्याप्ति वाले हेतु की पक्षधर्मता का जो प्रतिपादक वाक्य है उसका नाम "उपनय" है, जैसाकि अन्वयव्याप्ति में "तथाचायं = धूमवाश्चायम्" = यह पर्वत भी महानस की भांति वन्हिव्याप्ति के आश्रयभूत धूमवाला है, यह वाक्य तथा व्यतिरेकव्याप्ति में "नच तथायं = नच धूमाभाववानयम्" = यह पर्वत सरोवर की भांति धूमाभाव वाला नहीं प्रत्युत धूमाभावाभाव = धूम वाला है. यह वाक्य "उपनय" है, क्योंकि महानस दृष्टान्त में अन्वयद्वारा तथा सरोवर दृष्टान्त में व्यतिरेकद्वारा जिस धूम लिङ्ग का वन्हि साध्य के साथ अविनाभाव = व्याप्ति सम्बन्ध निश्चित किया है वह उक्त रीति से पर्वतपक्ष में उसी धूम लिङ्ग के उपसंहार का प्रतिपादक है, इसी अभिप्राय से "वात्स्यानमुनि" का कथन है कि "उदाहरणापेक्ष उदाहरणतन्त्रः उदाहरणवशः, वशः

सामर्थ्यं, साध्यसाधर्म्यप्रयुक्ते उदाहरणे स्थाल्यादि द्रव्यमुत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टं तथा शब्द उत्पत्तिधर्मक इति साध्यस्य शब्दस्योत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते, साध्यवैधर्म्यप्रयुक्ते पुनरुदाहरणे आत्मादिद्रव्यमनुत्पत्तिधर्म्मकं नित्यं दृष्टं नच तथा शब्द इति अनुत्पत्तिधर्मकत्वस्योपसंहारप्रतिषेधेन उत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते तदिदमुपसंहारद्वैतमुदाहरणद्वैताद्भवति, उपसंह्रियतेऽनेनेतिचोपसंहारो वेदितव्य इति " न्या०

भा० = उपसंहार उदाहरण के अनुसार होता है अर्थात् जिसप्रकार हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति दृष्टान्त में पाई जाती है उसी प्रकार की व्याप्ति का उपसंहार उपनय वाक्य से किया जाता है जैसाकि पक्ष के साधर्म्यद्वारा कथन किये हुए स्थाली आदि दृष्टान्त में उत्पत्तिधर्मकत्व हेतु की अनित्यत्व साध्य के साथ अन्वय व्याप्ति के पाये जाने से "तथा शब्द इति" = स्थाली आदि की भांति उत्पत्ति वाला होने से शब्द अनित्य है, इस प्रकार शब्दरूप पक्ष में "उत्पत्तिधर्म्मकत्वात्" हेतु का उपसंहार होता है, और पक्ष के वैधर्म्यद्वारा कथन किये हुए आत्मा आदि दृष्टान्त में हेत्वभाव की साध्याभाव के साथ व्यतिरेक व्याप्ति पाये जाने से "नच तथा शब्द इति" = आत्मा आदि की भांति शब्द उत्पत्ति धर्म के अभाव वाला नहीं प्रत्युत उत्पत्तिधर्म्मकत्वाभावा-

भाव=उत्पत्तिवाला है, इस प्रकार शब्द पक्ष में उत्पत्तिधर्मकत्वाभावाभाव का उपसंहार होता है, इस रीति से उदाहरण के दो भेद होने के कारण उपनय भी साधर्म्योपनय तथा वैधर्म्योपनय भेद से दो प्रकार का जानना चाहिये।

सं०-अब निगमन का लक्षण कथन करते हैं:—

हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाःपुनर्वचनं निगमनम्। ३९।

पद०-हेत्वपदेशात्। प्रतिज्ञायाः। पुनः। वचनं। निगमनं।

पदा०-(हेत्वपदेशात्) हेतु का कथन पाये जाने से (प्रतिज्ञायाः) प्रतिज्ञा के (पुनः,वचनं) पुनः कथन को (निगमनं) निगमन कहते हैं।

भाष्य—"**तस्मात्तथेति प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्**"=हेतु के पाये जाने से "यह भी वैसा है" इस प्रकार हेतु के कथनपूर्वक प्रतिज्ञा के पुनःवचन का नाम "**निगमन**" है अर्थात् साध्यवाले पक्ष में केवल प्रतिज्ञाद्वारा साध्य का निश्चय न होने पर जब हेतु आदि तीन अवयवों का प्रयोग किया जाता है तब उनसे साध्य का निश्चय होता है, इसप्रकार साध्यनिश्चय की योग्यतावाले प्रतिज्ञा आदि अवयवोंद्वारा प्रतिपादित अर्थ का पुनः निश्चय करने के लिये जो हेतु कथन पूर्वक साध्यवाले पक्ष का बोधक वाक्य है उसको "**निगमन**"

कहते हैं, जैसाकि "तस्मात्तथाधूमाद्वह्निमान्पर्वतः"=यह पर्वत धूमहेतु से वह्निवाला है, यहवाक्य "निगमन" है, क्योंकि प्रतिज्ञा आदि वाक्योंद्वारा प्रतिपादित अर्थ का निश्चय करने के लिये धूमहेतु के सहित वह्नि साध्यवाले पक्ष का बोधक है, निगमन तथा प्रत्याम्नाय यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं।

सार यह निकला कि "निगम्यन्ते समर्थ्यन्ते प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया एकत्रेति निगमनम्"=जिससे प्रतिज्ञा आदि चार अवयवों का एकपक्षरूप अर्थ में सम्बन्धबोधन कियाजाय उसको "निगमन" कहते हैं, इस व्युत्पत्तिद्वारा "निगमन" का निष्कृष्ट लक्षण यह हुआ कि "व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्महेतुकथनपूर्वक साध्यविशिष्टपक्षप्रदर्शकं वाक्यं निगमनमिति"=व्याप्तिविशिष्ट हेतु के कथनपूर्वक साध्यविशिष्ट पक्ष के प्रतिपादक पुनः वचन का नाम "निगमन" है, या यों कहो कि व्याप्तिवाले हेतु के ज्ञान से पक्ष में जिसका ज्ञान होता है ऐसे साध्य को पक्ष में विशेषणरूप से बोधन करने वाले वाक्य का नाम "निगमन" है, जैसाकि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है, परन्तु "तस्मात्तथा"=हेतु के पायेजाने से यह पक्ष साध्यवाला है यह अन्वयीअनुमान में और "तस्मान्न तथा"=हेत्वभाव के अभाव से यह पक्ष साध्याभावाभाव वाला है,

यह व्यतिरेकी अनुमान में निगमन का स्वरूप जानना चाहिये, उक्त प्रतिज्ञा आदि पांच वाक्यों के समुदाय को "न्याय" कहते हैं, और उक्त न्याय से दूसरे पुरुषों को वह्नि आदि साध्य की अनुमिति को "परार्थानुमिति" कहते हैं, इसका विस्तार पूर्वक निरूपण "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में किया है।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि "साध्यस्य धर्म्मस्य धर्मेण सम्बन्धोपादानं प्रतिज्ञार्थः, उदाहरणेन समानस्य विपरीतस्य वा धर्म्मस्य साधकभाव वचनं हेत्वर्थः, धर्म्मयोः साध्यसाधकभावप्रदर्शनमुदाहरणार्थः, साधनभूतस्य धर्म्मस्य साध्येन धर्म्मेण समानाधिकरण्योपपादनमुपनयार्थः, उदाहरणस्थयोर्धर्म्मयोः साध्य साधनभावोपपत्तौ साध्ये विपरीतप्रसङ्ग प्रतिषेधो निगमनार्थः" न्या०भा० = पक्ष के साथ साध्य के सम्बन्ध का प्रतिपादन करना प्रतिज्ञा का, उदाहरण के साधर्म्य किंवा वैधर्म्य द्वारा साध्य का साधक होना हेतु का, साध्य साधन की व्याप्ति का निश्चय उदाहरण का, साधन = हेतु का साध्यरूप धर्म के साथ सामानाधिकरण्य = पक्षवृत्ति होना उपनय का, उदाहरण में साध्य साधन की व्याप्ति के निश्चय होने पर साध्य में अबाधितत्व = प्रमाणान्तर से बाधित न होना इत्यादि निगमन वाक्य का प्रयोजन = फल है।

और "अवयव समुदाये च वाक्ये सम्भूय इतरेतराभिसम्बन्धात्प्रमाणान्यर्थं साधयन्तीति" न्या०भा० = अवयव समुदायरूप न्यायवाक्य में परस्परसम्बन्धद्वारा चारो प्रमाण मिलकर विषय को सिद्ध करते हैं अर्थात् उक्त वाक्य में चारो प्रमाणों का अन्तर्भाव होजाता है, जैसाकि शब्दविषयक होने से प्रतिज्ञावाक्य में शब्दप्रमाण, हेतु वाक्य में अनुमान, दृष्ट = प्रत्यक्ष से अदृष्ट = परोक्ष की सिद्धि का नियम होने के कारण उदाहरण वाक्य में प्रत्यक्ष और साधर्म्य तथा वैधर्म्यद्वारा उपसंहार के होने से उपनय वाक्य में उपमान प्रमाण सिद्ध होता है, इसलिये निगमन वाक्यद्वारा सब प्रमाणों की एकविषयक उपलब्धि में सामर्थ्य पाये जाने से प्रमाणसांकर्य्य भी जानना चाहिये जिसका निरूपण प्रत्यक्ष के लक्षण में किया गया है।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि यदि न्यायवाक्य में प्रमाणों का परस्पर सम्बन्ध न पाया जाता तो प्रतिज्ञा आदि अवयवों का भी परस्पर सम्बन्ध न होता, और उनका सम्बन्ध न होने से दूसरे पुरुष को अनुमितिज्ञान कदापि न होसक्ता अर्थात् प्रतिज्ञा के न होने से निराश्रय हेतु, हेतु के अभाव से लिङ्गज्ञान, उदाहरण के न न होने से व्याप्तिज्ञान, उपनयाभाव से पक्षधर्मता ज्ञान, और निगमनाभाव से प्रतिज्ञादिकों के एक विषय में सम्बन्ध की अनुपपत्ति होती है परन्तु ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि उक्त पांच अवयवों का परस्पर सम्बन्ध आवश्यक है और उक्त सम्बन्ध के होने से ही प्रमाणों का एक विषय में सांकर्य्य स्पष्ट है, और

जब वादी की निपुणता से नास्तिक वादकथा में उक्त पांच अवयवों को मान लेता है तो फिर वह अपने नास्तिकत्व को सिद्ध नहीं करसक्ता, यदि आग्रहवश न्यायवाक्य को स्वीकार न करे तो दृष्टान्त आदि के न होने से आस्तिकपक्ष के प्रतिषेध का अधिकारी नहीं होसक्ता, इससे स्पष्ट है कि दोनों प्रकार से आस्तिकपक्ष की सिद्धि में कोई बाधा नहीं ।

सं०—अब तर्क का लक्षण कथन करते हैं :—

अविज्ञाततत्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ॥४०॥

पद०—अविज्ञाततत्वे । अर्थे । कारणोपपत्तितः । तत्वज्ञानार्थम् । ऊहः । तर्कः ।

पदा०—(अविज्ञाततत्वे, अर्थे) जिस पदार्थ का यथार्थरूप ज्ञात न हो (तत्वज्ञानार्थम्) उसको यथार्थ जानने के लिये (कारणोपपत्तितः) कारण के आरोप द्वारा जो (ऊहः) कार्य्य का आरोप होता है उसको (तर्कः) तर्क कहते हैं ।

भाष्य—अविज्ञात = अज्ञात वस्तु के यथार्थरूप को जानने के लिये कारण के आरोप द्वारा कार्य्यारोप का नाम "तर्क" है अर्थात् वह्नि आदि साध्याभाव का नाम "व्याप्य" तथा धूमादि साधनाभाव का नाम "व्यापक" है, प्रकृत में व्यापक कारण तथा व्याप्य कार्य्य है और यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, कल्पना का नाम "आरोप" और व्याप्य के आरोप से व्यापक के आरोप का

नाम "तर्क" है, या यों कहो कि साध्याभाव की कल्पना से साधनाभाव की कल्पना का नाम "तर्क" है, जैसाकि "पर्वतेयदिवह्निर्नस्यादधूमोऽपि न स्यात्"=यदि इस पर्वत में वह्नि न होती तो धूम भी न होता अर्थात् कारण के होने से कार्य्य होता है न होने से नहीं, इस अन्वयव्यतिरेकद्वारा कार्य्यकारणभाव का होना सर्वसम्मत है और व्यापक होने से वह्नि धूम का कारण तथा व्याप्य होने से धूम वह्नि का कार्य्य है, जिसप्रकार वह्नि धूम का परस्पर कार्य्यकारणभाव है इसी प्रकार वन्ह्यभाव तथा धूमाभाव का भी परस्पर कार्य्यकारणभाव है क्योंकि वह्न्यभाव से धूमाभाव और वह्न्यभाव के अभाव से धूमाभाव का अभाव होता है, इस प्रकार वह्न्यभावरूप व्याप्य=कारणद्वारा धूमाभावरूप व्यापक=कार्य्य की कल्पना का नाम "तर्क" है।

भाव यह है कि "पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवत्"=जहां धूम है वहां वह्नि है, इस नियम के अनुसार महानस की भांति धूम के होने से पर्वत वह्निवाला है, इस अनुमान द्वारा वह्नि के सिद्ध होने पर भी यदि कोई वादी आग्रहवशात् यह आशंका करे कि "हेतुरस्तु साध्यं माभूत विपक्षे बाधक तर्कानवतारात्"=सरोवर आदि विपक्ष में बाधकतर्क=युक्ति के न पाये जाने से पर्वत पक्ष में धूम हेतु के होने पर भी वह्नि साध्य न रहे इसमें क्या दोष? इसका उत्तर उक्त रीति से तर्कद्वारा यह है कि जहां सरोवर आदि विपक्ष में वह्न्यभाव है वहां

भाव = उत्पत्तिवाला है, इस प्रकार शब्द पक्ष में उत्पत्तिधर्मकत्वाभावाभाव का उपसंहार होता है, इस रीति से उदाहरण के दो भेद होने के कारण उपनय भी साधर्म्योपनय तथा वैधर्म्योपनय भेद से दो प्रकार का जानना चाहिये ।

सं०—अब निगमन का लक्षण कथन करते हैं:—

हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाःपुनर्वचनं निगमनम् । ३९ ।

पद०—हेत्वपदेशात् । प्रतिज्ञायाः । पुनः । वचनं । निगमनं ।

पदा०—(हेत्वपदेशात्) हेतु का कथन पाये जाने से (प्रतिज्ञायाः) प्रतिज्ञा के (पुनः,वचनं) पुनः कथन को (निगमनं) निगमन कहते हैं ।

भाष्य—“तस्मात्तथेति प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्” = हेतु के पाये जाने से “यह भी वैसा है” इस प्रकार हेतु के कथनपूर्वक प्रतिज्ञा के पुनःवचन का नाम “निगमन” है अर्थात् साध्यवाले पक्ष में केवल प्रतिज्ञाद्वारा साध्य का निश्चय न होने पर जब हेतु आदि तीन अवयवों का प्रयोग किया जाता है तब उनसे साध्य का निश्चय होता है, इसप्रकार साध्यनिश्चय की योग्यतावाले प्रतिज्ञा आदि अवयवोंद्वारा प्रतिपादित अर्थ का पुनः निश्चय करने के लिये जो हेतु कथन पूर्वक साध्यवाले पक्ष का बोधक वाक्य है उसको “निगमन”

कहते हैं, जैसाकि "तस्मात्तथाधूमाद्वह्निमान्पर्वतः" = यह पर्वत धूमहेतु से वह्निवाला है, यह वाक्य "निगमन" है, क्योंकि प्रतिज्ञा आदि वाक्योंद्वारा प्रतिपादित अर्थ का निश्चय करने के लिये धूमहेतु के सहित वह्नि साध्यवाले पक्ष का बोधक है, निगमन तथा प्रत्याम्नाय यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं।

सार यह निकला कि "निगम्यन्ते समर्थ्यन्ते प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया एकत्रेति निगमनम्" = जिससे प्रतिज्ञा आदि चार अवयवों का एकपक्षरूप अर्थ में सम्बन्धबोधन कियाजाय उसको "निगमन" कहते हैं, इस व्युत्पत्तिद्वारा "निगमन" का निष्कृष्ट लक्षण यह हुआ कि "व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्महेतुकथनपूर्वक साध्यविशिष्टपक्षप्रदर्शकं वाक्यं निगमनमिति" = व्याप्तिविशिष्ट हेतु के कथनपूर्वक साध्यविशिष्ट पक्ष के प्रतिपादक पुनः वचन का नाम "निगमन" है, या यों कहो कि व्याप्तिवाले हेतु के ज्ञान से पक्ष में जिसका ज्ञान होता है ऐसे साध्य को पक्ष में विशेषणरूप से बोधन करने वाले वाक्य का नाम "निगमन" है, जैसाकि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है, परन्तु "तस्मात्तथा" = हेतु के पायेजाने से यह पक्ष साध्यवाला है यह अन्वयीअनुमान में और "तस्मान्न तथा" = हेत्वभाव के अभाव से यह पक्ष साध्याभावाभाव वाला है,

यह व्यतिरेकी अनुमान में निगमन का स्वरूप जानना चाहिये, उक्त प्रतिज्ञा आदि पांच वाक्यों के समुदाय को "न्याय" कहते हैं, और उक्त न्याय से दूसरे पुरुषों को वह्नि आदि साध्य की अनुमिति को "परार्थानुमिति" कहते हैं, इसका विस्तार पूर्वक निरूपण "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में किया है।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि "साध्यस्य धर्म्मस्य धर्मिणा सम्बन्धोपादानं प्रतिज्ञार्थः, उदाहरणेन समानस्य विपरीतस्य वा धर्म्मस्य साधकभाव वचनं हेत्वर्थः, धर्म्मयोः साध्यसाधकभावप्रदर्शनमुदाहरणार्थः, साधनभूतस्य धर्म्मस्य साध्येन धर्म्मेण समानाधिकरण्योपपादनमुपनयार्थः, उदाहरणस्थयोर्धर्म्मयोः साध्य साधनभावोपपत्तौ साध्ये विपरीतप्रसङ्ग प्रतिषेधो निगमनार्थः" न्या०भा० = पक्ष के साथ साध्य के सम्बन्ध का प्रतिपादन करना प्रतिज्ञा का, उदाहरण के साधर्म्य किंवा वैधर्म्य द्वारा साध्य का साधक होना हेतु का, साध्य साधन की व्याप्ति का निश्चय उदाहरण का, साधन = हेतु का साध्यरूप धर्म के साथ सामानाधिकरण्य = पक्षवृत्ति होना उपनय का, उदाहरण में साध्य साधन की व्याप्ति के निश्चय होने पर साध्य में अबाधितत्व = प्रमाणान्तर से बाधित न होना इत्यादि निगमन वाक्य का प्रयोजन = फल है।

और " अवयव समुदाये च वाक्ये सम्भूय इतरेतराभिसम्बन्धात्प्रमाणान्यर्थं साधयन्तीति" न्या०भा० = अवयव समुदायरूप न्यायवाक्य में परस्परसम्बन्धद्वारा चारो प्रमाण मिलकर विषय को सिद्ध करते हैं अर्थात् उक्त वाक्य में चारो प्रमाणों का अन्तर्भाव होजाता है, जैसाकि शब्दविषयक होने से प्रतिज्ञावाक्य में शब्दप्रमाण, हेतु वाक्य में अनुमान, दृष्ट = प्रत्यक्ष से अदृष्ट = परोक्ष की सिद्धि का नियम होने के कारण उदाहरण वाक्य में प्रत्यक्ष और साधर्म्य तथा वैधर्म्यद्वारा उपसंहार के होने से उपनय वाक्य में उपमान प्रमाण सिद्ध होता है, इसलिये निगमन वाक्यद्वारा सब प्रमाणों की एकविषयक उपलब्धि में सामर्थ्य पाये जाने से प्रमाणसांकर्य्य भी जानना चाहिये जिसका निरूपण प्रत्यक्ष के लक्षण में किया गया है।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि यदि न्यायवाक्य में प्रमाणों का परस्पर सम्बन्ध न पाया जाता तो प्रतिज्ञा आदि अवयवों का भी परस्पर सम्बन्ध न होता, और उनका सम्बन्ध न होने से दूसरे पुरुष को अनुमितिज्ञान कदापि न होसक्ता अर्थात् प्रतिज्ञा के न होने से निराश्रय हेतु, हेतु के अभाव से लिङ्गज्ञान, उदाहरण के न न होने से व्याप्तिज्ञान, उपनयाभाव से पक्षधर्मता ज्ञान, और निगमनाभाव से प्रतिज्ञादिकों के एक विषय में सम्बन्ध की अनुपपत्ति होती है परन्तु ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि उक्त पांच अवयवों का परस्पर सम्बन्ध आवश्यक है और उक्त सम्बन्ध के होने से ही प्रमाणों का एक विषय में सांकर्य्य स्पष्ट है, और

जब वादी की निपुणता से नास्तिक वादकथा में उक्त पांच अवयवों को मान लेता है तो फिर वह अपने नास्तिकत्व को सिद्ध नहीं करसक्ता, यदि आग्रहवश न्यायवाक्य को स्वीकार न करे तो दृष्टान्त आदि के न होने से आस्तिकपक्ष के प्रतिषेध का अधिकारी नहीं होसक्ता, इससे स्पष्ट है कि दोनों प्रकार से आस्तिकपक्ष की सिद्धि में कोई बाधा नहीं।

सं०—अब तर्क का लक्षण कथन करते हैं :—

अविज्ञाततत्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ॥ ४० ॥

पद०—अविज्ञाततत्वे। अर्थे। कारणोपपत्तितः। तत्वज्ञानार्थम्। ऊहः। तर्कः।

पदा०—(अविज्ञाततत्वे, अर्थे) जिस पदार्थ का यथार्थरूप ज्ञात न हो (तत्वज्ञानार्थम्) उसको यथार्थ जानने के लिये (कारणोपपत्तितः) कारण के आरोप द्वारा जो (ऊहः) कार्य्य का आरोप होता है उसको (तर्कः) तर्क कहते हैं।

भाष्य—अविज्ञात = अज्ञात वस्तु के यथार्थरूप को जानने के लिये कारण के आरोप द्वारा कार्य्यारोप का नाम "तर्क" है अर्थात् वह्नि आदि साध्याभाव का नाम "व्याप्य" तथा धूमादि साधनाभाव का नाम "व्यापक" है, प्रकृत में व्यापक कारण तथा व्याप्य कार्य्य है और यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, कल्पना का नाम "आरोप" और व्याप्य के आरोप से व्यापक के आरोप का

नाम "तर्क" है, या यों कहो कि साध्याभाव की कल्पना से साधनाभाव की कल्पना का नाम "तर्क" है, जैसाकि "पर्वतेयदिवह्निर्नस्याद्धूमोऽपि न स्यात्" = यदि इस पर्वत में वह्नि न होती तो धूम भी न होता अर्थात् कारण के होने से कार्य्य होता है न होने से नहीं, इस अन्वयव्यतिरेकद्वारा कार्य्यकारणभाव का होना सर्वसम्मत है और व्यापक होने से वह्नि धूम का कारण तथा व्याप्य होने से धूम वह्नि का कार्य्य है, जिसप्रकार वह्नि धूम का परस्पर कार्य्यकारणभाव है इसी प्रकार वन्ह्यभाव तथा धूमाभाव का भी परस्पर कार्य्यकारणभाव है क्योंकि वह्न्यभाव से धूमाभाव और वह्न्यभाव के अभाव से धूमाभाव का अभाव होता है, इस प्रकार वह्न्यभावरूप व्याप्य = कारणद्वारा धूमाभावरूप व्यापक = कार्य्य की कल्पना का नाम "तर्क" है।

भाव यह है कि "पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवत्" = जहां धूम है वहां वह्नि है, इस नियम के अनुसार महानस की भांति धूम के होने से पर्वत वह्निवाला है, इस अनुमान द्वारा वह्नि के सिद्ध होने पर भी यदि कोई वादी आग्रहवशात् यह आशंका करे कि "हेतुरस्तु साध्यं माभूत् विपक्षे बाधकतर्कानवतारात्" = सरोवर आदि विपक्ष में बाधकतर्क = युक्ति के न पाये जाने से पर्वत पक्ष में धूम हेतु के होने पर भी वह्नि साध्य न रहे इसमें क्या दोष ? इसका उत्तर उक्त रीति से तर्कद्वारा यह है कि जहां सरोवर आदि विपक्ष में वह्न्यभाव है वहां

धूमाभाव भी रहता है क्योंकि वह्न्यभाव धूमाभाव का कारण है इसलिये यदि "पर्वते वह्निर्नस्यात्तर्हिधूमोऽपि न स्यात्" = पर्वत में सरोवर की भांति वह्न्यभाव होता तो धूमाभाव भी अवश्य पाया जाता अर्थात् वह्नि, धूम का परस्पर कार्य्य कारणभाव न होता तो वह्नि के विना भी धूम की उपलब्धि होती परन्तु ऐसा नहीं, इससे स्पष्ट है कि धूम लिङ्ग से पर्वत वह्नि वाला है, इस प्रकार उक्त अनुमानद्वारा वह्नि के सिद्ध होने पर भी यदि वादी की उक्त आशंका से वह्नि का यथार्थज्ञान न हो तो उसके यथार्थज्ञान के लिये "न स्यात् न स्यात्" इन शब्दों द्वारा साध्याभाव की कल्पना से साधनाभाव की कल्पना होती है, वही कार्य्यकारणभावभङ्गरूप "तर्क" कहलाती है।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि यदि उक्त तर्क के कथन करने पर भी पुनः यह आशंका कीजाय कि जहां कारण के विना कार्य्य पायाजाय वहां उसको स्वाभाविक ही मानना चाहिये ? इसका उत्तर यह है कि कारण के विना कार्य्य मानने से प्रत्येक जीव की प्रवृत्ति के नियम का दृष्ट विरोध होगा अर्थात् उष्णता के लिये वह्नि, तृप्ति के लिये भोजन तथा पिपासा आदि की निवृत्ति के लिये जल आदि के ग्रहण में जीवों की प्रवृत्ति का नियम पाया जाता है यदि किसी देश काल में कारण के विना भी कार्य्य का नियम होता तो क्षुधार्त्त पुरुष की भोजन, पिपासु की जल के उपादान में प्रवृत्ति न होती परन्तु होती है, इससे सिद्ध है कि कारण के विना कार्य्य कदापि नहीं होसकता, इस रीति

से तर्कोत्तर काल में होनेवाली कार्य्यस्वभाव वादी की शंका व्याघातद्वारा निवृत्त करनी चाहिये, कारण के विना कार्य्य के कथन का नाम "व्याघात" है, व्याघात तथा परस्परविरोध यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं।

तात्पर्य्य यह है कि जिसप्रकार "मममुखेजिह्वा नास्ति"=मेरे मुख में जिह्वा नहीं, यह वचन व्याघातदोषयुक्त है इसी प्रकार कार्य्य को कारण के विना कथन करना व्याघात दोष युक्त है, उक्त व्याघातदोषयुक्त होने से वादी की शंका निर्मूल होजाती है, जैसाकि अनुमान की सिद्धि करते हुए उदयनाचार्य्य ने न्या० कु० में कथन किया है कि:—

शंकाचेदनुमास्त्येव नचेच्छङ्कातत स्तराम् ।
व्याघातावधिराशंका तर्कः शंकावधिर्मतः ॥

अर्थ—तत्तत् पर्वतादि देश वा तत्तत् काल में धूमादि हेतुओं का वह्नि आदि साध्य के साथ व्यभिचार न होने पर भी देशान्तरीय तथा कालान्तरीय उक्त हेतुओं का अपने साध्य के साथ व्यभिचार होसकता है अर्थात् वर्त्तमानकालीन पर्वत में वर्त्तमानकालीन धूम का वह्नि के साथ व्यभिचार न हो परन्तु भूत, भविष्यत् धूम की वह्नि के साथ व्यभिचारसम्भावना होसकती है और उक्त सम्भावना शंकारूप प्रतिबन्धक के होने से व्याप्तिज्ञान का निश्चय नहीं होता, इसलिये अनुमान का मानना ठीक नहीं? इसका उत्तर यह है कि उक्त शंकाविषयक देशान्तरीय,

कालान्तरीय वह्नि आदि साध्य का ज्ञान, इन्द्रिय सादृश्यज्ञान आदि से जन्य न होने के कारण अनुमानप्रमाणजन्य है, और यदि अनुमान के भय से चार्वाक देशान्तरीय, कालान्तरीय वह्नि आदि में उक्त आशंका का परित्याग करे तो प्रकृत पर्वतादि पक्ष में धूमादि लिङ्गद्वारा वह्नि आदि साध्य का निश्चय अनुमानजन्य होने से अनुमितिरूप है, इस प्रकार उभयतः पाशारज्जुन्याय से चार्वाक आदि नास्तिकों को भी अनुमान प्रमाण मानना पड़ता है और जो अनुमानोत्तर काल में "हेतुरस्तु साध्यं माभूत्" = पक्षवृत्ति हेतु के होने पर भी साध्य न होना चाहिये, इत्यादि आशंका कीजाती है उसकी निवृत्ति तर्क द्वारा होती है जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं, यह नियम है कि जबतक शंका होगी तबतक तर्क भी होता रहेगा, अतएव नैयायिक लोगों ने तर्क को "शंकावधि" कथन किया है, यदि दुराग्रह वश से तर्क के अनन्तर पुनः व्याप्तिबाधक शंका उठाई जाय तो उसका परिहार उक्त रीति से व्याघातद्वारा करना चाहिये, व्याघात कथन के अनन्तर पुनः शंका नहीं होसक्ती, इस-प्रकार शंकारूप प्रतिबन्धक का निवर्त्तक होने के कारण तर्क व्याप्तिज्ञान का सहकारी है और उक्त तर्क सहकृत व्याप्तिज्ञान के सिद्ध होने पर हेतु द्वारा साध्य निश्चयात्मक अनुमितिज्ञान स्पष्ट है, इसी अभिप्राय से "वात्स्यायनमुनि" का कथन है कि-

"तत्वज्ञानविषयाभ्यनुज्ञालक्षणानुग्रहोद्भावितात् प्रसन्नादनन्तर प्रमाण सामर्थ्यात् तत्वज्ञानमुत्पद्यते-इत्येव तत्वज्ञानार्थ इति" न्या० भा० = प्रमाणद्वारा प्रमा की उत्पत्ति

में होनेवाले शंकारूप प्रतिबन्धक का निवर्त्तक होने से तर्क प्रमाणों का सहकारी है, अतएव तत्वज्ञान का उपयोगी समझकर सूत्रकार ने "तत्त्वज्ञानार्थं" पद तर्क का विशेषण दिया है, साक्षात् तत्त्वज्ञान कारण होने के अभिप्राय से नहीं।

"जयन्तभट्ट" ने इस सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि "तत्वपदोपादानेन धर्म्मिणः सामान्यधर्म्ममात्र-विशिष्टस्य विज्ञातत्वं सूचयति, कारणोपपत्तित इति, संशयज्ञानोल्लिख्यमानपक्षद्वयान्यतरपक्षोत्थापनानुकूल-कारणावलोकनं तत्वस्योत्थापकमाह, अतएव अविज्ञात-तत्वेऽर्थे भवन्तावपि बुभुत्साविमर्शौ तर्कतां न प्राप्नुतः तत्त्वज्ञानार्थमिति साक्षात्प्रमाणतामस्य निरस्यति तेनायंसूत्रार्थः" न्या० मं० = "तत्त्व" पद से तर्क में धर्म्मविशिष्ट धर्म्मी का सामान्य ज्ञान, और "कारणोपपत्ति" पद से संशय विषयक दोनों पक्षों में से एक पक्ष विषयक कारण की संभावना = कल्पना को सूचित किया है अर्थात् जिज्ञासा में अतिव्याप्ति निवृत्ति के लिये "तत्व" तथा संशय में अतिव्याप्ति निवृत्ति के लिये "कारणोपपत्ति" पद का निवेश जानना चाहिये, क्योंकि जिज्ञासा में धर्म्मी का सामान्यज्ञान तथा संशयज्ञान में एक पक्ष विषयक कारण की उत्पत्ति नहीं होती, और तर्क प्रमाण नहीं किन्तु प्रमाणों का सहकारी है, इस बात को सूचन करने के लिये "तत्त्व-ज्ञानार्थ" पद का निवेश है, इस प्रकार तर्क का यह लक्षण निष्पन्न

हुआ कि "अविज्ञाततत्त्वे सामान्यतो ज्ञाते धर्म्मिण्येकपक्षानुकूलकारणदर्शनात् तस्मिन्संभावनाप्रत्ययोभवितव्यतावभासः, तदितरपक्षशैथिल्यापादने तद्ग्राहकप्रमाणमनुगृह्य तत्सुखं प्रवर्त्तयंस्तत्वज्ञानार्थमूहस्तर्क इति" न्या० मं० = सामान्यरूप से ज्ञात धर्म्मी में एक पक्ष की निर्बलता पूर्वक दूसरे पक्ष में कारण के पाये जाने से तत्त्वज्ञान के उत्पादक प्रमाणों का सहकारी जो "यह ऐसा ही होना चाहिये" इस प्रकार का सम्भावना ज्ञान उसको "तर्क" कहते हैं, जैसाकि "वाहकेलिप्रदेशादावूर्ध्वत्व विशिष्ट धर्म्मिदर्शनात्पुरुषेणानेन भवितव्यमिति प्रत्ययः" न्या०मं० = अश्वक्रीड़ा = घुड़दौड़ आदि स्थानों में ऊर्ध्वत्वविशिष्टधर्म्मी = चेष्टा करते हुए ऊंचे पदार्थविशेष को दूर से देखकर यह ज्ञान होता है कि यह पुरुष होगा।

यहां प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उक्त ज्ञान में धर्म्मी के विशेषरूप का साक्षात्कार है वा नहीं ? यदि प्रथम पक्ष मानो तो वह ज्ञान "निर्णय" और दूसरा पक्ष मानो तो "संशय" रूप होना चाहिये, क्योंकि धर्म्मी का विशेष ज्ञान निर्णय में और सामान्य ज्ञान तथा विशेष रूप से अज्ञान संशय में कारण होता है, इस प्रकार संशय तथा निर्णय के अन्तरालवर्त्ती = मध्य में होने वाला "तर्क" कोई पदार्थ नहीं ? इसका उत्तर न्या०मं० में यह दिया है कि :-

साम्येन हि समुल्लेखः संशये पक्षयोर्द्वयोः-

निर्णयेत्वितरः पक्षः स्पृश्यते न मनागपि-
तर्कस्त्वेकतरं पक्षं विभात्युत्थापयन्निव ॥

अर्थ-संशय में दोनों पक्षों की समान प्रतीति, निर्णय में एकपक्ष का सिद्धान्त, तर्क में एकपक्ष विषयक कारण की उपपत्तिद्वारा सम्भावना मात्र होती है, इस प्रकार तीनों की प्रतीति में भेद स्पष्ट है। जैसाकि :-

"स्थाणुर्वा पुरुषो वेति प्रतीतिरेका, पुरुष एवाय-मित्यन्या, पुरुषेणानेन भवितव्यमिति मध्यवर्त्तिनी तृतीया सम्भावना प्रतीतिः स्वहृदय साक्षिकैव, अतो न स्वमतिपरिकल्पित विकल्पवितानेन प्रत्यात्म वेदनीयाः प्रतीतयो वरीतुं शक्याः"।

अर्थ-यह स्थाणु है किंवा पुरुष है, यह प्रतीति उभयपक्षा-वगाहिनी = दोनों में समान रूप से होने वाली "संशय" = यह पुरुष ही है, इस प्रकार "एव" शब्दार्थ को विषय करती हुई एकपक्ष में सिद्धान्त को बोधन करने वाली प्रतीति "निर्णय" और "यह पुरुष होगा" यह सम्भावनारूप प्रतीति "एव" शब्दार्थ रहित केवल कारण की उपपत्ति द्वारा एक पक्ष को बोधन करती हुई संशय तथा निर्णय के मध्य में होने वाली "तर्क" है, इस रीति से उक्त प्रतीतियों के स्वरूप में परस्पर भेद

के स्पष्ट पाये जाने से संशयनिर्णय का मध्यवर्त्ती तर्क उन दोनों से पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ है।

स्मरण रहे कि स्मृतिकार अनुमान को "तर्क" कथन करते हैं जैसाकि "यस्तर्केणानुसन्धत्ते" इत्यादि मनुवाक्य से स्पष्ट है, उक्त तर्क में अतिव्याप्ति निवृत्ति के लिये "ऊह" पद तर्क का विशेषण जानना चाहिये, तर्क के विषय में "जयन्तभट्ट" ने और भी सूक्ष्म विचार प्रकाशित किया है परन्तु यहां अनुपयोगी होने के कारण नहीं लिखा।

उक्त तर्क विषयपरिशोधक तथा व्याप्तिग्राहक भेद से दो प्रकार का है, विषयशुद्धहेतु तर्क का नाम "विषयपरिशोधक" तथा व्याप्तिज्ञान के सहकारी तर्क का नाम "व्याप्तिग्राहक" है, जैसाकि "यद्ययं निर्वन्हिः स्यात्तदा निर्धूमोऽपि स्यात्" = यदि पर्वत वन्ह्यभाव वाला हो तो धूमाभाव वाला होना चाहिये, इत्यादि तर्क पक्षरूप विषय का परिशोधक होने से "विषयपरिशोधक" है, और "धूमो यदि वन्हि व्यभिचारी स्यात् तर्हि वन्हिजन्यो न स्यात्" = यदि धूम वन्हि का व्यभिचारी = वन्हि के विना होनेवाला होता तो वन्हि से जन्य न होना चाहिये, क्योंकि जो जिसके विना होता है वह उससे जन्य नहीं होता, जैसाकि धूम के विना अयोगोलक में पाये जाने से वन्हि धूमजन्य नहीं, परन्तु धूम ऐसा नहीं, क्योंकि वह वन्हि के विना कदापि नहीं होसक्ता, इस प्रकार वन्हिविषयक व्यभिचार शंका की निवृत्ति

द्वारा "जहां धूम है वहां वन्हि है" इस व्याप्ति ज्ञान का निश्चायक तर्क "व्याप्तिग्राहक" कहलाता है।

कई एक लोग "तर्क"को व्याघात,आत्माश्रय,अन्योऽन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, प्रतिबन्दी, कल्पनालाघव और कल्पनागौरव भेद से आठ प्रकार का कथन करते हैं जैसाकि:-

"विरुद्धसमुच्चयो व्याघातः" = एक अधिकरण में परस्परविरोधी धर्म्मों के समुच्चय का नाम "व्याघात" है, जैसाकि "विवादाध्यासितं जगत् प्रयत्नजन्यं कार्य्यत्वात् घटवत्" = जो कार्य्य है वह चेतन के प्रयत्न से होता है यह नियम है, इस नियम के अनुसार जैसे कार्य्य होने से घट कुलाल के प्रयत्न से जन्य है इसी प्रकार कार्य्य जगत् भी प्रयत्न जन्य होना चाहिये, परन्तु अल्पशक्ति होने के कारण वह जीव प्रयत्न से जन्य नहीं और अचेतन प्रकृति में विना चेतन के क्रिया नहीं होसक्ती, इसलिये परिशेष से वह जिसके प्रयत्न से जन्य है वही "ईश्वर" है, इस ईश्वरानुमान में यदि नास्तिक आशंका करे कि "कार्य्यत्वं हेतुरस्तु प्रयत्नजन्यत्वं मास्तु तत्र किं बाधकमिति" = अगर पक्ष में कार्य्यत्व हेतु के होने पर भी "प्रयत्नजन्यत्व" साध्य न हो इसमें क्या हानि ? इस आशंका की निवृत्ति के लिये वैदिक लोग "व्याघात" तर्क का प्रयोग करते हैं, जैसाकि जिस प्रकार घट तथा घट का प्रागभाव यह दोनों

परस्पर विरोधी धर्म्म एक अधिकरण में नहीं पाये जाते अर्थात् घटप्रागभाव काल में घट तथा घटकाल में घटप्रागभाव के न होने से उन दोनों का कालिक किंवा दैशिक सामानाधिकरण्य = एकअधिकरणवृत्ति होना नहीं होता, इस रीति से सहानवस्थान रूप विरोध वाले पदार्थों का एक अधिकरण में कथन करना व्याघात दोष युक्त है, इसी प्रकार कार्य्यत्व तथा प्रयत्नजन्यत्वाभाव = प्रयत्न से जन्य न होना, इन दोनों धर्म्मों का सहानवस्थान विरोध होने के कारण सामानाधिकरण्य नहीं होता, इसलिये उक्त व्याघात तर्क के पाये जाने से नास्तिक का आक्षेप सर्वथा भ्रान्ति मूलक है।

कइ एक लोग दुराग्रहवश से यह आशंका करते हैं कि घट तथा घटप्रागभाव इन दोनों का सामानाधिकरण्य न होने पर भी कार्य्यत्व तथा प्रयत्नजन्यत्वाभाव के एकाधिकरणवृत्ति होने में कोई बाधा नहीं ? इसका समाधान यह है कि कार्य्यत्व तथा प्रयत्नजन्यत्वाभाव का घट और घटप्रागभाव का परस्पर विशेष = भेद है वा नहीं अर्थात् जैसे घट, घटप्रागभाव यह दोनों परस्पर विरोधी हैं वैसे ही कार्य्यत्व, प्रयत्नजन्यत्वाभाव भी परस्पर विरोधी हैं वा नहीं ? यदि प्रथमपक्ष मानाजाय तो घट घटप्रागभाव की भांति कार्य्यत्व, प्रयत्नजन्यत्वाभाव यह दोनों एकाधिकरण-वृत्ति नहीं होसक्ते, दूसरे पक्ष में यह विकल्प होता है कि जिस विशेषद्वारा कार्य्यत्व, प्रयत्नजन्यत्वाभाव का परस्पर विरोध होने पर भी एकजगत्‌रूप अधिकरण में स्थिति मानते हो तो उस विशेष में

क्या प्रमाण ? अर्थात् अपनी सिद्धि में वह विशेष स्वयं प्रमाण है अथवा उसकी सिद्धि के लिये उससे भिन्न दूसरा विशेष प्रमाण है ? प्रथम पक्ष आत्माश्रय दोष से दूषित होने के कारण ठीक नहीं, क्योंकि "अव्यवधानेन स्वापेक्षणमात्माश्रयः" = अन्य की सहायता के विना अपनी सिद्धि के लिये अपनी अपेक्षा का नाम "आत्माश्रय" है, जैसाकि उक्त विशेष का स्वसिद्धि में अपनी अपेक्षा करना ही आत्माश्रय कहलाता है, यदि यह कहा जाय कि प्रथम विशेष की सिद्धि में दूसरा विशेष प्रमाण है तो प्रश्न यह होता है कि दूसरे विशेष में कौन प्रमाण है, क्योंकि दूसरा विशेष भी प्रथम विशेष की भांति आत्माश्रय दोष के पाये जाने से स्वसिद्धि में स्वयं प्रमाण नहीं होसक्ता, और दूसरे विशेष की सिद्धि में प्रथम तथा प्रथम की सिद्धि में दूसरे को प्रमाण मानने से अन्योऽन्याश्रय दोष की आपत्ति होगी ।

"द्वयोरितरेतरापेक्षणमन्योन्याश्रयः" = दोनों की परस्पर अपेक्षा का नाम "अन्योन्याश्रय" है, जैसाकि ऊपर के दृष्टान्त में स्पष्ट है, अन्योन्याश्रय तथा इतरेतराश्रय यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, यही रीति आत्माश्रयादि दोषों की द्वितीय, तृतीय आदि विशेष के प्रमाण होने में जाननी चाहिये, परन्तु दूसरे विशेष की सिद्धि में तीसरे तथा तीसरे की सिद्धि में पहिले विशेष को प्रमाण कथन करें तो "चक्रक" दोष होता है ।

"पूर्वस्यपूर्वापेक्षितमध्यमापेक्षितोत्तरापेक्षितत्वं चक्रकम्"=प्रथम को दूसरे की, दूसरे को तीसरे तथा तीसरे को प्रथम की अपेक्षा का नाम "चक्रक" है, जैसाकि उक्त दृष्टान्त में प्रथम विशेष को स्वसिद्धि में दूसरे विशेष की तथा द्वितीय विशेष को तृतीय और तृतीय को प्रथम विशेष की अपेक्षा "चक्रक" कहाता है।

"पूर्वस्योत्तरोत्तरापेक्षितत्वमनवस्था"=प्रथम २ को उत्तरोत्तर की अपेक्षा का नाम "अनवस्था" है, जैसाकि तीसरे विशेष को चतुर्थ की और चतुर्थ को पञ्चम आदि की उत्तरोत्तरापेक्षा "अनवस्था" है अर्थात् स्थिति के अभाव को "अनवस्था" कहते हैं, यदि वादी पञ्चम कोटि में अनवस्था न मानकर विशेष को स्वतःप्रमाण माने तो उसका उत्तर "प्रतिवन्दी" तर्क द्वारा देना चाहिये।

"नोद्यपरिहारसाम्यं प्रतिवन्दी"=वादी प्रतिवादी दोनों के सिद्धान्त में प्रश्नोत्तर की समानता का नाम "प्रतिवन्दी" है, जैसाकि पञ्चम कोटि में आनकर विशेष को स्वतःप्रमाण मानने वाले प्रतिवादी के प्रति प्रथम विशेष को स्वतः प्रमाण कथन करना "प्रतिवन्दी" है अर्थात् जिस प्रकार प्रतिवादी के मत में पञ्चम विशेष को स्वतः सिद्ध मानने से द्वितीयादि विशेष

निष्फल होजाते हैं, इसीप्रकार वादी के सिद्धान्त में भी प्रथम विशेष को स्वतः प्रमाण मानने से शेष = द्वितीयादि विशेष निष्फल होजाते हैं क्योंकि पञ्चम को स्वतःप्रमाण मानाजाय और प्रथम को स्वतःप्रमाण न मानें तो इसमें विनिगमनाविरह = एक पक्षनिष्ठ साधक बाधक युक्ति का अभाव समान है, इस प्रकार दोनों पक्षों में प्रश्नोत्तर की समानता से होने वाला तर्क "प्रतिवन्दी" कहलाता है।

"समर्थाल्पकल्पना कल्पनालाघवम्" = कार्य्य के साधक समर्थ एक वस्तु की कल्पना का नाम "कल्पनालाघव" है,जैसाकि "स्थूलकार्य्य के कर्त्ता अनेक होते हैं" इस नियम के अनुसार घटादि स्थूलकार्य्यों के कुलाल आदि कर्त्ताओं की भांति जगत् कर्त्ता ईश्वर भी नाना होने चाहियें? इस आशंका की निवृत्ति के लिये सर्वशक्तिमान् एक ईश्वर से जगत् उत्पत्ति का कथन करना "कल्पनालाघव" कहाता है अर्थात् एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर से जगत् उत्पत्ति के सिद्ध होने पर नाना जगत्कर्त्ताओं का मानना गौरव दोषयुक्त होने से निष्फल तथा एक का मानना सफल है, इस प्रकार एक ईश्वरवाद ही "कल्पनालाघव" है।

"समर्थानल्पकल्पना कल्पनागौरवम्" = एक समर्थ से कार्य्य के सिद्ध होने पर भी तत्कार्य्य के लिये नाना कर्त्ता आदि की कल्पना का नाम "कल्पनागौरव" है, यही रीति सर्वत्र तर्क के लापन करने में जाननी चाहिये।

वृत्तिकार "विश्वनाथ" ने आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था तथा तदन्यवाधितार्थप्रसङ्ग भेद से पांच प्रकार का तर्क कथन किया है और प्रत्येक आत्माश्रयादि उत्पत्ति, स्थिति तथा ज्ञप्ति भेद से तीन २ प्रकार के होते हैं, जैसाकि " यद्ययं घट एतद्घटजन्यः स्यात् एतद्घटानधिकरणक्षणोत्तरवर्त्ती न स्यात् "=यदि यह घट स्वजन्य होता तो स्वानधिकरण क्षण के उत्तर क्षण में विद्यमान न होता अर्थात् जो क्षण घट का आधार नहीं किन्तु घटोत्पत्ति क्षण से पूर्वक्षण है उसका नाम "स्वानधिकरणक्षण " है, और कारण अपने कार्य्य के अव्यवहितपूर्वक्षण में तथा कार्य्य अपने कारण के उत्तरक्षण में विद्यमान होता है यह नियम है,इस नियम के अनुसार जैसे पटादिकार्य्य अपने तन्तु आदि कारणों के अधिकरणक्षण से उत्तर क्षण में होते हैं किन्तु कारणानधिकरणक्षण के उत्तरक्षण में नहीं होते, इसी प्रकार यह घट भी स्वानधिकरणक्षण के उत्तरक्षण में विद्यमान न होता प्रत्युत अपने अधिकरणक्षण के उत्तरक्षण में पाया जाता परन्तु ऐसा नहीं, क्योंकि जो क्षण पूर्वक्षण घट अधिकरण नहीं उससे उत्तर=द्वितीयक्षण में घट होता है, इससे सिद्ध है कि घट स्वजन्य नहीं किन्तु अपने से भिन्न मृत्पिण्डरूप उपादान कारण से जन्य है, इस प्रकार घट को अपनी उत्पत्ति के लिये अपनी अपेक्षा ही "उत्पत्ति रूप आत्माश्रय" है,

अपनी स्वस्थिति = आधारविषयक अपेक्षा का नाम "स्थिति आत्माश्रय" है, जैसाकि "यद्ययं घट एतद्-घटवृत्तिः स्यात् एतद्घटव्याप्यो न स्यात्" = यदि यह घट अपने स्वरूप में ही वर्त्तमान् हो अर्थात् अपने ही आधार पर हो तो व्याप्य न होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं, क्योंकि घट स्वकारण कपालों के आश्रित होने से व्याप्य और कपाल उसके व्यापक हैं, इसलिये जो स्वरूप में आधाराधेयभाव के लिये घट को अपनी अपेक्षा है वही "स्थिति आत्माश्रय कहलाती है ॥

स्वज्ञानविषयक स्वापेक्षा का नाम "ज्ञप्ति आत्मा-श्रय" है, जैसाकि "यद्ययं घट एतद्घटज्ञानाभिन्नः स्यात् ज्ञानसामग्रीजन्यः स्यात् = यदि घट अपने ज्ञान का स्वरूप होता तो ज्ञान की सामग्री से जन्य होता अर्थात् आत्ममनः संयोग, आत्मसंयुक्तमन का इन्द्रिय के साथ संयोग तथा तादृशमनः संयुक्त इन्द्रिय का विषय के साथ संयोग इत्यादि ज्ञान की सामग्री है, कारणसमुदाय को "सामग्री" कहते हैं, जिस प्रकार घटादि विषयक ज्ञान उक्त सामग्री से जन्य है इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप होने से घट भी ज्ञानसामग्री जन्य होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं, इससे स्पष्ट है कि घट स्वज्ञान = घटविषयक ज्ञान से अभिन्न नहीं किन्तु भिन्न है, इस प्रकार स्वज्ञानविषयक अपनी अपेक्षा ही "ज्ञप्ति आत्माश्रय" है ॥

भाव यह है कि यदि घट ज्ञानस्वरूप होता तो उसका चक्षुः से कदापि प्रत्यक्ष न होता, क्योंकि ज्ञानादि आत्मा के विशेषगुणों का चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होसक्ता और घट का चाक्षुष किंवा स्पार्शनप्रत्यक्ष सर्वानुभवसिद्ध है, इसलिये घट स्वज्ञानस्वरूप नहीं किन्तु विषयरूप है, इस प्रकार का तर्क "ज्ञप्ति आत्माश्रय" कहाता है, यही रीति अन्योन्याश्रयादिकों के उत्पत्ति आदि स्वरूपों के ज्ञापन में जाननी चाहिये, ग्रन्थ-गौरवभय से अधिक विस्तार नहीं किया गया।

कार्य्यकारणभाव के विरोध से होनेवाले दोष का नाम "तदन्यवाधितार्थप्रसङ्ग" है, और इसी का नाम व्याप्तिग्राहक तर्क है जैसाकि पीछे निरूपण कर आये हैं॥

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि "प्रथमोपस्थितत्वोत्सर्ग विनिगमनाविरहलाघव गौरवादिकन्तु प्रसङ्गानात्मकत्वान्न तर्कः किन्तु प्रमाणसहकारित्व साधर्म्यात्तथा व्यवहारः"=प्रथमोपस्थितत्व=पहिले प्राप्त होना उत्सर्ग=विना यत्न के प्राप्ति, विनिगमनाविरह=किसी एक पक्ष में सिद्धान्त को अवलम्बन करने वाली युक्ति का अभाव, लाघव, गौरव, यह सब अनुमाननियत=अनुमान परिशोधक न होने के कारण वस्तुतः तर्क नहीं किन्तु व्याप्तिग्राहक आदि तर्क की भांति केवल प्रमाण सहकारी होने के अभिप्राय से उनमें तर्क

पद का व्यवहार किया जाता है और "वात्स्यायनमुनि" ने तर्क का यह उदाहरण कथन किया है कि जन्मरूपदुःख अनित्यकारण वा नित्यकारण से होता है किंवा स्वाभाविक है, इस जन्मरूप अज्ञात विषय में जो कारण की उत्पत्ति से कल्पना कीजाती है वही "तर्क" है, जैसाकि यदि जन्मदुःख अनित्यकारण से जन्य हो तो कारण के नाश होने से स्वतः ही उसकी अत्यन्तनिवृत्ति होजायगी पुनः तन्निवृत्ति के लिये ज्ञानादि साधनों का विधान निष्फल है, यदि यह कहाजाय कि जन्म का कारण नित्य है तो नित्य का नाश न होने से उसकी निवृत्ति न होगी, और जन्म कारण को स्वाभाविक मानने में सर्वदा जन्मरूप दुःख के बने रहने से दुःखात्यन्तानिवृत्ति पुरुषार्थ की सिद्धि कथन मात्र है, इस प्रकार तर्क के होने पर "जन्म का निमित्तकारण शुभाशुभ कर्म हैं" इस विषय में प्रतिबन्ध के विना ही अनुमानादि प्रमाण पाये जाते हैं जैसाकि आगे तृतीयाध्याय में निरूपण किया जायगा, इसरीति से तत्वज्ञानसम्बन्धी विषय का परिशोधक होने के कारण प्रमाण न होने पर भी तर्क तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में सहायक है और वाद में स्वपक्षस्थापन तथा परपक्ष का खण्डन करने के लिये प्रमाण सहित तर्क का प्रयोग करना चाहिये, इस अभिप्राय से उसका पृथक् उपदेश किया है, वस्तुतस्तु कल्पना रूप होने से तर्क बुद्धि प्रमेय के अन्तर्गत जानना चाहिये ।

सं०—अब तर्क का लक्षण कथन करते हैं:—

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥ ४१ ॥

पद०—विमृश्य । पक्षप्रतिपक्षाभ्याम् । अर्थावधारणम् । निर्णयः ॥

पदा०—(विमृश्य) संशय के अनन्तर जो (पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्) पक्ष तथा प्रतिपक्ष द्वारा (अर्थावधारणम्) पदार्थ का निश्चय होता है उसको (निर्णयः) निर्णय कहते हैं ॥

भाष्य—"स्थापना साधनं प्रतिषेध उपालम्भः, तौ साधनोपालम्भौ पक्षप्रतिपक्षाश्रयौ व्यतिषक्तावनुबन्धेन प्रवर्त्तमानौ पक्षप्रतिपक्षावित्युच्येते तयोरन्यतरस्य निवृत्तिरेकतरस्यावस्थानमवश्यम्भावि यस्यावस्थानं तस्याऽवधारणं निर्णयः" न्या० भा० = स्वपक्ष की स्थापना = समाधान का नाम "साधन" तथा परपक्ष के प्रतिषेध = खण्डन का नाम "उपालम्भ" है, साधन तथा उपालम्भ से सन्दिग्ध = संशयवाले पदार्थ के निश्चय का नाम "निर्णय" है, या यों कहो कि किसी एक पदार्थ में संशय उठाकर परपक्ष के निषेध तथा स्वपक्ष के स्थापन द्वारा जो पदार्थ का निश्चय

होता है उसका नाम "निर्णय" है, जैसाकि आत्मरूप पदार्थ में "आत्मा है किंवा नहीं है" इस संशय के अनन्तर युक्ति प्रमाण द्वारा नास्तिक पक्ष के खण्डनपूर्वक आत्मा के अस्तित्व का निश्चय "निर्णय" है, स्थापना, साधन, तथा समाधान यह तीनों और प्रतिषेध, उपालम्भ तथा खण्डन यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं।

भाव यह है कि पक्ष के आश्रित होने से साधन को "पक्ष" तथा प्रतिपक्ष के आश्रित होने से उपालम्भ को "प्रतिपक्ष" कहते हैं, और "एकस्मिन्धर्म्मिणि विरुद्धधर्म्म-द्वयासम्भवात्" = एक पदार्थ में प्रकाश अन्धकार की भांति परस्परविरोधी दो धर्म्म नहीं होते जैसाकि आत्मपदार्थ में अस्तित्व, नास्तित्व दोनों धर्म नहीं पाये जाते, इसलिये पक्ष प्रतिपक्ष इन दोनों में से एक की स्थिति तथा दूसरे की निवृत्ति अवश्य होती है, इसी अभिप्राय से न्या० वा० में वर्णन किया है कि पक्ष प्रतिपक्ष दोनों के विद्यमान रहने पर संशय की निवृत्ति नहीं होसक्ती किन्तु एक के स्थिर रहने पर दूसरे की निवृत्ति के अनन्तर संशय की निवृत्तिद्वारा स्थिर पक्ष का जो निश्चय होता है वही "निर्णय" कहाता है, इस प्रकार पक्ष प्रतिपक्ष दोनों निर्णय के कारण जानने चाहियें, परन्तु जहां एक पदार्थ में दोनों विरुद्धधर्म्म कारणद्वारा सिद्ध हों वहां काल भेद से व्यवस्था कीजाती है जैसाकि "वात्स्यायनमुनि" का कथन है कि

"एकधर्म्मिस्थयोश्च विरुद्धयोरयुगपद्भाविनोः काल-विकल्पः" न्या० भा० = एक धर्म्मी में परस्पर विरुद्ध धर्म्मों की स्थिति का नियामक काल होता है, जैसाकि "क्रियावद्द्रव्यम्" = द्रव्य क्रियावाला है, द्रव्य के इस लक्षण वचन से जिस द्रव्य के साथ क्रिया का सम्बन्ध कारणद्वारा सिद्ध हो वह क्रियावाला तथा जिसमें उक्त सम्बन्ध सिद्ध न हो वह अक्रिय कथन किया है और जहां एक ही लोष्ठादि द्रव्य में क्रिया, क्रियाभाव पायाजाय वहां काल भेद से उसी द्रव्य को क्रियाकाल में क्रियावाला और क्रियाभाव काल में अक्रिय जानना "निर्णय" कहाता है ॥

सार यह निकला कि वादी, प्रतिवादी दोनों में से जब एक अपने प्रतिज्ञात अर्थ को हेतु से स्थापन तथा दूसरे के प्रतिषेध का उद्धार करे तो दूसरा उसके स्थापन किये हुए अर्थ का प्रतिषेध तथा प्रतिषेध किये हुए का स्थापन करता है, इस प्रकार तृतीयकक्षा = तीसरी बार में दूषणोद्धारपूर्वक प्रतिषेध का प्रति-षेध करते हुए प्रथम पुरुष ने जिस पक्ष का स्थापन किया हो उस से होने वाला निश्चय ही "निर्णय" है, निश्चय और निर्णय यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि सर्वत्र निर्णय का अङ्ग संशय नहीं अर्थात् जिस पदार्थ का निर्णय हो प्रथम उसमें संशय किया जाय यह नियम नहीं किन्तु जहां तर्कद्वारा वस्तु की

परीक्षा कीजाती है वहां नियम से प्रथम संशय, संशय के अनन्तर तर्क और तर्कोत्तरकाल में निर्णय होता है, इसलिये शास्त्र तथा वाद सम्बन्धी निर्णय के लिये संशय की अपेक्षा नहीं ॥

तात्पर्य्य यह है कि प्रत्यक्ष तथा शब्दप्रमाण द्वारा पदार्थ का निश्चय करना हो तो संशय की अपेक्षा नहीं होती किन्तु अनुमानद्वारा पदार्थ के निश्चय में संशय की आवश्यकता है, क्योंकि "अनुमानश्च सन्दिग्धे विषये प्रवर्त्तत इति प्रायेण तद्व्यवहारः" = प्रायः अनुमान की प्रवृत्ति सन्दिग्ध = संशय वाले विषय में होती है अर्थात् " नहिज्योतिष्टोमादीनां स्वर्गादिनिर्णये आगमेन कर्त्तव्ये विमर्शोऽस्ति नापि वादजल्पवितण्डासु विमर्शोऽस्ति निश्चितयोरेव वादि प्रतिवादिनोस्तत्र प्रवृत्तेः " = शब्दप्रमाणद्वारा ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों के फलरूप स्वर्गादि = सुखविशेष सम्बन्धी निर्णय का अङ्ग संशय नहीं होसक्ता, क्योंकि शब्दप्रमाण में पुरुष की प्रवृत्ति निश्चित पाई जाती है और वादादिकथा की प्रवृत्ति का अङ्ग इसलिये नहीं कि दोनों वादी प्रतिवादी अपने २ सिद्धान्त में निश्चित होकर ही वाद, जल्प तथा वितण्डा में प्रवृत्त होते हैं अर्थात् संशयित पुरुष का वादादि कथा में अधिकार नहीं किन्तु वह जिज्ञासु हुआ गुरु की शरण में आकर तर्कसहित प्रमाणद्वारा वस्तु की परीक्षा = विवेक करसक्ता है अन्यथा नहीं ।

ननु—"कथं तर्ह्येष प्रवादः संशयच्छेदो वादस्य फलमिति"=संशय की निवृत्ति वाद का फल है, इस कथन से वादद्वारा होनेवाला निर्णय भी संशयपूर्वक होना चाहिये ?

उत्तर—"प्रथयमुभयोरपिनिश्चितयोर्वादप्रवृत्तावन्तराले बलादापतति युक्तिद्वयोपनिपातवतः संशय इति वस्तु निर्णयावसानत्वाद्वादस्य संशयच्छेदफलत्वमाचक्षते" न्या० मं०=अपने २ पक्ष में निश्चयवाले वादी प्रतिवादीद्वारा वादकथा के प्रवृत्त होने पर अनेक प्रकार की साधक बाधक युक्तियों से किसी एक को संशय की सम्भावना होसक्ती है, इस प्रकार निर्णय पर्य्यन्त वादकथा की प्रवृत्ति के पाये जाने से उसका फल संशय की निवृत्ति कथन कीगई है वस्तुतः संशय वादजन्य निर्णय का अङ्ग नहीं, इसी अभिप्राय से "जयन्तभट्ट" का कथन है कि :-

"यद्यप्यनिश्चितमतिः कुरुते न वादम् ।
श्रुत्वा तथापि परकीयनयप्रवेशम् ॥
अन्तर्मतद्वयबलाबलचिन्तनेन ।
संशय्य निर्णयति ननमसौ स्वपक्षम् ॥

यद्यपि सन्दिग्ध पुरुष को वादकथा का अधिकार न होने

से स्वपक्ष के निश्चय वाला ही वाद में प्रवृत्त होता है तथापि दूसरे पक्ष की युक्तियों को श्रवण करता हुआ दोनों मतों के बलाबलविचार द्वारा संशयग्रस्त होकर स्वपक्ष को स्थापन करता है, इसलिये संशयनिवृत्ति वाद का फल जानना चाहिये ॥

इति न्यायार्य्यभाष्ये प्रथमाध्याये
प्रथमान्हिकम्
समाप्तम्

ओ३म्

। अथ द्वितीयाह्निकः प्रारभ्यते ।

सं०–प्रथमाह्निक में निर्णयपर्य्यन्त प्रमाणादि पदार्थों का उद्देश, विभाग तथा लक्षण निरूपण किया, अब वादादि शेष पदार्थों के लक्षण निरूपण करने के लिये द्वितीयाह्निक का आरम्भ करते हुए प्रथम "वाद" का लक्षण कथन करते हैं:–

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भःसिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्ष परिग्रहो वादः॥ १ ॥

पद०–प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः । सिद्धान्ताविरुद्धः । पञ्चावयवोपपन्नः । पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः । वादः ।

पदा०–(सिद्धान्ताविरुद्धः) जिसमें सिद्धान्त के अविरोधी (प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः) प्रमाण तथा तर्कद्वारा साधन और उपालम्भ हों उस (पञ्चावयवोपपन्नः) पांच अवयवों के सहित (पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः) पक्षप्रतिपक्ष की सिद्धि को बोधन करने वाले वाक्यसमूह को (वादः) वाद कहते हैं ॥

भाष्य-"एकाधिकरणौ विरुद्धौ धर्म्मौ पक्ष प्रतिपक्षौ" = एक विषय में परस्पर विरोधी धर्म्मों के प्रतिपादक वाक्य का नाम "पक्षप्रतिपक्ष" है अर्थात् स्वमत को "पक्ष" तथा परमत को "प्रतिपक्ष" कहते हैं, जिससे सिद्धान्त के अविरोधी प्रमाण और तर्क द्वारा साधन वा उपालम्भ हो उस प्रतिज्ञादि पांच अवयवों वाले पक्ष, प्रतिपक्ष की सिद्धि के बोधक वाक्य-समुदाय का नाम "वाद" है, या यों कहो कि जिसमें प्रमाण तथा तर्क से अपने मत की सिद्धि और दूसरे मत का खण्डन कियाजाय ऐसे सिद्धान्त के अविरोधी प्रतिज्ञा आदि पांच अवयव वाले प्रश्नोत्तररूप नियमविशेष को "वाद" कहते हैं ॥

भाव यह है कि "तत्वनिर्णयविजयान्यतरस्वरूप-योग्यो न्यायानुगतवचनसन्दर्भः कथा" = पदार्थनिश्चायक किंवा विजयहेतु = परपक्ष के खण्डन करने वाले न्यायवाक्य के समुदाय का नाम "कथा" है, या यों कहो कि "नानाप्रवक्तृक-पूर्वोत्तरपक्षप्रतिपक्ष प्रतिवादक वाक्यसन्दर्भः कथा" = वादी, प्रतिवादी के प्रश्नोत्तर प्रतिपादक वाक्यसमूह का नाम "कथा" है, और "तिस्रः कथा भवन्ति वादो जल्पो वितण्डा चेति" न्या० भा० = वाद, जल्प तथा वितण्डा भेद से कथा तीन प्रकार की है, जल्पकथा में प्रमाणतर्कद्वारा साधन = स्वमत

की सिद्धि तथा उपालम्भ = परमत का प्रतिषेध होने के कारण वाद लक्षण की अतिव्याप्ति निवृत्ति के लिये "प्रमाणतर्क" पद का अर्थ "यथार्थप्रमाण" और "यथार्थतर्क" करना चाहिये अर्थात् "प्रमाणतर्काभ्यां तद्रूपेण ज्ञाताभ्यां साधनोपालम्भौ यत्र" = प्रमाणत्व और तर्कत्व रूप से जाने हुए प्रमाण तर्कद्वारा जिसमें साधन तथा उपालम्भ पायाजाय वही "वाद" है, इस प्रकार वाद के लक्षण का निष्कर्ष यह हुआ कि जिसमें प्रमाणाभास तथा तर्काभासद्वारा अपने मत की सिद्धि और दूसरे मत का खण्डन न हो किन्तु यथार्थप्रमाण तथा यथार्थतर्क से स्वमत स्थापन और परमत प्रतिषेध कियाजाय वही सिद्धान्त के अविरोधी प्रतिज्ञादि अवयवसहित प्रश्नोत्तररूप वाक्यसमुदाय अथवा प्रश्नोत्तररूप नियमविशेष "वाद" कहाता है, इस रीति से जल्प तथा वितण्डा में प्रमाणाभास और तर्काभासद्वारा साधन किंवा उपालम्भ के होने से वाद लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होसक्ती, और वादकथा में कई एक निग्रहस्थानों का नियम करने के लिये "सिद्धान्तविरुद्ध" तथा "पञ्चावयवोपपन्न" पद का निवेश किया है अर्थात् वाद में दूसरे पक्ष का निषेध करता हुआ वादी "न्यून" "अधिक" तथा "विरुद्ध" हेत्वाभासरूप निग्रहस्थान का प्रयोग करे, इस नियम को बोधन करने के लिये उक्त दो पद विशेषणरूप से कथन किये हैं, न्यूनादि का लक्षण आगे पञ्चमाध्याय में सूत्रकार स्वयं स्फुट करेंगे, इसलिये यहां नहीं दर्शाया गया।

कई एक लोगों का कथन है कि **विरुद्ध एव हेत्वाभासो वादे चोद्यते नानैकान्तिकादिरिति"** न्या० मं० = वाद में परपक्ष प्रतिषेध के लिये "विरुद्ध" हेत्वाभास का ही प्रयोग करना चाहिये अनैकान्तिक = सव्यभिचार आदि हेत्वाभासों का नहीं, यह इसलिये ठीक नहीं कि सूत्रस्थ प्रमाण पद से पांच अवयवों के ग्रहण होने पर भी "पञ्चावयवोपपन्न" पद से पृथक् पांच अवयवों के ग्रहण का विधान करना वाद में हेत्वाभासमात्र के प्रयोगार्थ है, और यही आशय "वात्स्यायनमुनि" का है जैसाकि प्रथमसूत्र के भाष्य में वर्णन किया है कि **"निग्रहस्थानेभ्यः पृथगुपदिष्टा हेत्वाभासा वादे चोदनीया भविष्यन्ति"** न्या० भा० = निग्रहस्थान होने पर भी हेत्वाभासों के पृथक् उपदेश का प्रयोजन वादकथा में हेत्वाभासमात्र का उद्भावन करना है।

"गौरीकान्तसार्वभौमभट्टाचार्य्य का कथन है कि **"न्यूनाधिकापसिद्धान्ताहेत्वाभासपञ्चकंचेत्यष्टौ निग्रहाः"** = न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त और अनैकान्तिकादि पांच हेत्वाभास यह आठ निग्रहस्थान वाद में प्रयुक्त किये जाते हैं, और कई एक लोगों का यह भी कथन है कि "सिद्धान्ताविरुद्ध" पद से "अपसिद्धान्त" "निग्रहस्थान" और "पञ्चावयवोप-

पन्न" पद से न्यून, अधिक तथा अवयवाभासरूप दृष्टान्तासिद्धि, "प्रमाण" पद से प्रमाणाभासरूप हेत्वाभासमात्र और तर्काभास को सूचित करने से केवल पांच हेत्वाभास न्यून, अधिक तथा अपसिद्धान्त इन चार ही निग्रहस्थानों का वाद में नियम है ॥

"जयन्तभट्ट" का कथन है कि "नहि त्रीणि वा अष्टौ वा निग्रहस्थानानि वादे चोदनीयानीति चोदना वैदिकी राजशासनं वा वस्तुपरिशुद्धिसाधनं सर्वमेव तत्र प्रयोगार्हमिति, अयन्तु विशेषः जल्पे कस्याञ्चिदवस्थायां बुद्धिपूर्वकमपि छलादिप्रयोगः क्रियते वादे तु वृथा तेषां प्रयोगः भ्रान्त्या तु कथञ्चित्प्रयुक्तानामवश्यमुद्भावनमनुद्भावने वस्तु परिशुद्धेरभावात्" न्या० मं० = तीन, आठ, पांच अथवा चार ही निग्रहस्थानों का वादकथा में प्रयोग किया जाय, यह वेद वा राजा का शासन नहीं किन्तु वस्तुपरिशुद्धि = पदार्थ के तत्त्व को उपलब्ध करने के लिये जिस साधन की अपेक्षा हो उसी का प्रयोग करना आवश्यक है, इसलिये प्रत्येक निग्रहस्थान का उद्भावन करना वाद में दूषण नहीं प्रत्युत यथार्थज्ञान का सहकारी होने से भूषण है, इसमें विशेषता यह है कि जल्पकथा में कभी २ छलादि का प्रयोग बुद्धिपूर्वक भी किया जाता है वाद में नहीं, यदि यह आशंका कीजाय कि "सिद्धान्तविरुद्ध" तथा "पञ्चावयवोपपन्न" इन दो पदों के निवेश की पुनः क्या

आवश्यकता ? इसका उत्तर यह है कि—"अपसिद्धान्तादिसम्यक्दूषणादिकप्रदर्शनेनैवंप्रकारवस्तुशुद्ध्यनुगुणनिग्रहस्थानजाताद्यनुज्ञानार्थमेव" न्या० मं = जिस प्रकार अपसिद्धान्तादि निग्रहस्थानों के उद्भावन करने से वादकथा में परपक्ष के खण्डनपूर्वक स्वपक्ष की शुद्धिद्वारा वस्तु का यथार्थ निश्चय होता है, इसी प्रकार अन्य निग्रहस्थान भी यथार्थनिश्चय के सहकारी हैं, इसलिये उनके प्रयोग से वादकथा में कोई बाधा नहीं।

सार यह है कि उक्त दो विशेषणों के निवेश से वाद में अपसिद्धान्तादि निग्रहस्थानद्वारा परपक्ष के दूषण का दिक्प्रदर्शन है चार अथवा आठ निग्रहस्थानों का नियम नहीं।

स्मरण रहे कि "अप्रतिभाविक्षेपादयो हि न वादे पराजयहेतवः क्षणान्तरेणाप्यागत्यानुस्मृत्य च साधनमुपालम्भं वा तत्र वदन्न पराजीयते" न्या०मं० = वाद में अप्रतिभा तथा विक्षेप आदि निग्रहस्थान पराजय के हेतु नहीं होते, क्योंकि उक्त कथा में दो चार क्षण के अनन्तर भी वादी प्रतिवादी को साधन किंवा उपालम्भ देने का अधिकार है, अप्रतिभादि का लक्षण पञ्चमाध्याय में कथन करेंगे ॥

वृत्तिकार "विश्वनाथ" का कथन है कि वस्तुतः राग आदि दोषों की निवृत्ति के अनन्तर ही तत्वज्ञान की इच्छा से पुरुष वादकथा

का अधिकारी होता है, इसलिये अविज्ञात आदि की भांति न्यून, अधिक निग्रहस्थान की आवश्यकता नहीं जैसाकि "अन्तरेणाप्यवयव सम्बन्धं प्रमाणान्यर्थं साधयन्तीति तेनापि कल्पेन साधनोपालम्भौ जल्पे भवतः" न्या० भा० में वर्णन किया है कि पञ्चावयववाक्य का प्रयोग न होने पर भी प्रमाणों-द्वारा विषयसिद्धि के होने से उक्त न्यायवाक्य के विना भी वाद कथा में साधन तथा उपालम्भ के देने में कोई बाधा नहीं, दूसरी बात यह है कि दूसरे हेतु से पदार्थ की सिद्धि न होने पर ही हेत्वाभास के प्रयोग द्वारा कथा की समाप्ति होती है अन्यथा नहीं, यदि ऐसा न होता तो प्रथम हेतु को दुष्ट मानकर कथा की समाप्ति न होती प्रत्युत दूसरे हेतु से कथा की प्रवृत्ति अनवरत बनी रहती परन्तु ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि "पञ्चावयवोपपन्न" पद का निवेश "प्रायः वादकथा में न्यायवाक्य का प्रयोग होता है" इस अभिप्राय से है पांच अवयवों के नियमार्थ नहीं।

सार यह निकला कि– "वादःपञ्चावयवोपपन्न इत्यकःकल्पः, प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ इति द्वितीयः कल्पः" न्या० वा० ता० = किसी वाद में पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग होता है और किसी में केवल प्रमाण तथा तर्क द्वारा यथाक्रम साधन तथा उपालम्भ किया जाता है।

"वात्स्यायनमुनि" का कथन है कि "अवयवेषु प्रमाण तर्कान्तर्भावे पृथक् प्रमाणतर्कग्रहणं साधनोपालम्भव्यतिषङ्गज्ञापनार्थम्" न्या० भा० = "पञ्चावयवोपपन्न" पद से अवयवान्तर्गत प्रमाण तथा तर्क के ग्रहण होने पर भी पृथक् "प्रमाण, तर्क" पद के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि "वाद" में प्रमाणद्वारा स्वपक्ष का साधन तथा तर्कद्वारा ही परपक्ष का प्रतिषेध होता है विपरीत नहीं, दूसरा प्रयोजन "प्रमाणतर्क" पद का यह है कि "वादगतो निग्रहो न जल्पे जल्पगतश्च निग्रहो न वाद इति मा विज्ञायि, इष्यते हि वादगतो निग्रहो जल्पे सोऽयमिष्टोऽर्थो ग्रन्थाधिक्यात्प्रमाणतर्कग्रहणाल्लभ्यते" न्या० वा० ता० = वादवृत्ति निग्रहस्थान का जल्प में तथा जल्पवृत्ति निग्रहस्थान का वाद में कथन करना अयुक्त नहीं ॥

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि "तत्वनिर्णयविजयान्यतराभिलाषिणः, सर्वजनप्रसिद्धानुभवानपलापिनः श्रवणादिपटवः, अकलहकारिणः, कथौपयिकव्यापारसमर्थाः कथामात्राधिकारिणः" = तत्वनिर्णय तथा विजय के अभिलाषी, सर्वानुभवसिद्ध ज्ञान को मानने वाले, कलह = लड़ाई झगड़ा न करने वाले और कथोपयोगी = अर्थ के कथन तथा श्रवण करने में चतुर सज्जन पुरुष कथामात्र के अधिकारी

होते हैं, और "वादकथाधिकारिणस्तु तत्त्वबुभुत्सवः, प्रकृतोक्तिकाः, अविप्रलम्भकाः यथाकालस्फूर्त्तिकाः अनाक्षेपकाः, युक्तिसिद्धप्रत्येतारः" = पदार्थ के यथार्थस्वरूप को जानने की इच्छावाले, परस्परसम्बद्ध भाषण करने वाले, कलह, छल से रहित, अवसर के अनुसार स्मरणशक्तियुक्त, युक्तिसिद्ध पदार्थों के निर्णेता पुरुष वादकथा के अधिकारी हैं।

कई एक लोगों का कथन है कि "अनुविधेयः, स्थेयान्, सभ्यपुरुषवती जनता च" = अनुविधेय = राजा, स्थेयान् = मध्यस्थ तथा पण्डितों की सभा के होने पर ही "वादकथा" होनी चाहियें वस्तुतः "साच वादे नावश्यकी वीतराग कथात्वात्" = राग आदि दोषों से रहित पुरुषों को "वाद" का अधिकारी होने के कारण उक्त सभा की आवश्यकता नहीं, इसी अभिप्राय से न्या० मं० में कथन किया है कि :-

"वादञ्चानिर्णयफलार्थिभिरेवशिष्य-
सब्रह्मचारिगुरुभिः सहवीतरागैः।
न ख्यातिलाभरभसप्रतिवर्धमान-
स्पर्धानुबन्धविधुरात्मभिरारभेत ॥

अर्थ–राग, द्वेष के वशीभूत होकर केवल अपना मान प्रतिष्ठा की कामना वाले स्वार्थी पुरुषों के साथ "वाद" नहीं

करना चाहिये, क्योंकि इनके साथ "वाद" करने से तत्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती प्रत्युत अनेक प्रकार के कलह आदि दोष उत्पन्न होने से जिज्ञासु की बुद्धि नष्ट भ्रष्ट होजाती है, इसलिये तत्वजिज्ञासु, ब्रह्मचारी, गुरु और वीतराग = रागद्वेष शून्य पुरुषों के साथ ही वाद करना समीचीन है ॥

सं०—अब जल्प का लक्षण कथन करते हैं:—

यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थान-साधनोपालम्भो जल्पः॥२॥

पद०—यथोक्तोपपन्नः। छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भः। जल्पः।

पदा०—(यथोक्तोपपन्नः) जिसमें प्रमाण तथा तर्क द्वारा साधन तथा उपालम्भ के होने पर भी (छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भः) छल, जाति तथा निग्रहस्थानों से स्वपक्ष की सिद्धि तथा परपक्ष का प्रतिषेध कियाजाय, उस प्रश्नोत्तररूप वाक्यसमुदाय को (जल्पः) जल्प कहते हैं

भाष्य—"यथोक्तेषु यदुपपन्नं तेनोपपन्नः इति मध्यमपदलोपीसमासः"=जो उक्तसूत्र में कथन किये हुए योग्य विशेषणों से युक्त हो उसको "यथोक्तोपपन्न" कहते हैं, एतदर्थक "मध्यमपदलोपीसमास" से जल्प का यह लक्षण हुआ

कि "प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भत्वे सति छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो जल्पः" = जिससे प्रमाण तर्क द्वारा यथाक्रम साधन तथा उपालम्भ करते हुए छल, जाति और निग्रहस्थान से स्वपक्षसिद्धि तथा परपक्ष का खंडन कियाजाय उस प्रश्नोत्तररूप वाक्यसमुदाय किंवा नियम विशेष का नाम "जल्प" है, छल आदि का लक्षण सूत्रकार आगे स्वयं कथन करेंगे ।

ननु—असदुत्तर होने के कारण छल आदि से स्वपक्ष की सिद्धि तथा परपक्ष का प्रतिषेध नहीं होसक्ता? उत्तर—"प्रमाणैः साधनोपालम्भयोः छल जातीनामङ्गभावो रक्षणार्थत्वात् नतु स्वतन्त्राणां साधनभावः यत् तत्प्रमाणैरर्थस्य साधनं तत्र छलजातिनिग्रहस्थानानामङ्गभावो रक्षणार्थत्वात् तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्षविघातेन स्वपक्षं रक्षयन्ति, यश्चासौ प्रमाणैःप्रतिपक्षस्योपालम्भः तस्यचैतानि प्रयुज्यमानानि प्रतिषेधविघातात्सहकारिणि भवन्ति तदेवमङ्गीभूतानां छलादीनामुपादानं जल्पे न स्वतन्त्राणां साधनभावः, उपालम्भे तु स्वातन्त्र्यमप्यस्तीति" न्या० भा० = प्रमाण द्वारा अर्थ की सिद्धि होने पर भी परपक्ष के खण्डनपूर्वक

छल आदि स्वपक्ष की सिद्धि में सहकारी कारण हैं अर्थात् जल्प-कथा में स्वपक्ष की सिद्धि के लिये छलादिक स्वतन्त्र कारण नहीं किन्तु प्रमाणसहकृत होने से कारण हैं और परपक्ष के प्रतिषेधार्थ छलादिकों के स्वतन्त्रकारण होने में कोई बाधा नहीं, इस विषय को सूत्रकार स्वयं चतुर्थाध्याय की समाप्ति में स्पष्ट करेंगे ॥

सार यह है कि जब सिद्धान्ती की जल्पकथा में स्वपक्ष की प्रबलता और परपक्ष की निर्बलता होने पर भी प्रतिवादी के कथन किये हुए साधन में तत्काल दूषणोद्भावन की स्मृति नहीं होती तब उसको छल, जाति आदि के प्रयोगद्वारा परपक्ष के प्रतिषेध से अपने सिद्धान्त की रक्षा करनी चाहिये ।

कई एक लोग यहां आशंका करते हैं कि जब सिद्धान्ती के छलादि प्रयोग को प्रतिवादी समझकर उनका परिहार करे तो सिद्धान्ती का पराजय होजाता है इसलिये सिद्धान्ती को छलादि का प्रयोग करना उचित नहीं ? इसका उत्तर यह है कि "सत्यं तथाप्येकान्तपराजयाद्वरं सन्देह इति तत्प्रयोगेण युक्तमेव स्फुटाटोपकरणम्" न्या० मं० = यद्यपि उक्त कथन समीचीन है तथापि प्रतिवाद्युक्त साधन में दूषण के स्फुरण न होने से होने वाली स्वपक्ष हानि की अपेक्षा प्रतिवादी के पक्ष के प्रतिषेधार्थ छल आदि का प्रयोग ही ठीक है क्योंकि उसमें अपने पराजय का सन्देह पाया जाता है अर्थात् वादी के कथन किये हुए छलादि का प्रतिवादी उद्धार न करसकें तो निःसन्देह

वादी का जय और प्रतिवादी का पराजय होजाता है, वस्तुतस्तु यथासंम्भव छल, जाति का प्रयोग न करना ही ठीक है और विशेषतः परपक्ष प्रतिषेधार्थ निग्रहस्थानों के उद्भावन करने में कोई दोष नहीं परन्तु अप्रतिसमाधेय निग्रहस्थान का उद्भावन करना ही ठीक है प्रतिसमाधेय का नहीं, जिसका उत्तर न होसके उसको "**अप्रतिसमाधेय**" तथा जिसका उत्तर बनसके उसको "**प्रतिसमाधेय**" कहते हैं॥

"**केशवमिश्र**" का कथन है कि "**उभयसाधनवती विजिगिषुकथा जल्पः**" = जिसमें परपक्ष का खण्डन तथा स्वपक्ष का समाधान पायाजाय उस विजिगीपुकथा को "**जल्प**" कहते हैं, स्वपक्ष में जयलाभ की इच्छावाले वादी, प्रतिवादी का नाम "**विजिगिषु**" है, और "**परपक्षेदूषिते स्वपक्षस्थापन प्रयोगावसानं**" = परपक्षखण्डनपूर्वक स्वपक्ष के स्थापनपर्य्यन्त ही "जल्प" की प्रवृत्ति होती है।

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मुमुक्षु का जल्पादि कथा में अधिकार न होने से मोक्षप्रतिपादक शास्त्र में उक्त कथा का विधान करना निष्फल है? इसका उत्तर यह है कि "**मुमुक्षोरपि क्वचित्प्रसङ्गे तदुपयोगात्**" = किसी अवस्था में मुमुक्षु पुरुष के लिये भी छलादिक तत्वज्ञान के सहकारी होने से तत्प्रधान जल्प आदि कथा के उपदेश करने से

मोक्षप्रतिपादक न्यायशास्त्र में कोई बाधा नहीं प्रत्युत सर्वाङ्ग-पूर्ण होने से उक्त शास्त्र तत्वज्ञान के लिये मुमुक्षुपुरुषों को परमोपयोगी है ॥

भाव यह है कि शिष्यमण्डली के सन्मुख तत्त्वज्ञान का उपदेश करते हुए न्यायनिपुण वैदिकतपस्वी के पास आनकर कभी कोई नास्तिक उपहासपूर्वक कथन करे कि "न वेदाः, न वेद-प्रामाण्यं, नात्मज्ञानं, नापवर्गः"=न वेद है, न वेदों की सिद्धि में कोई प्रमाण है, आत्मज्ञान कथनमात्र तथा मोक्षकथा पामर कथा है, इस प्रकार नास्तिक के आक्षेप को सुनकर यदि उक्त तत्ववेत्ता उपेक्षा करे तो शिष्यों को गुरु में अश्रद्धा होकर वैदिक-सिद्धान्त पर नास्तिकबुद्धि होने की सम्भावना ही नहीं प्रत्युत लोग यह कहेंगे कि:-

योऽसावस्माकमाचार्य्यः प्रख्यातो न्यायवित्तमः ।
अद्यत्वागत्य सोऽन्येन पण्डितेन पराजतः ॥

अर्थ-यह आचार्य्य न्यायशास्त्र तथा वेद में निपुण होने पर भी नास्तिक के उक्त कथनमात्र से पराजित होगया है, और इस वचन को सुनकर दूसरे लोग भी वैदिकपथ से च्युत होकर नास्तिकमत का अवलम्बन करलेंगे, उक्त दोष की निवृत्ति के लिये जिन मुमुक्षु शिष्यों के सन्मुख नास्तिकमत के खंडनार्थ गुरु छलादिकों का प्रयोग करता है वह जिज्ञासु पुरुषों के लिये तत्वज्ञान की उत्पत्ति में सहकारी होजाते हैं, इससे सिद्ध है कि मुख्यरूप से मुमुक्षुजनों के लिये किया

हुआ छल जाति आदि का उपदेश गौणरूप से विजिगीषु पुरुषों का उपकारी होकर मोक्षप्रतिपादक न्यायशास्त्र का साधक है बाधक नहीं ।

वृत्तिकार "विश्वनाथ" ने जल्पकथा के क्रम को इस प्रकार लापन किया है कि प्रथम वादी सामान्य तथा विशेष दूषणों के उद्धारपूर्वक स्वपक्ष को स्थापन करे अर्थात् जब वादी "मेरा कथन किया हुआ अनुमान हेत्वाभास के सामान्यलक्षण का विषय न होने से हेत्वाभास नहीं तथा असिद्धादि के लक्षण का विषय न होने से असिद्ध भी नहीं" इस प्रकार अपने पक्ष की सिद्धि को लापन करे तब प्रतिवादी अपने अज्ञान आदि निग्रहस्थानों की निवृत्ति के लिये वादी पक्ष का अनुवाद करके अज्ञान, अननुभाषण अप्रतिभा आदि निग्रहस्थानों के न मिलने तथा पर्य्यनुयोज्योपेक्षण के उद्भावन करने में केवल मध्यस्थ का अधिकार होने से हेत्वाभास द्वारा ही वादी के मत का प्रतिषेध करता हुआ स्वपक्ष-स्थापन करे, इसके अनन्तर तीसरी कोटि में वादी को प्रतिवादी की उक्तियों का अनुवाद तथा स्वमत में तदुक्तदूषणों का उद्धार करते हुए हेत्वाभासों के अतिरिक्त सब निग्रहस्थानों के न मिलने से व्यभिचारादि हेत्वाभासों के उद्भावनद्वारा प्रतिवादिपक्ष का खण्डन करना चाहिये अन्यथा = उक्त क्रम के त्याग से अप्राप्तकाल तथा अनवसर में दोषोद्भावन करने से निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार उक्त हेतु के त्याग से प्रतिज्ञाहानि और हेतु में अन्यविशेषण के निवेश से हेत्वन्तर निग्रहस्थान भी

जानलेना चाहिये, निग्रहस्थानों का विस्तारपूर्वक निरूपण पञ्चमाध्याय के द्वितीयान्हिक में किया जायगा ॥

सं०—अब वितण्डा का लक्षण कथन करते हैं:—

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥ ३ ॥

पद०—सः । प्रतिपक्षस्थापनाहीनः । वितण्डा ।

पदा०—(प्रतिपक्षस्थापनाहीनः) प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित (सः) जल्प को (वितण्डा) वितण्डा कहते हैं ।

भाष्य—प्रतिपक्ष के स्थापन से रहित जो जल्प उसका नाम "वितण्डा" है अर्थात् "प्रमाणतर्कोपालम्भत्वे सति-छलजातिनिग्रहस्थानोपालम्भा स्वपक्षहीना विजिगीषुकथा वितण्डा"=जिसमें प्रमाणतर्क द्वारा तथा छल, जाति, निग्रहस्थान से परपक्ष का खण्डन हो और अपने पक्ष का स्थापन न हो उस विजिगीषु की कथा का नाम वितण्डा है, या यों कहो कि "यया वितण्ड्यते परप्रतिपत्तिविघातः क्रियते सा वितण्डा"=जिससे केवल दूसरे पक्ष का खण्डन कियाजाय उस वाक्यसमूह का नाम "वितण्डा" है और वितण्डा से परपक्ष खण्डन करने वाले को "वैतण्डिक" कहते हैं, वैतण्डिक

तथा खाण्डनिक यह दोनों पर्य्यायशब्द हैं ।

भाव यह है कि "यौ तौ समानाधिकरणौ विरुद्धौ धर्म्मौ पक्षप्रतिपक्षावित्युक्तौ तयोरेकतरं वैतण्डिको न स्थापयतीति परपक्षप्रतिषेधेनैव प्रवर्त्तत इति" न्या० भा०=समानविषयक परस्परविरोधी धर्म्मों का नाम "पक्ष" किंवा "प्रतिपक्ष" है अर्थात् वादी की अपेक्षा एक ही साध्यरूप धर्म्म को "पक्ष" तथा प्रतिवादी की अपेक्षा "प्रतिपक्ष" कहते हैं, वैतण्डिक उक्त दोनों में से किसी एक पक्ष को स्थापन न करता हुआ एकमात्र परपक्ष का प्रतिषेध करता है, इस प्रकार वैतण्डिक का स्वपक्ष न होने के कारण "वितण्डा" को उत्तम कथा नहीं मानागया ।

यद्यपि परपक्ष का प्रतिषेध करना ही वैतण्डिक का स्वपक्ष होसक्ता है और उक्त कथा का जल्प से भेद सिद्ध नहीं होता तथापि वैतण्डिक किसी साध्य की प्रतिज्ञा करके कथा में प्रवृत्त नहीं होता, इस रीति से दोनों का भेद सिद्ध होने पर वितण्डा को स्वतन्त्र कथा मानना ही ठीक है ।

सं०—अब हेत्वाभास का सामान्यलक्षण तथा भेद कथन करते हैं:—

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्य-

समातीतकाला हेत्वाभासाः ॥४॥

पद०—सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकालाः हेत्वाभासाः ।

पदा०—(सव्यभि०) सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, अतीतकाल यह पांच (हेत्वाभासाः) हेत्वाभास हैं ।

भाष्य—" हेतुलक्षणाभावादहेतवोहेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः " न्या० भा० = जिसमें हेतु का लक्षण न हो किन्तु जो पञ्चमी वा तृतीयाविभक्ति के सदृशमात्र से हेतु के समान प्रतीत हो अर्थात् जिसका यथार्थज्ञान साक्षात् वा परम्परा से अनुमिति का प्रतिवन्धक हो उसका नाम "हेत्वाभास" है, इसी को अपदेशाभास होने से " अनपदेश " तथा व्यभिचार आदि दोषों से दूषित होने के कारण " असद्धेतु " भी, कहते हैं, जैसाकि—" पर्वतो वह्निमान् अभिधेयत्वान्महानसवत् "= जो अभिधेय होता है वह वह्निवाला होता है जैसाकि अभिधेय होने से महानस वह्निवाला है वैसे ही अभिधेय होने से पर्वत भी वह्निवाला है, इस वह्न्यनुमान में "अभिधेयत्वात्" हेतु "हेत्वाभास" है, क्योंकि " यत्र अभिधेयत्वं तत्र वह्निः " = जहां अभिधेयत्व है वहां वह्नि है, यह व्याप्ति नहीं होसक्ती, अतएव " वह्न्यभाववद्वृत्ति अभिधेयत्वम् "=अभिधेयत्व हेतु वह्नि के अभाव वाले सरोवरादि

में भी पाया जाता है अर्थात् सरोवरादि भी अभिधा = शक्तिवृत्ति का विषय होने से "अभिधेय" हैं परन्तु उनमें वह्नि नहीं है, इस-प्रकार का यथार्थज्ञान उक्त व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्धक है और व्याप्ति ज्ञान के प्रतिबन्धक यथार्थज्ञान का विषय होने से "अभिधेयत्व" हेतु "हेत्वाभास" कहलाता है।

"नव्यनैयायिक" हेत्वाभास का सामान्यलक्षण इस प्रकार कथन करते हैं कि "**यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं तत्त्वम्**"=यद्विषयक ज्ञान साक्षात् वा परम्परा से अनुमिति का विरोधि = प्रतिबन्धक हो उसका नाम "**हेत्वाभास**" है, जैसाकि "**अयं हेतुर्व्यभिचारी**" = यह हेतु साध्याभाव वाले सरोवरादि विपक्ष में वर्त्तने के कारण व्यभिचारी है, इस प्रकार का यथार्थज्ञान "अभिधेयत्व" आदि असद्धेतुओं को विषय करता है अर्थात् उक्त हेतुओं में पाया जाता है, इसलिये व्यभिचारादि ज्ञान का विषय होने से "अभिधेयत्वादि" हेतु व्यभिचारी होने के कारण "हेत्वाभास" कहाते हैं किंवा साध्याभाव के निश्चय को "बाध" कहते हैं, और बाधदोषवाले हेतु का नाम "बाधित" है, "**ह्रदो वह्निमान् द्रव्यत्वात्**" = द्रव्यत्व जाति वाला होने से सरोवर वह्निवाला है, इस बाधित अनुमान में "**ह्रदोवह्न्यभाववान्**" = वह्नि के अभाववाला सरोवर है, यह प्रत्यक्षात्मक ज्ञान वह्न्यभाववाले सरोवर को विषय करता है, इसलिये "**ह्रदोवह्निमान्**" =

वह्निवाला सरोवर है, इस अनुमिति का प्रतिबन्धक है, और उक्त अनुमिति के प्रतिबन्धक यथार्थज्ञान के विषय "द्रव्यत्व" आदि हेतु "हेत्वभास" कहलाते हैं।

भाव यह है कि "वह्न्यभाववान्ह्रदः" = यह सरोवर वह्नि के अभाववाला है, इस प्रकार के बाधज्ञान का विषय होने से "द्रव्यत्व, धूमत्व" आदि हेतु "ह्रदोवह्निमान्" इस अनुमिति के प्रतिबन्धक हैं इस रीति से अनुमिति का प्रतिबन्धक होना ही असद्धेतुओं में हेत्वाभासत्व है अर्थात् यह हेतु व्यभिचारी किंवा बाधित है, इत्यादि ज्ञान अनुमितिमात्र का प्रतिबन्धक होने से व्यभिचार आदि "दोष" है, और उक्त दोष वाले दुष्ट हेतु ही "हेत्वाभास" हैं।

सार यह है कि "हेतोराभासा हेत्वाभासाः" = हेतु के आभास का नाम "हेत्वाभास" है, ऐसा निर्वचन करने से "हेत्वाभास" शब्द व्यभिचार, बाध आदि दोषों का वाचक और "हेतुवदाभासन्त इति हेत्वाभासाः" = जो हेतु के समान प्रतीत हों और वस्तुतः हेतु न हों उनको "हेत्वाभास" कहते हैं, इस निवर्चन से "हेत्वाभास" पद व्यभिचार आदि दोषों वाले हेतुओं का वाचक है जैसाकि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है।

सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और अतीतकाल भेद से हेत्वाभास पांचप्रकार के हैं इनका लक्षण सूत्रकार स्वयं यथाक्रम स्पष्ट करेंगे।

यहां यह विशेष स्मरण रहे कि पक्षसत्त्व = पक्ष में रहना, सपक्षसत्त्व = सपक्ष में रहना, विपक्षासत्त्व = विपक्ष में न रहना, अबाधितत्व = पक्ष में साध्याभाव का निश्चय न होना, असत्प्रतिपक्षितत्व = साध्याभाव के साधक दूसरे हेतु का न होना, यह पांच धर्म्म जिसमें हों वह सद्धेतु = प्रामाणिक हेतु होता है और हेत्वाभास की उक्त व्युत्पत्ति में "वत्" प्रत्यय का अर्थ सद्धेतु से भिन्न किंवा सद्धेतु के सदृश है, इस प्रकार हेत्वाभास के लक्षण का निष्कर्ष यह हुआ कि "सद्धेतुभिन्नत्वे सति सद्धेतुधर्म्मवत्त्वं = पञ्चरूपोपपन्नत्वाभावे सति तद्रूपेण प्रतीयमानत्वं हेत्वाभासत्वम्" = जो सद्धेतु से भिन्न होकर सद्धेतु के सदृश हो उसका नाम "हेत्वाभास" है, या यों कहो कि जो पक्षसत्व आदि पांच धर्म्मों के न होने पर भी सद्धेतु की भांति प्रतीत हो उसका नाम "हेत्वाभास" है, और "प्रतिज्ञानन्तरे प्रयोगः सामान्यम्" न्या० वा० = हेतु की भांति प्रतिज्ञा वाक्य के अनन्तर प्रयोग = कथन करना ही हेत्वाभास की सद्धेतु के साथ सदृशता = समानता है अर्थात् जिस प्रकार प्रतिज्ञावाक्य के अनन्तर हेतु का प्रयोग होता है इसी प्रकार हेत्वाभास का भी कियाजाता है यही उन दोनों का परस्परसादृश्य = सामान्यधर्म्म और "साधकासाधकत्वे तु विशेषः हेतोः साधकत्वं धर्म्मोऽसाधकत्वं हेत्वाभासस्य" न्या०वा० =

स्वसाध्य की सिद्धि में समर्थ होना हेतु का तथा समर्थ न होना हेत्वाभास का असादृश्य = विशेषधर्म्म है, इस प्रकार पक्षसत्व, सपक्षसत्व, विपक्षासत्व इन तीन धर्म्मों से सद्धेतु में अव्यभिचारितसम्बन्धरूपव्याप्ति उक्त तीनों के न होने से दुष्ट हेतुओं में व्याप्ति का अभाव अर्थात् हेतु का स्वसाध्य के साथ अव्यभिचार और अबाधितत्व, असत्प्रतिपक्षितत्व, इन धर्म्मों के पाये जाने से सद्धेतु में अनुमिति के प्रतिबन्ध का अभाव तथा दुष्ट हेतुओं में उनके अभाव से अनुमिति की प्रतिबन्धकता जाननी चाहिये ॥

इसी के अनुसार कई एक आधुनिक नयौयिक यह लक्षण करते हैं कि " **अनुमितितत्करणान्यतरप्रतिबन्धक यथार्थज्ञानविषयत्वं हेत्वाभासत्वम्**" = अनुमिति तथा अनुमिति के करण व्याप्तिज्ञान आदि का प्रतिबन्धक यथार्थज्ञान के विषय का नाम "हेत्वाभास" है, जैसाकि उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है ॥

सं०—अब सव्यभिचार का लक्षण कथन करते हैं :-

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ॥ ५ ॥

पद०—अनैकान्तिकः । सव्यभिचारः ।

पदा०—(अनैकान्तिकः) अनैकान्तिक को (सव्यभिचारः) सव्यभिचार कहते हैं ॥

भाष्य—"**एकस्मिन्नन्ते विद्यत इति ऐकान्तिकः विपर्ययादनैकान्तिकः**" न्या०, भा० = एक

पक्ष में रहने वाले का नाम "ऐकान्तिक" है, और जो ऐकान्तिक न हो उसको "अनैकान्तिक" कहते हैं, इसी का नाम "सव्यभिचार" है अर्थात् जो हेतु साध्य वाले में रहकर साध्याभाववाले में रहे उसका नाम "अनैकान्तिक" है, अनैकान्तिक तथा सव्यभिचार यह दोनों एकार्थवाची शब्द हैं, इस प्रकार सव्यभिचार का लक्षण यह हुआ कि "साध्याभाववद्वृत्तिर्व्यभिचारस्तद्वान् सव्यभिचारः" = साध्य के अभाव वाले विपक्ष आदि में वर्त्तने का नाम "व्यभिचार" दोष और उक्त दोष-वाले हेतु को "सव्यभिचार" किंवा "अनैकान्तिक" कहते हैं, वह साधारण, असाधारण तथा अनुपसंहारी भेद से तीन प्रकार का है, "साध्यवत्तदन्यवृत्तिः साधारणः" = जो साध्य के अधिकरण में रहता हुआ भी साध्याभाव के अधिकरण में रहे अर्थात् जहां साध्य हो वहां रहता हुआ भी साध्य के अभाववाले में रहे उसका नाम "साधारण" है जैसाकि "शब्दो नित्यः निःस्पर्शत्वात्" = निःस्पर्श होने से शब्द नित्य है, इस अनुमान में "निःस्पर्शत्वात्" हेतु नित्यत्व साध्य के अधिकरण आत्मादि में रहता हुआ भी नित्यत्व के अभाव वाले अर्थात् अनित्यत्व के अधिकरण बुद्धि आदि पदार्थों में भी पायाजाता है, इसलिये वह "साधारण" हेत्वाभास है और स्पर्शाभाव का नाम "निःस्पर्श" है॥

"नित्यत्वाभाववद्वृत्ति निःस्पर्शत्वम्" = निःस्पर्शत्व हेतु नित्यत्वसाध्य के अभाववाले आत्मादि में रहता है, इस ज्ञान के होने से "यत्र निःस्पर्शत्वं तत्र नित्यत्वम्" = जो स्पर्श रहित है वह नित्य है, यह व्याप्तिज्ञान नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त व्यभिचारज्ञानद्वारा व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्धक होना "साधारण" का फल है ॥

कई एक लोग यहां यह आशंका करते हैं कि विरुद्ध हेत्वाभास को साध्य के अभाववाले में पाये जाने से विरुद्ध में साधारण लक्षण की अतिव्याप्ति होती है ? इसका उत्तर यह है कि "उपधेयसङ्करेऽप्युपाधेरसाङ्कर्य्यात्" = दुष्ट = दोषवालों का सांकर्य्य = ऐक्य होने पर भी दोष का संकर न होने से कोई दोष नहीं होता, इस नियम के अनुसार विरुद्ध तथा साधारण के एक होने पर भी दोषकारणक भेद होने से दोनों का भेद स्पष्ट है, इसलिये अतिव्याप्ति दोष नहीं अर्थात् साधारण व्याप्तिज्ञान का साक्षात्प्रतिवन्धक तथा विरुद्ध साध्याभाव की अनुमिति के अनन्तर साध्यानुमिति का प्रतिबन्धक है, इस प्रकार दोषकारण = प्रतिबन्धकता के भेद से एक हेतु = विरुद्ध में दो दोषों के होने पर भी अतिव्याप्ति दोष नहीं होसक्ता ॥

"सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः" = जो हेतु पक्ष तथा सपक्ष दोनों में न हो अपितु केवल

पक्ष में ही पायाजाय उसका नाम "असाधारण" है, जैसाकि "शब्दो नित्यः शब्दत्वात्" = शब्दत्वधर्मवाला होने से शब्द नित्य है, इस अनुमान में "शब्दत्वात्" हेतु "असाधारण" है, क्योंकि वह नित्यत्व साध्यवाले आत्मादि सपक्ष तथा उक्त साध्य के अभाववाले घट पट आदि विपक्ष में नहीं किन्तु केवल शब्दरूप पक्ष में वर्त्तमान है और "साध्यवदवृत्तित्वनिश्चयेन साध्यवदवृत्तित्वरूपव्याप्तिप्रतिबन्धः फलम्" = शब्दत्व हेतु नित्यत्व साध्यवाले आत्मादि में नहीं है, इस निश्चय के होने से "जहां शब्दत्व है वहां नित्यत्व है" यह व्याप्तिज्ञान नहीं होसकता, इस रीति से उक्त व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्धक होना ही "असाधारण" का फल है।

स्मरण रहे कि उक्त लक्षण प्राचीननैयायिकों के सिद्धान्तानुसार है, उनका आशय यह है कि जो हेतु जिस धर्म्मवाले में नहीं रहता वह अपने अधिकरण में उस धर्म्म के अभाव का साधक होता है यह नियम है, इस नियम के अनुसार जिस प्रकार धूम हेतु वह्नि के अभाववाले सरोवर आदि में न होने से अपने पर्वत आदि अधिकरण में वह्न्यभाव के अभाव का अर्थात् वह्नि का साधक है इसी प्रकार व्यतिरेकी हेतु होने से "शब्दत्व" भी नित्यत्वधर्म्मवाले आत्मादि सपक्ष में न पाये जाने के कारण अपने शब्दरूप अधिकरण में नित्यत्वाभाव = अनित्यत्व तथा नित्यत्वाभाववाले = अनित्यत्वधर्म्मवाले घटादि विपक्ष में न पाये जाने से उक्त शब्दरूप अधिकरण

में नित्यत्वाभावाभाव = नित्यत्व का साधक होना चाहिये परन्तु प्रकाश तथा अन्धकार की भांति परस्पर विरुद्ध नित्यत्व, अनित्यत्व दोनों धर्म्म एक शब्दरूप अधिकरण में नहीं होसक्ते, इससे सिद्ध है कि "**शब्दत्वमसाधारणोधर्म्मः**" = शब्दत्व केवल शब्दवृत्ति होने से "**असाधारणधर्म्म**" है, इस ज्ञान के होने पर "शब्दत्व" हेतुद्वारा शब्दपक्ष में नित्यत्व की अनुमिति नहीं होसक्ती और उक्त रीति से व्याप्तिज्ञानद्वारा अनुमिति का प्रतिवन्धक होने से "शब्दत्व" हेतु "असाधारण" हेत्वाभास है।

कई एक "नव्य नैयायिक" असाधारण का यह लक्षण कथन करते हैं कि "**साध्यासमानाधिकरणोहेतुरसाधारणः**" = जो हेतु साध्य के साथ एक अधिकरण में न रहे उसका नाम "**असाधारण**" है, जैसाकि ऊपर कथन किये हुए उदाहरण में "शब्दत्व" हेतु नित्यत्वरूप साध्य के साथ आत्मादि अधिकरण में न रहने से "असाधारण" कहलाता है।

और "मीमांसक" लोग "**शब्दोऽनित्यः शब्दत्वात्**" = शब्दत्वधर्म्मवाला होने के कारण शब्द अनित्य है, इस अनुमान को भी "असाधारण" का लक्ष्य मानते हैं, उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि जब "कार्य्यत्व" हेतु से शब्द में अनित्यत्व सिद्ध है तो अनित्यत्व साध्य के साथ एक शब्दरूप अधिकरण = पक्ष में रहनेवाला "शब्दत्वात्" हेतु साध्यासमानाधिकरण नहीं

किन्तु साध्यसमानाधिकरण है, इसलिये "शब्दोऽनित्यः शब्दत्वात्" इत्यादि में असाधारण का भ्रममात्र है वस्तुतः "असाधारण" हेत्वाभास नहीं ।

कई एक नैयायिकों का कथन है कि "**सपक्षावृत्तिरसाधारणः**" = जो हेतु सपक्ष = साध्य के निश्चयवाले अधिकरण में न रहे उसको "**असाधारण**" कहते हैं, इस रीति से उक्त अनुमान के शब्दरूप पक्ष में कार्य्यत्वादि हेतुओं से साध्य का निश्चय होने के कारण "शब्दत्वात्" हेतु असाधारण नहीं अर्थात् उक्त हेतु सपक्षवृत्ति है सपक्षावृत्ति नहीं, इसलिये असाधारण हेत्वाभास नहीं होसक्ता ।

"**केवलान्वयिधर्म्मावच्छिन्नपक्षकोऽनुपसंहारी**" = जिसका पक्षतावच्छेदक = पक्षवृत्तिविशेषण केवलान्वयी = पदार्थमात्र में रहनेवाला हो उसका नाम "**अनुपसंहारी**" है, जैसाकि "**सर्वं नित्यं प्रमेयत्वात्**" = प्रमेय होने से सब पदार्थ नित्य हैं, इस अनुमान में "प्रमेयत्व" हेतु का पक्ष "सर्व" = पदार्थमात्र है, उसमें रहनेवाला पक्षतावच्छेदक "सर्वत्व" धर्म्म = विशेषण भी पदार्थमात्र में पाया जाता है, इसलिये "प्रमेयत्वात्" हेतु "अनुपसंहारी" कहलाता है ।

"नव्यनैयायिक" अनुपसंहारी को इसप्रकार लापन करते हैं कि "**यस्य साध्यं सर्वत्रान्वीयते स केवलान्वयिसाध्यकोऽ**

नुपसंहारी " = जिस हेतु का साध्य अपने अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं किन्तु अप्रतियोगी है अर्थात् जिस हेतु के साध्य का सर्वत्र अन्वय ही पाया जाता है व्यतिरेक नहीं उसका नाम "अनुपसंहारी" है, जैसाकि "सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात्" = प्रमेय होने से सब = पदार्थमात्र अभिधेय है, इस अनुमान में "प्रमेयत्वात्" हेतु "अनुपसंहारी" है, क्योंकि "प्रमेयत्व" हेतु का अभिधेयसाध्य, स्वात्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं अर्थात् पदार्थमात्र अभिधेय होने से उक्तहेतु के उक्त साध्य का सर्वत्र अन्वय ही पाया जाता है व्यतिरेक नहीं, अतएव यह हेतु अन्वय-व्याप्तिज्ञान का जनक भी माना गया है और "यत्र प्रमेयत्वं न तत्र अभिधेयत्वं न" = जो प्रमेय नहीं वह अभिधेय नहीं, इस व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान का न होना ही उक्त हेत्वाभास का फल है, इसप्रकार अनुपसंहारी के लक्षण का निष्कर्ष यह हुआ कि "अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी" = जो अन्वय तथा व्यतिरेक दृष्टान्त से रहित हो उसका नाम "अनुपसंहारी" है जैसाकि ऊपर के अनुमान में पदार्थमात्र को पक्षरूप होने से पक्षभिन्न किसी स्थल में अभिधेयत्व के साथ "प्रमेयत्व" का "अन्वय" किंवा "व्यतिरेक" नहीं ।

सं०—अब विरुद्ध का लक्षण कथन करते हैं:—

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः॥६॥

पद०—सिद्धान्तम् । अभ्युपेत्य । तद्विरोधी । विरुद्धः ।

पदा०—(सिद्धान्तम्) साध्य के (अभ्युपेत्य) उद्देश से कथन करने पर भी जो (तद्विरोधी) साध्य का विरोधी हो उसको (विरुद्धः) विरुद्ध कहते हैं ।

भाष्य—"सिद्धान्तं साध्यं प्रतिज्ञायां हि पक्षस्य सिद्धस्यान्तेऽभिधीयते तं सिद्धान्तं साध्यधर्म्ममभ्युपगम्य यो विरुणद्धि व्याहन्ति तद्विपर्य्ययं साधयति स विरुद्धस्तथाच साध्याभावव्याप्त इति फलितोऽर्थः" = प्रतिज्ञावाक्य में पक्ष के अनन्तर कथन करने से साध्य का नाम "सिद्धान्त" है, प्रकृत में सिद्धान्त तथा साध्य यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, जो हेतु साध्य की सिद्धि के लिये कथन किया हुआ साध्य का साधक न हो प्रत्युत विरोधी हो उसका नाम "विरुद्ध" अर्थात् "साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगी विरुद्धः" = जो साध्य के साथ एक अधिकरण में व्यापक होकर रहनेवाले अभाव का प्रतियोगी हो उसको "विरुद्ध" कहते हैं, जैसाकि "शब्दो नित्यः कृतकत्वात् घटादिवत" = घट पट आदि की भांति कार्य्य होने से शब्द नित्य है, इस अनुमान में "कृतकत्वात्" हेतु "विरुद्ध" है, क्योंकि "कृतकत्वं हि नित्यत्वाभावेन अनित्यत्वेन व्याप्तम्" =

कृतकत्व हेतु की नित्यत्वाभावरूप अनित्यत्व के साथ व्याप्ति है अर्थात् "यत्र कृतकत्वं तत्र अनित्यत्वं" = जहां कृतकत्व = कार्य्यत्व है वहां अनित्यत्व है, ऐसी व्याप्ति घटादि अनित्य पदार्थों में पाई जाती है आत्मादि नित्य पदार्थों में नहीं, इसलिये नित्यत्वरूप साध्य के अभाव का व्यापक जो कृतकत्वाभाव उसका प्रतियोगी होना ही "विरोध" दोष है और उक्त दोषवाला "कृतकत्व" हेतु "विरुद्ध" कहाता है।

तात्पर्य्य यह है कि "यत्र कृतकत्वं तत्र अनित्यत्वम्" = जो कार्य्य है वह अनित्य है, इसप्रकार अनित्यत्व की व्याप्ति का आश्रय "कृतकत्व" है नित्यत्व की व्याप्ति का नहीं, क्योंकि नित्य पदार्थ कार्य्य नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि "कृतकत्व" हेतु से नित्यत्व की सिद्धि नहीं होसक्ती, इसलिये नित्यत्व के विरुद्ध अनित्य का साधक होने से उक्त हेतु "विरुद्ध" है और यह साध्याभाव के साथ व्याप्तिज्ञान का बोधक होने से साक्षात् ही अनुमिति का प्रतिबन्धक कहलाता है, क्योंकि "साध्याभाववद्वृत्तित्वरूपविरोधविशिष्टोऽयं हेतुरितिज्ञाने सत्यनुमित्यनुदयात्" = यह हेतु साध्याभावव्याप्त = साध्याभाव की व्याप्ति का आश्रय है, इस ज्ञान के होने पर "शब्दः नित्यः" = शब्द नित्य है, इसप्रकार की अनुमिति नहीं होसक्ती।

ननु—सत्प्रतिपक्ष भी साध्याभाव का साधक होने से साध्यानुमिति का प्रतिबन्धक है इसलिये सत्प्रतिपक्ष तथा विरुद्ध का परस्पर कोई भेद नहीं ? उत्तर—"तत्र हेत्वन्तरं साध्याभावसाधकं इह तु हेतुरेव साध्याभावसाधक इति विशेषः"=सत्प्रतिपक्ष में साध्याभाव का साधक दूसरा हेतु और विरुद्ध में वही हेतु साध्याभाव का साधक होता है इस प्रकार दोनों के भेद में कोई बाधा नहीं।

"भाष्यकार" ने इस सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि "तं विरुणद्धि इति तद्विरोधी अभ्युपेतं सिद्धान्तं व्याहन्तीति यथा सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतोऽप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् न नित्योविकार उपपद्यते इत्येव हेतुर्व्यक्तेरपेतोऽपि विकारोऽस्तीति स्वसिद्धान्तेन विरुध्यते" न्या० भा० = जो उद्दिष्ट = प्रकृत, सिद्धान्त = साध्य का विरोधी हो उसका नाम "विरुद्ध" हेत्वाभास है, जैसाकि आत्मा की भांति कूटस्थ नित्य न होने से विकार = महत्तत्त्व, अहङ्कार आदि धर्म्मी, व्यक्ति = स्वस्वरूप से अपाय = प्रच्युत किंवा नाश को प्राप्त होता है और विनाशप्रतिषेध से अर्थात् अदर्शन को प्राप्त होकर भी सर्वथा आकाशपुष्पादि पदार्थों की भांति तुच्छ न होने के कारण अपेत =

नष्ट होकर भी विद्यमान रहता है, इस अनुमान में "नित्यत्व प्रतिषेधात्" और "विनाशप्रतिषेधात्" यह दोनों हेतु परस्पर विरुद्ध हैं।

भाव यह है कि "विनाशप्रतिषेधात्" हेतु द्वारा सिद्ध किये हुए नित्यत्व का "नित्यत्वप्रतिषेधात्" हेतु से प्रतिषेध किया जाता है, इस प्रकार दोनों वाक्यों के परस्पर अर्थ का बाध ही "विरोध" है, और उक्त विरोधवाला "नित्यत्वप्रतिषेधात्" हेतु "विरुद्ध" कहाता है, किंवा "नित्यत्वप्रतिषेधात्" इस पदपर्य्यन्त एक प्रतिज्ञावाक्य है और "अपेतोऽप्यस्ति" साध्य तथा "विनाशप्रतिषेधात्" हेतु वाक्य है, उक्त रीति से परस्पर प्रतिज्ञाहेतु के विरोधदोषवाला "विनाशप्रतिषेधात्" हेतु ही "विरुद्ध" हेत्वाभास कहलाता है, जैसाकि ऊपर स्पष्ट कर आये हैं॥

कई एक लोग यह आशंका करते हैं कि प्रतिज्ञाविरोध को विरुद्ध हेत्वाभास होने के कारण उसका निग्रहस्थानों में पृथक् उपदेश निरर्थक है? इसका समाधान यह है कि जब दूषणवादी को केवल प्रतिज्ञा के साथ हेतु का विरोध स्फुट करना हो वा "प्रतिज्ञाविरोधनामक" निग्रहस्थान तथा प्रतिज्ञा के साथ हेतु का किंवा हेतु के साथ प्रतिज्ञा का विरोध विवक्षित हो तब "विरुद्ध" हेत्वाभास जानना चाहिये, इसप्रकार हेतु तथा प्रतिज्ञा दोनों के आश्रित होने पर भी विरोध का ज्ञापन करना वक्ता की इच्छा

पर निर्भर है इसलिये निग्रहस्थानों में प्रतिज्ञाविरोध का उपदेश करने में कोई दोष नहीं ।

सं०—अब प्रकरणसम का लक्षण कथन करते हैं :—

यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ॥ ७ ॥

पद०—यस्मात् । प्रकरणचिन्ता । सः । निर्णयार्थम् । अपदिष्टः । प्रकरणसमः ।

पदा०—(निर्णयार्थम्) साध्यनिश्चय के लिये (अपदिष्टः) कथन करने पर भी (यस्मात्) जिस से (प्रकरणचिन्ता) प्रकरण चिन्ता बनी रहे (सः) उसको (प्रकरणसमः) प्रकरणसम कहते हैं ॥

भाष्य—" विमर्शाधिष्ठानौ पक्षप्रतिपक्षावनवसितौ प्रकरणं तस्य चिन्ता विमर्शात्प्रभृति प्राङ्निर्णयाद्यत्समीक्षणं सा जिज्ञासा यत्कृता स निर्णयार्थप्रयुक्त उभयपक्षसाम्यात् प्रकरणमनतिवर्त्तमानः प्रकरणसमोनिर्णयाय न प्रकल्पते " न्या० भा० = साध्य किंवा साध्याभाव के संशय का विषय होने से पक्ष तथा प्रतिपक्ष का नाम " प्रकरण " संशय से लेकर निर्णयपर्य्यन्त पक्षप्रतिपक्ष विषयक साध्य तथा साध्याभाव

की जिज्ञासा का नाम "प्रकरणचिन्ता" और साध्यसिद्धि के लिये प्रयुक्त होने पर भी विरोधी हेतुद्वारा जिस हेतु में प्रकरणचिन्ता बनी रहे अर्थात् साध्य का सन्देह बना रहे उसका नाम "प्रकरणसम" है, जैसाकि-"अनित्यः शब्दोनित्यधर्म्मानुपलब्धेः"=घट की भांति नित्यधर्म्म की उपलब्धि न होने से शब्द अनित्य है, इस अनुमान में "नित्यधर्म्मानुपलब्धेः" यह हेतु "प्रकरणसम" है, क्योंकि "नित्यः शब्दोऽनित्यधर्म्मानुपलब्धेराकाशवत्"=आकाश की भांति अनित्यधर्म्म की उपलब्धि न होने से शब्द नित्य है, इस अनुमान से शब्द की नित्यता पाई जाती है, इसलिये "अनित्यधर्म्मानुपलब्धेः" इस विरोधी हेतुद्वारा शब्दरूप पक्ष में "शब्दो नित्यो नवा"= शब्द नित्य है किंवा अनित्य है, इस प्रकार का सन्देह बना रहता है और उक्त सन्देह के बने रहने से शब्दरूप पक्ष में नित्यत्व की सिद्धि नहीं होसक्ती, अतएव "नित्यधर्म्मानुपलब्धेः" यह हेतु "प्रकरणसम" कहाता है और इसी को नवीन लोग "सत्प्रतिपक्ष" कहते हैं, "वैशेपिकार्य्यभाष्य" में सत्प्रतिपक्ष का यह लक्षण किया गया है कि "साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स सत्प्रतिपक्षः"=जिस हेतु के साध्याभाव का साधक अन्य हेतु हो उसका नाम "सत्प्रतिपक्ष" है अर्थात् "सन् प्रतिपक्षः

प्रतिद्वन्द्वी हेतुर्यस्य स सत्प्रतिपक्षः" = जिसका प्रतिपक्ष प्रतिद्वन्द्वी हेतु विद्यमान हो उसको "सत्प्रतिपक्ष" कहते हैं जैसाकि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है और "शब्दो नित्यः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्" = शब्दत्व की भांति श्रोत्र का विषय होने से शब्द नित्य है, इस अनुमान में "श्रावणत्वात्" हेतु का प्रतिद्वन्द्वी "कार्य्यत्वात्" हेतु नित्यत्वाभावरूप अनित्यत्व का साधक है इसलिये "श्रावणत्वात्" सत्प्रतिपक्ष होने से शब्द-वर्त्ती नित्यत्व का साधक नहीं, सत्प्रतिपक्ष तथा प्रकरणसम यह दोनों एकार्थवाची हैं।

कई एक प्राचीन नैयायिक सत्प्रतिपक्ष का यह लक्षण करते हैं कि "यत्सम्बन्धि यत्साध्यं तदभावव्याप्यहेत्वन्तरस्य ज्ञानं पक्षेऽस्ति स सत्प्रतिपक्ष इत्यर्थः" = जिस पक्ष में जिस हेतु का सम्बन्धी साध्य पाया जाय अर्थात् जिस पक्ष में जो हेतु साध्य की सिद्धि के लिये प्रयुक्त किया हो यदि उसी पक्ष में उसी साध्य के अभाव की व्याप्ति के आश्रय दूसरे हेतु का ज्ञान भी वर्त्तमान होवे तो प्रथम हेतु "सत्प्रतिपक्ष" कहाता है, जैसाकि उक्त अनुमान में श्रावणत्व हेतु का सम्बन्धी नित्यत्वसाध्य शब्द पक्ष में विद्यमान है और उसी शब्दरूपपक्ष में नित्यत्वसाध्याभाव = अनित्यत्व की व्याप्ति के आश्रय "कार्य्यत्व" हेतु का ज्ञान भी वर्त्तमान है, इसलिये "श्रावणत्व" हेतु "सत्प्रतिपक्ष" है।

भाव यह है कि जिस प्रकृत हेतु का प्रकृत साध्य के साथ

व्याप्तिज्ञान निश्चित होवे उससे भिन्न हेतु का उसी साध्य के अभाव के साथ व्याप्तिज्ञान होने पर प्रथम हेतु में सत्प्रतिपक्ष का व्यवहार होता है अन्यथा नहीं, इसी अभिप्राय से उक्त लक्षण में "हेत्वन्तर" पद का निवेश किया है।

और नव्यों का कथन है कि " यत्सम्बन्धिसाध्याभावव्याप्यहेत्वन्तरस्य पक्षे सत्त्वं स तथाविधः " = प्रकृत पक्ष में जिस हेतु के साध्याभाव का व्यापक अन्य हेतु विद्यमान होवे उसको " सत्प्रतिपक्ष " कहते हैं व्याप्तिज्ञान काल का आग्रह नहीं, इसलिये " हेत्वन्तर " पद का निवेश निरर्थक है।

सार यह निकला कि प्राचीनमत में " सत्प्रतिपक्ष " अनित्य तथा नवीनमत में नित्य दोष है, क्योंकि प्राचीन साध्याभाव के साथ दूसरे हेतु का व्याप्तिज्ञान होने पर ही प्रथम हेतु में सत्प्रतिपक्ष व्यवहार मानते हैं अन्यथा नहीं और नवीन नैयायिक पक्ष में साध्याभाव के साधक अन्य हेतु के सम्भव होने से प्रथम हेतु को सत्प्रतिपक्ष कथन करते हैं साध्याभाव के साथ व्याप्तिज्ञानकाल की अपेक्षा से नहीं।

तार्किक शिरोमणि "रघुनाथ भट्टाचार्य्य" दीधिति ग्रन्थ के अनुमान खण्ड में कथन करते हैं कि " साध्याभावव्याप्यवत्पक्षः सत्प्रतिपक्षः" = जिस हेतु की साध्याभाव के साथ व्याप्ति पाई जाय उस हेतु वाले पक्ष का नाम " सत्प्रतिपक्ष " है, और

उक्त पक्ष में वर्त्तमान होने से हेतु में सत्प्रतिपक्ष व्यवहार होता है, जैसाकि "ह्रदो वह्निमान् धूमात्" = धूमवाला होने से सरोवर वह्निवाला है, इस अनुमान में "धूमात्" हेतु "सत्प्रतिपक्ष" है, क्योंकि "ह्रदोवह्न्यभाववान् जलात्" = जलवाला होनेसे सरोवर वह्नि के अभाव वाला है, इस अनुमान द्वारा जलरूप हेतु की वह्निरूप साध्य के अभाव के साथ व्याप्ति पाये जाने से जलहेतुवाला सरोवर "सत्प्रतिपक्ष" है इसलिये सरोवररूप पक्ष में वह्निसिद्धि के लिये कथन किया हुआ "धूमात्" हेतु भी "सत्प्रतिपक्ष" कहाता है ।

और कई एक प्राचीनों का यह भी कथन है कि "अगृहीताप्रमाण्यकसाध्यव्याप्यवत्त्वेनोपस्थितिकालीनागृहीताप्रमाण्यकसाध्याभावव्याप्यवत्त्वेनोपस्थितिविषयः" = साध्य का व्याप्य जो हेतु उस वाला पक्ष है, इस परामर्शात्मक ज्ञान के समय जिस हेतु में अप्रमाणता = मिथ्यात्वज्ञान निश्चित नहो और उसी हेतु में साध्याभाव को विषय करने वाला परामर्श भी अप्रमाण सिद्ध न होवे तो वह हेतु "सत्प्रतिपक्ष" होता है, यह इसलिये ठीक नहीं कि प्रतिपक्ष हेतु के विना उसी हेतु में साध्यविषयक तथा साध्याभावविषयक परामर्श नहीं होसक्ता, क्योंकि "कपिसंयोगी एतत्त्वात्=पुरोवर्त्तिवृक्षत्वात्" = पुरोवर्त्ति वृक्षत्व धर्म्म के पाये जाने से यह वृक्ष कपिसंयोग वाला है, इस

अनुमान में " पुरोवर्त्तिवृक्षत्वात् " हेतु " सत्प्रतिपक्ष " नहीं, वानर का नाम " कपि " है ।

भाव यह है कि जिसप्रकार शाखावच्छेदेन = शाखा देश में कपिसंयोग के होने से उक्त हेतुद्वारा वृक्ष में कपिसंयोग की सिद्धि होती है इसीप्रकार मूलावच्छेदेन = मूलदेश में कपिसंयोगाभाव के पाये जाने से उसी हेतुद्वारा कपिसंयोगाभाव का अनुमान भी होता है अर्थात् " कपिसंयोगाभाववान् एतत्त्वात् " = पुरोवर्त्तिवृक्षत्वधर्म्म के पाये जाने से यह वृक्ष कपिसंयोग के अभाववाला है, इस अनुमान में कपिसंयोगाभाव का साधक भी वही हेतु है और " कपिसंयोगव्याप्यपुरोवर्त्तिवृक्षत्ववानयं, कपिसंयोगाभावव्याप्यपुरोवर्त्तिवृक्षत्ववानयं वृक्षः " = कपिसंयोग की व्याप्ति का आश्रय जो पुरोवर्त्ति वृक्षत्व धर्म्म उसवाला तथा कपिसंयोगाभाव की व्याप्ति का आश्रय जो पुरोवर्त्ति वृक्षत्वधर्म्म उसवाला वृक्ष है, इस प्रकार एक ही " पुरोवर्त्तिवृक्षत्व " हेतु में साध्य तथा साध्याभाव का विषय करनेवाले परस्परविरोधि परामर्श के होने से सत्प्रतिपक्ष व्यवहार होना चाहिये परन्तु उक्त स्थल में किसी आचार्य्य ने सत्प्रतिपक्ष नहीं माना, इससे स्पष्ट है कि एक हेतु में साध्यविषयक तथा साध्याभावविषयक परामर्श होने पर भी सत्प्रतिपक्ष व्यवहार नहीं होता किन्तु जहां दो हेतु परस्पर विरुद्ध हों वहीं साध्याभाव को विषय करनेवाले परामर्श के यथार्थज्ञान से हेतु में " सत्प्रतिपक्षत्व " की कल्पना

होती हैं, इसलिये सत्प्रतिपक्ष का निर्दुष्ट लक्षण यह है कि—
"स्वसाध्यविरुद्धसाध्याभावव्याप्यवत्तापरामर्शकालीन-साध्यव्याप्यवत्तापरामर्शविषयः"=स्वसाध्य से विरुद्ध जो साध्य उसके अभाव को विषय करनेवाले परामर्शकाल में साध्यविषयक परामर्श के विषयभूत हेतु का नाम "सत्प्रतिपक्ष" है, या यों कहो कि जिस हेतु में स्वसाध्य से विरोधी साध्य का परामर्श होने पर साध्यविषयक परामर्श पायाजाय उसका नाम "सत्प्रतिपक्ष" है, जैसाकि—"ह्रदोवह्निमान् धूमात्, ह्रदो वह्न्यभाववान् जलात्"=धूमवाला होने से यह सरोवर वह्निवाला है तथा जलवाला होने से वह्नि के अभाववाला है, इत्यादि स्थल में "धूमात्" हेतु "सत्प्रतिपक्ष" है, क्योंकि प्रकृत में "स्व" पद से जल हेतु का ग्रहण है, उसका साध्य जो वह्न्यभाव, उससे विरुद्ध वह्निरूप साध्य के अभाव को विषय करनेवाले परामर्श के समानकाल में होनेवाला वह्निसाध्यविषयक परामर्श अर्थात् वह्नि की व्याप्ति का आश्रय जो धूम उसवाला सरोवर है, इस प्रकार का परामर्श उसका विषय धूम हेतु ही "सत्प्रतिपक्ष" कहाता है।

भाव यह है कि जिस काल में "वन्ह्यभावव्याप्यजलवान्ह्रदः"=वन्ह्यभाव की व्याप्ति का आश्रय जो जल उसवाला सरोवर है, इसप्रकार साध्याभाव को विषय करनेवाला परामर्श

होता है, उसीकाल में उक्त साध्यविषयक परामर्श पायाजाता है इसलिये सरोवररूप पक्ष में उक्त परामर्श का विषय धूम हेतु ही "सत्प्रतिपक्ष" है

सार यह है कि प्रकृतसाध्य के परामर्श से विरोधी परामर्श का विषय हेतु ही सत्प्रतिपक्ष होता है जैसाकि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है, और परस्पर साध्य के अभावविषयक परामर्श ज्ञान से परस्पर अनुमितिज्ञान का प्रतिबन्धक होना सत्प्रतिपक्ष का फल है ।

"रत्नकोशकार" नैयायिक का कथन है कि ज्ञानों का परस्पर प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव अनुभव के अनुसार मानना ठीक है, विरोधी का नाम "प्रतिबन्धक" तथा जिसके साथ विरोध हो उसका नाम "प्रतिबध्य" है, जैसाकि जहां घटवाले भूतल में यत्किञ्चित् अन्धकारादि वा वस्तुव्यवधान आदि दोष होने से प्रथम "घटाभाववद्भूतलम्"=घट के अभाव-वाला भूतल है, इसप्रकार घटाभावविशिष्ट भूतल का ज्ञान हुआ, उसके अनन्तर यथायोग्य चक्षुःसंयोग होने से "घटवद्भूतलम्"= घटवाला भूतल है, यह ज्ञान होता है, ऐसे स्थल में चक्षुःसंयोग-रूप गुण की प्रबलता से घटाभावविषयक ज्ञान "प्रतिबध्य" तथा घटज्ञान "प्रतिबन्धक" जानना चाहिये, और शुद्ध नेत्रवाले पुरुष को "पीतत्वाभावव्याप्यशंखत्ववानयं शंखः"=

पीतत्व के अभाव की व्याप्ति का आश्रय जो शंखत्व उसवाला शंख है, इस परामर्श से शंख में श्वेतता का ज्ञान होने पर भी कालान्तर में पित्तादिदोष के बढ़जाने से "पीतः शंखः" = शंख पीत है, यह ज्ञान होता है, यहां गुण की अपेक्षा दोष की प्रबलता से शंखवृत्ति श्वेतता का ज्ञान "प्रतिबध्य" तथा पीतता का ज्ञान "प्रतिबन्धक" है, और जहां मन्द अन्धकार में पुरुष को स्थाणु किंवा पुरुष में "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" = यह स्थाणु है किंवा पुरुष है, इस प्रकार एक धर्म्मी में परस्पर विरुद्ध दो धर्म्मों को विषय करने वाला ज्ञान होता है, जैसाकि संशयलक्षण में पीछे निरूपण कर आये हैं वहां "स्थाणुत्वव्याप्यवक्रकोटरादिमानयं, पुरुषत्वव्याप्यकरचरणादिमानयम्" = स्थाणुत्व की व्याप्ति के आश्रयभूत वक्रकोटरादि वाला तथा पुरुषत्व की व्याप्ति के आश्रयभूत करचरणादि अवयववाला पुरोवर्त्ती पदार्थ है, इन दोनों परस्पर विरोधी परामर्शों के पाये जाने से प्रत्यक्षात्मक संशयज्ञान में किसी वादी की विप्रतिपत्ति नहीं ऐसे स्थल में चक्षुःसंयोगादि गुण किंवा तिमिरादि दोष निर्बल, सबल नहीं माने गए, क्योंकि दोनों समबल होते हैं।

इस प्रकार सत्प्रतिपक्ष स्थल में भी दोनों हेतुओं के समबल होने से संशयात्मिक अनुमितिज्ञान के होने में कोई बाधा नहीं, इसरीति से सत्प्रतिपक्ष को अनुमिति का प्रतिबन्धक कथन करना केवल साहसमात्र है अर्थात् वह संशय का उत्पादक

होने से एक पक्ष में होनेवाली निश्चयात्मक अनुमिति का दूषक है ॥

भाव यह है कि अनुमितिज्ञान के प्रति साध्याभाव को विषय करनेवाले परामर्श के प्रतिबन्धक होने में कोई प्रमाण नहीं, इसलिये सत्प्रतिपक्ष स्थल में परस्पर साध्य के अभाव को विषय करनेवाले परामर्श से संशयरूप अनुमिति के होने में कोई दोष नहीं ।

और जहां एक हेतु के साध्यविषयक परामर्श ज्ञान में कोई संशय न हो वहां सबल होने के कारण उक्त परामर्श दूसरे हेतु में होनेवाले परामर्श ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है, इसलिये ऐसे स्थल में संशय न होने से संशयात्मिक अनुमिति भी नहीं होसक्ती, इस प्रकार ज्ञानों की सबल, निर्बल तथा समबल की कल्पना फलानुरोध से जाननी चाहिये अर्थात् शंख में श्वेतत्वज्ञान होने पर भी पीतत्व के अनुभव से पित्तरूप दोष को प्रतिबन्धक मानकर पीतत्वज्ञान ही अधिक बलवाला मानना ठीक है और दूरत्वदोष के समान होने पर भी स्थाणुत्व तथा पुरुषत्व की स्मृति होने के कारण संशयरूप फलद्वारा संशय ही समबल माना जाता है, यही रीति सर्वत्र ज्ञान के सबल तथा निर्बल होने में जाननी चाहिये, इसका समाधान यह है कि जिसका साध्य विषय हो उसको "साध्यविषयक" तथा जिसका साध्याभाव विषय हो उसको "साध्याभावविषयक" कहते हैं, साध्याभावविषयक प्रत्यक्षात्मक परामर्शज्ञान, लौकिकसन्निकर्ष तथा दोषविशेष से अजन्य ज्ञानमात्र

का विरोधी = प्रतिबन्धक होता है, यह नियम है इस नियम के अनुसार शंख में पीतत्व के अभाव को विषय करनेवाला उक्त परामर्श "पीतः शंखः = पीले वर्णवाला शंख है, इस ज्ञान का प्रतिबन्धक नहीं होसक्ता, क्योंकि श्वेतशंखवृत्ति पीतत्वज्ञान को पित्त-रूपदोष से जन्य होने के कारण स्पष्ट है कि साध्याभाव को विषय करनेवाला परामर्शात्मक ज्ञान शाब्दबोध तथा अनुमिति आदि ज्ञानों का प्रतिबन्धक है "पीतः शंखः" इत्यादि ज्ञानों का प्रति-बन्धक नहीं, अतएव श्वेतशंख में पित्तादि दोषजन्य पीतत्वज्ञान काल में होनेवाला शंखविषयक उक्त परामर्श पीतज्ञान का विरोधी नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि जिस विषय में साध्याभावविषयक ज्ञान उत्पन्न हुआ हो उसी विषय में वह अलौकिक सन्निकर्ष से होनेवाले साध्यविषयक तथा अनुमिति आदि ज्ञानों का प्रतिबन्धक होता है, अन्यत्र नहीं, इसलिये अलौकिकसन्निकर्ष से जन्य तथा अनुमिति आदि ज्ञान के लिये भिन्न २ प्रतिबन्धक मानने में गौरव तथा उक्तरीति से साध्याभावविषयक ज्ञान को प्रतिबन्धक मानने में लाघव है, इसप्रकार सत्प्रतिपक्ष स्थल में साध्याभावविषयक परामर्श रूप प्रतिबन्धक के होने से अनुमिति ज्ञान नहीं होता ।

यदि "रत्नकोशकार" के अभिप्राय से उक्त नियम में "**अनुमितिभिन्नत्वेन**" पद का अधिक निवेश किया जाय अर्थात् साध्याभावविषयक ज्ञान अनुमिति से भिन्न लौकिक सन्नि-कर्ष तथा दोषविशेष से अजन्य ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है।

इस प्रकार नियम की कल्पना कीजाय तो भी सत्प्रतिपक्ष स्थल में संशयात्मक अनुमिति ज्ञान प्रामाणिक नहीं होसक्ता, क्योंकि लौकिकसन्निकर्ष के विषय में संशयज्ञान की भांति किसी न्यायाचार्य्य ने संशयात्मक अनुमिति को प्रामाणिक नहीं माना, इससे सिद्ध है कि जहां दो हेतुओं में परस्पर अभाव को विषय करनेवाला परामर्श पायाजाय वहीं परस्पर परामर्शों के प्रतिवध्यप्रतिबन्धकभाव होने से अनुमिति नहीं होती, इसलिये परस्पर विरोधी हेतुओं का परामर्श होने पर सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास के अनुमितिप्रतिबन्धक होने में कोई बाधा नहीं।

और जो उक्त महाशय ने "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" इस प्रत्यक्षात्मक संशय का उदाहरण देकर सत्प्रतिपक्ष स्थल में संशयरूप अनुमिति को स्थापन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि जहां एक धर्म्मी के परस्पर विरोधिधर्म्म = साध्य को विषय करनेवाले दो ज्ञानों में अप्रमाणता सिद्ध नहीं होती वहीं संशय होता है अन्यत्र नहीं, इस नियम के अनुसार जबतक दो कोटि = धर्म्मों को विषय करनेवाले परस्परविरोधी ज्ञानों में से किसी एक ज्ञान में मिथ्यात्व निश्चय नहीं होता तबतक संशय ज्ञान का कोई अंश निर्बल वा सबल होकर स्वस्वरूप में प्रत्यक्षज्ञान का निश्चायक नहीं होसक्ता, अतएव संशयज्ञान को किसी दार्शनिक ने प्रमाणरूप कथन नहीं किया, और जब संशय के किसी एक अंश में प्रमाणता सिद्ध होजाय तो वह स्वयं निवृत्त होजाता है परन्तु जिस विरोधी ज्ञान में अप्रमाणता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं अर्थात् जो विरोधी ज्ञान

किसी प्रमाणद्वारा मिथ्या सिद्ध नहीं वही प्रतिबन्धक होता है दूसरा नहीं, इसलिये सत्प्रतिपक्षस्थल में साध्याभावविषयक परामर्श भी अप्रमाण सिद्ध न होने से प्रतिबन्धक बना रहता है और प्रतिबन्धक के होने पर कार्य्य का न होना सर्वानुभवसिद्ध है, इसप्रकार संशय के उदाहरण से सत्प्रतिपक्ष के विषय में संशयात्मिक अनुमितिज्ञान का मानना आकाशपुष्प के समान जानना चाहिये।

वृत्तिकार "विश्वनाथ" का कथन है कि "**स्वसाध्यपरामर्शकालीनतुल्यबलविरोधिपरामर्शः सत्प्रतिपक्षः**" = जिस काल में प्रकृत साध्य का परामर्श होवे उसी काल में होनेवाले विरोधी = साध्याभाव के साधक परामर्श का नाम "सत्प्रतिपक्ष" दोष है और उक्त दोष के सम्बन्ध से हेतु भी "सत्प्रतिपक्ष" कहाता है जैसाकि "ह्रदो वन्हिमान् धूमात्" इत्यादि उक्त उदाहरण से स्पष्ट है॥

सं०—अब साध्यसम का लक्षण कथन करते हैं :-

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात्साध्यसमः॥ ८॥

पद०—साध्याविशिष्टः। साध्यत्वात्। साध्यसमः।

पदा०—(साध्यत्वात्) जो हेतु साध्य होने से (साध्याविशिष्टः) साध्य के समान हो उसको (साध्यसमः) साध्यसम कहते हैं॥

भाष्य-"साध्येनाविशिष्टः साधनीयत्वात्साध्यसमः" न्या० भा० = जो हेतु साध्य की भांति असिद्ध हो उसका नाम "साध्यसम" है, जैसाकि "द्रव्यं छायेति साध्यं गतिमत्त्वादितिहेतुः" = गति = चलनात्मक क्रिया के होने से छाया द्रव्य है, इस अनुमान में "गतिमत्वात्" हेतु "साध्यसम" हेत्वाभास है, क्योंकि जिस प्रकार छाया में "द्रव्यत्व" साध्य है इसी प्रकार "गतिमत्व" भी साध्य है सिद्ध नहीं प्रत्युत असिद्ध है, अतएव नव्यन्याय की परिभाषा में उक्त हेत्वाभास को "असिद्ध" कहते हैं ॥

भाव यह है कि जैसे छाया द्रव्यत्वधर्म्मवाली है किंवा नहीं ? यह सन्देह होने से छाया में द्रव्यत्वधर्म्म साध्य है, इसी प्रकार छाया गतिवाली है वा नहीं ? इस सन्देह के बने रहने से उसमें "द्रव्यत्व की भांति "गतिमत्व" साध्य है, और जो साध्य होता है वह हेतु नहीं होसक्ता, इसलिये द्रव्यत्वरूप साध्य के समान होने के कारण "गतिमत्त्व" "साध्यसम" हेत्वाभास है ॥

तात्पर्य्य यह है कि आच्छादन करने वाले द्रव्य का नाम "आवरकद्रव्य" तथा आच्छादन का नाम "आवरण" है, और आवरण के उत्तरोत्तर क्रम को "आवरणसन्तान" कहते हैं, जब पुरुष चलता है तो छत्रादि किंवा शरीरादि आरवक

द्रव्य के आवरणसन्तानद्वारा ज्यों २ तेजोभाग आवृत होता जाता है त्यों २ पुरुष की छाया भी चलती हुई प्रतीत होती है परन्तु वह प्रतीति आवरकद्रव्य की उपाधिद्वारा होने के कारण भ्रान्तिरूप है वास्तविक नहीं, क्योंकि अभावरूप होने से छाया में गतिक्रिया नहीं होसक्ती और अन्यवस्तु में अन्य प्रतीति का नाम भ्रान्ति है, यदि छाया द्रव्य होती तो उसमें "चलतिच्छाया" = छाया चलती है, इसप्रकार की चलनात्मक प्रतीति भ्रान्ति से न होती अपितु वास्तविक पाई जाती परन्तु ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि उक्त प्रतीति को आवरकद्रव्य की उपाधि से होने के कारण "गतिमत्त्वात्" हेतु भी "असिद्ध" है और असिद्ध होने से "साध्यसम" कहाता है अर्थात् छायारूप पक्ष में द्रव्यत्व साध्य की भांति असिद्ध होने से "गतिमत्त्व" हेतु भी साध्य के समान है और "साध्यसमोऽयं हेतुः" = यह हेतु साध्य के समान है, इस ज्ञान के होने से छाया में द्रव्यत्व की अनुमिति का प्रतिबन्ध उक्त हेत्वाभास का फल है, साध्यसम, तथा असिद्ध यह दोनों एकार्थवाची शब्द हैं।

सार यह निकला कि "पक्षावृत्तिर्हेतुरसिद्धः" = पक्ष में न वर्त्तनेवाले हेतु का नाम "असिद्ध" है, या यों कहो कि "व्याप्तिपक्षधर्म्मतारहितो हेतुरसिद्धः" = जिस हेतु की अपने साध्य के साथ व्याप्ति और पक्षवृत्तित्वरूप पक्षधर्म्मता न हो उसका

नाम "असिद्ध" है, जैसाकि उक्त उदाहरण में "गतिमत्त्वात्" हेतु "असिद्ध" है, क्योंकि छायारूप पक्ष में न वर्त्तने के कारण उक्त हेतु में पक्षवृत्तित्वरूप "पक्षधर्म्मता" नहीं तथा आकाशादि द्रव्यों में गति के न होने से "गतिमत्त्व" हेतु की "द्रव्यत्व" के साथ "व्याप्ति" भी नहीं, अतएव उक्त हेतु "असिद्ध" है किंवा "घटो द्रव्यं श्रावणत्वात्"=श्रोत्र का विषय होने से घट द्रव्य है, इस अनुमान में "श्रावणत्व" हेतु "असिद्ध" है, क्योंकि चक्षुः का विषय होने से घट श्रोत्र का विषय नहीं, इस-लिये घटरूप पक्ष में न वर्त्तने के कारण "श्रावणत्व" हेतु "असिद्ध" कहाता है, और "पक्षावृत्तिरयं हेतुः" = यह हेतु पक्ष में वर्त्तनेवाला नहीं, इस ज्ञान के होने से "द्रव्यत्वव्याप्यगतिमती छाया"=द्रव्यत्व की व्याप्ति का आश्रय जो गति उस वाली छाया है, किंवा "द्रव्यत्वव्याप्यश्रावणत्वधर्म्मवानयं घटः"=द्रव्यत्व की व्याप्ति का आश्रय जो श्रावणत्वधर्म्म उस वाला घट है, इस प्रकार का परामर्श नहीं होसक्ता, अतएव परामर्श का प्रतिबन्ध उक्त हेत्वाभास का फल है।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र "वाचस्पतिमिश्र" ने इस सूत्र का आशय इस प्रकार लापन किया है कि अनित्य होने से छाया सामान्य, विशेष तथा समवाय पदार्थ के अन्तर्भूत नहीं, और संयोग विभाग का असमवायिकारण न होने से

"कर्म्म" तथा द्रव्य में समवायसम्बन्ध से न रहने के कारण "गुण" भी नहीं, और मन, दिशा तथा काल का गुण इसलिये नहीं कि मन आदि के गुण का प्रत्यक्ष नहीं होता परन्तु छाया का प्रत्यक्ष होता है, अतएव बाह्य इन्द्रियद्वारा प्रत्यक्ष होने से आत्मा का गुण भी नहीं, क्योंकि आत्मा के विशेषगुणों का किसी बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता और चक्षुः का विषय होने से आकाश तथा वायु का भी गुण नहीं, यदि यह कहा जाय कि छाया को तेजोगुण मानने में क्या हानि ? इसका उत्तर यह है कि तेज का विरोधी होने तथा उष्णता आदि तेजोवृत्ति गुणों का सहचारी न होने से छाया तेज का गुण नहीं होसक्ती, अतएव पृथिवी तथा जल का भी गुण नहीं अर्थात् पृथिवी तथा जल के गन्ध और शीतस्पर्श का सहचारी न होने से छाया को उनके आश्रित भी नहीं मानसक्ते, दूसरी बात यह है कि पृथिवी तथा जल के रूपादि विशेष और संख्यादि सामान्यगुणों के चाक्षुषप्रत्यक्ष में आलोकसंयोग = तेजःसंयोग सहकारी है, आलोकसंयोग के विना पृथिवीजलवृत्ति रूपादिगुणों का चाक्षुप प्रत्यक्ष नहीं होता परन्तु छाया का साक्षात्कार आलोकसंयोग के विना ही पाया जाता है, इसलिये पृथिवी जल का गुण नहीं, यदि यह कहा जाय कि पृथिव्यादि द्रव्यों से अतिरिक्त छाया को दशम द्रव्य मानना चाहिये ? यह इसलिये ठीक नहीं कि दशम द्रव्य के गुण की उपलब्धि नहीं होती और विना गुण के द्रव्य की सिद्धि कथनमात्र है ।

भाव यह है कि यदि छाया को द्रव्य माने तो वह रूपवाला

होने से पृथिवी, जल किंवा तेज होगा, और यह नियम है कि रूप स्पर्श को त्यागकर नहीं रहसक्ता, इस नियम के अनुसार यदि छाया पृथिवी आदि के समान हो तो वह अवश्य किसी स्पर्शवाले द्रव्य से जन्य होनी चाहिये और रूप की भांति उसमें स्पर्श की उपलब्धि होना भी उचित है परन्तु नहीं होती, इससे स्पष्ट है कि वह पृथिवी आदि के समान उत्पत्ति वाला न होने से पृथिवी आदि के अन्तर्गत नहीं, यदि आग्रहवशात् नीलरूप की प्रतीति से पृथिवी के आरम्भक नीलरूपवाले अवयवोंद्वारा छाया की उत्पत्ति माने तो भी वादी की इष्टसिद्धि नहीं होसक्ती, क्योंकि गन्ध के विना नीलरूप कदापि नहीं रहसक्ता, यदि गन्धसहचारी नीलरूपवाले पृथिव्यारम्भक अवयवों से छाया की उत्पत्ति होती तो रूप की भांति गन्ध भी उसमें प्रतीत होता परन्तु छाया में गन्धाभाव की प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है, इसलिये वह उक्त अवयवों से जन्य न होने के कारण पृथिवी के समान नहीं, यदि यह कहा जाय कि छाया नीलरूपवाला कोई स्वतन्त्र द्रव्य है ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा मानने से उसका आलोकसहकृत चक्षुः से प्रत्यक्ष होना चाहिये आलोक निरपेक्ष से नहीं, क्योंकि नीलरूपद्रव्य के प्रत्यक्ष में आलोक निरपेक्ष हुआ चक्षुः कारण नहीं दीखता और छाया के प्रत्यक्ष में आलोक की अपेक्षा नहीं, इस प्रकार आलोक निरपेक्ष चक्षुः का विषय होने से वह स्वतन्त्र नीलद्रव्य नहीं परिशेष से उद्भूतरूप वाले तेजोद्रव्य का अभाव है और अभाव होने से गतिक्रिया का आधार नहीं, इसलिये "गतिमत्त्व" हेतु " आश्रया-

सिद्ध" हेत्वाभास है।

आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, और व्याप्यत्वासिद्ध भेद से असिद्ध तीन प्रकार का है "पक्षे पक्षतावच्छेकस्याभावः आश्रयासिद्धिस्तया प्रवर्त्तमान आश्रयासिद्धः"=पक्षमात्रवृत्ति धर्म्म का नाम "पक्षतावच्छेदक" पक्षतावच्छेदक के अभाववाले पक्ष का नाम "आश्रयासिद्धि" और आश्रयासिद्धि दोषवाले हेतु का नाम "आश्रयासिद्ध" है, जैसाकि "काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमान् धूमात्"=धूमवाला होने से काञ्चनमय पर्वत वह्निवाला है, इस अनुमान में "धूमात्" हेतु "आश्रयासिद्ध" है, क्योंकि धूम हेतु के पक्ष में "काञ्चनमयत्व" धर्म्म की अप्रसिद्धि से पक्षतावच्छेदक धर्म्म का अभाव है, और उक्त धर्म्मशून्य पक्ष में हेतु का वर्त्तना ही आश्रयासिद्धि दोष है तथा उक्तदोषवाला "धूम" हेतु "अश्रयासिद्ध" कहलाता है, इस प्रकार आश्रयासिद्ध का लक्षण यह हुआ कि "पक्षतावच्छेदकाभाववत्पक्षक आश्रयासिद्धः"=जिस हेतु का पक्ष पक्षतावच्छेदक=पक्षवृत्ति विशेषण के अभाव वाला हो उसको "आश्रयासिद्ध" कहते हैं, जैसाकि ऊपर के उदाहरणों में स्पष्ट है।

और "पर्वते काञ्चनमयत्वं नास्ति"=पर्वत में काञ्चनमयत्व धर्म्म नहीं, इस प्रकार काञ्चनमयत्वरूप

पक्षतावच्छेदक धर्म्म के अभाव निश्चयद्वारा "वह्निव्याप्यधूमवान्काञ्चनमयपर्वतः" = वह्नि के व्याप्य धूम वाला काञ्चनमय पर्वत है, इस परामर्श का प्रतिबन्ध ही उक्त हेत्वाभास का फल है।

"पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्याभावः स्वरूपासिद्धिस्तद्वान् स्वरूपासिद्धः" = पक्ष में व्याप्य के अभाव का नाम "स्वरूपासिद्धि" दोष है, उक्त दोपवाले हेतु को "स्वरूपासिद्ध", कहते हैं, या यों कहो कि पक्ष में हेतु के अभाव अथवा हेतु के अभाववाले पक्ष का नाम "स्वरूपासिद्धि" और उक्त दोपवाले हेतु का नाम "स्वरूपासिद्ध" है, जैसाकि "घटः पृथिवी पटत्वात्" = पटत्वधर्म्म वाला होने के कारण घट पृथिवी है, इस अनुमान में "पटत्व" हेतु "स्वरूपासिद्ध" है, क्योंकि घटवृत्ति पटत्व धर्म्म का घटरूप पक्ष में अभाव है, इसलिये पक्षवृत्त्यभाव दोष युक्त होने से "पटत्वात्" हेतु "स्वरूपासिद्ध" कहाता है।

कई एक नैयायिक स्वरूपासिद्ध का लक्षण इस प्रकार करते हैं कि "पक्षनिष्ठाभावप्रतियोगी स्वरूपासिद्धः" = पक्ष में वर्त्तने वाले अभाव के प्रतियोगी हेतु को "स्वरूपासिद्ध" कहते हैं, जैसाकि "ह्रदो द्रव्यं धूमात्" = धूमवाला होने से सरोवर द्रव्य है, इस अनुमान में "धूमात्" हेतु "स्वरूपासिद्ध" है, क्योंकि

सरोवररूप पक्ष में वर्त्तमान जो धूमाभाव उसका प्रतियोगी "धूम" है और "ह्रदे धूमो नास्ति" = सरोवर में धूम का अत्यन्ताभाव है, इस ज्ञान के होने पर "द्रव्यत्वव्याप्यधूमवान्ह्रदः" = द्रव्यत्व के व्याप्य धूमवाला सरोवर है, इस प्रकार का परामर्श नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त परामर्श का प्रतिबन्ध ही उक्त हेत्वाभास का फल है।

स्वरूपासिद्ध के उभयासिद्धादि भेदों का विस्तारपूर्वक निरूपण "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में किया गया है।

"यत्र व्याप्तिर्नावगम्यते सः=व्याप्यस्य भावो व्याप्यत्वं=व्याप्तिः, तस्या असिद्धिः व्याप्यत्वासिद्धिः सा यत्र नियता स व्याप्यत्वासिद्धः" = व्याप्ति का नाम "व्याप्यत्व" व्याप्यत्व "की असिद्धि का नाम "व्याप्यत्वासिद्धि" और व्याप्यत्वासिद्धि दोषवाले हेतु को "व्याप्यत्वासिद्ध" कहते हैं अर्थात् जिस हेतु की अपने साध्य के साथ व्याप्ति न बनसके उसका नाम "व्याप्यत्वासिद्ध" है, साध्यासहचरित तथा सोपाधिकसाध्यसम्बन्ध भेद से व्याप्यत्वासिद्ध दो प्रकार का है, "साध्येन असहचरितः साध्यासहचरितः" = जिसका साध्य के साथ सहचार न हो अर्थात् जिसकी साध्य के साथ व्याप्ति में कोई प्रमाण न पाया जाय उसका नाम "साध्या-

सहचरित " है, जैसाकि "घटः क्षणिकः सत्त्वात्"= भावरूप होने से घट क्षणिक=दो क्षण पर्य्यन्त स्थायी है, इस अनुमान में "सत्त्वात्" हेतु "साध्यासहचरित" हेत्वाभास है, क्योंकि "सत्व" हेतु का "क्षणिकत्व" साध्य के साथ व्याप्ति में कोई प्रमाण नहीं अर्थात् व्यभिचारज्ञान का अभाव तथा सहचारज्ञान यह दोनों व्याप्ति के ग्राहक होते हैं, जैसाकि पीछे अनुमान के लक्षण में निरूपण कर आये हैं, प्रकृत में "जो सत् है वह क्षणिक है" इस प्रकार "सत्" हेतु का उक्त साध्य के साथ सहचार नहीं पायाजाता क्योंकि पट आदि पदार्थों में "सत्त्व" के होने पर भी क्षणिकत्व नहीं किन्तु उक्त पदार्थ दो क्षण से अधिक क्षणों तक भी विद्यमान रहते हैं, अतएव व्यभिचारज्ञान भी उक्त स्थल में स्पष्ट है, इस प्रकार घटादि पक्ष तथा पटादि सपक्ष में "क्षणिकत्व" साध्य के साथ "सत्त्व" हेतु का सहचार न होने से वह "साध्यासहचरित" नामक व्याप्यत्वासिद्ध कहाता है।

"उपाधिना सह वर्त्तत इति सोपाधिकः सोपाधिकः साध्यसम्बन्धो यस्य स सोपाधिकसाध्यसम्बन्धः"= उपाधिवाले का नाम "सोपाधिक" जिस हेतु का व्याप्ति सम्बन्ध सोपाधिक हो उसको "सोपाधिकसाध्यसम्बन्ध" और "यद्व्यावृत्त्या यस्य साधनस्य साध्यं निवर्त्तते स धर्म्मस्तत्र हेतावुपाधिः"=जिसके अभावद्वारा

जिस साधन के साध्य का पक्ष में अभाव पायाजाय उस धर्म्म को उस हेतु में "उपाधि" कहते हैं अर्थात् "यस्याभावात्पक्षे साध्यसाधनसम्बन्धाभावः स धर्म्म उपाधिः"=जिसके न होने से पक्ष में साध्यसाधन के व्याप्तिरूप सम्बन्ध का अभाव हो उस धर्म्म का नाम "उपाधि" है, जैसाकि "पर्वतो धूमवान्वह्नेः"=वह्नि के होने से पर्वत धूमवाला है, इस अनुमान में "आर्द्रेन्धनसंयोग"=कच्ची लकड़ियों का संयोग उपाधि है अर्थात् "यत्र वह्निस्तत्र धूमः"=जहां वह्नि है वहां धूम है, इस प्रकार वह्नि हेतु की धूम साध्य के साथ व्याप्ति नहीं होसक्ती, क्योंकि अयोगोलक में वह्नि के होने पर भी धूम नहीं होता और "यत्रार्द्रेन्धनसंयोगस्तत्र धूमः"=जहां आर्द्रेन्धनसंयोग है वहां धूम है, क्योंकि विना आर्द्रेन्धनसंयोग के धूम नहीं होता, इस नियम के अनुसार अयोगोलक में आर्द्रेन्धसंयोग के अभाव से प्रकृत अनुमान में वह्नि हेतु का साध्य जो धूम उसका भी अयोगोलक में अभाव है, यदि अयोगोलक में आर्द्रेन्धनसंयोग होता तो वहां तत्सहचारी धूम भी अवश्य पाया जाता परन्तु ऐसा नहीं, इससे स्पष्ट है, कि अयोगोलक में आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधि के अभाव से धूम साध्य के अभावद्वारा प्रकृत पर्वत पक्ष में वह्नि धूम का "जहां वह्नि है वहां धूम है" यह व्याप्तिसम्बन्ध सोपाधिक है निरुपाधिक नहीं, इस प्रकार सोपाधिकसम्बन्धवाला

वह्नि हेतु "सोपाधिकसाध्यसम्बन्ध" हेत्वाभास कहाता है, नव्यन्याय की परिभाषा में उक्त हेत्वाभास को "सोपाधिक" कहते हैं, उपाधि के भेद तथा उसके ज्ञापन का विशेष प्रकार "वैशेषिकार्य्य-भाष्य" में विस्तारपूर्वक स्फुट किया है, इसलिये यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं ।

स्मरण रहे कि नव्य नैयायिक साध्याप्रसिद्ध तथा साधनाप्रसिद्ध हेत्वाभास को भी "व्याप्यत्वासिद्ध" के अन्तर्गत मानते हैं "साध्ये साध्यतावच्छेदकस्याभावः साध्याप्रसिद्धिस्तद्वान् साध्याप्रसिद्धः" = साध्यमात्रवृत्ति धर्म का नाम "साध्यतावच्छेदक" साध्यतावच्छेदक के अभाव को "साध्याप्रसिद्धि" और उक्त दोष वाले हेतु को "साध्याप्रसिद्ध" कहते हैं, जैसाकि "पर्वतः काञ्चनमयवह्निमान् धूमात्" = धूम के होने से पर्वत काञ्चनमय वह्निवाला है, इस अनुमान में "धूमात्" हेतु "साध्याप्रसिद्ध" है, क्योंकि वह्नि साध्य में काञ्चनमयत्वरूप साध्यतावच्छेदक धर्म्म नहीं पाया जाता, अतएव उक्त साध्य के लिये प्रयुक्त "धूम" हेतु "साध्याप्रसिद्ध" है, और "काञ्चनमयो वह्निर्न" = काञ्चनमय वह्नि कहीं प्रसिद्ध नहीं, इस प्रकार वह्नि के अप्रसिद्धि से "काञ्चनत्वविशिष्टवन्हिव्याप्यधूमवानयं पर्वतः" = काञ्चनत्व

धर्म्मवाली वह्नि की व्याप्ति का आश्रयभूत जो धूम उसवाला पर्वत है, इस प्रकार के परामर्श का प्रतिबन्ध होता है और उक्त परामर्श प्रतिबन्ध द्वारा "पर्वतःकाञ्चनमयवन्हिमान्" = यह पर्वत काञ्चनमय वह्निवाला है, इस प्रकार की अनुमिति का प्रतिबन्ध करना ही "साध्याप्रसिद्ध" हेत्वाभास का फल है।

"हेतौ हेतुतावच्छेदकस्याभावः साधनाप्रसिद्धि-स्तद्वान् साधनाप्रसिद्धः" = हेतुमात्रवृत्ति धर्म्म का नाम "हेतुतावच्छेदक" हेतु में हेतुतावच्छेदक धर्म्म के अभाव का नाम "साधनाप्रसिद्धि" और उक्त दोष वाले हेतु को "साधनाप्रसिद्ध" कहते हैं, जैसाकि "पर्वतो वन्हिमान् काञ्चनमयधूमात्" इस अनुमान में "काञ्चनमयधूमात्" हेतु "साधनाप्रसिद्ध" है, क्योंकि काञ्चनमयधूम की अप्रसिद्धि से धूम में "काञ्चनमयत्व" धर्म्म हेतुतावच्छेदक नहीं होसक्ता और उसके न होने से उक्त हेतु द्वारा पर्वत में वह्नि की सिद्धि भी नहीं होसक्ती, यह हेत्वाभास भी आश्रयासिद्ध की भांति व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्धक जानना चाहिये।

सं०—अब अतीतकाल का लक्षण कथन करते हैं:—

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः।९।

पद०—कालात्ययापदिष्टः। कालातीतः।

पदा०—(कालात्ययापदिष्टः) जो हेतु कालात्यय होने पर कथन कियाजाय उसको (कालातीतः) कालातीत कहते हैं ।

भाष्य—"कालात्ययेन युक्तो यस्यार्थस्यैकदेशोपदिश्यमानस्य स कालात्ययापदिष्टः"=समय के व्यतीत होने का नाम "कालात्यय" है, जो हेतु कालात्यय होने पर साध्यसिद्धि के लिये प्रयुक्त हो उसको "कालातीत" कहते हैं अर्थात् जिस विशेषणवाले हेतु का विशेषण कार्य्य के समय पर्य्यन्त स्थिर नहीं रहता उसका नाम "कालातीत" है, कालातीत तथा अतीतकाल यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, जैसाकि "शब्दो नित्यः संयोगव्यङ्ग्यत्वात् रूपवत्"=रूप की भांति संयोग द्वारा व्यङ्ग्य होने से शब्द नित्य है, इस अनुमान में "संयोगव्यङ्ग्यत्वात्" हेतु "अतीतकाल" है, क्योंकि उक्त हेतु का विशेषणभूत संयोग शब्द की स्थिति काल में नहीं रहता ।

भाव यह है कि जिस प्रकार दीपक तथा घट के संयोग से घटवृत्ति रूप की अभिव्यक्ति होती है उत्पत्ति नहीं, इसलिये घटगत रूप दीपघटसंयोग से जन्य नहीं होता, इसी प्रकार आकाशवृत्ति शब्द भी भेरीदण्ड संयोग किंवा कुठारकाष्ठसंयोग से अभिव्यक्त है जन्य नहीं, अतएव उक्त संयोग से अभिव्यक्त होने के कारण शब्द नित्य है, इस अनुमान में "संयोगव्यङ्ग्यत्वात्" हेतु "अतीतकाल"

हेत्वाभास है, क्योंकि जैसे रूपाभिव्यञ्जक = रूप के प्रकाश करने वाले दीपघटसंयोग के अभावकाल में रूप का ज्ञान नहीं होता वैसा शब्द का नहीं अर्थात् भेरीदण्डसंयोग के अभावकाल में भी दूरस्थ पुरुष को शब्द का श्रवण होता है यदि शब्द रूप की भांति संयोग से व्यङ्ग्य ही होता तो संयोग के विद्यमान रहने पर उसकी प्रतीति होती और संयोग के अभावकाल में न होती परन्तु भेर्य्यादिसंयोग के न रहने पर भी कुछ काल पर्य्यन्त शब्द की प्रतीति सर्वानुभव-सिद्ध है, इससे स्पष्ट है कि रूप की भांति शब्द संयोगव्यङ्ग्य नहीं अपितु संयोगजन्य है, इस प्रकार भेरी दण्ड आदि के विभागकाल में होने वाला शब्द संयोगकाल की अपेक्षा से रहित है, इसलिये "संयोगव्यङ्ग्यत्वात्" हेतु "अतीतकाल" हेत्वाभास कहाता है।

"जयन्तभट्ट" का कथन है कि उक्त अर्थ के अनुसार "संयोगव्यङ्ग्यत्व" हेतु साध्य के समान होने से "साध्यसम" हेत्वाभास है, क्योंकि नित्यत्व की भांति शब्द में "संयोगव्यङ्ग्यत्व" भी साध्य है, इसलिये अतीतकाल को उक्त रीति से लापन करना समीचीन नहीं किन्तु प्रत्यक्ष तथा शब्द प्रमाण से विरोधी होकर पक्षवृत्ति होना हेतु का "प्रयोगकाल" कहाता है, उक्त काल को त्यागकर प्रत्यक्ष तथा आगम से विरुद्ध विषय की सिद्धि के लिये प्रयुक्त हेतु को "कालात्ययापदिष्ट" किंवा "बाधित" कहते हैं, इसी अभिप्राय से "वृत्तिकार" ने इस सूत्र का यह अर्थ किया है कि साध्यसिद्धि के अभावकाल में अर्थात् साध्य का सम्बन्ध

निवृत्त होजाने पर उसकी सिद्धि के निमित्त जो प्रयुक्त किया हो वह हेतु "कालातीत" कहाता है, और इसी को साध्याभाव का साधक होने से "वाधितसाध्यक" किंवा "वाधित" कहते हैं ।

इस प्रकार "वाधित" का लक्षण यह हुआ कि "साध्याभाववत्त्वप्रमाविषयपक्षकत्वं वाधः सोऽस्यास्तीतिवाधितः"= साध्याभाव को विषय करनेवाला जो यथार्थज्ञान उसके विषयभूत पक्ष का नाम "वाध" दोष और उक्त दोषवाले हेतु को "वाधित" कहते हैं, जैसाकि "वन्हिरनुष्णोद्रव्यत्वात्"=द्रव्यत्वधर्म्मवाला होने से वह्नि अनुष्ण=उष्णता के अभाववाला है, इस अनुमान में "द्रव्यत्व" हेतु "वाधित" है, क्योंकि "अनुष्णत्वाभाववान् वह्निः"=अनुष्णत्वधर्म्म के अभाववाली=उष्णतावाली वह्नि है, इस प्रकार अनुष्णत्व साध्य के अभाव को विषय करने वाला जो यथार्थज्ञान उसका विषय सरोवर पक्ष है और अनुष्णत्वरूप साध्य के अभाववाले वह्निरूप पक्ष में वर्त्तने से "द्रव्यत्व" हेतु "वाधित" कहाता है, "अनुष्णत्वाभाववान् वह्निः"=अनुष्णत्व धर्म्म के अभाववाली वह्नि है, इस ज्ञान के होने से "वन्हिरनुष्णः"= वह्नि अनुष्ण है, यह अनुमिति नहीं होसकती, इसलिये साध्याभाव को विषय करने से साक्षात् अनुमिति का प्रतिवन्ध करना ही उक्त हेत्वाभास का फल है ।

भाव यह है कि "अनाहार्य्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दिततद्धर्म्मिकतदभावनिश्चयस्य लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यतद्धर्म्मिकतज्ज्ञानत्वावच्छिन्ने प्रतिबन्धकत्वम्" = बाधकालीन इच्छाजन्य ज्ञान का नाम "आहार्य्य" है, जैसाकि "ह्रदोवह्निमान्" = यह सरोवर वह्निवाला है, इस अनुमिति के अनन्तर "ह्रदे वन्ह्यभावप्रत्यक्षं मे जायताम्" = मुझ को सरोवर में वह्नि के अभाव का प्रत्यक्ष हो, इस इच्छा के होने पर "ह्रदोवन्ह्यभाववान्" = वह्नि के अभाववाला सरोवर है, यह ज्ञान "आहार्य्य" है, और जो आहार्य्य न हो उसको "अनाहार्य्य" कहते हैं, संशयादिज्ञानों का नाम "अप्रामाण्यज्ञान" तथा मिश्रित = मिले हुए का नाम "आस्कन्दित" है, जो अप्रामाण्यज्ञान से आस्कन्दित = संशयादिज्ञान से मिला हुआ नहीं उसको "अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित" कहते हैं, अनाहार्य्य तथा अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित = संशयादिज्ञान से रहित तद्धर्म्मिकतदभावनिश्चय = प्रकृतधर्म्मवाले धर्म्मी के अभाव को विषय करनेवाला निश्चय लौकिकसन्निकर्ष तथा पित्तादिदोषविशेष से अजन्य प्रकृतधर्म्मविशिष्ट धर्म्मी के ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है, यह नियम है, इस नियम के अनुसार

उक्त बाधस्थल में अनुष्णत्वधर्म्मविशिष्ट अनुष्णाभाववाले धर्म्मी का ज्ञान अर्थात् "वह्निरुष्णः" = वह्नि उष्ण है, इसप्रकार का स्पार्शनप्रत्यक्ष अनाहार्य्य तथा अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित होने से आहार्य्य कहलाता है, या यों कहो कि बाधकाल में होनेवाली इच्छा से अजन्य तथा संशयादि मिथ्याज्ञान से रहित होने के कारण "वह्निरनुष्णः" = वह्नि अनुष्ण है, इस अनुमिति का प्रतिबन्धक है, क्योंकि अनुष्णत्वधर्म्म को विषय करनेवाला वह्नि का उक्त अनुमितिज्ञान लौकिकसन्निकर्ष तथा दोषविशेष से जन्य नहीं किन्तु लौकिकसन्निकर्षाजन्य तथा दोषविशेषाजन्य है, अतएव "वह्निरुष्णः" = वह्नि उष्ण है, इस स्पार्शनप्रत्यक्षरूप प्रतिबन्धकज्ञान का "वह्निरनुष्णः" यह अनुमितिज्ञान प्रतिबध्य जानना चाहिये ॥

सार यह है कि लौकिकप्रत्यक्ष से भिन्न सब अनुमिति आदि ज्ञान लौकिकसन्निकर्षाजन्य हैं लौकिकसन्निकर्षजन्य नहीं और उनके मध्य एक "पीतः शंखः" = शंख पीतवर्ण वाला है, यह ज्ञान दोषविशेष से जन्य है, जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं और तद्धर्म्मविशिष्ट धर्म्मी का अभावज्ञान "पीतः शंखः" इत्यादि ज्ञान को छोड़कर ज्ञानमात्र का प्रतिबन्धक होता है।

कई एक नैयायिकों का कथन है कि "संशयसाधारणं पक्षे साध्यसंसृष्टत्वज्ञानमनुमितिकारणं तद्विरोधितया च

बाधसत्प्रतिपक्षयोर्हेत्वाभासत्त्वम् " = पक्ष में साध्यसम्बन्ध को विषय करनेवाले ज्ञान का नाम "साध्यसंसृष्टत्वज्ञान " है, " पर्वतो वह्निमान्नवा " = पर्वत वह्निवाला है किंवा नहीं, इत्यादि संशयसहित पर्वतादि पक्ष में होनेवाला साध्यसंसृष्टत्वज्ञान अनुमिति का कारण है और अनुमिति के कारण सध्यसंसृष्टत्व-ज्ञान का प्रतिबन्धक होने से बाध तथा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास कहाते हैं परस्पर साध्याभावविषयक परामर्श तथा साक्षात् अनुमिति का प्रतिबन्धक होने से नहीं, यह इसलिये ठीक नहीं कि संशय-विशिष्ट साध्यसंसृष्टत्वज्ञान को अनुमिति का कारण मानने से " पृथिवी इतरभेदवती " = जलादि पदार्थों के भेदवाली पृथिवी है, यह अनुमिति नहीं होसक्ती अर्थात् उक्त स्थल में अनुमिति से पहिले पृथिवीरूप पक्ष में इतरभेद = जलादिभेदरूप साध्य के सम्बन्ध का ज्ञान किसी प्रकार नहीं पाया जाता, और कारणाभाव से कार्य्य का अभाव सर्वानुभवसिद्ध है, इसलिये पृथिवीपक्ष में जलादिभेदरूप साध्य के सम्बन्ध को विषय करनेवाले ज्ञान के न होने से " पृथिवी इतरभेदवती " यह अनुमिति न होनी चाहिये परन्तु होती है, इससे स्पष्ट है कि " साध्यसंसृष्टत्वज्ञान " अनुमिति का कारण नहीं, दूसरी बात यह है कि यदि साध्यसंशय को अनुमिति का कारण मानाजाय तो संशय के विना भी घनगर्जन = बादल की गर्ज से "गगनं मेघवत्" = मेघवाला आकाश है, यह अनु-

मिति होती है सो न होनी चाहिये और उक्त अनुमिति में किसी वादी की विप्रतिपत्ति नहीं, इसलिये साध्यसंशय किंवा साध्यसंसृष्टत्वज्ञान अनुमिति का कारण नहीं होसक्ता, अतएव उक्त अनुमिति कारण के प्रतिबन्धक होने से ही "बाध" तथा "सत्प्रतिपक्ष" हेत्वाभास नहीं अपितु परस्पर साध्याभाव को विषय करनेवाले परामर्श का प्रतिबन्धक होने से "सत्प्रतिपक्ष" तथा साक्षात् अनुमिति का प्रतिबन्धक होने से "बाध" हेत्वाभास है ।

कई एक प्राचीन नैयायिकों का कथन है कि "साध्याभावज्ञाने प्रमात्वज्ञानमेव प्रतिबन्धकम्" = साध्याभावज्ञान में होनेवाला प्रमात्वज्ञान = यथार्थनिश्चय ही प्रतिबन्धक है अर्थात् "ह्रदो वन्ह्यभाववान्" = वह्नि के अभाववाला सरोवर है, इस ज्ञान को विषय करनेवाला जो "इदं ज्ञानं प्रमा" = यह ज्ञान प्रमारूप है, इस प्रकार का निश्चय होता है वही "ह्रदोवन्हिमान्" इत्यादि अनुमिति का प्रतिबन्धक है, परन्तु साध्याभावज्ञान की अपेक्षा उसके विषय करने वाले प्रमात्वज्ञान को प्रतिबन्धक मानने में गौरव तथा साध्याभावज्ञान को प्रतिबन्धक मानने में लाघव है, इसलिये उक्त कथन समीचीन नहीं ।

भाव यह है कि बाधस्थल में "इदंज्ञानं प्रमा" यह ज्ञान भी वह्नि आदि साध्य के अभावज्ञानद्वारा प्रतिबन्धक होता है स्वतन्त्र नहीं, अतएव घटोत्पत्ति में रासभ की भांति अन्यथासिद्ध होने से

"ह्रदोवह्निमान्" इत्यादि अनुमितिज्ञान का प्रतिवन्धकरूप कारण नहीं होसक्ता, इसलिये उक्तस्थल में प्रथमोपस्थित वन्ह्यादिसाध्याभाव के निश्चय को प्रतिवन्धक मानना ठीक है।

यदि आग्रहवशात् साध्याभावज्ञान में होनेवाला प्रमात्वज्ञान ही प्रतिवन्धक मानाजाय तो सत्प्रतिपक्ष स्थल में भी साध्याभाव को विषय करनेवाले प्रमात्व निश्चय को ही प्रतिवन्धक मानना पड़ेगा परन्तु यह वात प्रमात्वज्ञान को प्रतिवन्धक माननेवाले वादी को भी इष्ट नहीं, इससे सिद्ध है कि वाध हेत्वाभास के विषय में भ्रमज्ञान से रहित साध्याभाव निश्चय के प्रतिवन्धक होने और वाध के किसी एकदेश में भ्रमशंका की निवृत्ति के लिये प्रमात्वज्ञान के उपयोग में कोई वाधा नहीं।

यहां प्रश्न यह होता है कि यदि वाधस्थल में हेतु को पक्षवृत्ति मानें तो साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास ही होगा, क्योंकि पक्षवृत्ति हेतु ही सपक्षविपक्षवृत्ति होने से साधारण हेत्वाभास कहलाता है, यदि पक्ष में हेतु का अभाव माने तो स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास से निर्वाह होसक्ता है, इस रीति से वाधदोषयुक्त पञ्चम वाधित हेत्वाभास को मानना निरर्थक है? इसका उत्तर यह है कि व्यभिचारादिज्ञानों से वाधज्ञान का भेद है जैसाकि ऊपर वर्णन कर आये हैं, इसलिये वाधज्ञान को स्वतन्त्र अनुमिति का प्रतिवन्धक होने से वाधित हेत्वाभास का पृथक् मानना सार्थक है निरर्थक नहीं, दूसरी वात यह है कि जहां द्रव्यत्व की व्याप्ति का आश्रय जो वन्हि उस वाला सरोवर है इस परामर्श के उत्तरक्षण में

" ह्रदो वन्ह्यभाववान, ह्रदे वन्हिर्नास्ति " = वन्हि के अभाववाला सरोवर है किंवा सरोवर में वन्हि का अत्यन्ताभाव है, इस प्रकार का बाधज्ञान होने पर व्यभिचारज्ञान तथा स्वरूपासिद्धिज्ञान दोनों अकिञ्चित्कर है, क्योंकि व्यभिरादिज्ञान परामर्शद्वारा ही अनुमिति के प्रतिबन्धक होते हैं साक्षात् नहीं इस प्रकार परामर्शोत्तरक्षण में उनकी प्रतिबन्धयोग्यता न रहने के कारण बाधज्ञान को प्रतिबन्धक मानना ही ठीक है, और यह भी नियम नहीं कि सर्वत्र बाधस्थल में व्यभिचारादि दोष अवश्य विद्यमान हों, क्योंकि " उत्पत्तिक्षणावच्छिन्नो घटो गन्धवान् पृथिवीत्वात् " = पृथिवीत्वधर्म्मवाला होने के कारण उत्पत्तिकालिक घट गन्धवाला है, इस बाधित अनुमान के उत्पत्तिकालिक घटरूप पक्ष में "पृथिवीत्व" हेतु के विद्यमान होने से स्वरूपासिद्धि तथा व्यभिचार दोष भी नहीं किन्तु "जायमानं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति" = उत्पत्ति काल में द्रव्य एकक्षण पर्य्यन्त निर्गुण रहता है, इस नियम के अनुसार " उत्पत्तिक्षणावच्छिन्नोघटो गन्धाभाववान्" = उत्पत्तिकालिक घट गन्ध के अभाववाला है, इस प्रकार का बाधज्ञान ही उक्त घट में गन्धानुमिति का साक्षात्प्रतिबन्धक है, इसलिये उक्त बाधदोष युक्त " पृथिवीत्व " हेतु " बाधित " हेत्वाभास कहाता है ।

धर्म्मिग्राहकमानबाधित, साध्यप्रतियोगिग्राहकमानबाधित, साध्यग्राहकमानबाधित और हेतुग्राहकमानबाधित भेद से बाधित

चार प्रकार का है, जिसमें धर्म्मी को विषय करने वाले प्रमाण से बाध पाया जाय उसको "धर्म्मिग्राहकमानबाधित" कहते हैं, जैसाकि "घटः व्यापकः द्रव्यत्वात् आकाशवत्" = आकाश की भांति द्रव्यत्वधर्म्म वाला होने से घट व्यापक है, इस अनुमान में "द्रव्यत्व" हेतु "धर्म्मिग्राहकमानबाधित" है, क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाणद्वारा धर्म्मी घट की व्यापकता का अभाव निश्चित होने के कारण "द्रव्यत्व" हेतु के घटरूप पक्ष में साध्याभावरूप बाध पाया जाता है, इसलिये उक्त बाधरूप दोषवाला "द्रव्यत्वात्" हेतु "धर्म्मिग्राहकमानबाधित" कहाता है।

जहां साध्य के प्रतियोगी को विषय करने वाले प्रमाण से बाध हो उसको "साध्यप्रतियोगिग्राहकमानबाधित" कहते हैं, जैसाकि "वन्हिरनुष्णः कृतकत्वात्" = कार्य्य होने से वह्नि अनुष्ण है, इस अनुमान में "कृतकत्व" हेतु "साध्यप्रतियोगिग्राहकमानबाधित" है, क्योंकि अनुष्णत्व = उष्णताभावरूप साध्य का प्रतियोगी जो उष्णत्व, तद्ग्राहक स्पार्शन प्रत्यक्ष से वह्निरूप पक्ष में अनुष्णत्व का बाध है और उक्त बाध वाला "कृतकत्व" हेतु "साध्यप्रतियोगिग्राहकमानबाधित" है।

जिसमें साध्य को विषय करने वाले प्रमाण से बाध हो उसका नाम "साध्यग्राहकमानबाधित" है, जैसाकि "ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवत्" = दुग्ध

की भांति द्रवद्रव्य होने से ब्राह्मण को सुरा पीनी चाहिये, इस अनुमान में "द्रवद्रव्यत्वात्" हेतु "साध्यग्राहकमानबाधित" है, क्योंकि :-

गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
यथैवैका तथा सर्वा न पेया ब्रह्मवादिभिः ॥

अर्थ–गौडी, पैष्टी तथा माध्वी भेद से सुरा के मुख्य तीन भेद हैं जैसे एक सुरा बुद्धि का नाश करने वाली नरक का साधन है इसी प्रकार सब महापाप का कारण होने से अनर्थरूप हैं, इसलिये मनुष्यमात्र को सुरापान न करना चाहिये, विशेषतः ब्राह्मणलोग कदापि उसका पान न करें इस स्मृति प्रमाणद्वारा सुरापानरूप साध्य का बाध होने के कारण प्रकृत में "द्रवद्रव्यत्व" हेतु "साध्यग्राहकमानबाधित" है ।

जहां हेतु को विषय करनेवाले प्रमाण से बाध पाया जाय उसको "हेतुग्राहकमानबाधित" कहते हैं, जैसाकि "राजसूयो ब्राह्मणकर्त्तव्यः स्वर्गसाधनत्वात् अग्निष्टोमवत्" = अग्निष्टोम याग की भांति स्वर्ग का साधन होने से राजसूय यज्ञ ब्राह्मण का कर्त्तव्यधर्म्म है, इस अनुमान में "स्वर्गसाधनत्वात्" हेतु "हेतुग्राहकमानबाधित" है, क्योंकि "राजा राजसूयेन यजेत" = राजसूय यागद्वारा राजा यजन करे, इस विधिवाक्य से राजसूय यज्ञ राजा ही का कर्त्तव्य है ब्राह्मण का नहीं, इसलिये

राजा के उद्देश से राजसूय यज्ञ में स्वर्गसाधनता को विषय करने-वाले उक्त प्रमाणद्वारा "बाध" के उपलब्ध होने से तद्विषयक "स्वर्गसाधनत्व" हेतु "हेतुग्राहकमानबाधित" हेत्वाभास है, यही रीति सर्वत्र बाधदोष के उद्भावनपूर्वक बाधित हेत्वाभास के ज्ञापन करने में जाननी चाहिये।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि "यादृशपक्षसाध्य-हेतौ यावन्तोदोषस्तावदन्यान्यत्वं तत्र हेत्वाभासत्वम्, पञ्चकथनं तु तत्सम्भवस्थलाभिप्रायेण" = जिस २ पक्ष, साध्य तथा हेतु में जितने दोष होसकें उतने ही हेत्वाभास होते हैं वस्तुतः पांच हेत्वाभासों का नियम नहीं, इसी अभिप्राय से न्या० वा० में कथन किया है कि "अनेकधा प्रसृतस्य हेतुहेत्वा-भासस्य विस्तरः संक्षेपश्च इति" = हेतु तथा हेत्वाभासों के असंख्य भेदों को दुर्विज्ञेय होने से ऋषि ने पांच भेदों को संक्षेप से निरूपण किया है, और इसी आशय से आधुनिक नैयायिकों का कथन है कि "वायुर्गन्धवान् स्नेहात्" = स्नेह गुण का आश्रय होने से वायु गन्धवाली है, इस अनुमान में पांचो हेत्वाभास एकत्र पाये जाते हैं, इसलिये हेत्वाभासों की उक्त संख्या कथन की है वस्तुतः संख्या का नियम नहीं, न्यायवार्त्तिक तथा उसकी तात्पर्य्यटीका में हेत्वाभासों के अनेक भेदों का सविस्तर निरूपण किया है परन्तु विशेष उपयोग न होने के कारण यहां नहीं लिखा।

और "भदन्त" तथा उसके अनुयायी लोग उक्त सूत्र का इस प्रकार लापन करके खंडन करते हैं कि "प्रतिज्ञानन्तरं हेतोः कालस्तमतीत्य हेतुः पश्चादपदिश्यमानः कालातीतो भवति" न्या० वा० ता० टी० = प्रतिज्ञावाक्य के अनन्तर हेतु का उच्चारण काल होता है, उसकाल के विना विपरीत कथन किया हुआ हेतु "कालातीत" कहाता है और यही लक्षण अप्राप्तकालरूप निग्रह स्थान का है, पुनः उक्त निग्रहस्थान के कथन से पुनरुक्ति दोष आता है अर्थात् "अवयवविपर्य्यासवचनमप्राप्तकालम्" न्या० ५। २। ११ में वर्णन किया है कि प्रतिज्ञादि अवयवों के क्रम त्याग से अप्राप्तकाल निग्रहस्थान होता है और यही अर्थ उक्त सूत्र से पाया जाता है, इसलिये अप्राप्तकाल-निग्रह स्थान से भिन्न न होने के कारण "कालातीत" पृथक् हेत्वाभास नहीं, प्रकारान्तर से अप्राप्तकाल निग्रहस्थान का ही लक्षण है, अतएव पुनरुक्ति दोष है? इसका उत्तर यह है कि विपरीतक्रम से हेतु के कथन का नाम कालातीत नहीं, क्योंकि जो वस्तुतः हेतु हो वह विपरीत कथन करने पर भी अपने हेतुभाव का परित्याग नहीं करसक्ता और क्रमत्याग से कथन करना हेतु का दोष नहीं प्रत्युत वक्ता का दोष है, इसप्रकार वक्तृदोष को उद्भावन करने के लिये अप्राप्तकाल निग्रहस्थान माना गया है, इसी अभिप्राय से "वात्स्यायनमुनि" ने न्या० भा० में कथन

किया है कि—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तेन सः ।
अर्थतोह्यसमर्थानामानन्तर्य्यमकारणम् ॥

अर्थ—जिस पद का जिस पद के साथ योग्यतारूप सम्बन्ध पाया जाता है उसके दूर रहने पर भी उसका उसी पद के साथ अन्वय होता है और जो पद वस्तुतः ही परस्पर सम्बन्धयोग्य नहीं उसका उत्तरोत्तर उच्चारण करना शाब्दबोध का हेतु नहीं होसक्ता।

"जयन्तभट्ट" ने "भदन्त" के दोष का परिहार करते हुए न्या० मं० में यह कथन किया है किः—

अक्षतप्रतिबन्धस्य साध्यावगतिकारिणः ।
क्रमातिक्रममात्रेण न हेत्वाभासता भवेत् ॥

अर्थ—जिस हेतु का अपने साध्य के साथ व्याप्तिसम्बन्ध व्यभिचारी नहीं किंवा जो हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने के लिये समर्थ है अर्थात् आभासरूप नहीं वह क्रमत्याग मात्र से हेत्वाभास नहीं होता।

तात्पर्य्य यह है कि प्रतिज्ञा, साध्य, हेतु तथा उसके अनन्तर उदाहरण यह प्रतिज्ञादि अवयवों का उत्तरोत्तर क्रम है सो यदि उक्त क्रम को त्यागकर भी प्रतिज्ञावाक्य से पूर्व किंवा दृष्टान्तवाक्य से उत्तर हेतु का कथन कियाजाय तो वह अपने हेतुभाव का

कदापि परित्याग नहीं करता, इसलिये बाधादि दोषों की भांति क्रमत्याग हेतु दोष नहीं होसक्ता, इससे स्पष्ट है कि सूत्र के उक्तार्थ को न समझकर महर्षिप्रणीत सूत्रों में पुनरुक्ति दोष का उद्भावन करना " भदन्त " का केवल साहसमात्र है ।

सं०—अब छल का लक्षण कथन करते हैं:—

वचनविघातोऽर्थविकल्पोप-पत्त्या छलम् ॥ १० ॥

पद०—वचनविघातः । अर्थविकल्पोपपत्त्या । छलम् ।

पदा०—(अर्थविकल्पोपपत्त्या) वक्ता के तात्पर्य्य से विरुद्ध अर्थ की कल्पनाद्वारा (वचनविघातः) वाक्य के खण्डन को (छलम्) छल कहते हैं ।

भाष्य-" अर्थस्य वक्तृतात्पर्य्यस्य यो विकल्पो विरुद्धः कल्पोविपरीतोर्थोऽर्थान्तरमिति यावत् तस्योपपत्त्या युक्त्या यो वचनस्य विघातो दूषणं=खण्डनमितिच्छलं तद्वेदितव्यम् "=वक्ता के अभिप्राय को " वक्तृतात्पर्य्य " कहते हैं, वक्तृतात्पर्य्य के विरुद्ध अर्थ की उपपत्तिपूर्वक कल्पना से वादी के वचन में दूषणोद्भावन का नाम " छल " है, या यों कहो कि वादी के कथन किये हुए वचन

में उसके अभिप्राय से विपरीत अर्थ की कल्पनाद्वारा वाक्यखण्डन का नाम "छल" है, छल का उदाहरण आगे वर्णन किया जायगा यहां केवल उसका सामान्यलक्षण कथन किया है।

सं०—अब छल के भेद कथन करते हैं :—

तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छल-मुपचारच्छलञ्चेति । ११ ।

पद०—तत् । त्रिविधं । वाक्छलं । सामान्यच्छलं । उप-चारच्छलं । च । इति ।

पदा०—(वाक्छलं) वाक्छल (सामान्यच्छलं) सामान्य-छल (च) और (उपचारच्छलं) उपचारच्छल भेद से (तत्) छल (त्रिविधं, इति) तीन प्रकार का है ।

सं०—अब वाक्छल का लक्षण कथन करते हैं :—

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्राया-दर्थान्तरकल्पना वाक्छ-लम् ॥ १२ ॥

पद०—अविशेषाभिहिते । अर्थे । वक्तुः । अभिप्रायात् । अर्था-न्तरकल्पना । वाक्छलम् ।

पदा०—(अविशेषाभिहिते अर्थे) [illegible]द्वारा अर्थ

के कथन करने पर (वक्तुः) वक्ता के (अभिप्रायात्) अभिप्राय से (अर्थान्तरकल्पना) विरुद्ध अर्थ की कल्पना का नाम (वाक्छलम्) वाक्छल है ।

भाष्य–“ यत्र शक्यार्थद्वये सम्भवति एकार्थनिर्णायकविशेषाभावात्, अनभिप्रेतशक्यार्थकल्पनेन दूषणाभिधानं वाक्छलं तद्वेदितव्यम् ” = जहां वक्ता के कथन किये एक शब्द में शब्द की शक्तिवृत्तिद्वारा दो वा तीन अर्थ पाये जायं, परन्तु वक्ता किसी एक अर्थ के अभिप्राय से शब्द का प्रयोग करे, उस अर्थ को छिपाकर अन्य अर्थ की कल्पना से दूषणोद्भावन का नाम “ वाक्छल ” है अर्थात् “सामान्यशब्दे वाचिच्छलं वाक्छलम् ” न्या० भा० = सामान्यरूप से अनेकार्थवाची शब्द में वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अर्थ की कल्पना को “ वाक्छल ” कहते हैं, जैसाकि–“ नवकम्बलोऽयंब्रह्मचारी ” इस वाक्य के “नवकम्बल” पद में दो अर्थ ह अर्थात् “ नवः कम्बलोऽस्य ” = जिसके पास नया कम्बल हो उसको “ नवकम्बल ” तथा “नव कम्बला अस्येति” = जिसके पास नो कम्बल हों उसको “ नवकम्बल ” कहते हैं, इस प्रकार “ नव ” शब्द शक्तिवृत्ति से नूतनार्थ तथा नवसंख्या का वाची है, किसी नये कम्बल वाले ब्रह्मचारी को देखकर किसी पुरुष ने कहा कि “ नवकम्बलोऽयम् ” = यह ब्रह्मचारी नये कम्बल वाला है,

उक्त संस्कृत वाक्य को सुनकर छलवादी बोला कि " कुतोऽस्य-नव कम्बलाः, एकोऽस्य कम्बल इति " = इसके पास नौ कम्बल नहीं किन्तु एक कम्बल है, इस प्रकार सामान्यरूप से कथन किये हुए नूतनार्थ वाची तथा नवसंख्या वाची " नव " शब्द में वक्ता के अभिप्रेत नूतनार्थ से विरुद्ध नवसंख्या रूप अर्थ की कल्पना ही " वाक्छल " कहाता है ।

तात्पर्य्य यह है कि " नव " शब्द के नूतनार्थ को छिपाकर जो नवसंख्या रूप अर्थ की कल्पना द्वारा वक्ता के उक्त वाक्य में दूषण दिया है वही वाच्यार्थप्रतिपादक शब्दगत होने से " वाक्छल " कहाता है, यही रीति अन्यत्र भी वाक्छल के लापन करने में जाननी चाहिये ।

भाष्यकार "वात्स्यायनमुनि" वाक्छल के समाधान का यह प्रकार कथन करते हैं कि " सामान्यशब्दस्यानेकार्थत्वेऽन्यतराभिधानमल्पनायां विशेषवचनम् " = अनेकार्थवाची सामान्यशब्द के अन्यतर = किसी एक अर्थ की कल्पना में विशेष हेतु कथन करना उचित है केवल कल्पनामात्र से वक्ता के अभिप्राय का खंडन नहीं होसक्ता अर्थात् प्रकृत में जो छलवादी ने वक्ता के अभिप्रेत नूतन अर्थ को छोड़कर नवसंख्या की कल्पना की है वह निर्युक्तिक होने से अनादरणीय है, क्योंकि सामान्यविशेषवाची शब्दों का अर्थ प्रकरण के अनुसार होता है

विपरीत नहीं, और प्रकृत में कम्बलगत संख्या का निश्चय दोनों को प्रत्यक्षप्रमाणसिद्ध है पुनः संख्यार्थ से नूतनार्थ का प्रतिक्षेप = अपलाप करना ठीक नहीं, यदि कहाजाय कि वक्ता ही ऐसे सन्दिग्धशब्द का क्यों प्रयोग करता है जिससे दो, तीन अर्थों की प्रतीति हो ? इसका उत्तर यह है कि अर्थबोधक संकेत किंवा वृद्धव्यवहार द्वारा शब्दार्थ के परस्पर वाच्यवाचकभावसम्बन्धरूप-शक्ति का बोध होता है और जिसको शक्ति ज्ञान होचुका है उसी पुरुष को कालान्तर में वाक्य श्रवणोत्तर पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति = स्मृतिद्वारा शाब्दबोध होता है अन्य को नहीं, जैसाकि पीछे प्रथमाह्निक में निरूपण कर आये हैं, किंच शक्तिग्रह काल में शब्द किसी पुरुष को बलात्कार पकड़कर अर्थबोध नहीं कराता अपितु सामान्यरूप से प्रकरणादिद्वारा अर्थबोध का हेतु होता है, इसलिये किसी एकार्थवाची शब्दद्वारा अर्थ को प्रतिपादन न करना पुरुष का दोष नहीं होसक्ता, क्योंकि शब्दों का स्वार्थ में होने वाला संकेत किसी एक अर्थ को छोड़कर अनेकार्थ में भी पाया जाता है, अतएव उक्त संकेतद्वारा अनेकार्थवाची शब्दों का प्रयोग करनेवाले वक्ता का कोई दोष नहीं, प्रत्युत यह अपराध छलवादी का है जो प्रकरण के अनुसार शब्दार्थसम्बन्ध को नहीं जानता अथवा जानकर भी उसका अपलाप करना चाहता है, इसी अभिप्राय से "जयन्तभट्ट" ने न्या० मं० में कथन किया है कि सामान्यरूप से अनेकार्थवाची "नव" आदि शब्दों की प्रकरणानुसार स्वार्थ-

बोधक पदशक्ति को न जानने वाला पुरुष ही छलवादादि विरुद्ध प्रयोगों में प्रवृत्त होता है अन्य नहीं, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि ब्राह्मणादि अनेक सामान्यवाची शब्द असंख्यात व्यक्तियों के बोधक होने पर भी प्रकरण के अनुसार ही सम्भव अर्थ को प्रतिपादन करते हैं असम्भव को नहीं, जैसाकि भोजनकाल में उपस्थित हुए शत किंवा सहस्र ब्राह्मणों को देखकर गृहपति ने पाचक को कहा कि "ब्राह्मणान्भोजय" = ब्राह्मणों को भोजन कराओ, ऐसे स्थल में भूमण्डलस्थ ब्राह्मणमात्र का वाचक होने पर भी ब्राह्मण पद तत्काल उपस्थित ब्राह्मणों के बोधन करने में समर्थ है, सब के बोधन करने में नहीं, क्योंकि पृथ्वीमात्र निवासी ब्राह्मणों को भोजन कराना असम्भव है, इससे सिद्ध है कि "नव-कम्बलः" इत्यादि पदों में भी जो अर्थ प्रकरणानुसार सम्भव हो उसी का ग्रहण करना चाहिये अन्य का नहीं, इसलिये छलवादी को उचित है कि वाक्य में पदपदार्थ का सन्देह होने पर वक्ता से निर्णय करे कि यहां कौन अर्थ अभिप्रेत है, केवल अर्थान्तर की कल्पना से वक्ता के अभिप्रेत अर्थ का अपलाप करना बुद्धिमत्ता नहीं, यही रीति सर्वत्र छल के प्रतिवाद करने में समझनी चाहिये ।

यहां यह विशेष ध्यान रहे कि प्रकृत में जो ब्राह्मणत्व जाति मानकर ब्राह्मण का दृष्टान्त दिया है वह "जयन्तभट्ट" के कथनानुसार है वैदिकसिद्धान्तानुसार नहीं, क्योंकि वैदिकसिद्धान्त में

ब्राह्मणादि पद जातिवाचक नहीं किन्तु औपाधिक हैं, जैसाकि "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में निरूपण किया गया है।

सं०—अब सामान्यछल का लक्षण कथन करते हैं:—

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगाद-सम्भूतार्थकल्पना सामान्य-च्छलम्॥ १३॥

पद०—सम्भवतः। अर्थस्य। अतिसामान्ययोगात्। असम्भूतार्थकल्पना। सामान्यच्छलम्।

पदा०—(अतिसामान्ययोगात्) अतिसामान्य के योग से (सम्भवतः) सम्भव अर्थ के विरुद्ध (असम्भूतार्थकल्पना) असम्भव अर्थ की कल्पना को (सामान्यच्छलम्) सामान्यच्छल कहते हैं।

भाष्य—"अतिव्यापकं सामान्यमतिसामान्यम्= यद्विवक्षितमर्थमाप्नोति चात्येति च तदतिसामान्यम्, तद्योगः सम्बन्धविशेषः"=जो सामान्य=जाति किसी एक देश में वक्ता के अभिप्रेत अर्थ के साथ रहे और किसी देश में केवल रहे उसको "अतिसामान्य" कहते हैं, अतिसामान्य के सम्बन्धद्वारा सम्भव अर्थ को छोड़कर असम्भव अर्थ की कल्पना का नाम "सामान्यछल" है अर्थात् जातिनिमित्त से वक्तृता-

त्पर्य्य के विरुद्ध असम्भव अर्थ की कल्पना को "सामान्यच्छल" कहते हैं, जैसाकि राजसभा में किसी पुरुष ने कहा कि "अहो खल्वसौ मनुष्यो महावीरः" = यह मनुष्य महावीर है, तब दूसरा सुनकर बोला कि "सम्भवति हि मनुष्ये वीरत्वम्" = मनुष्यों में प्रायः वीरता पाई जाती है, इस प्रकार छलवादी सुनकर बोला कि "यदि मनुष्ये वीरत्वं कातरे शिशावपिच स्यात्" = यदि वीरत्व मनुष्य का धर्म्म है अर्थात् जो २ मनुष्य है वह अवश्य वीर होता है तो कायर किंवा स्तनन्धय = दूधपीने वाला छोटा वालक भी वीर होना चाहिये, क्योंकि वह भी मनुष्य है, इसरीति से वक्ता के अभिप्राय को न समझकर मनुष्यत्वसामान्य के सम्बन्ध से कायर किंवा स्तनन्धय वालक में न होनेवाले वीरत्व-रूप असम्भव अर्थ की कल्पना "सामान्यच्छल" कहाता है, यहां वक्ता का तात्पर्य्य मनुष्यत्व जाति की प्रशंसापरक है अर्थात् प्रायः मनुष्य वीर होते हैं मनुष्यमात्र नहीं।

"वात्स्यायनमुनि" उक्त छल का समाधान इस प्रकार करते हैं कि "अविवक्षितहेतुकस्य विषयानुवादः प्रशंसार्थत्वाद्वाक्यस्य तदत्राऽसम्भूतार्थकल्पनानुपपत्तिः" न्या०भा० = जिस वाक्य में वक्ता की इच्छा कारण कथन करने के लिये न पाई जाय वहां विषय का अनुवाद केवल प्रशंसा के लिये होता है अतएव असम्भव अर्थ की कल्पना नहीं होसक्ती, जैसाकि-

"सम्भवन्त्यस्मिन् क्षेत्रे शालय इति" न्या० भा० = इस क्षेत्र में शालि = तण्डुलविशेष होते हैं, यह वाक्य केवल क्षेत्ररूप विषय की प्रशंसा को बोधन करने के लिये कहा जाता है क्षेत्र ही शालियों का उपादानकारण है इस अभिप्राय से नहीं, क्योंकि शालियों की उत्पत्ति अपने वीज से होती है क्षेत्र से नहीं, क्षेत्र केवल सहकारी कारण होने से प्रशंसित किया गया है अर्थात् अन्य क्षेत्र की अपेक्षा यह क्षेत्र शालियों की उत्पत्ति में उत्तम सहकारी है, इसी प्रकार प्रकृत में भी उक्त वाक्य मनुष्यत्व जाति की प्रशंसा को बोधन करता है मनुष्यमात्र ही वीर होता है इस नियम को नहीं, इसलिये वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध जातिद्वारा असम्भव अर्थ की कल्पना केवल कल्पना है वस्तुतः उससे योग्य अर्थ का अपलाप नहीं होसक्ता।

तात्पर्य्य यह है कि मनुष्यत्व जाति वीरत्वधर्म्म के समान अधिकरण में रहने पर भी उसके विना कातर, शिशु आदि मनुष्यों में विद्यमान होने के कारण "अतिसामान्य" है, अतिसामान्य के सम्बन्ध से असम्भव अर्थ की कल्पना ही "सामान्यछल" कहाती है, और उसका समाधान सर्वत्र उक्त रीति से जानना चाहिये।

सं०—अब उपचारछल का लक्षण कथन करते हैं :-

धर्म्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्॥१४॥

पद०—धर्म्मविकल्पनिर्द्देशे। अर्थसद्भावप्रतिषेधः। उपचारच्छलम्।

पदा०—(धर्म्मविकल्पनिर्द्देशे) धर्म्मविकल्प का निर्देश करने पर जो (अर्थसद्भावप्रतिषेधः) वक्ता के अभिप्रेत अर्थ का प्रतिषेध किया जाता है उसको (उपचारच्छलम्) उपचारछल कहते हैं।

भाष्य—शब्द की शक्ति किंवा लक्षणावृत्ति का नाम "धर्म्म" और उसकी विरुद्धकल्पना का नाम "धर्म्मविकल्प" है, धर्म्मविकल्पद्वारा वक्ता के तात्पर्य्य से विरुद्ध अर्थ की कल्पना को "उपचारच्छल" कहते हैं अर्थात् शक्ति, लक्षणा इन दोनों में से किसी एक सम्बन्धद्वारा कथन किये हुए वाक्य का दूसरे सम्बन्ध द्वारा खण्डन करना "उपचारच्छल" कहाता है, जैसाकि किसी पुरुष ने लक्षणावृत्तिद्वारा कहा कि "मञ्चाः क्रोशन्ति" = मञ्च बोलते हैं, तब छलवादी उक्त वाक्य सुनकर बोला कि जड़ मञ्चों में बोलने की शक्ति नहीं होसक्ती, यहां वक्ता का तात्पर्य्य मञ्चों के बोलने में नहीं किन्तु लक्षणावृत्तिद्वारा मञ्चस्थ पुरुषों के बोलने में है, परन्तु छलवादी ने जो "मञ्च" शब्द की शक्तिवृत्तिद्वारा मञ्चरूप अर्थ से प्रतिषेध किया है अर्थात् वक्ता के अभिप्रेत मञ्चस्थपुरुषरूप अर्थ के विरुद्ध मञ्चरूप अर्थ की कल्पना की है वही "उपचारच्छल" है, इसी प्रकार किसी ने शक्तिवृत्तिद्वारा कथन किया कि "अहं नित्यः" = मैं = जीवात्मा नित्य हूं,

तब दूसरा लक्षणावृत्ति से छल करता है कि "अमुकस्मादुत्पन्नस्त्वं कथं नित्य इति" = तू अमुक पुरुष से उत्पन्न होने के कारण नित्य नहीं होसक्ता, इस वाक्य में छलवादी ने अहं शब्द के लाक्षणिक शरीररूप अर्थद्वारा वक्ता के तात्पर्य्य का प्रतिषेध किया है, उक्त उदाहरणों की भांति "नीलो घटः" = घट नील है, "त्वं नित्यः" = तू नित्य है, इत्यादि अनेक उदाहरण उपचारच्छल के जानने चाहियें।

"वात्स्यायनमुनि" का कथन है कि "प्रसिद्धाप्रसिद्धे प्रयोगे वक्तुर्यथाभिप्रायं शब्दार्थयोरनुज्ञा प्रतिषेधो वा नच्छन्दतः, प्रधानभूतस्य शब्दस्य भाक्तस्य च गुणभूतस्य प्रयोग उभयोर्लोकसिद्धः" न्या० भा० = प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध शब्द के प्रयोग में वक्ता के अभिप्रायानुसार ही शब्दार्थ का स्वीकार किंवा प्रतिषेध होता है कल्पनामात्र से नहीं, क्योंकि गौण, मुख्य दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग शास्त्र में पाया जाता है, शक्तिवृत्तिद्वारा अर्थ प्रतिपादक शब्द का नाम "मुख्य" और लक्षणावृत्ति द्वारा अर्थप्रतिपादक शब्द का नाम "गौण" है, मुख्य, प्रसिद्ध यह दोनों और गौण, अप्रसिद्ध यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, मुख्य शब्द के प्रयोग का मुख्यार्थ तथा गौण शब्द के प्रयोग का गौणार्थ से ही खण्डन करना उचित है

विपरीत से नहीं, "मञ्चाः क्रोशन्ति" इस गौण = लाक्षणिक शब्दार्थ का छलवादी ने मुख्यार्थ से तथा "अहं नित्यः" इस मुख्यशब्दार्थ का गौणार्थ से प्रतिषेध किया है, इसलिये वस्तुतः प्रतिषेध न होने के कारण वक्ता अपराधी नहीं होसक्ता प्रत्युत छलवादी का अपराध है ।

स्मरण रहे कि "वाद्यभिप्रेतस्यादूषणेन छलस्यासदुत्तरत्वम्" = वक्ता का अभिप्रेत अर्थ दूषित न होने के कारण "छल" को "असत्–उत्तर" कहते हैं अर्थात् छल से छलवादी के पक्ष की हानि होती है दूसरे पक्ष की नहीं, इसलिये छल काप्रयोग करना समीचीन नहीं, यदि प्रतिवादी छल का प्रतिवाद = अपलाप न करसके तो छलवादी का पराजय नहीं होता प्रत्युत जिसके वाक्य में छलप्रयोग किया जाय उसी की हानि समझी जाती है, इस प्रकार उक्त रीति को समझकर छलोद्धारकर्त्ता पुरुष सभा में वादी के छलों से व्याकुल तथा पराजित कदापि नहीं होसक्ता ।

सं०—अब प्रसङ्गसङ्गति से छल की परीक्षा करते हुए पूर्वपक्ष करते हैंः—

वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् ॥ १५ ॥

पद०—वाक्छलम् । एव । उपचारच्छलं । तदविशेषात् ।

पदा०—(तदविशेषात्) कल्पना का भेद न होने से (उपचारच्छलम्) उपचारछल (वाक्छलम्) वाक्छल (एव) दोनों एक हैं ।

भाष्य—शब्द के विरुद्ध अर्थ की कल्पना दोनों में समान पाये जाने से वाक्छल तथा उपचारछल का भेद नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

न तदर्थान्तरभावात् ॥ १६ ॥

पद०—न । तदर्थान्तरभावात् ।

पदा० (तदर्थान्तरभावात्) दोनों के अर्थ में भेद होने से उपचारच्छल और वाक्छल एक (न) नहीं ।

भाष्य—" न वाक्छलमेवोपचारच्छलं तस्यार्थसद्भावप्रतिषेधस्य अर्थान्तरभावात् अर्थान्तरकल्पनातोऽन्यार्थसद्भावकल्पना " = अर्थान्तर कल्पना की अपेक्षा अर्थान्तर सद्भाव के प्रतिषेध का भेद होने से उक्त दोनों " छल " एक नहीं अर्थात् " नवकम्बलः " इत्यादि वाक्छल के उदाहरणों में " नव " आदि शब्दों में एक मुख्यार्थ की कल्पना से दूसरे मुख्यार्थ का और " मञ्चाः क्रोशन्ति " इत्यादि उपचारच्छलों के उदाहरणों में मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ तथा कहीं लक्ष्यार्थ से मुख्यार्थ का प्रतिक्षेप होता है, जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं, इसलिये

वाक्छल तथा उपचारछल दोनों परस्पर भिन्न हैं एक नहीं।

सं०—अब छल के दो भेद मानने में दोष कथन करते हैं:—

अविशेषे वा यत्किञ्चित्साधर्म्यादे-कच्छलप्रसङ्गः ॥ १७ ॥

पद०—अविशेषे। वा। यत्किञ्चित्साधर्म्यात्। एकच्छल-प्रसङ्गः।

पदा०—(वा) यदि (यत्किञ्चित्साधर्म्यात्) साधर्म्यमात्र से (अविशेषे) दोनों का अभेद मानाजाय तो (एकच्छलप्रसङ्गः) एकच्छलवाद की आपत्ति होगी।

भाष्य—यदि उक्त रीति से भेद होने पर भी प्रतिषेधरूप समानधर्म्म से वाक्छल तथा उपचारच्छल को एक मानाजाय तो एक ही छल को मानना पड़ेगा, क्योंकि प्रतिषेधरूप धर्म्म तीनों में समान पायाजाता है, अर्थात् जिसप्रकार छल के दो भेद मानकर पूर्वपक्षी ने केवल प्रतिषेधरूप समानधर्म्म से तीसरे भेद का प्रतिषेध किया है इसीप्रकार उक्त साधर्म्य द्वारा दूसरे भेद का भी प्रतिषेध होसक्ता है और प्रतिषेध होने पर एक ही "छल" मानना होगा परन्तु यह बात पूर्वपक्षी को भी इष्ट नहीं, इससे स्पष्ट है कि छल तीन हैं दो नहीं, इसी अभिप्राय से "तार्किकरक्षा" में वर्णन किया है कि:—

उपचारप्रयोगेषु गौणलाक्षणिकेषु यः ।
मुख्यार्थासम्भवाद्बाध उपचारच्छलश्चतत् ॥

अर्थ—लक्षणा किंवा गौणीवृत्तिद्वारा अर्थ को बोधन करने वाले पद का नाम "औपचारिक" है, जैसाकि पीछे शब्द-लक्षणप्रकरण में निरूपण कर आये हैं, जो मुख्यार्थ=शक्यार्थ की असम्भवता=न बनसकने से औपचारिक पदों में दोष दिया जाता है उसी को "उपचारच्छल" कहते हैं, और वाक्च्छल के विषयभूत वाक्यों में औपचारिक पदों के न होने से वाक्छल की उपचारच्छल में अतिव्याप्ति नहीं होसक्ती।

सं०—अब जाति का लक्षण कथन करते हैं :—

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ॥ १८ ॥

पद०—साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां । प्रत्यवस्थानं । जातिः ।

पदा०—(साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां) साधर्म्य तथा वैधर्म्य से होनेवाले (प्रत्यवस्थानम्) प्रतिषेध का नाम (जातिः) जाति है।

भाष्य—"व्याप्तिनिरपेक्षाभ्यां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं दूषणाभिधानं जातिरित्यर्थः"=समानधर्म्म का नाम "साधर्म्य" तथा विरुद्धधर्म्म का नाम "वैधर्म्य" है, और व्याप्ति आदि नियमों की अपेक्षा से रहित केवल साधर्म्य वैधर्म्य द्वारा हेतु के प्रतिषेध=दूषण का नाम "जाति" है,

जैसाकि " पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवत् " = महानस की भांति धूमवाला होने से पर्वत वह्निवाला है, इस अनुमान को दूषित करने के लिये जातिवादी कथन करता है कि " यद्ययं पर्वतो महानससाधर्म्याद्धूमवत्त्वाद्वह्निमान्, तर्हि ह्रदसाधर्म्यात् द्रव्यत्ववत्त्वाद्वन्ह्यभाववानेव किं न स्यात " = यदि पर्वत महानस के साधर्म्य से धूमवाला होने के कारण वह्निवाला है तो सरोवरवृत्ति द्रव्यत्व के साधर्म्य से वह्नि के अभाववाला भी होना चाहिये अर्थात् यदि द्रव्यत्व साधर्म्य से पर्वत वह्नि के अभाववाला नहीं तो धूमत्वरूप महानस के साधर्म्य से वह्निवाला भी नहीं होसक्ता, इस प्रकार व्याप्ति की अपेक्षा से रहित केवल साधर्म्य से धूम हेतु को साध्यसिद्धि में असमर्थ सूचित करना ही " जाति " है ।

भाव यह है कि " छलादिभिन्नदूषणासमर्थमुत्तरं स्वव्याघातकमुत्तरं वा जातिः " = छलादि से भिन्न जो उत्तर दूषण देने में असमर्थ हो उसका नाम "जाति" है, या यों कहो कि असदुत्तर = जातिवादी के पक्ष की हानि करनेवाले उत्तर का नाम " जाति " है, इसका विस्तारपूर्वक निरूपण पञ्चमाध्याय के प्रथमान्हिक में किया जायगा यहां केवल लक्षणद्वारा दिक्प्रदर्शन किया गया है ॥

सं०—अब निग्रहस्थान का लक्षण कथन करते हैं:—

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ।१९।

पद०—विप्रतिपत्तिः । अप्रतिपत्तिः । च । निग्रहस्थानम् ।

पदा०—(विप्रतिपत्तिः) विप्रतिपत्ति (च) और (अप्रतिपत्तिः) अप्रतिपत्ति को (निग्रहस्थानम्) निग्रहस्थान कहते हैं ।

भाष्य—विपरीत ज्ञान का नाम "विप्रतिपत्ति" तथा अज्ञान=कथन कियेहुए को न समझने का नाम "अप्रतिपत्ति" है अर्थात् साधनाभास=मिथ्यासाधन में साधनबुद्धि, दूषणाभास= मिथ्यादूषण में दूषणबुद्धि को "विप्रतिपत्ति" तथा साधन में दूषण के कथन न करने किंवा कथन किये हुए दूषण के उद्धार न करने का नाम "अप्रतिपत्ति" है, और विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति को "निग्रहस्थान" कहते हैं अर्थात् "निग्रहस्य खलीकारस्य= पराजयस्य स्थानं निग्रहस्थानम्"=जो स्थान=अवसर पराजय का हो वही "निग्रहस्थान" है, उक्त रीति से किसी एक के कथन को विरुद्ध जानना तथा कथन करने पर कुछ भी उत्तर न देना यह दोनों "निग्रहस्थान" कहाते हैं, प्रकृत में विप्रतिपत्ति, विरुद्धज्ञान यह दोनों तथा अप्रतिपत्ति और अज्ञान यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं ।

ननु—उक्त लक्षण में अन्य पुरुष के विरुद्धज्ञान तथा अज्ञान का दूसरे पुरुष को प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव न होने से असम्भव और प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थानों को विरुद्धज्ञान किंवा अज्ञानरूप न होने से अव्याप्ति दोष है ? उत्तर—सूत्रस्थ विप्रतिपत्ति, अप्रतिपत्ति

पद से तद्बोधक धर्म्मों का ग्रहण है, इस प्रकार निग्रहस्थान का निष्कृष्ट लक्षण यह हुआ कि "विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्यन्यतरोन्नायकधर्म्मवत्त्वं निग्रहस्थानत्वम्" = जिसमें विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति का बोधक धर्म्म पाया जाय उसको "निग्रहस्थान" कहते हैं, इसलिये प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थानों में विप्रतिपत्ति आदि के पाये जाने से अव्याप्ति तथा वादी, प्रतिवादी के विरुद्ध कथन किंवा तूष्णींभाव=मौन से मध्यस्थादि को निगृहीत पुरुष के विरुद्धज्ञानादि का अनुमान होने के कारण "असम्भव" दोष भी नहीं होसक्ता।

सं०—अब जाति तथा निग्रहस्थानों का बहुत्व कथन करते हैं:—

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ।२०।

पद०—तद्विकल्पात्। जातिनिग्रहस्थानबहुत्वं।

पदा०—(तद्विकल्पात्) साधर्म्य आदि द्वारा दोषों का तथा विप्रतिपत्ति आदि के बोधक धर्म्मों का भेद होने से (जातिनिग्रहस्थानबहुत्वं) जाति और निग्रहस्थान अनेक प्रकार के हैं।

भाष्य—"तद्विकल्पात्=साधर्म्यादिना प्रत्यवस्थानस्य विप्रतिपत्त्याद्युन्नायकव्यापारस्य च भेदात्=नाना प्रकारत्वादिति यावत्"=साधर्म्य आदि द्वारा अनेक दोषों के पाये जाने से चौवीस जातियें और विरुद्धज्ञान तथा अज्ञान

बोधक धर्म अनेक होने के कारण बाईस निग्रहस्थान हैं, जिनका विस्तारपूर्वक निरूपण पञ्चमाध्याय में किया जायगा ॥

इतिश्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
न्यायार्य्यभाष्ये
प्रथमाध्यायः
समाप्तः

ओ३म्

अथ न्यायार्य्यभाष्ये द्वितीयाध्याये

। प्रथमान्हिकं प्रारभ्यते ।

सङ्गति–प्रथमाध्याय में विभागपूर्वक प्रमाणादि पदार्थों का लक्षण तथा छल की परीक्षा का विस्तारपूर्वक निरूपण किया, अब इस अध्याय में प्रमाणों की परीक्षा का वर्णन करने के लिये प्रथमान्हिक का आरम्भ करते हुए प्रथम परीक्षा के अङ्गभूत संशय की परीक्षा में पूर्वपक्ष करते हैं:–

समानानेकधर्म्माध्यवसादन्यतरधर्म्माध्यवसायाद्वा न संशयः ॥ १ ॥

पद०–समानानेकधर्माध्यवसायात् । अन्यतरधर्माध्यवसायात् । वा । न । संशयः ।

पदा०–(समानानेकधर्माध्यवसायात्) समानधर्म तथा अनेकधर्म (वा) अथवा (अन्यतरधर्म्माध्यवसायात्) दोनों में से किसी एक धर्म्म के अध्यवसाय द्वारा (संशयः) संशय (न) नहीं होता ।

भाष्य–अनेकधर्मियों में वर्त्तमान धर्म्म का नाम "साधारणधर्म्म" तथा किसी एक धर्म्मी में होने वाले धर्म्म का नाम "असाधारणधर्म्म" है, और निश्चय को "अध्यवसाय" कहते हैं, समानधर्म, साधारणधर्म यह दोनों तथा अनेकधर्म, असा-

धारणधर्म्म यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, साधारणधर्म्म आदि अध्यव-साय संशय का कारण नहीं, क्योंकि निश्चयात्मक ज्ञान संशय का प्रतिबन्धक होता है अर्थात् "तद्भिन्नत्वे सति तद्गत-भूयोधर्म्मः सामान्यम्"=जो उससे भिन्न होकर उसके समान धर्म्म वाला हो उसका नाम "सामान्य" और वह जिसमें रहे उसको "समान" किंवा "साधारण" कहते हैं,समान,तुल्य तथा साधा-रण यह तीनों एकार्थवाची हैं, यह नियम है कि तुल्य पदार्थ का ज्ञान भेदज्ञान पूर्वक होता है, इस नियम के अनुसार जब स्थाणु किंवा पुरुष आदि धर्मियों का सामान्यज्ञान=सादृश्यज्ञान होने पर परस्पर भेद ज्ञान होजाता है तब संशय नहीं रहता, इसलिये सामान्यज्ञान को संशय का कारण कथन करना केवल साहसमात्र है, यही रीति असाधारणधर्म्म आदि के कारण न होने में समझ-नी चाहिये ।

भाव यह है कि दोनों धर्मियों में से किसी एक धर्म्मी के धर्म्म का अध्यवसाय होने पर संशय नहीं होता प्रत्युत किसी एक धर्म्मी का निश्चय होता है और निश्चय होने पर संशय का अभाव सर्वसम्मत है, अतएव साधारणधर्मादि का निश्चय संशय का कारण नहीं ।

सार यह निकला कि पुरोवर्त्ती पदार्थ स्थाणुवृत्ति धर्म्म के समान-धर्मवाला किंवा पुरुषगतधर्म्म के समानधर्म्मवाला होता है, इस ज्ञान के होने पर "यह स्थाणु है वा पुरुष है" इस प्रकार का संशय कदापि

नहीं होसक्ता, क्योंकि उक्त रीति से धर्मियों का परस्पर भेदज्ञान पाया जाता है और भेदज्ञान होने पर संशय के न होने में किसी वादी की विप्रतिपत्ति नहीं।

कई एक लोगों का कथन है कि लक्षण सूत्र में "उपपत्ति" पद का स्वरूप अर्थ करने से सूत्रार्थ यह हुआ कि स्वरूप से ही साधारणादि धर्म्म संशय का कारण है, परन्तु ऐसा अर्थ करने पर सब पदार्थों में यत्किञ्चित् साधारणधर्म्म के पाये जाने से सर्वत्र संशय बना रहेगा, इसलिये लक्षणसूत्र में "अध्यवसाय" पद का निवेश करना चाहिये और किया नहीं, इससे स्पष्ट है कि उक्त पद का निवेश न होने से संशय का लक्षण ठीक नहीं।

"वात्स्यायनमुनि" इस सूत्र को लापन करते हुए यह कथन करते हैं कि "समानमनयोर्धर्ममुपलभत इति धर्म्मधर्म्मिग्रहणे संशयाभाव इति०" न्या० भा०=पुरोवर्त्ती तथा स्मर्य्यमाण=पूर्वदृष्ट धर्म्मी के सामान्यधर्म्म की उपलब्धि द्वारा धर्म्मविशिष्ट धर्म्मी का निश्चय होने से संशय का त्रैकालिक अभाव होता है, इसलिये साधारणधर्म्म संशय का कारण नहीं अथवा अन्य=धर्म्म के ज्ञान से अन्य=धर्म्मी में संशय नहीं होसक्ता, यदि अन्य के ज्ञान से अन्य में संशय मानाजाय तो रूप ज्ञान से स्पर्श में भी संशय होना चाहिये परन्तु नहीं होता, इससे सिद्ध है कि धर्म्मी से भिन्न धर्म्म का ज्ञान धर्मिवृत्ति संशय का हेतु नहीं।

सं०—अब संशय के विप्रतिपत्ति आदि तीन कारणों का खण्डन करते हैं:—

विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च ॥ २ ॥

पद०—विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायात् । च ।

पदा०—(च) और (विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायात्) विप्रतिपत्ति आदि की अव्यवस्था के अध्यवसाय से संशय होता है केवल विप्रतिपत्ति आदि से नहीं ।

भाष्य—परस्पर विरुद्ध उभयपक्ष प्रतिपादक शब्द का नाम "विप्रतिपत्ति" है, जैसाकि पीछे प्रथमाध्याय में निरूपण कर आये हैं, केवल विप्रतिपत्ति तथा उपलब्धि और अनुपलब्धि की अव्यवस्था संशय का कारण नहीं किन्तु उनका अध्यवसाय संशय का हेतु है, इस प्रकार विप्रतिपत्ति आदि से होने वाले संशय में लक्षण सङ्गति के लिये भी "अध्यवसाय" पद का निवेश आवश्यक है ।

"भाष्यकार" का कथन है कि "न विप्रतिपत्तिमात्रादव्यवस्थामात्राद्वासंशयः किंतर्हि विप्रतिपत्तिमुपलभमानस्य संशयः" न्या० भा०=केवल विप्रतिपत्ति वा उपलब्धि आदि की अव्यवस्था संशय का कारण नहीं,क्योंकि विप्रतिपत्ति आदि के उपलब्धा=ज्ञाता को संशय होता है अन्य को नहीं, इसलिये उनका ज्ञान संशय का कारण है अर्थात् जो जिसके विना न हो वह उसका कारण होता है, इस नियम के अनुसार विप्रतिपत्ति आदि विषयक ज्ञान के होने से संशय होता है न होने से नहीं, इस प्रकार उनका ज्ञान ही संशय हेतु मानना चाहिये ।

सं०—अब केवल विप्रतिपत्तिजन्य संशय का अन्य प्रकार से

खण्डन करते हैं:—

विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः । ३ ।

पद०—विप्रतिपत्तौ । च । सम्प्रतिपत्तेः ।

पदा०—(च) और (विप्रतिपत्तौ) विप्रतिपत्ति (सम्प्रतिपत्तेः) सम्प्रतिपत्तिरूप होने से संशय का कारण नहीं ।

भाष्य—"समीचीना प्रतिपत्तिः सम्प्रतिपत्तिः स्वीकारो निश्चयो वेति यावत्"=स्वीकार अथवा निश्चयविशेष का नाम "सम्प्रतिपत्ति" है, जिस विप्रतिपत्ति को संशय का हेतु कथन किया है वह एक प्रकार से निश्चयरूप है, क्योंकि एक धर्म्मी में परस्पर विपरीत धर्म्म का ज्ञापक शब्द ही "विप्रतिपत्ति" का वाच्यार्थ है और तज्जन्य निश्चयात्मक ज्ञान में विप्रतिपत्ति शब्द का व्यवहार उपचार द्वारा कियाजाता है, इस प्रकार यदि सम्प्रतिपत्तिरूप विप्रतिपत्ति से संशय की उत्पत्ति मानीजाय तो "निश्चयात्मक ज्ञान संशय का हेतु है" यह बात अर्थ से सिद्ध होगी परन्तु इस अनुभव विरुद्ध अर्थ में किसी दार्शनिक की सम्मति नहीं, इससे स्पष्ट है कि "विप्रतिपत्ति" संशय का हेतु नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि वादी प्रतिवादी दोनों का पक्ष अपनी२ कोटि में सिद्धान्त रूप होने से सम्प्रतिपत्तिरूप विप्रतिपत्ति को संशय का कारण मानना समीचीन नहीं ।

सं०—अब उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था को संशय के कारण होने में और दोष कथन करते हैं:—

अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चा- व्यवस्थायाः ॥ ४ ॥

पद०—अव्यवस्था । आत्मनि । व्यवस्थितत्वात् । च । अव्यवस्थायाः ।

पदा०—(च) और (अव्यवस्था) उपलब्धि आदि की अव्यवस्था संशय का कारण नहीं, क्योंकि (अव्यवस्थायाः) वह (आत्मनि) स्वरूप में (व्यवस्थितत्वात्) व्यवस्थित है।

भाष्य—उपलब्धि आदि की अव्यवस्था को संशय हेतु मानने वाले वादी से प्रष्टव्य है कि अव्यवस्था स्वरूप में व्यवस्थित=स्थिर है किंवा अव्यवस्थित=अस्थिर है? यदि प्रथम पक्ष माना जाय तो वह स्वरूप में स्थिर होने के कारण व्यवस्था है अव्यवस्था नहीं और दूसरे पक्ष में यह दोष है कि जब अव्यवस्था स्वरूप में व्यवस्थित नहीं अर्थात् अव्यवस्था स्वरूप से विद्यमान ही नहीं तो फिर अविद्यमान कारण से संशय की उत्पत्ति का कथन केवल साहसमात्र है, इसलिये दोनो पक्षों में उपलब्धि आदि की अव्यवस्था तथा संशय का परस्पर कार्य्यकारणभाव नहीं होसक्ता।

सं०—अब और दोष कथन करते हैं :—

तथात्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः ।५।

पद०—तथा । अत्यन्तसंशयः । तद्धर्मसातत्योपपत्तेः ।

पदा०-(तथा) और (तद्धर्मसातत्योपपत्तेः) समानधर्म की निरन्तर उपपत्ति से (अत्यन्तसंशयः) अत्यन्तसंशय होगा।

भाष्य-जिसप्रकार पीछे समानधर्म्म की उपपत्ति द्वारा संशय की उत्पत्ति मानी गई है यदि ऐसा ही स्वीकार किया जाय तो सब विषयों में अत्यन्तसंशय बना रहेगा अर्थात् समानधर्म्मरूप कारण के सर्वत्र उपलब्ध होने से संशय की निरन्तर प्रवृत्ति होगी, इसी अभिप्राय से "**वात्स्यायनमुनि**" ने कथन किया है कि "**नायमतद्धर्म्मा धर्म्मी विमृश्यमाणे गृह्यते सततन्तु तद्धर्म्मा भवतीति**" न्या०भा०=संशय काल में समानधर्म्मविशिष्ट धर्म्मी का ग्रहण होता है केवल का नहीं, इस प्रकार समानधर्म्मरूप कारण के बने रहने से तत्कार्य्यभूत संशय भी सर्वदा रहना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि समानधर्म्म आदि संशय के हेतु नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात्संशये नासंशयोनात्यन्तसंशयोवा। ६।

पद०-यथोक्ताध्यवसायात्। एव। तद्विशेषापेक्षात्। संशये। न। असंशयः। न। अत्यन्तसंशयः। वा।

पदा०-(तद्विशेषापेक्षात्) विशेषधर्म्म की अपेक्षावाले (यथोक्ताध्यवसायात्) उक्त अध्यवसाय से (एव) ही (संशये) संशय के सिद्ध

होने पर (असंशयः) संशय का अभाव (न) नहीं (वा) और (अत्यन्तसंशयः) अत्यन्तसंशय भी (न) नहीं होता ।

भाष्य—विशेषधर्म्म की अपेक्षा=जिज्ञासापूर्वक सामान्यधर्म्म का अध्यवसाय ही संशय का कारण है केवल सामान्यधर्म का निश्चय नहीं अर्थात् विशेषधर्म्म के प्रत्यक्ष न होने तथा सामान्यधर्म्म के प्रत्यक्ष होने से संशय की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं और "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः"=जिस तात्पर्य्य को लेकर शब्द की प्रवृत्ति होती है वही उसका अर्थ होता है, इसनियम के अनुसार सूत्रकार को संशय के लक्षण सूत्र में उक्त अर्थ ही अभिप्रेत है और उसी अभिप्राय से लक्षणसूत्र में "विशेषापेक्ष" पद का निवेश किया है ॥

भाव यह है कि विशेषधर्म्म के उपलब्ध न होने पर ही उस की जिज्ञासा होती है उपलब्ध होने पर नहीं, क्योंकि विशेषधर्म्म के प्रत्यक्ष होने से पुनः उसके प्रत्यक्ष के लिये आकांक्षा नहीं रहती अतएव सूत्र में "समानधर्म्मापेक्ष" पद का निवेश नहीं किया और नाही "अध्यवसाय" पद के निवेश की आवश्यकता है, इससे सिद्ध है कि "करचरणादिमत्त्व" तथा "वक्रकोटरादिमत्त्व" विशेषधर्म्म के अज्ञानपूर्वक "पुरुषत्व" किंवा "स्थाणुत्व" रूप सामान्यधर्म का अध्यवसाय=निश्चय ही संशय का कारण है,अतएव संशय के निराबाध होने से उक्त आक्षेप असङ्गत है ।

"वात्स्यायनमुनि" ने न्यायभाष्य में उक्त आक्षेपों का

समाधान अनेक प्रकार से किया है जैसाकिः—

"विषयशब्देन वा विषयिणः प्रत्ययस्याभिधानं यथा लोके धूमेनाग्निरनुमीयते इत्युक्ते धूमदर्शनेनाग्निरनुमीयते इति ज्ञायते, कथं—दृष्ट्वाहि धूममग्निमनुमिनोति नादृष्ट्वा नच वाक्ये दर्शनशब्दः श्रूयते अनुजानाति च वाक्यस्यार्थप्रत्यायकत्वं तेन मन्यामहे विषयशब्देन विषयिणःप्रत्ययस्याभिधानं बोद्धाऽनुजानाति एवमिहापि समानधर्म्मशब्देन समानधर्म्माध्यवसायमाहेति०"।

अर्थ—विषयवाचक पद से विषयी=ज्ञान का अर्थ लोकव्यवहार सिद्ध है, जैसे "धूम से वन्हि का अनुमान होता है" इस वाक्य में धूम का दर्शन=ज्ञान ही वन्हि का लिङ्ग है किन्तु उक्त अर्थ को बोधन करने के लिये वाक्य में "दर्शन" पद के उपादान की आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार प्रकृत में "समानधर्म्म" पद द्वारा उसके अध्यवसाय का बोध होजाने पर उक्त पद के निवेश की आवश्यकता नहीं।

और जो समान शब्द के अर्थ में भेद का निवेश करने से भेद ज्ञान की उपपत्ति द्वारा संशयाभाव कथन किया है वह ठीक नहीं, क्योंकि केवल समानधर्म्म का ज्ञान ही संशय का कारण नहीं प्रत्युत "पुरोवर्त्ती पदार्थ में प्रतीयमान उच्चैस्त्वादि धर्म स्थाणु तथा पुरुष दोनों के समान हैं और वक्रकोटरादिमत्त्व आदि विशेषधर्मों की

उपलब्धि नहीं होती" इस प्रकार उभयसहचरित=दोनों में रहने वाला ज्ञान ही संशय का हेतु है, इसलिये उक्तकारण के सिद्ध होने पर संशयाभाव नहीं होसक्ता किन्तु संशय की उपपत्ति निराबाध सिद्ध होती है।

और जो कईएक लोगों का कथन है कि समानधर्म्म का अध्यवसाय संशय का हेतु नहीं अर्थात् यह नियम है कि जिसकी जिसके साथ सदृशता हो उनका परस्पर कार्य्यकारणभाव होता है अन्य का नहीं, इस नियम के अनुसार निश्चयात्मक ज्ञान अनिर्श्चयात्मक संशयज्ञान का कारण नहीं होसक्ता, क्योंकि उनकी परस्पर सदृशता नहीं, इसका उत्तर यह है कि "कारणस्य भावाभावयोः कार्य्यस्य भावाभावौ सारूप्यम्" न्या० भा० =कारण के होने से कार्य्य का होना और न होने से न होना ही कार्य्यकारण की परस्पर सदृशता है, इस रीति से संशय तथा उसके उक्त कारण की सदृशता स्पष्ट होने के कारण "विशेषधर्म्म के अज्ञानपूर्वक सामान्यधर्म के ज्ञान से संशय होता और उक्त कारण के न होने से नहीं होता" इस अर्थ में कोई बाधा नहीं।

और विप्रतिपत्तिजन्य संशय के उद्धार की रीति यह है कि यद्यपि प्रत्येक वादी की अपेक्षा विप्रतिपत्ति सम्प्रतिपत्ति से पृथक् नहीं तथापि वादी प्रतिवादी की विप्रतिपत्ति से मध्यस्थ को होने वाले संशय की उपपत्ति में किसी प्रकार की बाधा नहीं, इसलिये सम्प्रतिपत्तिरूप शब्द के परिवर्त्तन मात्र से विप्रतिपत्तिजन्य संशय का लोप करना सर्वथा असङ्गत है

और जो उपलब्धि तथा अनुपलब्धि आदि की अव्यवस्था मे होने वाले संशय में उक्त पद के विकल्प द्वारा दोष कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि उक्त कल्पना से संशय के कारणरूप अर्थ का प्रतिषेध नहीं होसक्ता, क्योंकि अन्य निमित्त से एक ही अर्थ में शब्दान्तर की कल्पना का नियम पायाजाता है अर्थभेद नहीं, जैसाकि एक ही पुरुष में पाकक्रिया के सम्बन्ध से "पाचक" तथा छिदि=काटना क्रिया के सम्बन्ध से "लावक" पद का व्यवहार होता है पुरुषभेद नहीं, इसी प्रकार प्रकृत में अव्यवस्था स्वरूप में स्थिर होने पर भी अपने अव्यवस्थात्व धर्म्म का परित्याग नहीं कर सक्ती अर्थात् स्वरूप में व्यवस्थित होने के कारण अव्यवस्था व्यवस्थापद का वाच्यार्थ होने पर भी संशय का कारण ज्यों का त्यों वनी रहती है, जैसाकि प्रथमाध्याय में निरूपण कर आये हैं, और जो साधारणधर्म के ज्ञान की निरन्तर उपलब्धि होने के कारण अत्यन्तसंशय कथन किया है वह ठीक नहीं, क्योंकि केवल समानधर्म्म का ज्ञान ही संशयहेतु नहीं किन्तु विशेषधर्म का स्मृतिपूर्वक पुरोवर्त्ती पदार्थवृत्ति समानधर्म्म का अध्यवसाय तथा विशेषधर्म का अज्ञान भी संशय का हेतु है, इसलिये उक्त दोष का उद्भावन करना सर्वथा निरर्थक है, यही रीति शेष कारणों के दोषोद्धार में जाननी चाहिये, स्मरण रहे कि भाष्यकार ने संशय के पूर्वोत्तर पक्षों का कई प्रकार से लापन किया है परन्तु यहां अनुपयोगी होने के कारण नहीं लिखा ।

सं०—अब संशय परीक्षा का अन्य पदार्थों की परीक्षा में

अतिदेश कथन करते हैं:—

यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्गः ॥ ७ ॥

पद०—यत्र। संशयः। तत्र। एवं। उत्तरोत्तरप्रसङ्गः।

पदा०—(यत्र) जिस पदार्थ में (संशयः) संशय हो (तत्र) उसमें (एवं) संशय परीक्षा की भांति (उत्तरोत्तरप्रसङ्गः) उत्तरोत्तर प्रश्नोत्तर का क्रम होता है।

भाष्य—प्रश्नोत्तर द्वारा संशय परीक्षा की भांति प्रयोजन आदि पदार्थ किंवा उनके लक्षण में संशय होने पर परीक्षा का क्रम जानना चाहिये, यदि किसी प्रमाण से पदार्थ का दृढ निश्चय होजावे तो वहां उक्त परीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं।

कई एक लोग इस सूत्र का यह अर्थ करते हैं कि जिस पदार्थ में संशय हो उसमें उत्तर प्रत्युत्तररूप परीक्षा का सम्बन्ध कर्तव्य है अर्थात् पदार्थ के लक्षण में न्यूनता वा कुछ सन्देह रहजाय तो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव इन तीनों दोषों से रहित लक्षण बनाकर सिद्धान्त करना चाहिये।

"वार्त्तिककार" का कथन है कि **"स्वयं न संशयः प्रतिषेद्धव्यः परेण तु संशये प्रतिषिद्धे एवमुत्तरं वाच्यमिति शिष्यं शिक्षयति"** न्या० वा०=यद्यपि शास्त्र तथा वाद में परीक्षा के अङ्गभूत संशय की अपेक्षा नहीं जैसाकि निर्णय के लक्षण में वर्णन कर आये हैं तथापि स्वयं संशय का प्रतिषेध करना उचित नहीं, यदि कोई वादी संशय का प्रतिषेध करे तो उसका

उक्त रीति से समाधान कर्तव्य है, इस अर्थ के बोधनार्थ शिष्यों के प्रति महर्षि ने संशय परीक्षा का स्फुट रीति से वर्णन किया है।

सं०-अब प्रमाणसामान्य की परीक्षा में पूर्वपक्ष करते हैं:-

प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ॥८॥

पद०-प्रत्यक्षादीनाम्। अप्रमाण्यं। त्रैकाल्यासिद्धेः।

पदा०-(त्रैकाल्यासिद्धेः) तीनों कालों में प्रमा के साधक न होने के कारण (प्रत्यक्षादीनां) प्रत्यक्षादिक (अप्रामाण्यं) प्रमाण नहीं।

भाष्य-भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान इन तीनों कालों में से किसी काल में भी प्रमाण द्वारा प्रमेय की सिद्धि न होने के कारण प्रत्यक्षादिक प्रमाण=प्रमा के करण नहीं, अर्थात् कालमात्र में प्रमा के साथ प्रमाणों का कार्य्यकारणभाव नहीं पायाजाता, इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अङ्गीकार निरर्थक है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का तीन सूत्रों से उपपादन करते हैं:-

पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ ९ ॥

पद०-पूर्वं। हि। प्रमाणसिद्धौ। न। इन्द्रियार्थसन्निकर्षात्। प्रत्यक्षोत्पत्तिः।

पदा०-(हि) यदि (पूर्वं) प्रमा से पूर्व (प्रमाणसिद्धौ) प्रमाण वर्त्तमान हो तो (इन्द्रियार्थसन्निकर्षात्) इन्द्रियार्थ के सम्बन्ध से (प्रत्यक्षोत्पत्तिः) प्रत्यक्षप्रमा की उत्पत्ति (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य-"इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं ज्ञानं प्रत्यक्षम्"=इन्द्रिय

तथा विषय के सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान का नाम "प्रत्यक्ष" है, यह न्यायसिद्धान्त है सो यदि प्रमा से पूर्व प्रमाणसिद्धि मानी जाय तो उक्त लक्षण की उपपत्ति न होने से गन्धादि प्रत्यक्षप्रमा की सिद्धि नहीं होसक्ती अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण गन्धादिविषयक प्रमा के पूर्व किंवा उत्तरकाल में अथवा समान काल में होते हैं, इस प्रकार प्रमाणसिद्धि में तीन विकल्प हैं, प्रथमपक्ष इसलिये ठीक नहीं कि यदि प्रमा से पूर्व ही प्रमाण विद्यमान मानाजाय तो "इन्द्रिय तथा विषय के सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है" यह सिद्धान्त असङ्गत होजायगा, क्योंकि इस पक्ष में प्रत्यक्षप्रमा प्रमाण से भी प्रथम विद्यमान होनी चाहिये जिसके सम्बन्ध से प्रमाण प्रमा का करण होसके अन्यथा प्रमा के न होने से प्रमाकरणरूप प्रमाण लक्षण की उपपत्ति नहीं होसक्ती ।

भाव यह है कि जो वस्तु स्वरूप से विद्यमान नहीं उसके साथ करण आदि कारकों का सम्बन्ध नहीं होता, इस नियम के अनुसार प्रमाण से पूर्व प्रमा को न मानने पर उसके साथ करण कारक का सम्बन्ध नहीं होसक्ता और उक्त सम्बन्ध के न होने से प्रमाण लक्षण की अनुपपत्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है उसकी निवृत्ति के लिये सर्वथा प्रमा को प्रमाण से पूर्व ही मानना चाहिये परन्तु ऐसा मानने से प्रत्यक्ष का उक्त लक्षण सङ्गत नहीं होसक्ता इसलिये उभयतः पाशारज्जुन्याय से प्रमाण का सिद्ध करना दुर्घट है ।

सार यह निकला कि प्रथमपक्ष में गन्धादिविषयक ज्ञान की सिद्धि प्रमाण से प्रथम विद्यमान है और उसके उत्तरकाल में गन्धादि विषयों की सिद्धि होती है इस प्रकार उक्त ज्ञान प्रथमसिद्ध होने से इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य नहीं।

सं०—और द्वितीयपक्ष में यह दोष है कि:—

पश्चात्सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः॥१०॥

पद०—पश्चात्। सिद्धौ। न। प्रमाणेभ्यः। प्रमेयसिद्धिः।

पदा०—(पश्चात्) प्रमा के उत्तरकाल में (सिद्धौ) प्रमाण की सिद्धि होने पर (प्रमाणेभ्यः) प्रमाण से (प्रमेयसिद्धिः) प्रमेय की सिद्धि (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य—यदि प्रमा के अनन्तर प्रमाण की सिद्धि मानें तो प्रमाण के विना ही गन्धादिविषयक प्रमा के सिद्ध होने से प्रमेय-सिद्धि के लिये प्रमाणों का अङ्गीकार निरर्थक है अर्थात् जो ज्ञान है वह विषय के अधीन होता है, इस नियम के अनुसार प्रमाण-सिद्धि से पूर्व होने वाली प्रमा अवश्य किसी न किसी विषय के अनुसार होगी फिर उस विषयसिद्धि के लिये प्रमाण कल्पना का कोई फल नहीं।

सं०—और तीसरा पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि:—

युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रम-वृत्तित्वाभावो बुद्धीनाम्॥११॥

पद०—युगपत्सिद्धौ । प्रत्यर्थनियतत्वात् । क्रमवृत्तित्वाभावः । बुद्धीनाम् ।

पदा०—(युगपत्सिद्धौ) एककाल में दोनों के सिद्ध होने पर (प्रत्यर्थनियतत्वात्) प्रत्येक विषय में नियत (बुद्धीनाम्) ज्ञानसिद्धि के (क्रमवृत्तित्वाभावः) क्रम का अभाव होगा ।

भाष्य—" युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम् " न्या० भा० १ । १ । १६ में वर्णन किया है कि एककाल में दो वा दो से अधिक ज्ञान नहीं होते, यदि समानकाल में ही प्रमाण तथा प्रमेय की सिद्धि मानी जाय तो उक्त अर्थ का विरोध होगा अर्थात् गन्धज्ञान काल में रूपज्ञान तथा रूपज्ञान काल में गन्धज्ञान के न होने से प्रत्येक विषय के ज्ञान का क्रम पाया जाता है परन्तु प्रमाण प्रमेय का युगपत्सिद्धि=एककाल में ज्ञान मानने से उक्त नियम में व्याघात-दोष की आपत्ति होती है, इससे स्पष्ट है कि किसी काल में प्रमाण तथा प्रमा का कार्य्यकारणभाव न होने से प्रमेयसिद्धि के लिये प्रमाणों का स्वीकार ठीक नहीं, दूसरी बात यह है कि युगत्पत्सिद्ध=एककाल में होने वाली वस्तुओं का कार्य्यकारणभाव नहीं होता किन्तु कार्य्य की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में विद्यमान होना कारण का नियम है, जब प्रमाण तथा प्रमेय दोनों समानकालसिद्ध हैं अर्थात् उनका वत्स के दक्षिण और वाम शृङ्ग की भांति पूर्वापरी-भाव नहीं तो फिर प्रमेयसिद्धि के लिये प्रमाणों का कथन करना केवल साहसमात्र है, इस प्रकार उक्त प्रमाणों की असिद्धि का यह अनुमान निष्पन्न हुआ कि—" प्रत्यक्षादीनि न प्रमाणत्वेन

व्यवहर्त्तव्यानि कालत्रयेऽप्यर्थाप्रतिपादकत्वात् यथा शशविषाणम्"=जो अर्थ का प्रतिपादक नहीं वह प्रमाणपद के व्यवहार योग्य नहीं, इस नियम के अनुसार जैसे शशशृङ्ग प्रमाण पद के व्यवहार योग्य नहीं होते इसी प्रकार प्रत्यक्षादिक अर्थ के प्रतिपादक न होने से प्रमाणरूप व्यवहार योग्य नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः । १२ ।

पद०—त्रैकाल्यासिद्धेः । प्रतिषेधानुपपत्तिः ।

पदा०—(त्रैकाल्यासिद्धेः) त्रैकालिक असिद्धि से (प्रतिषेधानुपपत्तिः) प्रत्यक्षादि प्रमाणों का प्रतिषेध नहीं होसकता ।

भाष्य—तीन कालों में होने वाली असिद्धि का नाम "त्रैकालिक असिद्धि" और त्रैकालिकअसिद्धि तथा त्रैकाल्यासिद्धि यह दोनों एकार्थवाची हैं, प्रत्यक्षादि प्रमाणों के प्रतिषेधार्थ जो त्रैकाल्यासिद्धि को हेतु कथन किया गया है अर्थात् तीनो कालों में प्रमा का साधक न होने से प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं, यह प्रमाणों के खण्डनार्थ उपन्यास किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि उक्त हेतु से प्रमाणों का प्रतिषेध नहीं होसक्ता प्रत्युत प्रमाण प्रतिषेध का बाधक होने से प्रमाणों का ही साधक होता है ।

भाव यह है कि जिस प्रकार वादी ने प्रमा का साधक न होने से प्रमाणसिद्धि में विकल्प उठाकर प्रमाणसामान्य का प्रतिषेध किया है इसी प्रकार उक्त प्रतिषेध में भी विकल्प पाये जाते हैं जैसाकि

यदि त्रैकाल्यासिद्धि हेतु से पूर्व ही प्रतिषेध विद्यमान=सिद्ध है तो उक्त हेतु ने किसका प्रतिषेध किया, यदि हेतु प्रमाणप्रतिषेध से प्रथम ही सिद्ध हो तो प्रतिषेध्य विषय के अभाव में प्रतिषेध की अनुपपत्ति होगी और प्रतिषेध तथा प्रतिषेधहेतु की सत्ता को समानकाल में अङ्गीकार करने से प्रतिषेध के लिये हेतु का प्रयुक्त करना ही निष्फल है, इस प्रकार प्रमाणप्रतिषेधक अनुमान वाक्य के सिद्ध न होने से प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रमाणता निराबाध बनी रहती है।

तात्पर्य्य यह है कि यदि सब प्रमाणों का प्रतिषेध माना जाय तो प्रमाणप्रतिषेधक प्रमाण का भी प्रतिषेध होजाने से प्रमाणों की सत्ता ज्यों की त्यों बनी रहेगी, इसलिये उक्त प्रतिषेध आभासमात्र है, इसी अभिप्राय से "वृत्तिकार" ने प्रमाण प्रतिषेध को जात्युत्तर=असदुत्तर कथन किया है जिसको सूत्रकार आगे स्वयं स्पष्ट करेंगे।

और "वात्स्यायनमुनि" ने उक्त पूर्वपक्ष का इस प्रकार समाधान किया है कि "उपलब्धिहेतोरुपलब्धिविषयस्य- चार्थस्य पूर्वापरसहभावानियमाद्यथादर्शनं विभाग- वचनम्" न्या०भा०=उपलब्धि हेतु तथा उपलब्धि के विषय पदार्थ का नियम से पूर्वोत्तरभाव तथा सहभाव नहीं पाया जाता, इसलिये अनुभव के अनुसार यथायोग्य कल्पना करनी चाहिये, जैसाकि सूर्य्य का प्रकाश भावी घटपटादि पदार्थों की उपलब्धि का हेतु प्रथम होता है और उपलब्धि के विषयभूत उक्त पदार्थ पीछे होते हैं, और

प्रदीपप्रकाश वर्त्तमान घटपटादि पदार्थों की उपलब्धि का हेतु पश्चात् होता है परन्तु उपलब्धि के विषय घटापटादि पदार्थ प्रथम ही विद्यमान हैं, यहां उपलब्धि के हेतु सूर्य्यादि प्रकाश तथा घटादि विषयों का पूर्वोत्तर नियम नहीं देखा जाता, इसी प्रकार पर्वतादि स्थलों में वन्ह्युपलब्धि के हेतु धूम तथा उसके विषयभूत वह्नि का सहभाव भी स्पष्ट है, इससे सिद्ध है कि जहां जिस रूप से अर्थ की प्रतिपत्ति हो वहां उसके अनुसार ही अर्थ का ज्ञापन करना उचित है, इसलिये उक्त पक्षों में किसी एक पक्ष के अवलम्बन से प्रमाणों का प्रतिषेध करना समीचीन नहीं।

सार यह निकला कि किसी स्थल में उपलब्धि=प्रमा का हेतु प्रमाण प्रथम ही विद्यमान होता है और उसके उत्तर विषयोपलब्धि देखी जाती है और किसी स्थल में इसके विपरीत नियम पाया जाता है जैसाकि ऊपर स्पष्ट कर आये हैं, दूसरी बात यह है कि "**समाख्यायास्त्रैकाल्ययोगादप्रतिषेधः**" न्या० वा०= प्रमाण तथा प्रमेय शब्द के यौगिकार्थ का तीनों कालों के साथ सम्बन्ध पाया जाता है इससे भी "**त्रैकाल्यासिद्धेः**" हेतु स्वरूपासिद्ध होने के कारण प्रमाणप्रतिषेध का साधक नहीं, जैसाकि "**प्रमितोऽनेनार्थः प्रमीयते प्रमास्यते इति प्रमाणम्, प्रमितं प्रमीयते प्रमास्यते इति प्रमेयम्**" न्या० भा० = जिससे यथार्थ अर्थ की उपलब्धि होचुकी हो वा वर्त्तमानकाल में है और भविष्यत् में होगी. उसको "**प्रमाण**"

तथा जो प्रमाण द्वारा जाना गया वा जिसको वर्त्तमान में उपलब्ध करते हैं किंवा भविष्यत् में उपलब्ध कियाजायगा उसको "प्रमेय" कहते हैं, इस प्रकार उक्त यौगिकार्थ का तीनो कालों में सम्बन्ध पाये जाने से कोई दोष नहीं आता, अब प्रमाण प्रतिषेधवादी से प्रष्टव्य है कि "त्रैकाल्यासिद्धेः" इत्यादि वाक्यद्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सत्ता का प्रतिषेध सिद्ध होता है अथवा प्रमाणों के असम्भव को ज्ञापन=बोधन किया जाता है ? प्रथम पक्ष व्याघात दोष युक्त होने से ठीक नहीं, क्योंकि "विद्यमान पदार्थ की स्वरूप से निवृत्ति नहीं होती" इस नियम के अनुसार स्वरूप से विद्यमान प्रमाणों का प्रतिषेध नहीं होसक्ता प्रत्युत उक्त प्रतिषेध द्वारा प्रमाणसत्ता का अभ्युपगम=स्वीकार ही सिद्ध होता है अर्थात् विद्यमान पदार्थ का प्रतिषेधमात्र पदार्थ के स्वभाव को कदापि अन्यथा नहीं कर-सक्ता जैसाकि सहस्रों युक्तिद्वारा प्रतिषेध करने पर भी घट अपने मृत्तिकाभाव का परित्याग नहीं करता, इससे स्पष्ट है कि उक्त प्रतिषेध से प्रमाणसत्ता का बाध नहीं, और दूसरे पक्ष में प्रतिषेध की सिद्धि इसलिये ठीक नहीं कि उक्त प्रतिषेधवाक्य में प्रमाण-लक्षण की सङ्गति पाई जाती है अर्थात् जो प्रमाण है वही अर्थ का ज्ञापक होता है, क्योंकि ज्ञप्ति=बोध प्रमाण के अधीन है, इस प्रकार जब प्रतिषेधवाक्य ही प्रतिषेध का ज्ञापक है तो वही प्रमाण सिद्ध हुआ, इस रीति से दोनों पक्षों में प्रमाण का प्रतिषेध न होने

के कारण "ज्वलदङ्गुलिदाहन्याय"* से प्रमाणप्रतिषेधवादी उपहास के योग्य है।

सं०—अब उक्त अर्थ को हेतुद्वारा स्फुट करते हैं:—

सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः ।१३।

पद०—सर्वप्रमाणप्रतिषेधात् । च । प्रतिषेधानुपपत्तिः ।

पदा०—(च) और (सर्वप्रमाणप्रतिषेधात्) प्रमाणमात्र का प्रतिषेध करने से (प्रतिषेधानुपपत्तिः) प्रतिषेध की सिद्धि नहीं होसक्ती ।

भाष्य—सब प्रमाणों का प्रतिषेध करने से प्रमाण का प्रतिषेध प्रमाणसिद्ध नहीं होसक्ता अर्थात् "मानाधीना मेयसिद्धिः"= प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन होती है, इस नियम के अनुसार प्रतिषेधरूप प्रमेय की सिद्धि भी किसी न किसी प्रमाण से होनी चाहिये परन्तु प्रतिषेध सिद्धि के लिये वादी के मत में कोई प्रमाण नहीं और प्रमाण न होने से प्रतिषेधरूप विषय का उपपादन करना साहसमात्र है ।

भाव यह है कि जो "त्रैकाल्यासिद्धेः" हेतु से प्रत्यक्षादि प्रमाणों का प्रतिषेध किया है वह अनुमान प्रमाण से कियागया है

---

* जैसे अपनी जलती हुई अंगुली से दूसरे को जलाता हुआ अपने दाह को भी अनुभव करता है, इसी प्रकार प्रमाणप्रतिषेधवादी प्रतिषेधवाक्य से प्रमाणों का प्रतिषेध करता हुआ प्रमाणों को सिद्ध करता है ।

और अनुमानद्वारा वस्तु की सिद्धि में प्रतिज्ञादि पांच अवयवों का उपादान नियम से होता है जैसाकि प्रथमाध्याय के अनुमान प्रकरण में निरूपण कर आये हैं, इस नियम के अनुसार यदि उक्त हेतु की व्याप्ति का गमक कोई दृष्टान्त मानाजाय तो प्रत्यक्षादिकों की अप्रमाणता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि दृष्टान्त का विषयभूत अर्थ प्रत्यक्षसिद्ध है और प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु के अङ्गीकार से प्रमाणों का अङ्गीकार पायाजाता है, इसलिये उक्त वाक्यद्वारा प्रमाण प्रतिषेध मानना ठीक नहीं, यदि प्रतिषेधवाक्य में होने वाले हेतु की व्याप्ति का गमक कोई दृष्टान्त न हो तो हेतु में साध्याप्रसिद्धि दोष बने रहने से प्रमाण प्रतिषेध की उपपत्ति नहीं होसक्ती ।

सं०—अब वादी के पक्ष में और दोष कथन करते हैं:—

तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः।१४।

पद०—तत्प्रामाण्ये । वा । न । सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः ।

पदा०—(वा) अथवा (तत्प्रामाण्ये) प्रतिषेधार्थक प्रमाण के स्वीकार करने से (सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः) सब प्रमाणों का प्रतिषेध (न) नहीं होता ।

भाष्य—यदि प्रमाण प्रतिषेध के लिये वादी किसी प्रमाण को माने तो प्रमाणमात्र के प्रतिषेध की प्रतिज्ञा भङ्ग होजायगी, इसलिये ऐसा मानना ठीक नहीं ।

इस प्रकार उक्त प्रमाणों की सिद्धि का यह अनुमान निष्पन्न हुआ कि "प्रत्यक्षादीनि प्रमाणत्वेन व्यवहर्तव्यानि तत्तदर्थप्रतिपादकत्वात् यन्नैवं तन्नैवं" =जो विषय का

प्रतिपादक हो वह "**प्रमाण**" कहाता है, इस नियम के अनुसार गन्धादि विषयों के प्रतिपादक होने से प्रत्यक्षादि की प्रमाण संज्ञा है।

भाव यह है कि आकाशपुष्पादि के समान प्रत्यक्षादिक विषय के अप्रकाशक नहीं किन्तु विषय के प्रकाशक होने से प्रमाण हैं।

सं०-अब त्रैकालिक असिद्धि का प्रकारान्तर से खण्डन करते हैं।

त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धि-वत्तत्सिद्धेः ।१५।

पद०-त्रैकाल्याप्रतिषेधः । च । शब्दात् । आतोद्यसिद्धिवत् । तत्सिद्धेः ।

पदा०-(च) और (शब्दात्) शब्द द्वारा (आतोद्यसिद्धिवत्) आतोद्यसिद्धि की भांति (तत्सिद्धेः) प्रमाणों की सिद्धि होने से (त्रैकाल्याप्रतिषेधः) त्रैकालिक प्रतिषेध नहीं होसक्ता।

भाष्य-वीणा आदि वाद्यों का नाम "**आतोद्य**" और पीछे होने वाले को "**पश्चाद्भावी**" कहते हैं, जिस प्रकार बाह्य-देशस्थ पुरुष को अन्तरदेश में बजती हुई पूर्वसिद्ध वीणा का पश्चाद्भावी शब्द से अनुमान होता है कि "**वीणा वाद्यत**"= वीणा बजरही है, इसी प्रकार पश्चाद्भावी प्रमा=यथार्थज्ञान से पूर्व सिद्ध प्रमाणों का अनुमान होता है कि यह प्रमा छिदि क्रिया की भांति फलरूप होने से किसी करणजन्य है और जो इसका करण है वही प्रमाण कहाता है, इस प्रकार प्रमा के पश्चात् होनें पर भी

पूर्वसिद्ध प्रमाणों के मानने में कोई दोष नहीं ।

भाव यह है कि चक्षुरादि प्रमाण अपने प्रमारूप कार्य्य से प्रथम और उनके उत्तरकाल में प्रमा होती है यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है, और जो प्रमा के अभाव काल में चक्षुरादिकों में प्रमाणत्व व्यवहार पाया जाता है वह " पाकपाचकन्याय " की भांति जानना चाहिये अर्थात् जैसे तत्तत्काल में होने वाली पाकक्रिया के सम्बन्ध से पुरुष में " अयं पाचकः "=यह पाचक है, इस प्रकार का व्यवहार होता है और वही पाचक अपने किंवा स्वामी के निमित्त गमनादि अनेक क्रिया के करने पर भी उसी एक क्रिया के सम्बन्ध द्वारा पाचक नाम से व्यवहृत होता है जैसाकि " गच्छति पाचकः "=पाचक जाता है, " शेते पाचकः "=पाचक शयन करता है, इत्यादि इसी प्रकार कादाचित्क=किसी एक काल में होने वाली प्रमा के सम्बन्ध से चक्षुरादिकों के त्रैकालिक प्रमाणव्यवहार में कोई बाधा नहीं ।

सं०—अब दृष्टान्तद्वारा प्रमाणप्रमेय व्यवहार की उपपत्ति कथन करते हैंः—

प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यात् । १६ ।

पद०—प्रमेयता । च । तुलाप्रामाण्यात् ।

पदा०—(च) और (तुलाप्रामाण्यात्) तुला की भांति (प्रमेयता) एक ही पदार्थ में प्रमाण प्रमेय व्यवहार होता है ।

भाष्य—" गुरुत्वपरिमाणज्ञानसाधनं तुला प्रमाणं,

ज्ञानविषयो गुरुद्रव्यं सुवर्णादि प्रमेयम् " न्या०भा०=गुरुत्वादि परिमाण के साधन=यन्त्र का नाम "तुला" और परिमाणज्ञान के विषयभूत सुवर्णादि गुरु द्रव्य का नाम " प्रमेय " है,प्रमेय, तुलनेयोग्य यह दोनों और तुला, तराजू यह दोनों एकार्थवाची हैं, हैं, सुवर्णादि गुरुद्रव्यों के गुरुत्व परिमाण काल में तुला "प्रमाण" तथा सुवर्णादि गुरुद्रव्य " प्रमेय " हैं, जब उसी तुला के गुरुत्व=बोझ की अन्य तुला द्वारा उसी सुवर्णादि गुरुद्रव्य से तुलना कीजाय तो वही प्रमाणभूत तुला"प्रमेय" और सुवर्णादि गुरुद्रव्य "प्रमाण" हो जाते हैं, इसी प्रकार चक्षुरादि इन्द्रिय रूपादि की उपलब्धि में प्रमाण होने पर भी प्रमारूप फल द्वारा प्रमाण=प्रमा के करण की अनुमिति का विषय होने से प्रमेय कहाते हैं।

कई एक लोग उक्त सूत्र को इस प्रकार लापन करते हैं कि " यथा कदाचिद्गुरुत्वेयत्तापरिच्छेदकत्वात्तुलायाः प्रमाणव्यवहारः तथेन्द्रियादेरपि प्रमाणप्रमेयव्यवहारः "= जिस प्रकार किसी एक काल में गुरुत्व परिमाण का परिच्छेदक=मापक होने पर तुला में प्रमाणत्वव्यवहार त्रैकालिक पाया जाता है इसी प्रकार किसी एक काल में होने वाली प्रमा के सम्बन्ध द्वारा चक्षुरादिकों का त्रैकालिक प्रमाणव्यवहार सार्थक है निरर्थक नहीं, अतएव उक्त व्यवहार की सिद्धि के लिये सब काल में प्रमासम्बन्ध की अपेक्षा नहीं।

इसी आशय को " वात्स्यायनमुनि" ने इस प्रकार स्फुट

किया है कि " अर्थविशेषेच समाख्यासमावेशो योज्यः " न्या० भा०=प्रमाण प्रमेय के उक्त यौगिक अर्थ का सम्बन्ध पदार्थों में अन्यान्यनिमित्त द्वारा पाया जाता है, जैसाकि "आत्मा तावदुपलब्धिविषयत्वात्प्रमेये परिपठितः, उपलब्धौ स्वातन्त्र्यात्कर्त्ता, बुद्धिरुपलब्धिसाधनत्वात्प्रमाणं उपलब्धिविषयत्वाचु प्रमेयं, उभयाभावात्प्रमितिरिति "न्या०भा०= उपलब्धि का विषय होने से प्रमेय पदार्थों में कथन करने पर भी " स्वतन्त्रः कर्त्ता " अष्टा० १।४।४। इस पाणिनि के नियमानुसार उपलब्धि में स्वतन्त्र होने से आत्मा प्रमाता = प्रमा का आश्रय=कर्त्ता कहाता है अथवा एक ही बुद्धि उपलब्धि का साधन होने से " प्रमाण " विषय होने से प्रमेय और दोनों की अपेक्षा के त्यागपूर्वक प्रमिति = उपलब्धिरूप कहाती है, इसी प्रकार भिन्न २ निमित्त के सम्बन्धद्वारा चक्षुरादि इन्द्रियों में प्रमाणप्रमेय व्यवहार की अनुपपत्ति नहीं, जैसाकि पीछे निरूपण कर आये हैं।

सं०—अब प्रमाणसिद्धि में अनवस्थापूर्वक पूर्वपक्ष करते हैं :—

प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तर-सिद्धिप्रसङ्गः ॥ १७ ॥

पद०—प्रमाणतः। सिद्धेः। प्रमाणानां। प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः।

पदा०—(प्रमाणानां) प्रमाणों की (प्रमाणतः) प्रमाण से (सिद्धेः) सिद्धि मानी जाय तो (प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः) अन्य प्रमाण की सिद्धि का प्रसङ्ग होगा।

भाष्य—प्रत्यक्षादिक प्रमाण प्रमाणसिद्ध हैं, ऐसा मानने पर प्रत्यक्षादि से अतिरिक्त प्रमाणसिद्धिद्वारा अनवस्था आदि दोषों की आपत्ति होगी अर्थात् प्रत्यक्षादिक आत्माश्रय दोष के कारण स्वतःसिद्ध नहीं होसक्ते, इसलिये उनके साधनार्थ प्रमाणान्तर की अपेक्षा है, यदि उनकी सिद्धि के लिये अन्य प्रमाण मानें तो पुनः उसकी सिद्धि के लिये उत्तरोत्तर अन्यान्यप्रमाण की अपेक्षा से अनवस्था होगी अर्थात् प्रथम प्रमाण को दूसरे की तथा दूसरे को प्रथम की अपेक्षा से अन्योन्याश्रय तथा तृतीय की अपेक्षा में चक्रक और चतुर्थ आदि की अपेक्षा में अनवस्था दोष होने से प्रमाणों का मानना ठीक नहीं।

सं०—अब और दोष कथन करते हैं :—

तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणान्तरसिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः ॥ १८ ॥

पद—तद्विनिवृत्तेः। वा। प्रमाणान्तरसिद्धिवत्। प्रमेयसिद्धिः।

पदा०—(तद्विनिवृत्तेः) प्रमाण के विना प्रमाणसिद्धि मानने से (प्रमाणान्तरसिद्धिवत्) प्रत्यक्षादि प्रमाण की भांति (प्रमेयसिद्धिः) प्रमेयसिद्धि के लिये प्रमाण की अपेक्षा नहीं।

भाष्य—सूत्र में "वा" शब्द पक्षान्तर के बोधनार्थ आया है, यदि प्रमाण से विना ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि मानीजाय तो आत्मादि प्रमेय पदार्थों की सिद्धि के लिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों के मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

न प्रदीपप्रकाशवत्तत्सिद्धेः ॥ १९ ॥

पद०—न। प्रदीपप्रकाशवत्। तत्सिद्धेः।

पदा०—(प्रदीपप्रकाशवत्) प्रदीपप्रकाश की भांति (तत्सिद्धेः) प्रमाणों की सिद्धि होने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य—प्रदीप प्रकाश से घट पटादि पदार्थों के प्रत्यक्ष की भांति प्रमाणद्वारा प्रमेयसिद्धि में अनवस्थादि दोषों की प्राप्ति नहीं होसक्ती अर्थात् जिसप्रकार घटादि द्रव्यों का प्रकाशक दीप दीप का प्रकाशक चक्षुः तथा चक्षुः का अन्यान्य प्रकाशक मानने से अनवस्था नहीं होती अथवा होने पर भी वह हानिकारक नहीं, इसी प्रकार प्रमाणद्वारा प्रमेयसिद्धि और प्रमाण की अन्य प्रमाण से सिद्धि में अनवस्था दोष बाधक नहीं।

भाव यह है कि यदि उक्त अनवस्था दोषरूप होती तो प्रदीप घटादि पदार्थों का प्रकाशक न होता परन्तु उसका प्रकाशक होना अनुभवसिद्ध है, इससे स्पष्ट है कि बीजाङ्कुरन्याय की भांति प्रमाणप्रमेय व्यवहार में अनवस्था दोष नहीं किन्तु साधक है।

"आचार्य्यदेशीय" का कथन है कि जिस प्रकार दीपान्तर की अपेक्षा से रहित दीपक घटपटादि पदार्थों का स्वतन्त्र प्रकाशक है इसी प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाण अन्य प्रमाण की अपेक्षा से रहित होकर स्वतन्त्र ही प्रमेय पदार्थ को प्रकाशित करते हैं,

इसलिये उनकी सिद्धि में प्रमाणान्तर की अपेक्षा न होने से अनवस्थादि दोषों की आपत्ति नहीं होसक्ती।

"वात्स्यायनमुनि" उक्त मत का इस प्रकार खण्डन करते हैं कि "क्वचिन्निवृत्तिदर्शनादनिवृत्तिदर्शनाच्च क्वचिदनेकान्तः" न्या० भा०=दीपादि प्रकाशक पदार्थों में अन्य प्रमाण की निवृत्ति तथा घटादिक पदार्थों में सूर्य्यादि प्रकाश की अपेक्षा पाये जाने से उक्त कथन ठीक नहीं, किन्तु दीप के दृष्टान्त से प्रमाणसिद्धि में अन्य प्रमाण की आवश्यकता न होने पर भी घटादि दृष्टान्त के निर्देश से प्रमाणसिद्धि में प्रमाणान्तर की अपेक्षा ही क्यों न मानी जाय, क्योंकि आचार्य्यदेशीय ने किसी विशेष हेतु का प्रयोग नहीं किया जिससे दीप दृष्टान्तद्वारा प्रमाणों को स्वसिद्धि में निरपेक्ष तथा घटादि दृष्टान्त से सापेक्ष न मानें, इससे सिद्ध है कि उक्त कथन दृष्टान्तसमाजाति होने के कारण असदुत्तर है।

सं०—अब अवसरसङ्गति से प्रत्यक्ष लक्षण में आक्षेप करते हैं:—

प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात्॥ २०॥

पद०—प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिः। असमग्रवचनात्।

पदा०—(असमग्रवचनात्) पूर्ण न होने से (प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिः) प्रत्यक्ष लक्षण ठीक नहीं।

भाष्य—"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं०" न्या० १।१।४ सूत्र में जो प्रत्यक्ष का लक्षण किया है उसमें न्यूनता पाई जाती है,

क्योंकि उक्त लक्षण में प्रत्यक्षप्रमा के जिन कारणों का कथन किया है उनसे अतिरिक्त आत्ममनःसंयोग, इन्द्रियमनःसंयोग आदि भी प्रत्यक्ष के कारण पायेजाते हैं और उनका लक्षण में निवेश नहीं, इसलिये उक्त लक्षण समीचीन नहीं।

भाव यह है कि **"नचासंयुक्ते द्रव्ये संयोगजन्यस्य गुणस्योत्पत्तिरिति नियमः"**=द्रव्य के साथ संयोग न होने से संयोगजन्य गुण की उत्पत्ति नहीं होती, इस नियम के अनुसार आत्मा तथा मन का संयोग न होने से तज्जन्य ज्ञान की भी उत्पत्ति नहीं होसक्ती, इस प्रकार उक्त दोष की निवृत्ति के लिये आत्ममनःसंयोग भी इन्द्रियविषयसंयोग की भांति प्रत्यक्ष का कारण मानना चाहिये, यदि इन्द्रियविषयसंयोग के कथनमात्र से आत्ममनःसंयोग का ग्रहण मानाजाय अर्थात् आत्ममनःसंयोग के विना इन्द्रियविषयसंयोग ज्ञान की उत्पत्ति में अकिञ्चित्कर है ऐसा मानें तो अनुमिति आदि ज्ञानों में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति बनी रहेगी, क्योंकि अनुमित्यादि ज्ञान भी आत्ममनःसंयोगादि कारणों से होते हैं।

सं०—अब आत्ममनःसंयोग के न होने से प्रत्यक्षाभाव कथन करते हैं:—

नात्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ २१ ॥

पद०—न। आत्ममनसोः। सन्निकर्षाभावे। प्रत्यक्षोत्पत्तिः।

पदा०-(आत्ममनसोः) आत्मा तथा मन का (सन्निकर्षाभावे) संयोग न होने से (प्रत्यक्षोत्पत्तिः) प्रत्यक्ष की उत्पत्ति (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य-जिस प्रकार इन्द्रिय का विषय के साथ संयोग न होने से प्रत्यक्ष नहीं होता इसी प्रकार आत्मा का मन के साथ संयोग न होने पर भी प्रत्यक्षज्ञान नहीं होसक्ता अर्थात् विषयेन्द्रियसंयोग की भांति आत्ममनःसंयोग का प्रत्यक्षलक्षण में निवेश करना चाहिये परन्तु नहीं किया, इससे सिद्ध है कि उक्त पद का निवेश न होने से केवल विषयेन्द्रियसंयोग प्रत्यक्ष प्रमा की उत्पत्ति में समर्थ नहीं।

सं०-अब पूर्वपक्षी दिशा आदि विभु पदार्थों को प्रत्यक्ष का कारण कथन करता है:-

दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसङ्गः ॥ २२ ॥

पद०-दिग्देशकालाकाशेषु। अपि। एवं। प्रसङ्गः।

पदा०-(एवं) आत्ममनःसंयोग की भांति (दिग्देशकालाकाशेषु) दिशा, काल तथा आकाश (अपि) भी (प्रसङ्गः) प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण हैं।

भाष्य-कार्य्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में कारण विद्यमान होता है, इस नियम के अनुसार आत्ममनःसंयोग की भांति दिशा, काल तथा आकाश भी प्रत्यक्षज्ञान के अव्यवहितपूर्वक्षण में विद्यमान होने से कारण हैं, इसलिये लक्षणसूत्र में दिशा आदि का निवेश करना आवश्यक है।

वृत्तिकार " विश्वनाथ " ने इस सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि आत्ममनःसंयोग की भांति दिशा आदि विभुपदार्थों का पूर्वोत्तरभाव पाये जाने से वह भी ज्ञान के कारण मानने चाहियें, यदि यह कहा जाय कि घटोत्पत्ति में रासभ की भांति दिशा आदि ज्ञानोत्पत्ति में अन्यथासिद्ध हैं तो प्रकृत में आत्ममनःसंयोग भी अन्यथा-सिद्ध होगा अर्थात् जैसे किसी एक घट की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में अकस्मात् प्राप्त हुआ रासभ घट का कारण नहीं, क्योंकि वह घटमात्र की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में मृत्तिका, कुलाल आदि कारणों की भांति नहीं होता इसी प्रकार आत्ममनःसंयोग भी प्रत्यक्षप्रमा की उत्पत्ति में कारण नहीं होसक्ता, इस प्रकार प्रत्यक्षप्रमालक्षण के पूर्ण न होने से प्रत्यक्षप्रमाण के लक्षण की अनुपपत्ति भी समझनी चाहिये ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनोनानवरोधः । २३ ।

पद०—ज्ञानलिङ्गत्वात् । आत्मनः । न । अनवरोधः ।

पदा०—(आत्मनः) आत्मा के (ज्ञानलिङ्गत्वात्) ज्ञानलिङ्ग होने से (अनवरोधः) आत्ममनःसंयोग का त्याग (न) नहीं पाया जाता ।

भाष्य—" ज्ञानं लिङ्गं यस्य स ज्ञानलिङ्गस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् "=ज्ञान जिसका लिङ्ग हो उसको " ज्ञान-लिङ्ग " कहते हैं, इस बहुव्रीहिसमास से यह अर्थ उपलब्ध हुआ कि

भावकार्य्यरूप ज्ञान अपने समवायिकारण आत्मा की सिद्धि में लिङ्ग होने से आत्ममनःसंयोग के अधीन होता है,इसलिये आत्ममनः-संयोग का त्याग नहीं अर्थात् समवायिकारण के बिना भावकार्य्य की उत्पत्ति नहीं होती, इस नियम के अनुसार गन्धादि गुणों की भांति ज्ञान भाव कार्य्य होने से किसी समवायिकारण द्वारा जन्य होना चाहिये परन्तु पृथिवी आदि कारणों से जन्य नहीं, इससे सिद्ध है कि ज्ञान का समवायिकारण आत्मा है और लक्षणसूत्र में ज्ञान पद के उपादानद्वारा समवायिकारण आत्मा के ग्रहणपूर्वक आत्ममनः-संयोगरूप असमवायिकारण के अर्थसिद्ध होने से प्रत्यक्षलक्षण की अपूर्णता नहीं और जो सन्निधि के अभिप्राय से पूर्वापरीभाव मानकर ज्ञानोत्पत्ति में दिशा आदि को कारण कथन किया है? इसका उत्तर यह है कि " नहि सन्निधिमात्रं हेतुत्वे कारणं, यथा रूपोपलब्धौ तेजसोरूपविशेषो हेतुः न पुनस्तेजः स्पर्शः " न्या० भा०=वस्तु का सन्निधिमात्र कार्य्यकारणभाव का नियामक नहीं जैसाकि रूपोपलब्धि में तेजोवृत्ति रूपविशेष कारण है परन्तु तत्सहचारी उष्णस्पर्श नहीं, यदि सन्निधिमात्र से कारणता का नियम होता तो उक्त स्थल में तेजःस्पर्श भी कारण पाया जाता पर उसको किसी दार्शनिक ने कारण नहीं माना, क्योंकि चन्द्रवृत्ति-रूप का प्रत्यक्ष उष्णस्पर्श के बिना भी होता है, इससे स्पष्ट है कि दिशा आदि सन्निधिमात्र से प्रत्यक्षज्ञान के कारण नहीं होसक्ते अतएव उनके अन्यथासिद्ध होने से ज्ञान के कारण न होने में कोई

सन्देह नहीं ।

सं०—ननु, प्रत्यक्षलक्षण में इन्द्रियमनःसंयोग का ग्रहण क्यों नहीं ? उत्तरः—

तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनसः । २४ ।

पद०—तदयौगपद्यलिङ्गत्वात् । च । न । मनसः ।

पदा०—(च) और (तदयौगपद्यलिङ्गत्वात्) एक क्षण में अनेकज्ञान न होने से (मनसः) इन्द्रियमनःसंयोग का (न) त्याग नहीं ।

भाष्य—" युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम् " न्या० १।१।१६ में जो एक काल में अनेकज्ञानों के अभावद्वारा " मन " की सिद्धि कथन की है उससे पाया जाता है कि ज्ञानोत्पत्ति का हेतु विषयेन्द्रियसंयोग मनःसंयोग की अपेक्षा से रहित नहीं प्रत्युत मनःसंयुक्त इन्द्रिय का विषय के साथ संयोग होने से ज्ञान का होना तथा न होने से न होना इष्ट है, इसलिये उक्त पद का लक्षण सूत्र में पृथक् निवेश नहीं किया गया और जो कई एक वादी आत्मशरीरसंयोग को ज्ञानोत्पत्ति में असमवायिकारण होने की आशंका करते हैं वह इसलिये ठीक नहीं कि यदि शरीर तथा आत्मा का संयोग ही ज्ञान का असमवायिकारण होता तो सब ज्ञान युगपद् उत्पन्न होते परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध है कि आत्ममनःसंयोग ही ज्ञान का असमवायिकारण है शरीरात्मसंयोग नहीं और उक्त रीति से लक्षणसूत्र में उसके पृथक् निवेश की आवश्यकता नहीं, यदि यह

कहा जाय कि उक्त सूत्र केवल मन की सिद्धि में लिङ्ग बोधन करता है मन के ज्ञानकारणत्व को नहीं कहता, इसका उत्तर यह है कि

"अन्यार्थस्यापि तदर्थप्रकाशकत्वमुपपत्तिसामर्थ्यात्"

न्या० भा०=उक्त सूत्र ज्ञानकारण से अतिरिक्त मन की सिद्धि का प्रतिपादक होने पर भी उपपत्तिबल से उक्त अर्थ का प्रतिपादक है।

भाव यह है कि यद्यपि "युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति ०" इस सूत्र में साक्षात् मन को ज्ञान का कारण कथन नहीं किया तथापि यह बात उपपत्ति=युक्ति से पाई जाती है कि अपनी उत्पत्ति में ज्ञान वा ज्ञान के उत्पन्न करने में चक्षुरादि इन्द्रिय स्वतन्त्र नहीं प्रत्युत मनःसंयोग के अधीन हैं जैसाकि प्रत्यक्ष लक्षण में वर्णन किया है।

सं०—अब प्रत्यक्ष में विषयेन्द्रियसंयोग की प्रधानता कथन करते हैं :—

प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य स्वशब्देन वचनम्।२९।

पद०—प्रत्यक्षनिमित्तत्वात्। च। इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य। स्वशब्देन। वचनम्।

पदा०—(प्रत्यक्षनिमित्तत्वात्) केवल प्रत्यक्ष का निमित्त होने से (इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य, च) इन्द्रिय और विषय के सान्निकर्ष का (स्वशब्देन) साक्षात् (वचनं) कथन किया है।

भाष्य—आत्ममनःसंयोग ज्ञानमात्र का कारण होने से गौण तथा केवल प्रत्यक्ष का कारण होने से विषयेन्द्रियसंयोग

मुख्य है और मुख्य होने के अभिप्राय से लक्षण सूत्र में "इन्द्रियार्थ-सान्निकर्ष" पद का साक्षात् निवेश किया गया है "आत्ममनः संयोग" का नहीं अर्थात् "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः"= जहां गौण, मुख्य दोनों प्राप्त हों वहां मुख्य में कार्य्य की प्रतीति होती है, इस न्याय के अनुसार विषयेन्द्रियसंयोग का ग्रहण आवश्यक है, इसलिये आत्ममनःसंयोग आदि शेष कारणों का साक्षात् उपादान गौरव दोष युक्त होने से सङ्गत नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-

सुप्तव्यासक्तमनसाञ्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षनिमित्तत्वात्।२६।

पद०-सुप्तव्यासक्तमनसां। च। इन्द्रियार्थयोः। सन्निकर्षनिमित्तत्वात्।

पदा०-(च) और (सुप्तव्यासक्तमनसां) सुप्त तथा व्यासक्त पुरुष का ज्ञान (इन्द्रियार्थयोः) इन्द्रिय और विषय के (सन्निकर्षनिमित्तत्वात्) सम्बन्ध से होने के कारण विषयेन्द्रियसंयोग की प्रधानता है।

भाष्य-सोये हुए का नाम "सुप्त" तथा किसी एक विषय में अत्यन्त आसक्त को "व्यासक्त" कहते हैं, सुप्त, प्रसुप्त यह दोनों तथा आसक्त, व्यासक्त यह दोनों एकार्थवाची हैं "एकदा खल्वयं प्रबोधकालं प्रणिधाय सुप्तः प्रणिधानवशात

प्रबुध्यते, यदा तु तीव्रौ ध्वनिस्पर्शौ भवतः तदा प्रसुप्त-स्येन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तं प्रबोधज्ञानमुत्पद्यते, तत्र ज्ञातुर्मनसश्च सन्निकर्षस्य प्राधान्यं भवतीति" न्या० भा०=आज मैं अर्द्धरात्री के समय उठूंगा, यह संकल्प करके सोया हुआ पुरुष नियतकाल में प्रणिधानवश से उठता है और जब उक्त संकल्प के विना प्रसुप्त हुए पुरुष की निद्रा तीव्र शब्द किंवा स्पर्शादि विषयों के सम्बन्ध से निवृत्त होजाती है तब उसको विषयेन्द्रियसंयोग से प्रबोधज्ञान होता है, उक्त ज्ञान में आत्ममनः संयोग प्रधान नहीं प्रत्युत विषयेन्द्रियसंयोग की मुख्यता है, निद्रा से प्रथम नियत काल में जागरण के संकल्प को "प्रणिधान" और आकस्मिक निद्रानिवृत्ति के उत्तरक्षण में होने वाले शब्दादिज्ञान को "प्रबोधज्ञान" कहते हैं, इस प्रकार कदाचित् किसी विषय में दत्तचित्त हुआ पुरुष संकल्पद्वारा अन्य विषय की जिज्ञासा से प्रयत्नपूर्वक मन को इन्द्रिय के साथ लगाकर विषय उपलब्ध करता है परन्तु जब निःसङ्कल्प, जिज्ञासाशून्य और व्यासक्त=अत्यन्त किसी एक विषय में लगे हुए पुरुष को अकस्मात् वाह्यविषय के साथ सम्बन्ध होने से शब्दादि विषयों का साक्षात्कार होता है तब भी विषये-न्द्रियसंयोग की प्रधानता पाई जाती है आत्ममनःसंयोग की नहीं, क्योंकि आकस्मिक ज्ञान में प्रमाता अपने प्रयत्नद्वारा मन का विषय के साथ सम्बन्ध नहीं करता, इससे स्पष्ट है कि प्रत्यक्षज्ञान में प्रधान होने से विषयेन्द्रियसंयोग का साक्षात् उपादान समीचीन है।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम् । २७ ।

पद०—तैः । च । अपदेशः । ज्ञानविशेषाणाम् ।

पदा०—(च) और (ज्ञानविशेषाणाम्) ज्ञानविशेष का (तैः) इन्द्रिय और विषय द्वारा (अपदेशः) व्यवहार होता है ।

भाष्य—"**तैरिन्द्रियैरर्थैश्च व्यपदिश्यन्ते ज्ञानविशेषाः**"=घ्राण से गन्ध, चक्षुः से रूप, रसना से रस को अनुभव करता हूं अथवा मेरे को घ्राणज, चाक्षुष वा रासन आदि प्रत्यक्ष हुआ है, इस प्रकार विषय तथा इन्द्रियद्वारा ज्ञानविशेष=चाक्षुषादिज्ञान का व्यवहार पाये जाने से विषयेन्द्रियसंयोग प्रधान है आत्ममनः संयोग नहीं ।

"वृत्तिकार" ने इस सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि "**ज्ञानविशेषाणां तैरिन्द्रियार्थसन्निकर्षैरपदेशो विशेषणं व्यावृत्तिः**"=इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य लक्षण अनुमित्यादि से प्रत्यक्ष का व्यावर्त्तक है आत्ममनःसंयोग आदि नहीं, इसलिये "**इन्द्रियार्थसन्निकर्ष**" पद का निवेश मुख्य है ।

भाव यह है कि प्रत्यक्षलक्षण में "इन्द्रियार्थसन्निकर्ष" पद से अतिव्याप्ति आदि दोषों की निवृत्ति होती है "आत्ममनःसंयोग" पद से नहीं, क्योंकि आत्ममनःसंयोग प्रत्यक्ष की भांति अनुमित्यादि ज्ञानों में समान पाया जाता है, अतएव वह असाधारणधर्म न होने से लक्षण नहीं होसक्ता, इसी अभिप्राय से भाष्यकार तथा वार्त्तिक-

कार आदि का कथन है कि "इन्द्रियार्थसन्निकर्षो०" न्या० १।१।४ यह सूत्र प्रत्यक्ष के कारणमात्र का वर्णन करने के लिये नहीं किन्तु प्रत्यक्षलक्षण का प्रतिपादक है।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:—

व्याहतत्वादहेतुः । २८ ।

पद०—व्याहतत्वात् । अहेतुः ।

पदा०—(व्याहतत्वात्) व्याघात होने से (अहेतुः) उक्त हेतु ठीक नहीं।

भाष्य—यदि आत्ममनःसंयोग को कारण न माने तो "एक काल में अनेक ज्ञानों का अभाव मन की सिद्धि में लिङ्ग होता है" इस वचन के साथ व्याघात दोष आता है, उसकी निवृत्ति के लिये लक्षण सूत्र में "मनःसंयोग" पद का निवेश आवश्यक है, क्योंकि मनःसंयोग के विना विषयेन्द्रियसंयोग ज्ञान की उत्पत्ति में स्वतन्त्र नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति में मनःसंयोग को कारण न मानने से एककाल में अनेकज्ञानों की उत्पत्ति का प्रसङ्ग ज्यों का त्यों बना रहता है और इस दोष के निवारणार्थ ज्ञानमात्र के साधारण कारण मनःसंयोग की प्रत्यक्ष में कारणता बोधन करने के लिये विषयेन्द्रियसंयोग की भांति "आत्ममनःसंयोग" पद का निवेश करना उचित है।

"विश्वनाथ" ने उक्त सूत्र के आशय को इस प्रकार स्फुट किया है कि "गीतादिश्रवणकाले चक्षुर्घटसंयोगादौ

विद्यमानेपि चाक्षुषादेर्व्याहतत्वे इन्द्रियार्थसंयोगो न हेतुरित्यर्थः"=अनन्यचित्त होकर गीतादिकों के श्रवणकाल में घट पटादि पदार्थों के साथ चक्षुरादि इन्द्रियों का संयोग होने पर भी चाक्षुषादि प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये व्यभिचारी होने से विषयेन्द्रियसंयोग प्रत्यक्षज्ञान का हेतु नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

नार्थविशेषप्राबल्यात् । २९ ।

पद०—न । अर्थविशेषप्राबल्यात् ।

पदा०—(अर्थविशेषप्राबल्यात्) अर्थविशेष के प्रबल होने से उक्त दोष (न) नहीं आता ।

भाष्य—शब्दादिविषयों में से किसी एक विषय की प्रबलता के कारण सुप्त तथा व्यासक्तपुरुष के उक्त ज्ञान में विषयेन्द्रियसंयोग की प्रधानता कथन करने से आत्ममनःसंयोग का निषेध नहीं किया, क्योंकि "सुप्तव्यासक्तमनसां" इस सूत्र में "मनः" पद के ग्रहण द्वारा मनःसंयोग की कारणता बोधन कीगई है अतएव व्याघात दोष नहीं होसक्ता ।

भाव यह है कि प्रणिधान तथा संकल्प के न होने पर जो सुप्त और व्यासक्त पुरुष को इन्द्रिय तथा विषय के सम्बन्ध से शब्दादि तीव्र विषयों का ज्ञान होता है उसमें विषयेन्द्रियसंयोग मुख्य तथा आत्ममनःसंयोग गौण है, इस प्रकार विषयेन्द्रियसंयोग की प्रधानता बोधन करने में तात्पर्य्य है मनःसंयोग के निषेध में नहीं, और जो

गीतादि के श्रवणकाल में चाक्षुपादिज्ञान के न होने से विषयेन्द्रिय-संयोग का व्यभिचार कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि गीतादिकों की श्रवणेच्छा चाक्षुषादि प्रत्यक्षों की प्रतिबन्धक होती है और प्रतिबन्धकाभाव को कार्य्यमात्र का साधारण कारण होने से तदभावद्वारा कार्य्य का न होना सर्वसम्मत है जैसाकि न्याय-कुसुमाञ्जलि में कथन किया है किः—

भावो यथातथाभावः कारणं कार्य्यवन्मतः ।
प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः ॥

अर्थ—अन्वयव्यतिरेक द्वारा भाव पदार्थों के कार्यकारणभाव की भांति अभाव का भी कार्य्यकारणभाव नियत है, इसलिये "जो कारण है वह भावरूप होता है" यह नियम नहीं होसक्ता, क्योंकि विरुद्ध सामग्री किंवा कारणाभाव का नाम "प्रतिबन्धक" और उसका अभाव अर्थात् प्रतिबन्धकाभाव कार्य्यमात्र का कारण होता है ।

सं०—अब पूर्वपक्षी प्रत्यक्ष को अनुमान सिद्ध करता हैः—

प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः ।३०।

पद०—प्रत्यक्षम् । अनुमानं । एकदेशग्रहणात् । उपलब्धेः ।

पदा०—(एकदेशग्रहणात्) एकदेश के ग्रहणद्वारा (उपलब्धेः) उपलब्धि होने से (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष (अनुमानं) अनुमान है ।

भाष्य—"अयं वृक्षः"=यह वृक्ष है, इस प्रकार विषये-न्द्रियसंयोग से होनेवाला वृक्षविषयक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि धूम-

द्वारा वन्हिज्ञान की भांति वृक्ष एकदेश=शाखादि अवयव की उपलब्धि से जन्य है अर्थात् जिस प्रकार धूमदर्शन से वन्हि का अनुमान होता है इसी प्रकार वृक्ष के पूर्वभाग को देखकर शेष अवयवसमुदायरूप वृक्ष का अनुमान होता है, इसलिये अनुमान से अतिरिक्त प्रत्यक्षप्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं।

इस सूत्र के आशय को "**वाचस्पतिमिश्र**" ने इसप्रकार स्फुट किया है कि "**नह्यवयवी नाम कश्चिदर्थान्तर्भूतोऽवयवेभ्योऽस्ति अपित्ववयवा एव परमार्थसन्तस्तेषु च कतिपयानवयवान्गृहीत्वा तत्सहचरितानवयवाननुमाय प्रतिसन्धानजेयं वृक्षबुद्धिः**" न्या० वा० ता० टी०=शाखा आदि अवयवों से अवयवी भिन्न न होने के कारण वृक्ष अवयवों का समुदायरूप है समुदाय से पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ नहीं और अवयवसमुदाय में से किसी एक अवयव के दर्शनद्वारा तत्सहचारी अन्य अवयवों के अनुमान से होने वाला "यह वृक्ष है" इस प्रकार का ज्ञान धूमपरामर्शजन्य वन्हिज्ञान की भांति अनुमितिरूप है प्रत्यक्ष नहीं, इसलिये "**प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि**" न्या० १।१।३ इस विभाग सूत्र में तीन ही प्रमाण मानने चाहियें चार नहीं।

स्मरण रहे कि उपादानकारण से कार्य्य की उत्पत्ति में वादियों के अनेक मत हैं जिनमें अणुसञ्चयपक्ष, पदार्थान्तरोत्पत्तिपक्ष यह दो सिद्धान्त मुख्य हैं, कार्य्यमात्र धान्यराशि की भांति

परमाणुओं का समुदायरूप है इस सिद्धान्त का नाम "अणुसञ्चयपक्ष" तथा परमाणुओं द्वारा द्व्यणुकादि क्रम से अवयवी की उत्पत्ति का नाम "पदार्थान्तरोत्पत्तिपक्ष" है, बौद्ध आदि नास्तिक लोग प्रायः अणुसञ्चयपक्ष के आश्रय से ही कार्य्यमात्र को रज्जुसर्प्प की भांति मिथ्या कथन करते हुए प्रत्यक्ष खण्डन के लिये पूर्वपक्ष करते हैं परन्तु महर्षि गोतम के सिद्धान्त में पदार्थान्तरोत्पत्तिपक्ष ही मुख्य है जिसका आगे स्वयं प्रत्यक्ष का समाधान करते हुए उपपादन करेंगे।

सं०—अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं :—

न प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ॥ ३१ ॥

पद०—न। प्रत्यक्षेण। यावत्। तावत्। अपि। उपलम्भात्।

पदा०—(प्रत्यक्षेण) प्रत्यक्ष द्वारा (अपि) ही (यावत्, तावत्) सब की उपलब्धि होने से प्रत्यक्ष (न) अनुमान नहीं होसक्ता।

भाष्य—वृक्ष के एकदेश की उपलब्धि से प्रत्यक्ष को अनुमान कथन करना इसलिये ठीक नहीं कि एकदेश की उपलब्धि इन्द्रिय-संयोगजन्य होने से प्रत्यक्षरूप है अर्थात् प्रत्यक्ष के अनुमान होने में प्रयुक्त किया हुआ "एकदेशग्रहणादुपलब्धेः" हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होने से प्रत्यक्षवृत्ति अनुमानत्व का साधक नहीं होसक्ता क्योंकि एकदेश की उपलब्धि प्रत्यक्षरूप होने से वादी के "प्रत्यक्ष-मनुमानं" इस प्रतिज्ञावाक्य के साथ उक्त हेतु का विरोध पाया

जाता है और जहां प्रतिज्ञा हेतु का विरोध हो वहां विरुद्ध हेत्वाभास सर्वसम्मत है जैसाकि प्रथमाध्याय में वर्णन कर आये हैं।

भाव यह है कि वृक्षसम्बन्धी जिस देश के साथ इन्द्रियसंयोग की उत्पत्ति हो वही देश प्रत्यक्ष का विषय माना जायगा, क्योंकि ज्ञान निर्विषय नहीं होसक्ता, इसलिये एकदेश की उपलब्धि विषयेन्द्रिय-संयोगजन्य होने से प्रत्यक्षरूप है।

सं०—अब पूर्वपक्षी के सिद्धान्त में और दोष कथन करते हैं:—

नचैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ॥ ३२ ॥

पद०—न । च । एकदेशोपलब्धिः । अवयविसद्भावात् ।

पदा०—(अवयविसद्भावात्) अवयवी के होने से (एकदेशोपलब्धिः) एकदेश की उपलब्धि (न) नहीं होती।

भाष्य—सूत्र में "च" शब्द अवयवों से अवयवी की भिन्नता बोधन करने के लिये आया है, अवयवी स्वतन्त्र द्रव्य होने से एकदेश की उपलब्धि नहीं होती किन्तु एकदेश तथा तत्सहचारी एकदेशी दोनों की उपलब्धि पाई जाती है अर्थात् अवयववृत्ति इन्द्रिय-संयोगद्वारा अवयवी के साथ संयोग होने से "यह वृक्ष है" इस ज्ञान का नाम प्रत्यक्ष है अनुमिति नहीं।

भाव यह है कि अवयवसंयोग कारण तथा अवयवीसंयोग कार्य्य है और कारण के होने से कार्य्य का होना सर्वसम्मत है, जब वादी कारणरूप अवयवप्रत्यक्ष मानता है तो कार्य्यरूप अवयविप्रत्यक्ष के न मानने में कोई हेतु नहीं, इससे सिद्ध है कि प्रत्यक्षज्ञान अनुमिति नहीं।

सं०—अब प्रसङ्गसङ्गति से अवयवी की सिद्धि में पूर्वपक्ष करते हैं :—

साध्यत्वादवयविनि सन्देहः ॥ ३३ ॥

पद०—साध्यत्वात् । अवयविनि । सन्देहः ।

पदा०—(साध्यत्वात्) साध्य होने से (अवयविनि) अवयवी में (सन्देहः) सन्देह है ।

भाष्य—"अयंवृक्षः" इस प्रत्यक्षसिद्धि के लिये जो "अवयविसद्भावात्" हेतु दिया है वह "साध्यसम" हेत्वाभास होने से उक्त साध्य का साधक नहीं होसक्ता, क्योंकि जिस प्रकार वृक्ष के एकदेश की उपलब्धि से शेष अवयवों में होने वाली वृक्षत्व-बुद्धि प्रत्यक्षरूप से साध्य है इसी प्रकार अवयवी भी साध्य है और जो साध्य होता है वह हेतु नहीं होसक्ता,इसलिये उक्त हेतु द्वारा अवयवी का प्रत्यक्ष मानना ठीक नहीं ।

भाव यह है कि वृक्षादि पदार्थ परमाणुओं का समुदायरूप होने से एकदेश की उपलब्धि द्वारा "अयं वृक्षः" यह ज्ञान अनुमिति रूप मानना ही समीचीन है ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः ॥ ३४ ॥

पद०—सर्वाग्रहणं । अवयव्यसिद्धेः ।

पदा०—(अवयव्यसिद्धेः) अवयवी के न मानने से (सर्वाग्रहणं) सब का ग्रहण नहीं होसक्ता ।

भाष्य—यदि अवयवी को अवयवों से स्वतन्त्र द्रव्य न माने तो सब का प्रत्यक्ष नहीं होसक्ता अर्थात् अवयवी न मानने से "**वृक्षोयं हरित एको महान् संयुक्तः स्पन्दते**" =यह एक महान् वृक्ष हरित शाखासंयोग वाला कांपता है, इस प्रकार एक ही पदार्थ में वृक्षरूप द्रव्य, हरितरूप गुण, चलनात्मक कर्म, वृक्षत्व जाति और शाखासंयोग के समवायादि सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं होसक्ता, क्योंकि अतीन्द्रिय होने से परमाणु प्रत्यक्ष के विषय नहीं और द्रव्यप्रत्यक्ष के विना तद्गत गुणादिकों का प्रत्यक्ष सर्वथा असम्भव है, इसलिये वृक्षादि परमाणुओं का समुदायरूप नहीं, यदि वह समुदायरूप होते तो उक्त रीति से एकही पदार्थ में द्रव्यादि का प्रत्यक्ष न पाया जाता परन्तु पाया जाता है, इससे सिद्ध है कि वृक्षादि परमाणुओं का समुदाय नहीं और समुदायरूप न होने से उक्त हेतु सिद्ध है, अतएव "साध्यसम" हेत्वाभास नहीं होसकता, और ऐसा न होनेसे "अयंवृक्षः" इत्यादि ज्ञान प्रत्यक्ष है अनुमिति नहीं।

"**उद्योतकराचार्य्य**" का कथन है कि "**सर्वाग्रहणमितिसर्वैःप्रमाणैरग्रहणं प्रत्यक्षस्यवर्त्तमानमहद्विषयत्वात्**"= यदि अवयवी को अवयवों से पृथक् द्रव्य न माने तो प्रमाणमात्र से पदार्थ का ज्ञान न होना चाहिये, क्योंकि वर्त्तमान काल में होने वाले महत्वविशिष्ट पदार्थ प्रत्यक्ष के विषय होते हैं और अवयवी पदार्थ के न मानने से बाह्यप्रत्यक्ष के अभावद्वारा अनुमानादि प्रमाणों की

अपने २ विषय में प्रवृत्ति न होगी परन्तु होती है, इससे सिद्ध है कि अवयवी अवयव समुदाय से पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ है, अतएव उक्त ज्ञान के प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं।

सं०—अब अवयवी की सिद्धि में और हेतु कथन करते हैं :—

धारणाकर्षणोपपत्तेश्च । ३५ ।

पद०—धारणाकर्षणोपपत्तेः । च ।

पदा०—(च) और (धारणाकर्षणोपपत्तेः) धारण तथा आकर्षण के पाये जाने से अवयवी स्वतन्त्र पदार्थ है।

भाष्य—" धारणं नाम एकदेशग्रहणसाहचर्य्ये सत्यवयविनोदेशान्तरप्राप्तिप्रतिषेधः, आकर्षणं नाम एकदेशग्रहणसाहचार्य्ये सत्यवयविनोदेशान्तरप्रापणम् "= किसी एक अवयव के ग्रहण से अवयवी का देशान्तर के साथ विभाग किंवा संयोगनिवृत्ति का नाम " धारण " और अवयव ग्रहणपूर्वक अवयवी का अन्य देश के साथ संयोग का नाम " आकर्षण " है, या यों कहो कि वस्तु के ग्रहण को " धारण " और खेंचने को " आकर्षण " कहते हैं, धारण, ग्रहण यह दोनों और आकर्षण तथा आकृष्टि यह दोनों पर्य्यायशब्द हैं, धारण तथा आकर्षण के पाये जाने से अवयवी भिन्न पदार्थ है, यदि अवयवी अवयवों का समुदायरूप होता तो एकदेश के धारण तथा आकर्षण से अवयवी का धारण और आकर्षण न पाया जाता अर्थात् जिसप्रकार धान्यराशि के किसी एक देश का

धारण करने से सब का धारण अथवा आकर्षण करने से सब का आकर्षण नहीं होता किन्तु किसी एक अवयव का ही होता है इसी प्रकार घटपटादि अवयवी पदार्थों में किसी एक देश का ही धारण, आकर्षण पाया जाता परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध है कि अवयवी अवयवों=परमाणुओं का समुदाय नहीं।

और जो "अणुसञ्चयवादी" ने अवयवी को समुदायरूप कथन किया है उससे प्रष्टव्य है कि "एकोऽयं वृक्षः"=यह एक वृक्ष है,इस प्रकार वृक्षविषयक ज्ञान एकपदार्थ किंवा अनेकपदार्थों को विषय करता है ? प्रथमपक्ष के अङ्गीकार से समुदायभिन्न अवयवी की सिद्धि निराबाध है, दूसरा पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि अनेक पदार्थों में एकबुद्धि=अन्य में अन्य बुद्धि होने के कारण मिथ्याज्ञान है और मिथ्याज्ञान सत्यज्ञान के विना नहीं होसक्ता, इसलिये जिस पदार्थ में एकत्वसंख्या को विषय करने वाली बुद्धि सत्य है वही "अवयवी" है।

सं०-अब "अणुसञ्चयवादी" के मत में एकत्वबुद्धि की सर्वथा अनुपपत्ति कथन करते हैं :—

सेनावनवद्ग्रहणमितिचेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम्। ३६।

पद०-सेनावनवत्। ग्रहणं। इति। चेत्। न। अतीन्द्रियत्वात्। अणूनाम्।

पदा०-(सेनावनवत्) सेना तथा वन की भांति (ग्रहणं)

एकत्त्व बुद्धि होती है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न)
ठीक नहीं, क्योंकि (अणूनां) परमाणु(अतीन्द्रियत्वात्) अतीन्द्रिय हैं।

भाष्य-मनुष्य, रथ, अश्व तथा गज आदि समुदायविशेष का नाम "सेना" और वनस्पति, लता, ओषधि आदि वृक्षसमुदाय का नाम "वन" है, जैसे अनेक मनुष्य रथ आदिकों में "इयं सेना"=यह सेना है, किंवा अनेकवृक्षों में "इदं वनं"= यह वन है, इस प्रकार की एकत्वबुद्धि समुदाय की अपेक्षा से गौण पाई जाती है मुख्य नहीं, इसी प्रकार अनेक परमाणुओं के समुदाय में "अयंवृक्षः" इत्यादि एकत्वसंख्याविषयक बुद्धि भी मुख्य नहीं गौण है ? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि परमाणु अतीन्द्रिय हैं और अतीन्द्रिय होने के कारण एक परमाणु का प्रत्यक्ष न होने से परमाणुसमुदायविषयक प्रत्यक्ष के अभाव द्वारा वृक्षगत एकत्व संख्याविषयक ज्ञान की सर्वथा अनुपपत्ति होगी, यदि यह कहाजाय कि दूरस्थ एक मनुष्य वा वृक्ष के प्रत्यक्ष न होने पर भी मनुष्य समुदाय किंवा वृक्षसमुदाय के प्रत्यक्ष की भांति अतीन्द्रिय परमाणुओं के समुदाय का प्रत्यक्ष होसक्ता है, अतएव सेनावन की भांति समुदायसापेक्ष एकत्वबुद्धि की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं ? इसका उत्तर यह है कि दूरस्थ मनुष्यादि अतीन्द्रिय नहीं क्योंकि समीप होने से उनका प्रत्यक्ष पाया जाता है और परमाणु का समीप होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं।

भाव यह है मनुष्य, वृक्षादि में महत्त्वरूप कारण के होने से प्रत्यक्ष

ज्ञान की अनुपपत्ति नहीं पाईजाती परन्तु प्रत्येक परमाणु में महत्व न होने से "सिकतातैलन्याय"*की भांति परमाणुसमुदाय में महत्व के अभाव द्वारा प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है, इस प्रकार समुदाय रूप धर्मी का प्रत्यक्ष न होने से तद्गत एकत्वबुद्धि की उपपत्ति अणुसञ्चयवादी के मत में कदापि नहीं होसक्ती, इसलिये उक्त रीति से वृक्षादि पदार्थों में एकत्वबुद्धि का विषय परमाणु-समुदाय नहीं प्रत्युत परमाणुरूप अवयवों से जन्य अवयवी एक ही पदार्थ है।

सं०-अब अनुमान की परीक्षा में पूर्वपक्ष करते हैं:—

रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारा-दनुमानमप्रमाणम् ॥ ३७ ॥

पद०-रोधोपघातसादृश्येभ्यः । व्यभिचारात् । अनुमानं । अप्रमाणम् ।

पदा०-(रोधोपघातसादृश्येभ्यः) रोध, उपघात तथा सादृश्य द्वारा (व्यभिचारात्) व्यभिचार पाये जाने से (अनुमानं) अनुमान (अप्रमाणम्) प्रमाण नहीं।

भाष्य-बहने वाले जलादि द्रव्यों के सेतुआदि प्रतिबन्धकों का नाम "रोध" पिपालिका=चीटियों के गृहोपद्रव का नाम "उपघात"

* जैसे सिकता=वालु के एकदेश से तैल निकालना असम्भव है इसीप्रकार सिकतासमुदाय से भी निकलना असम्भव है, इस असम्भवता प्रतिपादक दृष्टान्त को "सिकतातैलन्याय" कहते हैं।

और मनुष्य तथा मयूरआदिके शब्द की समानता का नाम "सादृश्य" है, रोध,उपघात तथा सादृश्य द्वारा व्यभिचार पाये जाने से अनुमान को प्रमाण मानना ठीक नहीं अर्थात् जो प्रथमाध्याय में अनुमान के पूर्ववत् आदि भेद कथन कर आये हैं उनके प्रत्येक स्वरूप में व्यभिचार देखा जाता है,इसलिये अनुमानसामान्य को प्रमाण कथन करना अयुक्त है, जैसाकि नदी की बाढ़ को देखकर भविष्यत् वृष्टि के अनुमान में नदी के रोधद्वारा व्यभिचार है अर्थात् जब कोई सेतु आदि से नदी प्रवाह को बन्द करके छोड़ देता है तब भी नदी का बाढ़ होजाता है परन्तु उसमें ऊपर हुई वर्षा कारण नहीं, इसलिये रोध द्वारा उत्पन्न हुआ नदी का बाढ़ ऊपर हुई वृष्टि के अनुमान में हेतु नहीं होसक्ता, और पिपीलिका के अंडसञ्चार से भविष्यत् वृष्टि का अनुमान इसलिये ठीक नहीं कि उनका घर टूट जाने पर भी वह अंडों को लेकर भागती हुई देखी जाती हैं परन्तु उससे भविष्यत् वृष्टि का अनुमान नहीं होता, इस प्रकार पूर्ववत्, शेषवत् अनुमान का यथाक्रम व्यभिचार जानना चाहिये, और जो सामान्यतोदृष्ट अनुमानद्वारा मोर के शब्द से वर्षा किंवा मोर का अनुमान किया जाता है वह इसलिये व्यभिचारी है कि जहां मोर की भांति मनुष्य बोलता हो वहां मयूरशब्दरूप हेतु के विद्यमान होने पर भी मोर किंवा वर्षारूप साध्य नहीं पाया जाता, इस रीति से व्यभिचार दोषद्वारा सामान्यतोदृष्ट अनुमान ठीक नहीं और उक्त तीनों अनुमानों का व्यभिचार होने से अनुमिति के अभावद्वारा उसके करण अनुमान का सामान्य लक्षण समीचीन नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात्।३८

पद०-न। एकदेशत्राससादृश्येभ्यः। अर्थान्तरभावात्।

पदा०-(एकदेशत्राससादृश्येभ्यः) एकदेश, त्रास तथा सादृश्य से (अर्थान्तरभावात्) नदीवृद्धि आदि हेतु भिन्न हैं, इस लिये उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य-नदी के एकदेशीय प्रतिबन्ध=रुकावट, त्रासजन्य=भयजन्य पिपीलिका के अण्डसञ्चार और मयूर शब्द के समान पुरुषशब्द से वर्षावृद्धि आदि हेतु भिन्न होने के कारण अनुमान में कोई व्यभिचार नहीं, क्योंकि ऊपर वर्षा होने में जलवृद्धि मात्र हेतु नहीं प्रत्युत प्रथम प्रवाह की अपेक्षा से अधिक प्रवाह की शीघ्रता और अनेक फल, पत्र काष्ठ तथा झाग आदि के सहित विशेषरूप से जलवृद्धि देखकर अनुमान किया जाता है कि ऊपर वर्षा हुई है जलमात्र की वृद्धि से नहीं, इसलिये कार्य्यद्वारा कारण के अनुमान में कोई व्यभिचार नहीं, और कारण से कार्य्य के अनुमान में अर्थात् पिपीलिकाण्डसञ्चार=अण्डों को लेकर चींटियों का भागना, इत्यादि हेतुओं द्वारा अनुमान में व्यभिचार इसलिये नहीं कि त्रास आदि लौकिक निमित्त के विना स्वभावसिद्ध अण्डों को लेकर जाती हुई चींटियों का भागना भविष्यवृष्टि में हेतु है अन्यथा नहीं, और जो सामान्यतोदृष्ट अनुमान में व्यभिचार दिया है ? उसका समाधान इसप्रकार है कि मोर के प्रयत्न से उत्पन्न हुआ शब्द मोर

तथा वृष्टि के ज्ञान में हेतु है तत्सदृश शब्द नहीं, इससे सिद्ध है कि व्यभिचार न होने से अनुमान लक्षण में कोई बाधा नहीं।

सं०—अब अनुमान द्वारा त्रैकालिक विषयों की सिद्धि मानने वाले सिद्धान्ती के मत में पूर्वपक्षी वर्त्तमान काल की असिद्धि कथन करता है:—

वर्त्तमानाभावः पततः पतितपतितव्यकालोपपत्तेः । ३९ ।

पद०—वर्त्तमानाभावः । पततः । पतितपतितव्यकालोपपत्तेः ।

पदा०—(पततः) गिरने वाली वस्तु में (पतितपतितव्यकालोपपत्तेः) पतित और पतितव्य दोनों काल पाये जाने से (वर्त्तमानाभावः) वर्त्तमान काल का अभाव है।

भाष्य—"वृन्तात्प्रच्युतस्य फलस्य भूमिं प्रत्यासीदतो यदूर्ध्वं स पतितोऽध्वा तत्संयुक्तः कालः पतितकालः योऽधस्तात्स पतितोऽध्वा तत्संयुक्तः कालः पतितव्यकालः" न्या०भा०=जब वृक्ष से फल गिरता है तो शाखा से लेकर हुए गिरते फल पर्य्यन्त ऊर्ध्व देश का नाम "पतितमार्ग" और उसके सम्बन्ध से काल को "पतित" कहते हैं, एवं फल से लेकर भूमि पर्य्यन्त शेष देश का नाम "पतितव्यदेश" और उसके सम्बन्ध से काल का नाम "पतितव्य" है, इस प्रकार फल आदि के पतन में पतित=भूत और पतितव्य=भविष्यत् काल की उपलब्धि होने

से तीसरे वर्त्तमान काल का अभाव है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

तयोरप्यभावोवर्त्तमानाभावेतदपेक्षत्वात्।४०

पद०-तयोः। अपि। अभावः। वर्त्तमानाभावे।तदपेक्षत्वात्।

पदा०-(वर्त्तमानाभावे) वर्त्तमान के न होने से (तयोः) भूत भविष्यत् का (अपि) भी (अभावः) अभाव होगा, क्योंकि (तदपेक्षत्वात्) वह दोनों वर्त्तमान की अपेक्षा से होते हैं।

भाष्य-वर्त्तमानकाल के न होने से भूत भविष्यत् भी न हो सकेंगे, क्योंकि वह दोनों उसी की अपेक्षा से होते हैं, और जो पतित पतितव्य भेद से देश को काल का अभिव्यंजक कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि काल का अभिव्यंजक क्रिया होती है देश नहीं अर्थात् पतन क्रिया की उपरति से काल को पतित=भूत और आगे होने वाली पतन क्रिया के सम्बन्ध से उसको पतितव्य= भविष्यत् कहते हैं, और जब द्रव्य में क्रिया उपरत न हो किन्तु वर्त्तमान हो तब वर्त्तमान काल कहाजाता है, काल का लक्षण तथा उसके भेदों का विशेष वर्णन "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में किया है, इसलिये यहां आवश्यकता नहीं।

सं०-ननु, भूत, भविष्यत् काल को परस्पर सापेक्ष क्यों न मानाजाय? उत्तर:—

नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षा सिद्धिः।४१।

पद०-न। अतीतानागतयोः। इतरेतरापेक्षा। सिद्धिः।

पदा०-(अतीतानागतयोः) भूत तथा भविष्यत् की (इतरेतरापेक्षा) परस्पर अपेक्षाद्वारा (सिद्धिः) (सिद्धि (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य-भूत की अपेक्षा से भविष्यत् तथा भविष्यत् की अपेक्षा से भूत की सिद्धि का मानना ठीक नहीं क्योंकि उनकी परस्परसिद्धि में अन्योन्याश्रय दोषकी प्राप्ति होती है और "अन्योऽन्याश्रयाणि च कार्य्याणि न सिद्ध्यन्ति" =अन्योन्याश्रय दोष के होने से वस्तु की सिद्धि नहीं होसक्ती, इसलिये वह दोनों परस्पर सापेक्ष नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि यदि वर्त्तमान काल न हो तो "इदं वृत्तं"=यह पदार्थ विद्यमान था अथवा "इदं वर्त्तिष्यते"=यह होगा, इस प्रकार का व्यवहार नहीं होसक्ता परन्तु होता है, इससे सिद्ध है कि जो वस्तु विद्यमान है वही कालान्तर में भूत तथा जो विद्यमान होगी वह पूर्वकाल में भविष्यत् कहलाती है, इसलिये तत्तद्वस्तु की तत्तत् क्रिया के सम्बन्ध से काल में भी भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान व्यवहार की सिद्धि पाई जाती है, अतएव भूत, भविष्यत् दोनों को परस्पर सापेक्ष मानना ठीक नहीं।

सं०-अब वर्त्तमान की सिद्धि में और हेतु कथन करते हैं:—

वर्त्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः।४२।

पद०-वर्त्तमानाभावे। सर्वाग्रहणं। प्रत्यक्षानुपपत्तेः।

पदा०-(वर्त्तमानाभावे) वर्त्तमान के न होने पर (प्रत्यक्षानुपपत्तेः) प्रत्यक्ष की असिद्धि द्वारा (सर्वाग्रहणं) सब का ग्रहण न होगा।

भाष्य-वर्त्तमान के अभाव से प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति द्वारा पदार्थमात्र का ग्रहण=ज्ञान नहीं होसक्ता, क्योंकि विद्यमान पदार्थ विषयेन्द्रियसंयोग से होने वाले प्रत्यक्षज्ञान का विषय होता है और प्रत्यक्षप्रमाण के न होने से अनुमानादि प्रमाणों के अभावद्वारा प्रमाणमात्र का लोप होने पर किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होसक्ता और वस्तुमात्र के ज्ञान का न होना वादी को भी इष्ट नहीं, इससे सिद्ध है कि जो अनुमानादि प्रमाणों से वस्तु का ज्ञान पायाजाता है वह सब भूत वा भविष्यत् वस्तुओं का है और वर्त्तमान वस्तु को विषय करनेवाला एकमात्र प्रत्यक्षज्ञान है, इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञान की सिद्धि से वर्त्तमान की सिद्धि जाननी चाहिये।

स्मरण रहे कि अर्थसद्भावव्यङ्ग्य तथा क्रियासन्तानव्यङ्ग्य भेद से वर्त्तमानकाल दो प्रकार का है, जिसका वस्तु की सत्ता से ग्रहण कियाजाय उसको "अर्थसद्भावव्यङ्ग्य" और जिसका ग्रहण क्रियासन्तान द्वारा पाया जाय उसको "क्रियासन्तानव्यङ्ग्य" कहते हैं, जैसाकि "घटोऽस्ति"=घट है "पटोऽस्ति"=पट है, इत्यादि वर्त्तमान काल अर्थसद्भावव्यङ्ग्य है, क्योंकि घटपटादि की सत्ता से उक्त काल का ग्रहण होता है, और क्रियासन्तानव्यङ्ग्य भी एकाकारक्रियाश्रय तथा नानाकारक्रियाश्रय भेद से दो प्रकार का है जैसाकि "काष्ठं छिनत्ति"=लकड़ी काटता है, यह

एकाकारक्रियाश्रय वर्त्तमान काल है, क्योंकि यहां कुठार को बारंबार उठाकर लकड़ी पर मारना एकरूप से पाया जाता है, और "ओदनं पचति"=भात पकाता है, यह काल नानाकारक्रिया-श्रय इसलिये है कि "स्थाल्यधिश्रयण"=बटलोई को चूल्हे पर धरना "उदकासेचन"=उसमें जल डालना, "तण्डुलावपन"= तण्डुलों को डालना "एधोपसर्प्पण"=नीचे लकड़ियों का रखना "अग्न्यभिज्वालन"=आग जलाना "दर्वीघटन"= करछी फेरना "मण्डश्रावण"=मण्ड का पकाना और "अधोवतारण"= पके हुए भात को नीचे उतारना आदि क्रियाकलाप का नाम "पाक" है अर्थात् एक पाक के अर्थ कीहुई स्थाल्यधिश्रयणादि अनेक क्रिया भी पाक पद का वाच्यार्थ हैं इसी को "क्रियासन्तान" किंवा "क्रियापरम्परा" कहते हैं और आरम्भ से लेकर समाप्ति-पर्य्यन्त जबतक वह क्रिया पूरी नहीं होती तबतक उसको "पकाता है" "काटता है" इत्यादि व्यवहार एकरस बना रहता है, इस प्रकार उक्त क्रिया का आधार काल ही "वर्त्तमानकाल" कहाता है।

सं०—अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं:—

कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम्॥ ४३॥

पद०–कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेः। तु। उभयथा। ग्रहणम्।

पदा०–(कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेः) कृतता तथा कर्त्तव्यता की उपपत्ति द्वारा (उभयथा) दोनों प्रकार से (ग्रहणं) वर्त्तमान का ग्रहण होता है।

भाष्य–सूत्र में "तु" शब्द हेत्वन्तर के लिये आया है, "उपरता-क्रिया कृतता, चिकीर्षिता क्रिया कर्त्तव्यता"=क्रिया की पूर्णता का नाम "कृतता" तथा जिस क्रिया के करने की इच्छा हो उसका नाम "कर्त्तव्यता" है, कृतता और कर्त्तव्यता की उपपत्ति द्वारा दोनों प्रकार से वर्त्तमानकाल का ग्रहण पाया जाता है अर्थात् क्रियासन्तान के आरम्भ न होने पर आगे करने की इच्छा से भविष्यत्काल की प्रतिपत्ति होती है जैसाकि "ओदनं पक्ष्यति"=भात पकायेगा, और क्रियासन्तान के समाप्त होजाने से अतीतकाल का बोध होता है जैसाकि "ओदनमपाक्षीत्"=उसने भात पकाया था, परन्तु जहां क्रियासन्तान का आरम्भ हो और पूर्णता न हो वहां वर्त्तमानकाल का बोध होता है जैसाकि ऊपर पचति शब्द से स्पष्ट कर आये हैं।

सं०–अब उपमान की परीक्षा में पूर्वपक्ष करते हैं:–

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानाऽसिद्धिः॥ ४४॥

पद०–अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यात्। उपमानासिद्धिः।

पदा०—(अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यात्) अत्यन्त, प्रायिक तथा एकदेशसाधर्म्य पाये जाने से (उपमानासिद्धिः) उपमान की सिद्धि नहीं होसक्ती।

भाष्य—लक्षणसूत्र में जो प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य से होने वाले ज्ञान को "उपमिति" तथा उसके करण को "उपमान" कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि अत्यन्तसादृश्य,प्रायिकसादृश्य तथा एकदेशसादृश्य इन तीनों सादृश्यों से उपमिति की सिद्धि नहीं होसक्ती, अर्थात् उक्त तीन प्रकार के साधर्म्य=समानधर्मों में से अत्यन्तसादृश्य को उपमिति का करण मानें तो "**यथा गौरेवं गौः**"=गौ की भांति गौ है, ऐसी उपमिति होनी चाहिये, क्योंकि गौ में गौ का अत्यन्तसादृश्य पाया जाता है अन्य में नहीं परन्तु गोवृत्ति सादृश्यद्वारा गौ की उपमिति नहीं होती प्रत्युत गौ के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संयोग होने से "**अयं गौः**"=यह गौ है, इस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है,इसलिये उक्त सादृश्य उपमिति का साधक नहीं, यदि यह कहा जाय कि प्रायिकसादृश्य=अधिकसाधर्म्य उपमिति का करण है तो "**यथा गौरेवं महिषी**"=गौ की भांति भैंस होती है, यह उपमिति भी होनी चाहिये, क्योंकि चतुष्पदत्व, शृङ्गित्व तथा द्विशफत्व आदि धर्म्म गौ तथा महिषी के प्रायिकधर्म्म हैं, परन्तु उक्त उपमिति सर्वानुभव विरुद्ध है, इससे सिद्ध है कि प्रायिकसादृश्य भी उपमिति का करण नहीं, और "**एकदेशसाधर्म्य**"=यत्किञ्चित्साधर्म्य को उपमिति का करण मानने से

प्रत्येक वस्तु की सब के साथ उपमिति होजायगी, क्योंकि यत्किञ्चित्साधर्म्य प्रत्येक वस्तु में पायाजाता है, यही रीति वैधर्म्योपमान के खण्डन में जाननी चाहिये ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः ॥ ४५ ॥

पद०-प्रसिद्धसाधर्म्यात्।उपमानसिद्धेः।यथोक्तदोषानुपपत्तिः।

पदा०-(प्रसिद्धसाधर्म्यात्) प्रसिद्ध के साधर्म्यद्वारा (उपमानसिद्धेः) उपमान की सिद्धि होने से (प्रतिषेधानुपपत्तिः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य-प्रसिद्ध पदार्थ के समानधर्म्मद्वारा उपमिति की सिद्धि कथन कीगई है अत्यन्त प्रायिक आदि साधर्म्य से नहीं, इसलिये साधर्म्य के साथ अत्यन्त, प्रायिक आदि विशेषणों के निवेशद्वारा उपमान का प्रतिषेध ठीक नहीं अर्थात् प्रसिद्ध=अतिशय करके महिषी आदि में न रहने वाले अवयवसंयोगविशेष का ज्ञान ही उपमिति का करण है अन्य ज्ञान नहीं, इस प्रकार उपमान लक्षण के उक्त अभिप्राय को न समझकर आक्षेप करना साहसमात्र है, दूसरी बात यह है कि "यत्र तत्क्रियैव तत्क्रियोपमीयते"=जहां उपमेयगत क्रिया द्वारा ही उपमेयक्रिया की उपमिति होती है वहां अत्यन्तसाधर्म्य भी उपमिति का करण देखा जाता है जैसाकि "रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव"=राम रावण का

युद्ध राम तथा रावण के युद्ध की भांति हुआ अर्थात् रामरावण के युद्ध की भांति अन्य किसी का युद्ध नहीं हुआ जिसकी उपमा उक्त युद्ध को दीजाय, यहां रामरावण की युद्धक्रिया का परस्पर अत्यन्तसादृश्य ही उक्त उपमिति का हेतु है, इसीको आलङ्कारिक लोग "अनन्वयालङ्कार" कथन करते हैं, इस प्रकार जब गौ के बल की जिज्ञासा होती है तब "यथा महिषस्तथा गौः"=भैंसा की भांति गौ है, इस उपमिति का हेतु प्रायिकसादृश्य भी देखा गया है, और जहां केवल पदार्थवृत्ति सत्ता की जिज्ञासा पाईजाय जैसाकि शिष्य ने गुरू से पूछा कि "कथं हिमालयस्य सत्ता"= हिमालय की सत्ता कैसी है, तब गुरू ने उत्तर दिया कि "यथा श्वेततिलस्य तथा हिमालयस्य"=श्वेत तिल की भांति हिमालय की सत्ता है, ऐसे स्थल में यत्किञ्चित्साधर्म्य भी उपमिति का हेतु होसक्ता है, इसलिये उपमान प्रतिषेध ठीक नहीं।

सार यह है कि "प्रकरणाद्यपेक्षं हि वाक्यं स्वार्थं प्रतिपादयति न केवलम्"=प्रकरण आदि सापेक्ष वाक्य स्वार्थ= अपने अर्थ का प्रतिपादक होता है केवल नहीं, इस नियम के अनुसार यथायोग्य प्रकरणद्वारा अत्यन्तसाधर्म्य आदि तीन प्रकार के सादृश्य को भी उपमिति के करण होने में कोई बाधा नहीं, क्योंकि प्रकरणानुसारी सादृश्य ही "प्रसिद्धसादृश्य" कहलाता है जिसको उपमिति का करण प्रथमाध्याय में वर्णन कर आये हैं।

सं०-अब पूर्वपक्षी उपमान को अनुमान के अन्तर्गत कथन करता है:-

प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः ॥ ४६ ॥

पद०-प्रत्यक्षेण। अप्रत्यक्षसिद्धेः।

पदा०-(प्रत्यक्षेण) सादृश्य के प्रत्यक्ष से (अप्रत्यक्षसिद्धेः) परोक्षपदार्थ की सिद्धि होने के कारण उपमान अनुमान से पृथक् नहीं।

भाष्य-जिसप्रकार धूम आदि लिङ्ग के प्रत्यक्ष से वन्हि आदि परोक्ष साध्य का अनुमिति ज्ञान होता है इसी प्रकार गोवृत्ति सादृश्य रूप लिङ्ग के प्रत्यक्षद्वारा परोक्ष गवयादि का गवयपदवाच्यत्व-ज्ञान=पुरोवर्त्ती जीवविशेष गवय पद का वाच्य है, यह ज्ञान अनुमितिरूप है उपमिति नहीं, इस प्रकार सादृश्यज्ञान अनुमान होने से पृथक् प्रमाण नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्यामः ॥ ४७ ॥

पद०-न। अप्रत्यक्षे। गवये। प्रमाणार्थं। उपमानस्य। पश्यामः।

पदा०-(गवये) गवय के (अप्रत्यक्षे) परोक्ष होने पर (उपमानस्य) उपमान का (प्रमाणार्थं) प्रमारूप फल (न, पश्यामः) उपलब्ध नहीं होता।

भाष्य-गोवृत्ति सादृश्यज्ञान से जो गवयविषयक संज्ञासंज्ञि-

सम्बन्ध का ज्ञान उपमितिरूप फल कथन किया है वह गवय के परोक्ष होने पर नहीं माना गया प्रत्युत उक्त ज्ञान गवय के प्रत्यक्ष काल में माना है जैसाकि उपमान लक्षण में निरूपण कर आये हैं, इसलिये वन्हिसिद्धि में धूम लिङ्ग की भांति गवयपदवाच्यत्वज्ञान में गोवृत्तिसादृश्य लिङ्ग न होने से अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत नहीं प्रत्युत उपमान रूप स्वतन्त्र प्रमाण है।

तात्पर्य्य यह है कि गवय में अनुमिति का कारण व्याप्यवत्ता ज्ञान=परामर्शज्ञान के न पाये जाने से गवयवृत्ति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान अनुमानजन्य नहीं,कई एक लोग उक्त सूत्र का आशय यह वर्णन करते हैं कि इन्द्रियाजन्य तथा सादृश्यज्ञानजन्य "यह गवय पद का वाच्यार्थ है" इस प्रकार का गवयवृत्ति पदशक्तिज्ञान अनुमितिरूप नहीं, क्योंकि उक्त ज्ञान का कोई व्याप्तिज्ञान आदि कारण नहीं पाया जाता, इससे स्पष्ट है कि "अयं गवयपदवाच्यः" इत्यादि ज्ञान उपमिति है जिसका असाधारण कारण सादृश्यज्ञान माना है।

सं०—अब अनुव्यवसाय द्वारा अनुमान से उपमान का भेद कथन करते हैं:—

तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः ।४८।

पद०—तथा। इति। उपसंहारात्। उपमानसिद्धेः। न। अविशेषः।

पदा०—(तथा, इति) यह वैसा है इस (उपसंहारात्) उपसंहार द्वारा (उपमानसिद्धेः) उपमान के सिद्ध होने से (अविशेषः) दोनों का अभेद (न) नहीं होसक्ता।

भाष्य-"यथागौस्तथा गवयः"=गौ की भांति गवय होता है, इस उपसंहार=ज्ञानविशेष से सिद्ध है कि उपमान स्वतन्त्र प्रमाण है अनुमान के अन्तर्गत नहीं, यदि यह कहाजाय कि व्याप्तिज्ञान के न होने पर भी उसकी कल्पना करने से वह अनुमान के अन्तर्गत ही रहेगा, इसका उत्तर यह है कि व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा से रहित केवल साहश्यज्ञान से होने वाले ज्ञान को अनुमिति कथन करना सर्वथा युक्ति-विरुद्ध है, और यह "गवयपद का वाच्यार्थ है" इसज्ञान को विषय करने वाले "गोवृत्ति साहश्येन गवयमुपमिनोमि"= गोवृत्ति साहश्य से गवय का उपमान करता हूं, इस अनुव्यवसायज्ञान से सिद्ध है कि उक्त ज्ञान अनुमिति रूप नहीं, इस प्रकार गोवृत्ति साहश्य अनुमान न होने से उपमान स्वतन्त्र प्रमाण है, ज्ञान को विषय करने वाले ज्ञान का नाम "अनुव्यवसाय" है।

सं०-अब शब्द की परीक्षा में पूर्वपक्ष करते हैं:—

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥ ४९ ॥

पद०-शब्दः। अनुमानं। अर्थस्य। अनुपलब्धेः। अनुमेयत्वात्।

पदा०-(अर्थस्य) अर्थ के (अनुमेयत्वात्) अनुमेय होने से (शब्दः) शब्द (अनुमानं) अनुमान है, क्योंकि (अनुपलब्धेः) अर्थ की प्रत्यक्ष से उपलब्धि नहीं होती।

भाष्य-जिस प्रकार धूमादि लिङ्ग के प्रत्यक्ष से वन्हि आदि

परोक्ष लिङ्गी का अनुमान होता है इसी प्रकार परोक्षअर्थ की शब्द रूप लिङ्ग के प्रत्यक्ष से अनुमिति पाई जाती है, इसलिये शब्द प्रमाण अनुमान से पृथक् नहीं अर्थात् शब्दप्रतिपाद्य अर्थ का प्रत्यक्ष न होने के कारण तज्जन्य शाब्दज्ञान अनुमितिरूप है और उसका करण शब्द अनुमान प्रमाण कहाता है ।

सं०—अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं :—

उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् । ५० ।

पद०—उपलब्धेः । अद्विप्रवृत्तित्वात् ।

पदा०—(उपलब्धेः) उपलब्धि का (अद्विप्रवृत्तित्वात्) भेद न होने से शब्द अनुमान है ।

भाष्य—प्रमाण के भेद से उपलब्धि का भेद होता है, यह नियम है, इस नियम के अनुसार जिस प्रकार प्रत्यक्ष तथा अनुमान से होने वाली उपलब्धि का परस्पर भेद पाया जाता है अर्थात् जैसे इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से प्रत्यक्षज्ञान और परामर्श से अनुमितिज्ञान होता है और वह दोनों पृथक २ कारण से उत्पन्न होने के कारण परस्पर भिन्न हैं इस प्रकार शब्द तथा अनुमान से होने वाला ज्ञान भिन्न नहीं किन्तु दोनों व्याप्तिज्ञानजन्य होने से अनुमितिरूप हैं, यदि उक्त दोनों की उपलब्धि का परस्पर भेद होता तो प्रत्यक्ष भेद की भांति परस्पर भेद माना जाता परन्तु ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि शब्द प्रमाण अनुमान से पृथक् प्रमाण नहीं ।

भाव यह है कि धूमादिक लिङ्ग के परामर्श से होने वाले वन्हि आदि

साध्यविषयक अनुमिति ज्ञान अनेक तथा उनमें अनुगत अनुमितित्व जाति एक है और वही जाति शब्दलिङ्गजन्य अनुमिति में पाई जाती है, इसलिये जाति के एक होने से उपलब्धि का अभेद होने पर शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण मानना ठीक नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैंः—

सम्बन्धाच्च । ५१ ।

पद०—सम्बन्धात् । च ।

पदा०—(च) और (सम्बन्धात्) सम्बन्ध के पाये जाने से भी शब्द अनुमान है।

भाष्य—वन्हि धूम के व्याप्ति सम्बन्ध की भांति शब्दार्थ का परस्पर नियत सम्बन्ध पायाजाता है, इसलिये व्याप्तिज्ञानजन्य शाब्द-ज्ञान अनुमिति और उसका करण शब्द अनुमान प्रमाण है।

भाव यह है कि जो शक्तिलक्षणान्यतर=शक्ति किंवा लक्षणारूप शब्द का अर्थ के साथ नियत सम्बन्ध है वही व्याप्ति है और उक्त व्याप्ति ज्ञान से होने वाला शाब्दबोधात्मक ज्ञान अनुमिति से भिन्न स्वतन्त्र उपलब्धिरूप नहीं, अतएव शब्द का अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत मानना ही ठीक है, जिसके लापन का प्रकार यह है किः—

"सङ्गच्छध्वं संवदध्वमित्यादि वैदिकपदानि, गुरुं भजस्वेत्यादि लौकिकपदानि वा स्मारितार्थसंसर्गप्रमापूर्वकाणि, आकांक्षादिमत्पदकदम्बकत्वात् गामानयेत्यादिपदकदम्बवत्"=जो आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति

वाला पदों का समुदाय है वह स्मृतिगोचर पदार्थों के संसर्ग=सम्बन्ध विशेष को विषय करने वाले ज्ञान के अधीन होता है, यह नियम है, इस नियम के अनुसार जैसे "गामानय"=गौ ले आ, यह आकांक्षादिविशिष्ट पदों का समुदाय स्मृतिगोचर गवादि पदार्थों के संसर्ग को विषय करने वाले ज्ञान के अधीन है इसीप्रकार "संगच्छध्वं"=परस्पर मिलो, इत्यादि वैदिक तथा "गुरुं भजस्व"=गुरु की सेवा करो, इत्यादि लौकिक वाक्य आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्तिविशिष्ट पदों का समुदायरूप होने के कारण स्मृतिगोचर पदार्थों के संसर्ग को विषय करने वाले ज्ञान के अधीन हैं अर्थात् उक्त पदों का उक्त ज्ञान के अनुसार प्रयोग किया जाता है अन्यथा नहीं, इस प्रकार शब्दरूपलिङ्ग से होने वाले पदार्थबोध=सङ्गच्छध्वं आदि पदार्थों के संसर्गज्ञान को अनुमितिरूप होने से शब्द प्रमाण अनुमान के अन्तर्गत जानना चाहिये।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दार्थसम्प्रत्ययः । ५२ ।

पद०—आप्तोपदेशसामर्थ्यात् । शब्दार्थसम्प्रत्ययः ।

पदा०—(आप्तोपदेशसामर्थ्यात्) आप्त पुरुष के उपदेश से (शब्दार्थसम्प्रत्ययः) शब्दार्थ की प्रतीति होती है।

भाष्य—भ्रमादि दोषों से रहित पुरुष का नाम "आप्त" है,

जैसा कि पीछे शब्दलक्षण में निरूपण कर आये हैं, आप्त पुरुष के उपदेश सामर्थ्य=आप्तोक्त वाक्य के आकांक्षा योग्यतादि सम्बन्ध-ज्ञान से शब्दज्ञान होता है अन्यथा नहीं, इसलिये उसको अनुमिति मानना ठीक नहीं अर्थात् व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा से रहित केवल आकांक्षादिज्ञानजन्य शाब्दबोध अनुमितिरूप न होने से उसका करण शब्द अनुमानप्रमाण के अन्तर्गत नहीं होसक्ता, और जो पूर्व अनुमानद्वारा शब्द को अनुमान के अन्तर्गत होने का प्रकार कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि "**गामानय**" इत्यादि वाक्यश्रवण के अनन्तर श्रोता को "**अनुमिनोमि**"=शब्द से अर्थ का अनुमान करता हूं, यह बोध नहीं होता किन्तु "**शब्दादर्थं प्रत्येमि**"= शब्द से अर्थ को उपलब्ध करता हूं, यह अनुव्यवसाय होता है, इसलिये उक्त अनुव्यवसाय बल से उसको स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही ठीक है।

सं०-अब शब्दार्थ के व्याप्तिसम्बन्ध में प्रमाणाभाव कथन करते हैं:—

प्रमाणतोऽनुपलब्धेः । ५३ ।

पद०-प्रमाणतः। अनुपलब्धेः।

पदा०-(प्रमाणतः, अनुपलब्धेः) शब्दार्थ के व्याप्तिसम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं।

भाष्य-यह नियम है कि "**मानाधीना मेयसिद्धिः**"= प्रमेय=विषय की सिद्धि प्रमाण से होती है, और शब्दार्थ के

व्याप्तिसम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं, प्रत्यक्ष इसलिये नहीं कि जिस इन्द्रिय से शब्द का साक्षात्कार होता है उससे शब्दप्रतिपाद्य अर्थ का ग्रहण नहीं होता और अतीन्द्रिय विषय में भी शब्द की प्रवृत्ति पाई जाती है, यदि यह कहाजाय कि शब्दार्थ के व्याप्तिसम्बन्ध में अनुमानप्रमाण है तो विचारणीय यह है कि शब्द देश में अर्थ किंवा अर्थ देश में शब्द की उपलब्धि होती है अथवा दोनों एकदेश में पाये जाते हैं, प्रथम पक्ष में सूत्रकार स्वयं आगे दोष कथन करेंगे, दूसरा पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि जिस देश में गवादि शब्द उच्चारण किये जाते हैं उससे शब्दप्रतिपाद्य सास्नादिवाली गोव्यक्ति का अधिकरण देश पृथक् होता है, इस प्रकार उक्त दोनों पक्षों की असिद्धि से तृतीयपक्ष की सर्वथा अनुपपत्ति जाननी चाहिये।

तात्पर्य्य यह है कि गो, घट, पटादि, शब्दों का अधिकरण आकाश और तद्बोध्य गवादिव्यक्तिरूप अर्थ भूतलादि देशों में पाया जाता है, अतएव समानाधिकरणवृत्ति न होने से शब्दार्थ का व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध नहीं होसक्ता और उक्त सम्बन्ध के न होने से शब्दलिङ्गद्वारा अर्थ की अनुमिति का कथन करना असङ्गत है।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः । ५४ ।

पद०—पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेः । च । सम्बन्धाभावः ।

पदा०-(पूरण०) पूरण, प्रदाह, पाटन (च) तथा स्थान और करण के उपलब्ध न होने से (सम्बन्धाभावः) शब्द का अर्थ के साथ व्याप्तिसम्बन्ध नहीं होसक्ता ।

भाष्य-भरजाने का नाम "**पूरण**" जलने का नाम "**प्रदाह**" तथा छेदन का नाम "**पाटन**" है, और कण्ठादिकों को "**स्थान**" तथा व्याकरणप्रसिद्ध स्पृष्टादि प्रयत्नों को "**करण**" कहते हैं, यह नियम है कि जहां व्याप्य हो वहां व्यापक होता है, व्यापक को छोड़कर व्याप्य नहीं रहसक्ता, इस नियम के अनुसार यदि शब्द का अर्थ के साथ व्याप्तिसम्बन्ध मानाजाय अर्थात् शब्ददेश में अर्थ की उपलब्धि हो तो व्याप्य अन्न शब्द के उच्चारण से उसके व्यापक अन्नरूपार्थ द्वारा मनुष्य का मुख भर जाना चाहिये, और वन्हि शब्द के उच्चारण से मुखदाह तथा कुठारशब्दोच्चारण से मुखच्छेद न भी होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि शब्दार्थ का व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध नहीं, और दूसरी वात यह है कि यदि शब्दार्थ का उक्त सम्बन्ध होता तो "**मोदक**" आदि मिठाई वाचक शब्दों के उच्चारणकाल में मूर्त्तिमान् मोदकरूप अर्थ की ओष्ठ, दन्त तथा कण्ठस्थान में उपलब्धि होती, क्योंकि ओष्ठादि स्थानवाले वर्णसमुदायरूप मोदक शब्द का वादी के सिद्धान्तानुसार व्याप्तिसम्बन्ध पायाजाता है परन्तु यह सर्वथा लोकानुभवविरुद्ध है, इससे सिद्ध है कि शब्दार्थ का व्याप्तिसम्बन्ध नहीं, यही दोष प्रयत्नविशेष वाले शब्द के

उच्चारण से समझना चाहिये ।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :—

शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ॥ ५५ ॥

पद०—शब्दार्थव्यवस्थानात् । अप्रतिषेधः ।

पदा०—(शब्दार्थव्यवस्थानात्) शब्दार्थ की व्यवस्था से (अप्रतिषेधः) व्याप्ति सम्बन्ध का प्रतिषेध नहीं होसक्ता ।

भाष्य—घट शब्द से कम्बुग्रीवादिवाली व्यक्ति तथा पट शब्द से शरीराच्छादनयोग्य चतुष्कोणादिक अञ्चलरूप व्यक्ति का ही बोध होता है अन्य का नहीं, इसलिये शब्दद्वारा अर्थज्ञान में व्यवस्था पाई जाती है, यदि उक्त व्यवस्था न मानी जाय तो घट पद से पट-रूप अर्थ का तथा पट पद से घटरूप अर्थ का ज्ञान होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं, इससे उक्त व्यवस्था पाये जाने के कारण व्याप्ति-सम्बन्ध का प्रतिषेध नहीं होसक्ता, इस प्रकार जो सम्बन्ध उक्त व्यवस्था का नियामक है वही व्याप्यव्यापकभावसम्बन्ध का गमक जानना चाहिये और जो व्याप्तिसम्बन्ध के मानने में मुखपूरणादि दोष कथन किये हैं वह इसलिये ठीक नहीं कि उनका नियामक संयोग सम्बन्ध है व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य ॥५६॥

पद०—न सामयिकत्वात् । शब्दार्थसम्प्रत्ययस्य ।

पदा०—(शब्दार्थसम्प्रत्ययस्य) शब्दजन्य अर्थ की प्रतीति

(सामयिकत्वात्) समयरूप सम्बन्ध के अधीन है, इसलिये उक्त कथन (न) ठीक नहीं ।

भाष्य-इस पद से अमुक अर्थ का बोध हो, इस प्रकार के संकेत का नाम "समय" तथा समय से होने वाले का नाम "सामयिक" है, सृष्टि के आदि में जिस शब्द का जिस अर्थ के साथ संकेतरूप सम्बन्ध नियत किया गया है कालान्तर में आप्तोपदेशादि द्वारा उक्त सम्बन्ध के ज्ञात होजाने पर शब्द श्रवणानन्तर उसी अर्थ की प्रतीति नियम से होती है और वह संयोग किंवा समवायादि सम्बन्ध नहीं किन्तु समयरूप एक नियत सम्बन्ध है जिसको सांख्यपरिभाषा में "वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध" कहते हैं, उक्त सम्बन्ध द्वारा ही शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, इसलिये घटादि पद से पटादि रूप अर्थबोध की अव्यवस्था नहीं होसक्ती और नाही वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध द्वारा शब्दार्थ के व्याप्ति सम्बन्ध का अनुमान होसक्ता है, क्योंकि जो वृत्तिनियामक=आधाराधेयभाव का नियामक संयोगादि सम्बन्ध है वही व्याप्यव्यापकभाव का नियामक होता है अन्य नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :-

जातिविशेषेचानियमात् ॥ ५७ ॥

पद०-जातिविशेषे । च । अनियमात् ।

पदा०-(च) और (जातिविशेषे) जातिविशेष में (अनियमात्) नियम न होने से शब्दार्थ का स्वाभाविक-सम्बन्ध नहीं ।

भाष्य—"जातिशब्देन पुनर्देशविशेषोऽभिधीयत इति" न्या० वा०=देशविशेष का नाम "जातिविशेष" है,जातिविशेष में नियम न होने से शब्दार्थ का स्वाभाविकसम्बन्ध नहीं, स्वाभाविकसम्बन्ध, व्याप्तिसम्बन्ध यह दोनों एकार्थवाची हैं अर्थात् आर्य्य लोग "यव" शब्द का दीर्घशूक=जौरूप अर्थ में प्रयोग करते हैं, जैसाकि "यवैर्जुहोति"=यवों से होम करे, इत्यादि विधिवाक्यों में स्पष्ट है, और म्लेच्छ लोग उक्त शब्द का अर्थ कङ्गु=कङ्गनी कथन करते हैं, सो यदि शब्द का अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध होता तो सर्वत्र अर्थसम्बद्ध शब्द का समान व्यवहार पाया जाता, या यों कहो कि यव आदि शब्द स्वार्थबोध में दीप प्रकाश की भांतिं सर्वत्र समान होते परन्तु नहीं होते, इस से स्पष्ट है कि देशभेद से स्वार्थबोध में व्यभिचारी होने के कारण शब्द का अपने अर्थ के साथ स्वाभाविकसम्बन्ध नहीं किन्तु उक्तरीति से शक्तिनामक सम्बन्ध है जिससे अर्थबोध में किसी प्रकार व्यभिचारादि दोष नहीं आते।

सं०—अब शब्दप्रसङ्ग से ब्राह्मणवाक्यों की परीक्षा में पूर्वपक्ष करते हैं:—

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ॥ ५८ ॥

पद०—तदप्रामाण्यम्। अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः।

पदा०-(अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः) अनृत, व्याघात और पुनरुक्त दोष पाये जाने से (तदप्रामाण्यं) ब्राह्मणवाक्य प्रमाण नहीं।

भाष्य-मिथ्या कथन का नाम "अनृत" पद वा वाक्य के पूर्वापर विरोध का नाम "व्याघात" और एकवार कथन करके पुनः२कथन करने का नाम "पुनरुक्त" दोष है, अनृत, व्याघात तथा पुनरुक्त दोष पाये जाने से ब्राह्मणवाक्य सत्यार्थ के बोधक नहीं अर्थात् काम्येष्टिकाण्ड अध्याय में लिखित "ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत, यस्य सजाता वीयुः"=जिसके सजाति लोग धनहीन वा विद्याहीन होजायं वह ऐश्वर्य्ययुक्त तथा प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से एकादश कपालों में पकाये हुए पुरोडाश का निर्वाप करे, इत्यादि चार इष्टियों का अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये विधान किया है किंवा "पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत, वृष्टिकामः कारीर्य्या यजेत"=पुत्र की कामना वाला पुत्रेष्टि तथा वृष्टि की कामनावाला कारीरीयाग करे, इत्यादि विधिवाक्यों में जिन यागों का विधान किया है उनका अनुष्ठान करने पर भी प्रायः पुत्र, वृष्टि आदि इष्ट फलों की प्राप्ति नहीं होती, इससे सिद्ध है कि उक्त वाक्य अनृतार्थ=मिथ्यार्थ प्रतिपादक होने से अप्रमाण हैं, और जो "उदिते होतव्यं"=सूर्य्योदय पर होम करे, "अनुदिते होतव्यं"=सूर्य्योदय से पूर्व होम करे,

"समयाध्युषिते होतव्यं"=दोनों कालों के व्यतीत होजाने पर होम करे, इन वाक्यों से कालविशेष में होम का विधान करके फिर यह कथन किया है कि "श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति, शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति, श्यावशबलौ वास्याहुतिमभ्यवहरतोयः समयाध्युषिते जुहोति"=उदय काल में होम करने वाले की आहुति को "श्याव" अनुदयकाल में होम करने वाले की आहुति को "शबल" और दोनों कालों से अतिरिक्त होम करने वाले की आहुति को श्याव, शबल लेजाते हैं, इस वाक्य का पूर्वोक्त होम विधायक वाक्य के साथ विरोध आता है, क्योंकि उक्त वाक्य से सब काल में होम करने वाले की निन्दा पाई जाती है अर्थात् ऐसा कोई शेष काल नहीं जिसमें पुरुष होम करने के लिये प्रवृत्त होसके, इस प्रकार विधिवाक्यों के साथ उक्त निन्दा वाक्य का विरोध होने से वह प्रमाण नहीं होसक्ते, विरोध तथा व्याघात यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, और पुनरुक्तदोष यह है कि "तासां त्रिःप्रथमा मन्वाह त्रिरुत्तमाम्" ऐत० ब्रा० ३ । ३=एकादश ऋचाओं के मध्य तीनवार पहिली तथा तीनवार अन्त की सामिधेनी ऋचाओं का उच्चारण करे, इस वाक्य में ऋचाओं का वारंवार पढ़ना विधान करने से पुनरुक्त दोष आता है, क्योंकि एक मन्त्र पढ़कर पुनः पढ़ना निरर्थक है, इस प्रकार ब्राह्मण वाक्यों में पुनरुक्तदोष पाये जाने से वह प्रमाण नहीं होसक्ते ।

सं०—अब प्रथम अनृत दोष का परिहार करते हैं :—

न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् । ५९ ।

पद०—न । कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ।

पदा०—(कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्) कर्म, कर्त्ता तथा साधन के वैगुण्य से उक्त दोष (न) नहीं आता ।

भाष्य—न्यूनाधिकभाव=यथायोग्य न होने का नाम "वैगुण्य" है, इष्ट फल की प्राप्ति न होने से जो उक्त वाक्यों में अनृत दोष कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि इष्टफल प्राप्ति के न होने में कर्म क्रियाविधि, कर्त्ता=अनुष्ठानशील यजमानादि और साधन=चरुआदि द्रव्यों के वैगुण्य=दोष कारण हैं अर्थात् जब तत्तत् ब्राह्मणविहित कर्मों के अनुष्ठान से फल की प्राप्ति नहीं होती तो जिस फल के उद्देश से यागादि कर्म किये जाते हैं उसकी विधि का विपर्य्यय कर्मदोष, वेदादिशास्त्रज्ञान से रहित होना आदि कर्तृदोष और घृतादि सामग्री का अपवित्र=मलिन होना आदि साधनदोष पाया जाता है वाक्यदोष नहीं ।

भाव यह है कि जिस प्रकार "अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्"=अग्नि की कामनावाला अरणियों का मन्थन करे, इत्यादि वाक्यों में अरणियों द्वारा वन्हि निकालने का विधान पाया जाता है, और जहां अरणियों का मन्थन करने पर भी वन्हि प्रज्वलित नहीं होती वहां कर्त्ता क्रिया आदि का दोष होता है विधिवाक्य का नहीं, क्योंकि यथाविधि अरणिमन्थन से वन्हि का

आविर्भाव सर्वानुभवसिद्ध है, इसी प्रकार जहां ब्राह्मणप्रतिपादित दृष्टादृष्टफलबोधक वाक्यों के अनुसार कर्मानुष्ठान से इष्टफल की प्राप्ति न हो वहां अनुष्ठान कर्त्ता, विधिविपर्य्यय अथवा साधन=कारणसामग्री का दोष जानना चाहिये।

सं०-अब व्याघातदोष का परिहार करते हैं:—

अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्। ६०।

पद०-अभ्युपेत्य। कालभेदे। दोषवचनात्।

पदा०-(अभ्युपेत्य) होमकाल का नियम करके (कालभेदे) कालभेद होने पर (दोषवचनात्) दोष कथन किया है।

भाष्य-उदितानुदितादि वाक्यों का जो परस्पर विरोध कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि अग्न्याधान काल में जिस समय अग्निहोत्र का नियम किया है यदि पुरुष उस नियम का परित्याग करे तो वह अनृतवादी होता है, इस अर्थ को बोधन करने के लिये "य उदिते जुहोति" इत्यादि वाक्य निन्दार्थवाद हैं अर्थात् जिस प्रकार कुत्ते का उच्छिष्ट अन्न भ्रष्ट होने से भोजन करने योग्य नहीं रहता प्रत्युत घृणास्पद होता है इसी प्रकार नियम परित्याग करने वाला अनृतवादी पुरुष आदरणीय नहीं होता, उक्त वाक्य निन्दा बोधक है जिसका तात्पर्य्य यह है कि पुरुष कदापि अपने अग्निहोत्रादि नित्य कर्मों का परित्याग न करे किन्तु अग्न्याधान काल में जिस उदितानुदित अग्निहोत्र के अनुष्ठान की प्रतिज्ञा की हो उसी को जीवन पर्य्यन्त पालन करता रहे इस प्रकार अनुष्ठानशील पुरुष के आत्मिकबल की वृद्धि होती है, जैसाकि:—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् । इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि यजु० १।५

अर्थ—हे सत्योपदेशक परमात्मन् ! आपकी कृपा से अनृत=मिथ्या आचार के परित्यागपूर्वक सत्य को प्राप्त होऊं, और आपकी कृपा से मेरा यह सत्यात्मक व्रत पूर्ण बना रहे, इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है कि पुरुष को सत्यव्रत होकर अग्निहोत्रादि नित्य कर्म नियत काल में करने चाहियें, इस प्रकार उक्त वाक्य नियतकाल में अग्निहोत्र न करने वाले की निन्दा को बोधन करता है, इसलिये व्याघात दोष नहीं।

स्मरण रहे कि पूर्व निन्दार्थवाद वाक्य में जो श्याव, शबल यह दोनों गुणपद कुत्तों के वाचक आये हैं वह नियतकाल में होम न करने वाले की निन्दा बोधन करने के लिये अलङ्कार रूप से वर्णन कियेगये हैं कि जो पुरुष उदितादि नियतकाल में अग्निहोत्र नहीं करता उसकी आहुति भ्रष्टप्रतिज्ञ होने से निष्फल होती है, इससे सिद्ध है कि पुरुष को दृढ़प्रतिज्ञ होकर नित्यप्रति नियत काल में अग्निहोत्रादि कर्म करने चाहियें।

सं०—अब पुनरुक्तदोष का परिहार करते हैं :—

अनुवादोपपत्तेश्च । ६१ ।

पद०—अनुवादोपपत्तेः । च ।

पदा०—(च) और (अनुवादोपपत्तेः) अनुवाद के पाये जाने से पुनरुक्त दोष नहीं आता।

भाष्य–जो सामिधेनी ऋचाओं के तीन २ वार पढ़ने से पुनरुक्त दोष दिया है वह इसलिये ठीक नहीं कि ऋचाओं का वारंवार पढ़ना अनुवादरूप है पुनरुक्ति नहीं, क्योंकि "अनर्थकोऽभ्यासः पुनरुक्तः अर्थवानभ्यासोऽनुवादः"=अनर्थक=प्रयोजन के विना अभ्यास=पुनः २ कथन का नाम "पुनरुक्तदोष" और प्रयोजन सहित पुनः कथन करना "अनुवाद" कहता है, प्रकृत में जो सामिधेनी ऋचाओं को वारंवार पढ़ना कथन कियागया है वह सार्थक होने से पुनरुक्तदोष का विषय नहीं अर्थात् "प्रवो वाजा०" ऋग्० ३।२७।१ इत्यादि जिन एकादश मंत्रों को यज्ञ में अग्नि के उद्दीपन समय पढ़ा जाता है उनका नाम "सामिधेनी" है, "तासां त्रिःप्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्" इस वाक्य से प्रथम तथा अन्त की सामिधेनी का तीनवार विधान किया है जिसके पढ़ने से सब सामिधेनियों की पञ्चदश=पन्द्रह संख्या सिद्ध होती है, यदि उक्त ब्राह्मणवाक्य पूर्वोत्तर मंत्र की आवृत्ति का वोधक न होता तो उक्त संख्या सिद्ध न होती, इससे स्पष्ट है कि उक्त संख्या के वोधनार्थ प्रवृत्त हुआ ब्राह्मणवाक्य सार्थक होने से अनुवादरूप है, इसलिये उसमें पुनरुक्त दोष नहीं।

सं०–अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैंः–

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्।६२।

पद०–वाक्यविभागस्य। च। अर्थग्रहणात्।

पदा०-(च) और (वाक्यविभागस्य) वाक्यविभाग के (अर्थग्रहणात्) सार्थक होने से उक्त दोष नहीं आता।

भाष्य-विधायक तथा अनुवादक भेद से वाक्य दो प्रकार का होता है, जिस प्रकार आर्य्य लोगो ने विधायक वाक्य को सार्थक होने से प्रमाण माना है इसी प्रकार अनुवादक वाक्य भी प्रमाण है, क्योंकि वह भी प्रयोजनविशेष से प्रयुक्त किया जाता है, इसलिये व्याघातदोष न होने से अनुवादरूप ब्राह्मणवाक्य को प्रमाण मानना ही ठीक है, उक्त दोनों वाक्यों के लक्षण तथा उदाहरण आगे कथन करेंगे।

सं-अब उक्त वाक्यों का भेद कथन करते हैं:-

विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्। ६३।

पद०-एकपद०।

पदा०-(विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्) विधिवाक्य, अर्थवादवाक्य और अनुवादवाक्य भेद से ब्राह्मणवाक्य तीन प्रकार के होते हैं।

सं०-अब विधिवाक्य का लक्षण कथन करते हैं:-

विधिर्विधायकः ॥ ६४ ॥

पद०-विधिः। विधायकः।

पदा०-(विधायकः) विधायक वाक्य का नाम (विधिः) विधिवाक्य है।

भाष्य-जिस वाक्य में इष्टसिद्धि के बोधक लिङ् वा तव्यादि

प्रत्यय हो उसका नाम "विधि" है, या यों कहो कि किसी कार्य्य में पुरुष की प्रवृत्ति को बोधन करने वाले वाक्य का नाम "विधि" है, जैसाकि "अग्निहोत्रं जुहुयात्"=अग्निहोत्र करे, इस वाक्य में "जुहुयात्" और "उदिते होतव्यं"=उदय-काल में हवन करे, इस वाक्य में "होतव्य" यह दोनों पद विधि=आज्ञा के विधायक होने से विधिवाक्य कहाते हैं, विधि, विनियोग, आज्ञा और अनुज्ञा यह चारो पर्य्याय शब्द हैं, "विधि" के विशेष भेद और उदाहरण "मीमांसार्य्यभाष्यभूमिका" में विस्तार-पूर्वक निरूपण किये हैं इसलिये यहां विस्तार की आवश्यता नहीं।

सं०—अब अर्थवादवाक्य का लक्षण तथा भेद कथन करते हैं:—

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ६५ ॥

पद०—स्तुतिः। निन्दा। परकृतिः। पुराकल्पः। इति। अर्थवादः।

पदा०—(स्तुतिः) स्तुति (निन्दा) निन्दा (परकृतिः) परकृति (पुराकल्पः) पुराकल्प (इति) यह चार प्रकार का (अर्थवादः) अर्थवाद है।

भाष्य—"अर्थस्यप्रयोजनस्यवदनमर्थवादः"=जो वाक्य विधि के उपयोगी प्रयोजन को कथन करे उसका नाम "अर्थवाद" है, और वह स्तुति, निन्दा, परकृति तथा पुराकल्प भेद से चार

प्रकार का है, "साक्षात् विध्यर्थस्यप्रशंसार्थकं वाक्यं स्तुतिः"=जो वाक्य साक्षात् विधिप्रतिपादित अर्थ की प्रशंसा बोधन करे उसका नाम "स्तुति" है, जैसाकि "सर्वजिता वै देवाः०"=सब सुखप्राप्ति के लिये देवताओं ने "सर्वजित्" याग किया, जो देवताओं की भांति उक्त याग करेगा वह भी सब सुखों का भागी होगा, इत्यादि वाक्य उक्त यागविधि की प्रशंसा बोधन करने से "स्तुति" कहाते हैं, "अनिष्टफलवादो निन्दा"= अनिष्ट फल के कथन से विधि प्रवृत्ति में तात्पर्य्य वाले वाक्य का नाम "निन्दा" है, जैसाकि "एष वाव प्रथमो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः०"=ज्योतिष्टोम सब यज्ञों में प्रधान है, जो इसको न करके अन्य यज्ञ करता है वह इष्टफल को प्राप्त नहीं होता, इत्यादि वाक्य ज्योतिष्टोम यज्ञ न करने वाले पुरुष की निन्दा का बोधन करने से "निन्दा" कहाते हैं, "पुरुषविशेषनिष्ठमिथोविरुद्धवदनं परकृतिः"=पुरुष के कर्मों में परस्पर भेद कथन करने वाले वाक्य का नाम "परकृति" है, जैसाकि "हुत्वा वपामेवाग्रेभिघार-यन्ति अथ पृषदाज्यं०"=कई एक हवन करते समय श्रुवे से वपा=वनस्पत्यादि बीजों के चरु को और कई एक घृत को प्रणीतापात्र में डालते हैं, परन्तु चरक=चरकशाखा वाले और अध्वर्यु घृत को ही डालते हैं, क्योंकि घृत अग्नि का प्राण है, इत्यादि कर्म भेद बोधक वाक्य "परकृति" कहाते हैं, "ऐतिह्यसमाचरितो

विधिः पुराकल्पः”=पूर्वकालीन वृद्ध पुरुषों के किये हुए कर्मों को बोधन करने वाले वाक्यों का नाम “पुराकल्प” है, या यों कहो कि इतिहास बोधक वाक्यों का नाम “पुराकल्प” है, जैसाकि “तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणाः०”=ब्राह्मणों ने यज्ञ की रक्षार्थ सामगान किया, इत्यादि वाक्य इतिहासप्रतिपादक होने से “पुराकल्प” कहाते हैं।

सं०-अब अनुवाद का लक्षण कथन करते हैंः—

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥६६॥

पद०-विधिविहितस्य। अनुवचनं। अनुवादः।

पदा०-(विधिविहितस्य) विधिवाक्य से विधान किये हुए का (अनुवचनं) पुनः कथन करना (अनुवादः) अनुवाद कहाता है।

भाष्य-एक वार कथन किये हुए पदार्थ को पुनः कथन करने वाले वाक्य का नाम “अनुवाद” है, विध्यनुवाद तथा विहितानुवाद भेद से “अनुवाद” दो प्रकार का है, शब्द के अनुवाद को “विध्यनुवाद” तथा अर्थ के अनुवाद को “विहितानुवाद” कहते हैं, जैसाकि पीछे पुनरुक्त दोष के परिहार में कथन कर आये हैं।

सं०-अब अनुवाद के पुनरुक्त होने में पूर्वपक्ष करते हैंः—

नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः। ६७।

पद०—न। अनुवादपुनरुक्तयोः। विशेषः। शब्दाभ्यासोपपत्तेः।

पदा०—(अनुवादपुनरुक्तयोः) अनुवाद और पुनरुक्त का (विशेषः) भेद (न) नहीं, क्योंकि (शब्दाभ्यासोपपत्तेः) उन दोनों में शब्द का अभ्यास=पुनः २ कथन समान पाया जाता है।

भाष्य—पुनरुक्त से अनुवाद को पृथक् मानना इसलिये ठीक नहीं कि दोनों में शब्दार्थ की आवृत्ति समान पाई जाती है, जैसाकि पीछे पुनरुक्त दोष के पूर्वपक्ष में उदाहरण से स्पष्ट कर आये हैं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः।६८

पद०—शीघ्रतरगमनोपदेशवत्। अभ्यासात्। न। अविशेषः।

पदा०—(शीघ्रतरगमनोपदेशवत्) शीघ्रतर गमन के उपदेश की भांति (अभ्यासात्) अभ्यास के पायेजाने से (अविशेषः, न) अनुवाद और पुनरुक्त दोनों एक नहीं।

भाष्य—जिस प्रकार लोक में एक वार "गम्यतां"=चलो, ऐसा कहकर पुनः "गम्यतां, गम्यतां"=चलो२ इत्यादि वाक्यों से जो अभ्यास पाया जाता है वह गमन क्रिया में केवल शीघ्रता बोधन करने के लिये है पुनरुक्त नहीं, इसी प्रकार जहांतहां ब्राह्मण वाक्यों में शब्दाभ्यास वा अर्थाभ्यास आता है वह वैधकर्मों के

अनुष्ठान की शीघ्रता अथवा उनकी अवश्य कर्त्तव्यता को बोधन करता है पुनरुक्ति को नहीं, अतएव अनुवाद तथा पुनरुक्त दोनों एक नहीं।

भाव यह है कि निरर्थक अभ्यास पुनरुक्त और सार्थक अभ्यास अनुवाद होता है, इसलिये दोनों परस्पर भिन्न हैं।

सं०-अब प्रसङ्गसङ्गति से वेद की प्रमाणता कथन करते हैं:-

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्त-प्रामाण्यात् । ६९ ।

पद०-मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत्।च।तत्प्रामाण्यं।आप्तप्रामाण्यात्।

पदा०-(मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत्) मन्त्र तथा आयुर्वेद के समान (आप्तप्रामाण्यात्) आप्तोक्त होने से (तत्प्रामाण्यं) वेद प्रमाण है।

भाष्य-पदार्थ विद्यादि के प्रकाशक सत्य विचारों का नाम "मन्त्र" और चरकादि प्रसिद्ध वैद्यकशास्त्र को "आयुर्वेद" कहते हैं, मन्त्रायुर्वेद की भांति आप्तोक्त होने से वेदवाक्य प्रमाण हैं अर्थात् जिसप्रकार आयुर्वेद में कथन किये हुए औषधों के यथा योग्य सेवन करने से रोगनिवृत्तिरूप सत्य फल देखा जाता है और वह आप्तोक्त होने से सर्वांश में प्रमाण हैं इसीप्रकार यथार्थ फल बोधक वेद भी परमाप्त परमात्मवाक्य होने से सर्वांश में प्रमाण हैं, इसी अभिप्राय से "वात्स्यायनमुनि" का कथन है कि

"आप्तप्रामाण्यकृतम्"=जैसे यथायोग्य अर्थ का प्रतिपादक होने से आप्त पुरुषों ने मन्त्रायुर्वेद को प्रमाण माना है और उनके प्रमाण करने से प्राकृत जन भी उसको प्रमाण मानते हैं, इसी प्रकार वेद को भी प्रामाणिक मानना चाहिये।

भाव यह है कि "यत्राप्तवादत्वं तत्र प्रामाण्यं"=जो आप्तोक्त होता है वह प्रमाण होता है, इस व्याप्ति नियम के अनुसार जिसप्रकार आप्तोक्त होने से मन्त्रायुर्वेद सत्यार्थ का प्रतिपादक है इसीप्रकार परमेश्वर का वचन होने से वेद निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण है, जैसाकि "तद्वचनादाम्नायस्यप्रामाण्यम्" वै० १० । २ । १० में वर्णन किया है कि सृष्टि के आरम्भ में अग्नि आदि महर्षियों द्वारा ऋगादि चारो वेदों का ईश्वर की ओर से प्रकाश होने के कारण चारो वेद ईश्वर का वचन कहलाते हैं और सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर प्राणिमात्र का हितैषी होने से परमाप्त है, इसलिये उसके उपदेश कदापि मिथ्या न होने से निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण हैं।

वृत्तिकार "विश्वनाथ" ने इस सूत्र को इसप्रकार लापन किया है कि "आयुर्वेदभागश्च वेदस्थ एव तत्र संवादेन प्रामाण्यग्रहात् तद्दृष्टान्तेन वेदत्वावच्छेदेन प्रामाण्यमनुमेयम्"=जिसप्रकार यथार्थ आयुर्वेद विद्या को बो-

धन करनेवाला वेद का कोई एक देश आप्तोक्तत्व हेतु से प्रामाणिक है इसीप्रकार उक्त हेतु द्वारा सर्वत्र वेद में प्रमाणता जाननी चाहिये ॥

इति न्यायार्य्यभाष्ये द्वितीया-
ध्याये प्रथमान्हिकं
समाप्तम्

ओ३म्

अथ न्यायार्य्यभाष्ये द्वितीयाध्याये द्वितीयान्हिकं प्रारभ्यते

सं०—प्रथमान्हिक में प्रमाणों की परीक्षा का विस्तारपूर्वक निरूपण किया, अब उनके विभाग और शब्दगत अनित्यत्वादि की परीक्षा के लिये द्वितीयान्हिक का आरम्भ करते हुए प्रथम प्रमाणोद्देश में पूर्वपक्ष करते हैं :—

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवा-भावप्रामाण्यात् । १ ।

पद०—न । चतुष्ट्वं । ऐतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ।

पदा०—(ऐतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्) ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभाव प्रमाण के पायेजाने से (चतुष्ट्वं) प्रमाणों की चार ही संख्या कथन करना (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—उद्देशसूत्र में "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" न्या० १।१।३=प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द भेद से जो चार प्रमाण कथन किये हैं वह इसलिये ठीक नहीं कि ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभाव भेद से और भी चार प्रमाण पाये जाते हैं अर्थात् "इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्य्यमैतिह्यम्, यथेह वटे पिशाच आसीत्"=

परम्परा से सुने हुए वाक्य का नाम "ऐतिह्य" है, जैसाकि इस वट वृक्ष के नीचे पिशाच=अपक्वमांसाहारी दुर्जन रहता था, "यत्राभिधीयमाने योऽन्योऽर्थः प्रसज्यते सोऽर्थापत्तिः"=जहां किसी एक अर्थ के कथन से अन्य अर्थ का लाभ हो उसका नाम "अर्थापत्ति" है, जैसाकि यज्ञदत्त पीन=हृष्ट पुष्ट है परन्तु दिन को भोजन नहीं करता, इस कथन से यज्ञदत्त का रात्रिभोजन अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है, क्योंकि भोजन के विना हृष्टपुष्ट होना असम्भव है, "सम्भवो नाम अविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणादन्यस्य सत्ताग्रहणम्"=जो जिसके विना न रह-सके उसको "अविनाभावी" कहते हैं, और "अविनाभावी" वस्तु की सत्ता से अन्य वस्तु की सत्ता के ज्ञान का नाम "सम्भव" है, जैसाकि द्रोण=मन में आढ़क=पंसेरी तथा पंसेरी में प्रस्थ=सेर का ज्ञान सम्भव प्रमाण से होता है, क्योंकि आढक के विना "द्रोण" तथा प्रस्थ के विना "आढक" नहीं होसक्ता, "अभावो विरोधि अभूतं भूतस्य"=एक विरोधी के अभाव ज्ञान से दूसरे विरोधी की कल्पना का नाम "अभाव" है, जैसाकि नकुल के अभाव ज्ञान से तद्विरोधी सर्प्प की कल्पना होती है कि यहां अवश्य सर्प्प होगा, अथवा वर्षा के अभाव ज्ञान से तद्विरोधि वायुमेघसंयोग की कल्पना होती है कि वर्षा के प्रतिकूल वायुमेघसंयोग है, इसप्रकार ऐतिह्यादि और चार प्रमाणों के पायेजाने से चार ही

प्रमाणों का विभाग कथन करना असङ्गत है।

भाव यह है कि प्रत्यक्षादि चार तथा ऐतिह्यादि चार सब मिलकर आठ प्रमाण हैं, इसलिये न्यूनता परिहारार्थ इनका ग्रहण करना भी आवश्यक है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्ति सम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ।२।

पद०—शब्दे। ऐतिह्यानर्थान्तरभावात्। अनुमाने। अर्थापत्ति। सम्भवाभावानर्थान्तरभावात्। च। अप्रतिषेधः।

पदा०—(शब्दे) शब्द में (ऐतिह्यानर्थान्तरभावात्) ऐतिह्य का अन्तर्भाव (च) और (अनुमाने) अनुमान में (अर्थापत्ति-सम्भवाभावानर्थान्तरभावात्) अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभाव का अन्तर्भाव होने से (अप्रतिषेधः) प्रमाण विभाग का प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य—ऐतिह्य का शब्द में और अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव होने से प्रमाणों के विभाग में कोई न्यूनता नहीं, इसलिये ऐतिह्यादि को पृथक् प्रमाण मानकर उनकी चारसंख्या का प्रतिषेध नहीं होसकता, अनुमान में अर्थापत्ति के अन्तर्भाव का प्रकार "सांख्यार्य्यभाष्य" में और अभाव का विरोधिलिङ्ग के उदाहरण से "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में विस्तार पूर्वक वर्णन किया है, और ऐतिह्य=इतिहास का शब्द में अन्तर्भाव सर्वप्रसिद्ध है, क्योंकि

आप्तोक्त ऐतिह्य ही शब्दप्रमाण के अन्तर्गत है अनाप्तोक्त नहीं, इस प्रकार व्याप्तिसापेक्ष "सम्भव" का अनुमान में अन्तर्भाव जानना चाहिये पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं ।

भाव यह है कि अवयवों के बिना अवयवी नहीं होता, इस नियम के अनुसार आढक समुदायरूप द्रोणावयवी के विद्यमान होने से उसके अवयवभूत आढकों का ज्ञान अनुमानजन्य है, इसलिये सम्भव अनुमान से पृथक् नहीं ।

सं०-अब अर्थापत्ति के प्रमाणत्व में पूर्वपक्ष करते हैं :—

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् । ३ ।

पद०-अर्थापत्तिः । अप्रमाणं । अनैकान्तिकत्वात् ।

पदा०-(अनैकान्तिकत्वात्) व्यभिचार पायेजाने से(अर्थापत्तिः) अर्थापत्ति (अप्रमाणं) प्रमाण नहीं ।

भाष्य-जो वस्तु अर्थ से ज्ञात हो उसको "अर्थापत्ति" कहते है, जैसाकि मेघों के न होने से वर्षा नहीं होती, इससे सिद्ध हुआ कि मेघों के होने से होती है परन्तु कई वार मेघों के होने पर भी वर्षा का अभाव पाया जाता है,इसलिये मेघरूप कारण के होने पर भी वृष्टिरूप कार्य्य का व्यभिचार पायेजाने से "अर्थापत्ति"प्रमाण नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

अनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानात् । ४ ।

पद०-अनर्थापत्तौ । अर्थापत्त्यभिमानात् ।

पदा०-(अनर्थापत्तौ) अनर्थापत्ति में (अर्थापत्त्यभिमानात्)

अर्थापत्ति का अभिमान होने से उक्त कथन ठीक नहीं ।

भाष्य—अर्थापत्ति के अभाव का नाम "अनर्थापत्ति" है, जो अर्थापत्ति के प्रमाण होने में प्रतिषेध कथन किया है वह केवल अर्थापत्ति के भ्रम से है वस्तुतः नहीं अर्थात् कारण के अभाव से कार्य्य का अभाव होता है, इस नियम द्वारा कारण से कार्य्य होना अर्थासिद्ध है, इस प्रकार कार्य्यसत्ता का कारणसत्ता के साथ व्यभिचार न होने से अर्थापत्ति में व्यभिचार कथन करना ठीक नहीं, और जहां कारण के होने पर भी कार्य्य का अभाव देखा जाता है वहां प्रतिबन्धकाभाव का न होना ही कारण है अर्थात् निमित्तविशेष के प्रतिबन्ध द्वारा कार्य्य का न होना अर्थापत्ति का विषय नहीं ।

भाव यह है कि "सति कारणे कार्य्य मुत्पद्यतइत्यर्थापत्तेः प्रमेयम्"=कारण के होने पर ही कार्य्य का होना अर्थापत्ति प्रमाण का विषय है उसका कारणप्रतिबन्धमात्र से अपलाप नहीं होसक्ता, इसलिये जो कारणप्रतिबन्ध अर्थापत्ति का विषय नहीं उसको विषय मानकर अर्थापत्ति के भ्रम से तद्गत प्रमाणत्व का प्रतिषेध आभासमात्र है ।

सं०—अब वादी के प्रतिषेध में प्रतिबन्दी तर्क कथन करते हैंः

प्रतिषेधाप्रामाण्यञ्चानैकान्तिकत्वात् । ५ ।

पद०—प्रतिषेधाप्रामाण्यं । च । अनैकान्तिकत्वात् ।

पदा०—(अनैकान्तिकत्वात्) अनैकान्तिक होने से (च) भी (प्रतिषेधाप्रामाण्यं) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य–" व्यभिचार दोष के पाये जाने से अर्थापत्ति प्रमाण नहीं " इस प्रतिषेधवाक्य द्वारा अर्थापत्ति के प्रमाणत्व का प्रतिषेध किया गया है उसकी सत्ता का नहीं, इसलिये उक्त वाक्य भी अनैकान्तिक=व्यभिचारी होने से प्रमाण नहीं होसक्ता, यदि यह कहा जाय कि जिनका अपने विषयों के साथ नियम पाया जाता है उन्हीं का स्वविषयपरित्याग व्यभिचार कहाता है यह नियम है, इसके अनुसार उक्त प्रतिषेधवाक्य का विषय अर्थापत्ति की अप्रमाणता है सत्ता नहीं ? इसका उत्तर यह है कि प्रकृत में भी अर्थापत्ति का कारणप्रतिबन्ध विषय नहीं किन्तु उक्त रीति से कारण द्वारा कार्य्य का होना ही विषय है, इसलिये उसमें किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं होसक्ता ।

सं०–अब उक्त अर्थ को स्फुट करते हैं:—

तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यप्रामाण्यम् । ६ ।

पद०–तत्प्रामाण्ये । वा । न । अर्थापत्त्यप्रामाण्यम् ।

पदा०–(वा) यदि (तत्प्रामाण्ये) प्रतिषेध वाक्य को प्रमाण मानाजाय तो (अर्थापत्त्यप्रामाण्यं) अर्थापत्ति की अप्रमाणता (न) नहीं होसक्ती ।

भाष्य–यदि व्यभिचार दोष के होने पर भी प्रतिषेध वाक्य को प्रमाण माने तो अर्थापत्ति भी समान तर्क से प्रमाण होसक्ती है क्योंकि व्यभिचार दोष किसी एक स्थल में होता है सर्वत्र नहीं, और जैसे वादी ने किसी एक स्थल के व्यभिचार को प्रतिबन्धक नहीं माना वैसेही अर्थापत्ति के किसी एकदेश में व्यभिचार होने

पर भी वह अप्रमाण नहीं होती ।

तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार पूर्वपक्षी के सिद्धान्त में प्रतिषेधवाक्य का विषय अर्थापत्ति का प्रमाणत्व है उसकी सत्ता नहीं, इसी प्रकार प्रकृत में कारण के होने से कार्य्यसद्भाव अर्थापत्ति का विषय हैं प्रतिबन्धक होने पर कारण से कार्य्योत्पत्ति का अभाव विषय नहीं, अतएव उसमें अप्रमाणता नहीं होसक्ती ।

सार यह निकला कि जब मेघों के होने पर भी वृष्टि नहीं होती तब प्रतिकूल वायुसंयोग प्रतिबन्धक होता है और प्रतिबन्धकाभाव कार्य्यमात्र का सहकारी कारण है जैसाकि पीछे निरूपण कर आये हैं, इस प्रकार सहकारी कारण के न होने से कार्य्य की अनुत्पत्ति उसके प्रमाणत्व का बाधक नहीं प्रत्युत वह कारणप्रतिबन्ध की अनुमिति का लिङ्ग है ।

सं०—अब अभाव के प्रमाणत्व में आक्षेप करते हैं:—

नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः । ७ ।

पद०—न । अभावप्रामाण्यं । प्रमेयासिद्धेः ।

पदा०—(प्रमेयासिद्धेः) प्रमेय के न होने से (अभावप्रामाण्यं) अभाव प्रमाण (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य—यह नियम है कि जिसका विषय न हो वह प्रमाण नहीं होता, जैसाकि अश्व के प्रतिपादन में गोशब्द अप्रमाण है, क्योंकि गोशब्द का अश्व विषय नहीं, इसी प्रकार विषय के सिद्ध न होने से " अभाव " नामक प्रमाण नहीं होसक्ता ।

भाव यह है कि निःस्वरूप=तुच्छ होने के कारण अभावात्मक पदार्थ में प्रमाण की प्रवृत्ति न होने से अभावप्रमा का करण कोई प्रमाण नहीं ।

सं०-अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं:—

लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धिः । ८ ।

पद०-लक्षितेषु । अलक्षणलक्षितत्वात् । अलक्षितानां । तत्प्रमेयसिद्धिः ।

पदा०-(लक्षितेषु) लक्षित पदार्थों के मध्य (अलक्षितानां)अलक्षित पदार्थों का (अलक्षणलक्षितत्वात्) लक्षणाभाव द्वारा ज्ञान होने से (तत्प्रमेयसिद्धिः) अभाव के प्रमेय की सिद्धि पाई जाती है ।

भाष्य-जिनमें कोई चिन्ह विशेष पाया जाय उनको "लक्षित" तथा जो चिन्हरहित हों उनको "अलक्षित" कहते हैं, लक्षित, चिन्हित यह दोनों तथा अलक्षित, चिन्हरहित यह दोनों एकार्थवाची हैं, एक स्थान में लक्षित तथा अलक्षित वस्त्रों को देखकर स्वामी ने सेवक से कहा कि "अलक्षितानि वासांस्यानय"=अलक्षित वस्त्रों को लेआ, तव वह जिन वस्त्रों में चिन्ह का अभाव देखता है उनका ग्रहण करता है दूसरों का नहीं, इस प्रकार जो सेवक का लक्षित तथा अलक्षित वस्त्रों के मध्य लक्षण=चिन्ह के अभाव से अलक्षित वस्त्रों का ज्ञान होता है उसका करण अभाव

प्रमाण=अनुपलब्धि प्रमाण, अलक्षित वस्त्र प्रमेय और उक्त लक्षणाभावज्ञान फल है, इस प्रकार प्रमेयसिद्ध होने से अभावप्रमाण के होने में कोई अनुपपत्ति नहीं।

सं०—अब उक्त विषय का आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं:—

असत्यर्थे नाभाव इति चेन्नान्यलक्षणोपपत्तेः ।९।

पद०—असति। अर्थे। न। अभावः। इति। चेत्। न। अन्यलक्षणोपपत्तेः।

पदा०—(अर्थे) विषय के (असति) न होने पर (अभावः) अभाव (न) नहीं होता (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं क्योंकि (अन्यलक्षणोपपत्तेः) अन्य पदार्थ में लक्षण की उपपत्ति पाई जाती है।

भाष्य—"यत्र भूत्वा किञ्चिन्न भवति तत्र तस्याभाव उपपद्यते" न्या० भा०=जिस अधिकरण में जो वस्तु प्रथम होकर पीछे न हो उसमें उस वस्तु का अभाव कहा जाता है अन्यत्र नहीं, इस नियम के अनुसार अलक्षित वस्त्रों में लक्षण=चिन्हों का अभाव कथन करना ठीक नहीं, क्योंकि उनका वस्त्रों में प्रथम होकर अभाव नहीं पाया जाता अर्थात् उनमें लक्षणों का अभाव स्वतः ही विद्यमान है जो उनका स्वरूपभूत है फिर अलक्षित वस्त्रों में लक्षणाभाव की प्रतिपत्ति कैसे? इसका उत्तर यह है कि जैसे

चित्रित वस्त्रों में लक्षण=चित्रविशेष पाये जाते हैं वैसे चित्ररहित वस्त्रों में नहीं, इसलिये लक्षित वस्त्रों को देखकर अलक्षित वस्त्रों में चित्राभाव का ज्ञान अभाव प्रमाण के अधीन है, यहां पूर्वपक्षी का तात्पर्य्य यह है कि जिसका अभाव हो वह उस अभाव का "प्रतियोगी" कहाता है,यदि प्रतियोगी कोई पदार्थ नहो तो अभाव का निर्वचन ही दुर्घट है, क्योंकि अभाव ज्ञान प्रतियोगी ज्ञान के अधीन होता है, और प्रतियोगी के सद्भावकाल में अभाव नहीं होसक्ता, इस प्रकार दोनों पक्षों में अभाव प्रमाण की उपपत्ति कष्टसाध्य है, और सिद्धान्ती का कथन यह है कि जिस अधिकरण में प्रतियोगी विद्यमान हो उसी अधिकरण में अभाव का होना अपेक्षित नहीं किन्तु प्रतियोगी अधिकरण से भिन्न अधिकरण में उसकी उपलब्धि मानी गई है, इसलिये उसके प्रमाण होने में कोई बाधा नहीं, "गङ्गेशोपाध्याय" तथा "गदाधरभट्टाचर्य्य" प्रभृति नैयायिकों ने अभाव का विस्तारपूर्वक निरूपण "तत्त्वचिन्तामणि" आदि ग्रन्थों में किया है परन्तु यहां अनुपयुक्त होने से नहीं लिखा गया।

सं०—अब पूर्वपक्षी पुनः आशंका करता हैः—

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः । १० ।

पद०—तत्सिद्धेः । अलक्षितेषु । अहेतुः ।

पदा०—(तत्सिद्धेः) लक्षित पदार्थ में होने वाले लक्षण की सिद्धि (अलक्षितेषु) अलक्षित पदार्थवृत्ति अभाव ज्ञान का (अहेतुः) हेतु नहीं होसक्ती ।

भाष्य—जो वस्तु स्वरूप से विद्यमान हो उसका अभाव कथन करना असङ्गत है अर्थात् पीछे जो लक्षित वस्त्रों के लक्षण का अभाव अलक्षित वस्त्रों में प्रतिपादन किया है वह ठीक नहीं, क्योंकि स्वरूप से विद्यमान वस्तु का अभाव नहीं होता।

भाव यह है कि लक्षितवस्त्रों में रहनेवाले लक्षणों का अभाव अलक्षित वस्त्रवृत्ति लक्षणाभाव की प्रतिपत्ति का हेतु न होने से प्रमाण नहीं।

सं०—अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं:—

न लक्षणावस्थितापेक्षसिद्धेः । ११ ।

सं०—न । लक्षणावस्थितापेक्षसिद्धेः ।

पदा०—(लक्षणावस्थितापेक्षसिद्धेः) लक्षण वालों की अपेक्षा द्वारा अभावसिद्धि के पाये जाने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य—जिन वस्त्रों मे लक्षण पाये जाते हैं उनकी अपेक्षा से लक्षणरहित वस्त्रों में अभाव की प्रतिपत्ति होती है, इसलिये पूर्वपक्षी का कथन समीचीन नहीं अर्थात् जो लक्षण लक्षितवस्त्रों में विद्यमान हैं उनका उनमें अभाव नहीं मानागया किन्तु कई एक वस्त्रों में लक्षण अवस्थित तथा दूसरों में अनवस्थित हैं उन दोनों की अपेक्षा से जिन वस्त्रों में लक्षणों की सत्ता उपलब्ध नहीं होती उनमें लक्षणाभाव अभावप्रमाण से जाना जाता है, इस प्रकार अभाव लक्षणरहित नहीं और नाही वह स्वरूप से तुच्छ है।

तात्पर्य्य यह है कि जब प्रतियोगी के लक्षण की व्यवस्था

सिद्ध होजाय तो उसी से अभाव का लक्षण भी सार्थक होजाता है अर्थात् प्रतियोगी के निरूपण द्वारा विरोधिमुद्रा=प्रतियोगी का विरोधी होने से अभाव के स्वरूप का भी निरूपण होता है जैसाकि "अत्र घटोऽस्ति"=यहां घट है,इस एतद्देशस्थ घट के ज्ञान से ही "तत्र घटो नास्ति"=वहां घट नहीं है, यह ज्ञान दूसरे देश में घट के अभाव को विषय करता है, इस प्रकार अभाव का विषय पाये जाने से उसको प्रमाण मानना ही ठीक है।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :—

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च । १२ ।

पद०-प्राक्। उत्पत्तेः। अभावोपपत्तेः। च।

पदा०-(च) और (उत्पत्तेः) उत्पत्ति के (प्राक्) पूर्व (अभावोपपत्तेः) अभाव के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"इह कपालेषु घटो भविष्यति"=इन कपालों में घट होगा, "तन्तुषु पटो भविष्यति"=इन तन्तुओं में पट होगा, इस प्रकार उत्पत्ति के पूर्व घट पटादि कार्यों का अभाव पाये जाने से सिद्ध है कि वह अभावप्रमाण=अनुपलब्धिप्रमाण का विषय है, इसलिये उसके प्रमेय की असिद्धि कथन करना ठीक नहीं और जिसप्रकार उत्पत्ति के पूर्व कार्य्य का अभाव अनुपलब्धिप्रमाण का विषय है इसी प्रकार उत्पत्ति के अनन्तर मुद्गरादि प्रहारजन्य

घटादि कार्य्य का ध्वंस भी अनुपलब्धि का विषय जानना चाहिये, इस प्रकार प्रमेयसिद्धि द्वारा अभाव का प्रमाण मानना ही समीचीन है,अभावविषयक विशेषविचार "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में किया है इसलिये यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं।

सं०—अब शब्दवृत्ति अनित्यत्व की परीक्षा में संशय कथन करते हैं:—

विमर्शहेत्वनुयोगे च विप्रतिपत्तेःसंशयः।१३।

पद०—विमर्शहेत्वनुयोगे। च। विप्रतिपत्तेः। संशयः।

पदा०—(विमर्शहेत्वनुयोगे) संशयहेतुओं के उपलब्ध होने से (विप्रतिपत्तेः) विप्रतिपत्ति द्वारा शब्द के नित्यानित्यत्व में (संशयः संशय पाया जाता है।

भाष्य—विभु ईश्वर के ज्ञानादि विशेष गुणों की भांति सर्वमूर्त्त-संयोगी आकाश का विशेषगुण होने से शब्द नित्य अथवा पृथिव्यादि पदार्थों के गन्धादि विशेषगुणों की भांति जड़ाकाश का गुण होने से अनित्य है, इस प्रकार दोनों पक्षों के पाये जाने से यह संशय होता है कि शब्द नित्य है किंवा अनित्य है।

सं०—अब शब्द के अनित्यत्व में हेतु कथन करते हैं:—

आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात्कृतक-वदुपचाराच्च। १४।

पद०—आदिमत्त्वात्। ऐन्द्रियकत्वात्। कृतकवत्। उपचा-

रात् । च ।

पदा०-(आदिमत्त्वात्) कारणवाला (ऐन्द्रियकत्वात्) इन्द्रियग्राह्य (च) और (कृतकवत्) अनित्य की भांति (उपचारात्) व्यवहार का विषय होने से शब्द अनित्य है।

भाष्य-"शब्दोऽनित्य आदिमत्त्वात् घटवत्"=जो कारण से जन्य हो वह अनित्य होता है,इस नियम के अनुसार घट की भांति कारणजन्य होने से शब्द अनित्य है अर्थात् जैसे घट अपने कपालादि कारणों से जन्य होने के कारण उत्पत्ति विनाश वाला देखाजाता है इसी प्रकार संयोगविभागादि कारणों द्वारा जन्य होने से शब्द भी अनित्य है, यदि यह कहाजाय कि कण्ठताल्वादि अभिघात=संयोगविशेष से "वर्णात्मक" तथा भेरीदण्डादि अभिघात से "ध्वन्यात्मक" शब्द की उत्पत्ति नहीं किन्तु दीपप्रकाश से पूर्वस्थित घटगतरूप की भांति उसकी अभिव्यक्ति=आविर्भाव होता है, यह इसलिये ठीक नहीं कि शब्द "ऐन्द्रियकत्वात्"=इन्द्रियग्राह्य है, और जो इन्द्रियग्राह्य होता है वह रूपादि की भांति अनित्य होता है अर्थात् जिसप्रकार वाह्य चक्षुरादि इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष का विषय होने से रूपादिक अनित्य हैं इसी प्रकार श्रोत्ररूप वाह्येन्द्रिय का विषय होने से शब्द अनित्य है और उसके अनित्य होने में हेतु यह है कि, "शब्दोऽनित्य उपचारात् कृतकवत्"=जो तीव्र, तीव्रतर और मन्द, मन्दतर व्यवहार का विषय है वह अनित्य होता है, इस नियम के अनुसार जैसे "तीव्रं सुखं तीव्रतरं सुखं, मन्दं

दुःखं मन्दतरं दुःखं"=तीव्र=अधिक किंवा तीव्रतर=अधिकतर सुख है अथवा तीव्र किंवा तीव्रतर दुःख है, इस तीव्रादि व्यवहार का विषय होने से सुख दुःखादि अनित्य हैं, इस प्रकार "तीव्रः शब्दः"=शब्द तीव्र है, "मन्दः शब्दः"=शब्द मन्द है, इस व्यवहार का विषय होने से शब्द भी सुख दुःखादि की भांति अनित्य है।

सं०-अब पूर्वपक्षी उक्त हेतुओं में व्यभिचार कथन करता है:-

न घटाभावसामान्यनित्यत्वान्नित्ये-ष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च ।१८।

पद०-न । घटाभावसामान्यनित्यत्वात् । नित्येषु । अपि । अनित्यवत् । उपचारात् । च ।

पदा०-(घटाभावसामान्यनित्यत्वात्) घटध्वंस तथा सामान्य के नित्य होने (च) और (नित्येषु) नित्यों में (अपि) भी (अनित्यवत्) अनित्य की भांति (उपचारात्) व्यवहार पाये जाने से (न) उक्त हेतु ठीक नहीं।

भाष्य-जो "आदिमत्त्वात्" इत्यादि हेतु शब्द के अनित्यत्व में कथन किये हैं वह व्यभिचारी होने से शब्दव्यक्ति अनित्यत्व के साधक नहीं, प्रथम हेतु इसलिये ठीक नहीं कि जो कारण से जन्य हो वह अनित्य होता है यह नियम नहीं होसक्ता, क्योंकि मुद्गरादि प्रहार से जन्य होने पर भी घट का ध्वंसाभाव

नित्य है अनित्य नहीं, और दूसरे "ऐन्द्रियकत्वात्" हेतु में व्यभिचार इस प्रकार है कि सामान्य=जाति का बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है परन्तु उसका नित्यत्व सर्वसम्मत है अर्थात् जाति में ऐन्द्रियकत्व हेतु के होने पर अनित्यत्व साध्य नहीं पाया जाता, इसलिये "धूमवान्वन्हेः" इस हेतु की भांति व्यभिचारी है, और आकाशादि व्यावहारिकनित्य तथा आत्मादि पारमार्थिकनित्य पदार्थों में अनित्य की भांति व्यवहार पाये जाने से "कृतकवदुपचारात्" हेतु भी व्यभिचारी जानना चाहिये।

भाव यह है कि जिस प्रकार **"वृक्षैकदेशे पक्षिणस्तिष्ठन्ति"**=वृक्ष के किसी एकदेश में पक्षी बैठे हैं, यह व्यवहार वृक्षादि अनित्यपदार्थों में होता है इसी प्रकार **"आकाशैकदेशे पक्षिणः सञ्चरन्ति"**=आकाश के एकदेश में पक्षी उड़ते हैं किंवा **"ईश्वरात्मैकदेशे प्रपञ्चोऽस्ति"**=ईश्वर के एकदेश में जगत् है, इत्यादि व्यवहार उक्त अनित्य पदार्थों की भांति पाये जाते हैं और वह अनित्य नहीं, यदि अनित्यपदार्थ की भांति उपचार=व्यवहार का होना अनित्यत्व का साधक होता तो आकाशादिपदार्थ भी अनित्य होते परन्तु ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि "कृतकवदुपचारात्" हेतु व्यभिचारी है, और व्यभिचारी होने से शब्दवृत्ति अनित्यत्व का साधक नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का तीन सूत्रों से समाधान करते हैं:—

तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागा-

दव्यभिचारः । १६ ।

पद०—तत्त्वभाक्तयोः । नानात्वविभागात् । अव्यभिचारः ।

पदा०—(तत्त्वभाक्तयोः) मुख्य तथा गौण (नानात्वविभागात्) भेद के पाये जाने से (अव्यभिचारः) प्रथम हेतु का व्यभिचार नहीं ।

भाष्य—मुख्य, गौण भेद से नित्यत्व दो प्रकार का है "उभयान्तापरिच्छिन्नवस्तुसत्तासम्बन्धो मुख्यं नित्यत्वं तदितरद्गौणम्"=जिस वस्तु का प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव न हो उसकी सत्ता का नाम "मुख्यनित्यत्व" और जिसका प्रागभाव होने पर ध्वंस तथा ध्वंस होने पर प्रागभाव न हो उसकी सत्ता का नाम "गौणनित्यत्व" है, या यों कहो कि वस्तु के प्रागभाव और ध्वंसाभाव का न होना ही "मुख्यनित्यत्व" तथा दोनों में से किसी एक का होना "गौणनित्यत्व" है, मुख्यनित्यत्वधर्म वाले को "पारमार्थिक" तथा गौणनित्यत्वधर्म वाले को "व्यावहारिक" नित्य कहते हैं, घटध्वंस को नित्य मानकर जो "आदिमत्व" हेतु का व्यभिचार दिया है अर्थात् घटध्वंस कारणवत्=कारण से जन्य होने पर भी अनित्य नहीं यह कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि ध्वंसाभाव में मुख्य नित्यत्व नहीं किन्तु गौण है ।

भाव यह है कि घटादिकों का ध्वंसाभाव आत्मादि पदार्थों की भांति वास्तविक नित्य नहीं, क्योंकि उसका प्रागभाव पाया जाता है और वह मुद्गरादि कारणों से जन्य है, और ध्वंसाभाव के

समान प्रागभाव भी व्यावहारिक नित्य है अर्थात् प्रागभाव का ध्वंस होता है प्रागभाव नहीं परन्तु शब्द की भांति कोई कार्य्यपदार्थ नित्य उपलब्ध नहीं होता प्रत्युत वह प्रागभाव तथा ध्वंस के होने से मुख्यनित्य का प्रतिद्वन्द्वी प्रागभावादि से विलक्षण वास्तविक अनित्य है, अतएव उक्त हेतु का व्यभिचार नहीं।

सार यह निकला कि जिस पदार्थ का कारण से उत्पत्ति और नाश दोनों पाये जायं वह अनित्य होता है, जैसाकि घटपटादि पदार्थ उत्पत्ति विनाश वाले होने से अनित्य हैं, इस प्रकार घटपटादि की भांति शब्दरूप पक्ष में "अनित्यत्व" साध्य के साथ "आदिमत्त्व" हेतु का सहचार पाये जाने से व्यभिचार दोष नहीं।

सं०—अब दूसरे हेतु में व्यभिचार का उद्धार करते हैं:—

सन्तानानुमानविशेषणात्। १७।

पद०—एकपद०।

पदा०—(सन्तानानुमानविशेषणात्) सन्तान अनुमान का विशेषण होने से व्यभिचार नहीं होसकता।

भाष्य—शब्द की परम्परा का नाम "**सन्तान**" है, केवल इन्द्रियग्राह्य होने से शब्द को अनित्य कथन नहीं किया किन्तु इन्द्रियग्राह्य हेतु से शब्दसन्तान=शब्दपरम्परा का अनुमान होता है और उक्त अनुमान द्वारा उसकी अनित्यता कथन में तात्पर्य्य है।

भाव यह है कि विषय में प्राप्त होकर इन्द्रिय अर्थ के प्रकाशक होते हैं अन्यथा नहीं, यह नियम है, और श्रोत्रेन्द्रिय की प्राप्ति

विषयदेश में नहीं होसक्ती, क्योंकि आकाशरूप होने से उसमें गति नहीं पाई जाती परन्तु शब्द का साक्षात्कार सर्वानुभवसिद्ध है अर्थात् "वीचितरङ्गन्याय" से एक शब्द दूसरे शब्द को तथा दूसरा तीसरे और तृतीय चतुर्थादि को उत्पन्न करके श्रोत्रदेश तक प्राप्त करता है तब उसका साक्षात्कार होता है, यदि ऐसा न होता तो शब्द का श्रोत्र से साक्षात्कार न पाया जाता परन्तु शब्द के प्रत्यक्ष में किसी वादी की विप्रतिपत्ति नहीं, इससे स्पष्ट है कि शब्द सन्तान द्वारा श्रोत्रदेश को प्राप्त होता है अन्यथा नहीं, इस प्रकार सन्तान वाला होकर बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष का विषय होना ही शब्दवृत्ति अनित्यत्व का साधक है, अतएव उक्त हेतु व्यभिचारी नहीं।

सं०—अब तीसरे हेतु में व्यभिचार का उद्धार करते हैं:—

कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्ये-ष्वप्यव्यभिचार इति । १८ ।

पद०—कारणद्रव्यस्य । प्रदेशशब्देन । अभिधानात् । नित्येषु । अपि । अव्यभिचारः । इति ।

पदा०—(प्रदेशशब्देन) प्रदेशशब्द द्वारा (कारणद्रव्यस्य) कारण द्रव्य का (अभिधानात्) कथन करने से (नित्येषु) नित्य पदार्थों में (अपि) भी (अव्यभिचारः, इति) उक्त हेतु का व्यभिचार नहीं पाया जाता ।

भाष्य—जब वृक्षादि अवयवी=अनित्य पदार्थों में एकदेश का व्यवहार होता है कि "वृक्ष के एकदेश में पक्षी हैं" तब उनके

कारणद्रव्य=अवयवों को बोधन किया जाता है अर्थात् वक्ता वृक्ष के किसी एक अवयव में पक्षियों की स्थिति को बोधन करता है सर्वत्र नहीं, और जो उक्त व्यवहार की भांति आकाशादि नित्य= निरवयव तथा व्यापक पदार्थों में एकदेश का व्यवहार पाया जाता है वह कारणद्रव्य के अभिप्राय से नहीं होता, क्योंकि आकाशादि पदार्थों का कोई अवयव उपलब्ध नहीं और नाही उसकी उपलब्धि में कोई प्रमाण पाया जाता है, इसलिये उक्त व्यवहार गौण होने के कारण आकाशादि नित्य पदार्थों में "कृतकवदुपचारात्" हेतु का व्यभिचार नहीं होसक्ता।

भाव यह है कि "वृक्षैकदेशे पक्षिणः सन्ति"=वृक्ष के एकदेश में पक्षी हैं,इस कथन से पक्षियों के साथ आकाश का "अव्याप्यवृत्ति" संयोग पाया जाता है अर्थात् पक्षियों का संयोग आकाश को सर्वत्र व्याप्त नहीं करसक्ता,जो किसी देश में हो और किसी देश में नहो उसको "अव्याप्यवृत्ति" कहते हैं, अव्याप्यवृत्ति तथा एकदेशवृत्ति यह दोनों एकार्थवाची शब्द हैं, इस प्रकार वृक्षादि अनित्य पदार्थों में एकदेश व्यवहार मुख्य तथा आकाशादि नित्य पदार्थों में उक्त व्यवहार गौण होने से "कृतकवदुपचारात्" हेतु व्यभिचारी नहीं किन्तु शब्दवृत्ति अनित्यत्व की सिद्धि में सद्धेतु है।

सं०—अब विपक्ष में बाधक तर्क कथन करते हैं:—

प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥ १९ ॥

पद०-प्राक् । उच्चारणात् । अनुपलब्धेः । आवरणाद्यनुपलब्धेः । च ।

पदा०-(उच्चारणात्) उच्चारण करने से (प्राक्) पूर्व (अनुपलब्धेः) उपलब्धि न होने (च) और (आवरणाद्यनुपलब्धेः) आवरणादि प्रतिबन्धकों की उपलब्धि न पाये जाने से शब्द नित्य नहीं।

भाष्य-यदि शब्द नित्य होता तो उच्चारण करने से प्रथम ही उपलब्ध होता, क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय के साथ उसका समवाय सम्बन्ध नित्य पाया जाता है परन्तु उच्चारण के बिना शब्द की उपलब्धि कदापि नहीं होती, इससे सिद्ध है कि शब्द नित्य नहीं, यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार भित्ति आदि आवरण के व्यवधान से अन्तरदेशस्थ वस्तुओं की उपलब्धि नहीं होती इसी प्रकार आवरण रूप प्रतिबन्ध से विद्यमान शब्द की उपलब्धि भी नहीं होसक्ती और उच्चारण केवल उक्त आवरणरूप प्रतिबन्धक की निवृत्ति में कारण है शब्द की उत्पत्ति में नहीं? इसका उत्तर यह है कि आवरण की उपलब्धि में कोई प्रमाण नहीं पायाजाता, यदि भित्ति आदि की भांति शब्द का कोई आवरक द्रव्य होता तो वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अवश्य उपलब्ध होता परन्तु नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि शब्द की उपलब्धि में कोई आवरण नहीं और नाही उसकी निवृत्ति के लिये उच्चारण का उपयोग है किन्तु उच्चारण शब्द की उत्पत्ति में कारण है यदि दुराग्रहवशात् परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को शब्द के साक्षात्कार में प्रतिबन्धक=आवरण माने तो शब्द साक्षात्कार में अनन्त प्रतिबन्धकों की कल्पना से

गौरवदोष की आपत्ति होगी, इसलिये उक्त दोष की अपेक्षा शब्द को अनित्य मानने में लाघव ही आदरणीय है।

तात्पर्य्य यह है कि "विवक्षाजनितेन प्रयत्नेन कोष्ठस्य वायोः प्रेरितस्य कण्ठताल्वाद्यभिघात उच्चारणम्"=कथन करने की इच्छा का नाम "विवक्षा" है और विवक्षाजन्य प्रयत्न द्वारा प्रेरित कोष्ठवायु=प्राणवायु का कण्ठ तालु आदि स्थानों के साथ जो संयोगविशेष होता है उसको "उच्चारण" कहते हैं, और संयोग शब्द का अभिव्यञ्जक नहीं होसक्ता, जैसाकि पीछे "कालातीत" हेत्वाभास के उदाहरण में स्पष्ट कर आये हैं, इससे सिद्ध है कि अभिव्यञ्जक संयोग के अभाव से शब्द का प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु अविद्यमान शब्द की संयोगरूप कारण से उत्पत्ति और उत्पत्ति के अनन्तर नाश होता है, शब्द की उत्पत्ति तथा नाश का क्रम "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है इसलिये यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं।

सार यह निकला कि आवरणादि प्रतिबन्धकों का अभाव होने और उच्चारण से प्रथम उपलब्ध न होने के कारण शब्द नित्य नहीं, इसलिये शब्दानित्यत्व साधक हेतुओं में कोई बाधा नहीं पाईजाती।

सं०—अब जातिवादी उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करता है:—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः।२०।

पद०—तदनुपलब्धेः। अनुपलम्भात्। आवरणोपपत्तिः।

पदा०—(तदनुपलब्धेः) आवरण की अनुपलब्धि का (अनुप-

लम्भात्) उपलम्भ न होने से (आवरणोपपत्तिः) शब्दावरण का अभाव नहीं।

भाष्य—"यद्यनुपलम्भादावरणं नास्ति आवरणानुपलब्धिरपि तर्ह्यनुपलम्भान्नास्तीति तस्या अभावादप्रतिषिद्धमावरणमिति" न्या० भा०=प्रतीति का नाम "उपलम्भ" और उसके अभाव को "अनुपलम्भ" कहते हैं, उपलम्भ, उपलब्धि यह दोनों तथा अनुपलम्भ, अनुपलब्धि और अभाव यह तीनों एकार्थवाची हैं, यदि आवरणोपलब्धि न होने से शब्द के आवरण का अनुपलम्भ=अभाव मानें तो समान युक्ति से आवरणानुपलब्धि का भी अभाव मानना पड़ेगा, क्योंकि आवरण की अनुपलब्धि का उपलम्भ नहीं पाया जाता अर्थात् जो शब्दावरण का अभाव कथन किया है उसकी उपलब्धि नहीं होती प्रत्युत आवरणानुपलब्धि की भांति अनुपलब्धि ही पाई जाती है, इस प्रकार आवरणविषयक उपलब्धि के अभाव का अभाव होने से आवरण की सत्ता ज्यों की त्यों बनी रहती है, इसलिये उच्चारणद्वारा विद्यमान शब्द के अविर्भाव मानने में कोई दोष नहीं।

अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भाववन्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात्। २१।

पद०—अनुपलम्भात्। अपि। अनुपलब्धिसद्भाववत्। न। आवरणानुपपत्तिः। अनुपलम्भात्।

पदा०—(अनुपलम्भात्) उपलम्भ न होने पर (अपि) भी (अनुपलब्धिसद्भाववत्) अनुपलब्धि की भांति (अनुपलम्भात्) केवल अनुपलम्भ से (आवरणानुपपत्तिः) आवरण की अनुपपत्ति (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य—" यथाऽनुपलभ्यमानापि आवरणानुपलब्धिरस्ति एवमनुपलभ्यमानवप्यावरणमस्तीति " न्या०भा०= यदि यह कहाजाय कि उपलम्भ न होने पर भी आवरण की अनुपलब्धि का अभाव नहीं अर्थात् आवरण की अनुपलब्धि विद्यमान है तो इसका उत्तर यह है कि आवरण की उपलब्धि नहोने पर भी उस की सत्ता में कोई बाधा नहीं अर्थात् जिसप्रकार शब्दानित्यत्ववादी अनुपलम्भ=प्रत्यक्ष न होने पर भी आवरण की अनुपलब्धि मानता है इसी प्रकार नित्यत्ववादी के मत में आवरण का प्रत्यक्ष न होने से आवरणाभाव नहीं किन्तु आवरण विद्यमान है और आवरणविषयक प्रत्यक्ष का अभाव आवरणाभाव का प्रयोजक नहीं, इससे सिद्ध है कि संयोगादि कारणों से आवरण निवृत्ति द्वारा विद्यमान शब्द का प्रत्यक्ष होता है अविद्यमान का नहीं, इसलिये वह अनित्य नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः।२२।

पद०—अनुपलम्भात्मकत्वात्। अनुपलब्धेः। अहेतुः।

पदा०—(अनुपलब्धेः) आवरणानुपलब्धि (अनुपलम्भात्मक-

त्वात्) उपलम्भाभाव होने से (अहेतुः) उक्त कथन ठीक नहीं।

भाष्य-जो आवरण सिद्धि के लिये "तदनुपलब्धेरनुपलम्भात्" हेतु कथन किया है वह जात्युत्तर होने से ठीक नहीं अर्थात् वह शब्दानित्यत्व का बाधक नहीं, क्योंकि अनुपलब्धि=प्रत्यक्ष का न होना अनुपलम्भ=ज्ञानाभावरूप है और उसका प्रत्यक्ष अन्तरिन्द्रिय=मन से पाया जाता है।

भाव यह है कि "येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तेन तदभावोपीति"=जिस इन्द्रियद्वारा जिसका प्रत्यक्ष होता है उसके अभाव का उसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है यह नियम है, इस नियम के अनुसार जब मन से ज्ञान और ज्ञानाभाव का प्रत्यक्ष सर्वसम्मत है तो फिर ज्ञानाभाव का अनुपलम्भ कथन करना सर्वथा असङ्गत है।

सार यह निकला कि यदि शब्द का कोई आवरण होता तो अवश्य किसी प्रमाण से उपलब्ध होता पर नहीं होता, इससे सिद्ध है कि शब्द का कोई आवरण नहीं और उसके न होने से उच्चारण के पूर्व उपलब्धि का न होना शब्दव्यक्ति नित्यत्व का साधक नहीं प्रत्युत अनित्यत्व का ही साधक है।

सं०-अब शब्दनित्यत्ववादी पुनः आशंका करता हैः—

अस्पर्शत्वात्। २३।

पद०-एकपद०।

पदा०-(अस्पर्शत्वात्) स्पर्श रहित होने से शब्द नित्य है।

भाष्य-जो स्पर्श रहित है वह नित्य होता है, इसनियम के

अनुसार आकाश की भांतिं स्पर्श रहित होने से शब्द नित्य है।

भाव यह है कि जो शब्दवृत्ति अनित्यत्व सिद्धि के लिये हेतु कथन किये हैं वह सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास होने से प्रामाणिक नहीं, क्योंकि उनका प्रतिद्वन्द्वी "अस्पर्शत्वात्" हेतु नित्यत्व का साधक पाया जाता है।

सं०—अब उक्त हेतु में व्यभिचार कथन करते हैं:—

न कर्मानित्यत्वात् । २४ ।

पद०—न । कर्मानित्पत्यात् ।

पदा०—(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (कर्मानित्पत्यात्) अस्पर्श होने पर भी कर्म नित्य नहीं होता।

भाष्य—"यत्रास्पर्शत्वं तत्र नित्यत्वमिति न नियमः"= जो स्पर्श रहित हो वह नित्य होता है यह व्याप्ति नहीं होसक्ती, क्योंकि अस्पर्श होने पर भी कर्म नित्य नहीं होता अर्थात् "अस्पर्शत्वात्" हेतु का कर्म में व्यभिचार पाया जाता है, इसलिये वह अनैकान्तिक होने से शब्दवृत्ति नित्यत्व का साधक नहीं।

सं०—ननु, अनैकान्तिक हेतु प्रामाणिक क्यों नहीं ? उत्तर:—

नाणुनित्यत्वात् । २५ ।

पद०—न । अणुनित्यत्वात् ।

पदा०—(अणुनित्यत्वात्) परमाणुओं के नित्य होने से (न) अनैकान्तिक हेतु प्रामाणिक नहीं।

भाष्य—यदि अनैकान्तिक=व्यभिचारी हेतु को प्रामाणिक=

साध्यसाधक मानाजाय तो "रूपवत्त्व" हेतु से घटादि की भांति परमाणु भी अनित्य होजायंगे, क्योंकि परमाणुओं में भी रूप पाया जाता है, परन्तु उनकी अनित्यता वादी को भी इष्ट नहीं, इससे सिद्ध है कि व्यभिचारी हेतु प्रामाणिक नहीं, अतएव उक्त हेतु से शब्द को नित्य कथन करना ठीक नहीं।

सं०-अब पूर्वपक्षी पुनः आशंका करता हैः—

सम्प्रदानात् । २६ ।

पद०- एकपद० ।

पदा०-(सम्प्रदानात्) सम्प्रदान पाये जाने से शब्द नित्य है।

भाष्य-विद्यमान वस्तु के देने का नाम "**संम्प्रदान**" है, जो गुरु अध्यापन काल में शिष्य को वेदादिविद्या पढ़ाता है वह गोघटादि पदार्थ के दान की भांति एक प्रकार का सम्प्रदान कहाता है, और सम्प्रदान विद्यमान वस्तु का होता है अविद्यमान का नहीं, यदि पढ़ाने से पूर्व शब्द विद्यमान न होता तो कदापि विद्यासम्प्रदान न पाया जाता परन्तु पाया जाता है, इससे सिद्ध है कि पढ़ाने से पूर्व गुरु के पास शब्द विद्यमान है, अतएव उसके नित्यत्व में कोई बाधा नहीं।

सं०-अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं :—

तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः । २७ ।

पदा०-तदन्तरालानुपलब्धेः । अहेतुः ।

पदा०-(अहेतुः) उक्त हेतु ठीक नहीं,क्योंकि (तदन्तरालानुप-

लब्धेः) अन्तेवासी के अन्तराल में शब्द की उपलब्धि नहीं होती।

भाष्य—विद्यार्थी का नाम "अन्तेवासी" है, यह व्यवहार सिद्ध बात है कि अन्तेवासी के समीप होने पर आचार्य्य विद्योपदेश करता है अन्यथा नहीं, यदि शब्द नित्यरूप से विद्यमान होता तो विद्याग्रहण काल के अन्तराल=पूर्वोत्तर काल में अवश्य उपलब्ध होता परन्तु ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि वह नित्य नहीं।

भाव यह है कि अध्यापन के पूर्वोत्तर काल में शब्द के विद्यमान न होने से "सम्प्रदान" हेतु शब्दगत नित्यत्व का साधक नहीं अर्थात् "**यत्सम्प्रदीयते तन्नित्यमिति न नियमः**"= जो दियाजाय वह नित्य होता है, यह नियम नहीं होसक्ता, क्योंकि गोघटादि पदार्थ दान करने पर भी नित्य नहीं होते, अतएव उक्त हेतु व्यभिचारी है।

सं०—अब पूर्वपक्षी अपने हेतु को समर्थन करता है :—

अध्यापनादप्रतिषेधः। २८।

पद०—अध्यापनात्। अप्रतिषेधः।

पदा०—(अध्यापनात्) अध्यापन के पाये जाने से (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य—जिसका प्रत्यक्ष नहो उसकी उपलब्धि अनुमानद्वारा होती है जैसाकि धूमादि लिङ्गों से वन्ह्यादि पदार्थों का अनुमान सर्वानुभवसिद्ध है, इसप्रकार अध्यापनलिङ्ग से यह अनुमान होता है कि गुरुशिष्य दोनों के अन्तराल में शब्द विद्यमान है, इसलिये उक्त

प्रतिषेध ठीक नहीं, अनुमान का प्रकार यह है कि "**दातृप्रतिगृहीत्रोरन्तराले शब्दोऽस्ति अध्यापनात् शरादिवत्**"=जिस प्रकार धनुर्विद्याचार्य्य तथा शिष्य के मध्य उपदेशकाल में लक्ष्यवेधनार्थ शर आदि पदार्थ विद्यमान होते हैं इसीप्रकार शरादि पदार्थों की भांति गुरुशिष्य दोनों के मध्य शब्द विद्यमान है ।

भाव यह है कि दाता=गुरु, प्रतिगृहीता=शिष्य के अन्तराल में कण्ठताल्वादि अभिघातरूप कारण न होने से शब्द की प्रतीति का अभाव होता है अनित्य होने से नहीं ।

सं०-अब वादी के उक्त कथन का खण्डन करते हैं :—

उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः । २९ ।

पद०-उभयोः । पक्षयोः । अन्यतरस्य । अध्यापनात् । अप्रतिषेधः ।

पदा०-(अध्यापनात्) अध्यापन हेतु से (अन्यतरस्य) अनित्य पक्ष का (अप्रतिषेधः) प्रतिषेध नहीं होसक्ता, क्योंकि (उभयोः) दोनों (पक्षयोः) पक्षों में वह समान पाया जाता है ।

भाष्य-**गुरूच्चारणानूच्चारणं शिष्योच्चारणानुकूलोच्चारणं वा अध्यापनम्**"=गुरुकृत उच्चारण के पश्चात् उच्चारण अथवा शिष्यकर्त्तव्य उच्चारण के अनुकूल उच्चारण "**अध्यापन**" कहाता है, उक्त अध्यापन नित्यशब्दवादी तथा अनित्यशब्दवादी के मत में समान होने के कारण अन्यतर=दोनों में से किसी एक

पक्ष का साधक बाधक नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त हेतु से अनित्य का प्रतिषेध करना समीचीन नहीं ।

भाव यह है कि दोनों पक्षों में अध्यापन के समान होने से यह सन्देह बना रहता है कि आचार्य्य के पास विद्यमान शब्द की शिष्य को प्राप्ति होती है अथवा नटक्रिया के अनुकरण की भांति आचार्य्यकृत शब्दोच्चारण का शिष्य अनुकरण करता है, इसप्रकार सन्दिग्ध होने से "अध्यापनात्" हेतु अन्यतर पक्ष का साधक नहीं ।

सं०—अब पूर्वपक्षी अन्य हेतु कथन करता है :—

अभ्यासात् । ३० ।

पद०—एकपद० ।

पदा०—(अभ्यासात्) अभ्यास के पाये जाने से भी शब्द नित्य है ।

भाष्य—पुनः पुनः आवर्त्तन का नाम "अभ्यास" है, यह सर्वानुभवसिद्ध है कि "अभ्यस्यमानमवस्थितं दृष्टम्"= अवस्थित का अभ्यास होता है अनवस्थित का नहीं, इस नियम के अनुसार जिसप्रकार "पञ्चकृत्वोरूपंपश्यति"=पांच वार रूप को देखता है, इस वाक्य से अवस्थित=पूर्वसिद्ध रूप का वारंवार दर्शन पाया जाता है इसी प्रकार "दशकृत्वोऽनुवाकमधीते, विंशतिकृत्वोऽनुवाकमधीते"=यह ब्रह्मचारी दश वार और दूसरा विंशति वार "अनुवाक" पढ़ता है, इस वाक्यद्वारा भी

विद्यमान शब्द का अभ्यास पाया जाता है, यदि शब्द नित्य न होता तो अवस्थित न होने से उक्त अभ्यास कदापि न होता पर होता है, इससे स्पष्ट है कि शब्द विद्यमान होने से नित्य है अनित्य नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् । ३१ ।

पद०—न । अन्यत्वे । अपि । अभ्यासस्य । उपचारात् ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (अन्यत्वे) भेद होने पर (अपि) भी (अभ्यासस्य) अभ्यास का उपचार पाया जाता है ।

भाष्य—परस्पर भिन्न पदार्थों में भी अभ्यास=वारंवार प्रवृत्ति का उपचार=व्यवहार होता है, इसलिये "अभ्यासात्" हेतु शब्द की स्थिरता का साधक नहीं ।

भाव यह है कि जिस प्रकार "द्विरग्निहोत्रंजुहोति"= दोवार अग्निहोत्र करता है अथवा "द्विर्नटति"=दोवार नटक्रिया करता है, इस वाक्य से प्रथम हवनक्रिया=वन्हि में घृतादि चरुद्रव्य के प्रक्षेप का दूसरी हवनक्रिया के साथ और प्रथम नटक्रिया का दूसरी नटक्रिया के साथ भेद होने पर भी अभ्यास=वारंवार प्रवृत्ति का व्यवहार पाया जाता है परन्तु अग्निहोत्रादि क्रिया स्थिर=नित्य नहीं, इसी प्रकार अनुवाकरूप शब्द का दश किंवा अनेकवार अभ्यास करना उसके नित्य होने में गमक नहीं होसक्ता, अतएव

उक्त रीति से व्यभिचारदोष होने के कारण "अभ्यासात्" हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

सं०—अब वादी "अन्यत्व" शब्द से कथन किये हुए भेद का प्रतिषेध करता है :—

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादन-न्यदित्यन्यताभावः । ३२ ।

पद०—अन्यत् । अन्यस्मात् । अनन्यत्वात् । अनन्यत् । इति । अन्यताभावः ।

पदा०—(अन्यस्मात्) जो अन्य पदार्थ से (अनन्यत्) भिन्न है वह (अनन्यत्वात्) स्वरूप से अन्य न होने के कारण (अनन्यत्) अनन्य है (इति)इसलिये(अन्यताभावः) भेद का अभाव है।

भाष्य—भिन्न का नाम "अन्य" और अभिन्न को "अनन्य" कहते हैं, भिन्न, अन्य यह दोनों और भेद, अन्यत्व तथा अन्यता यह तीनों एकार्थवाची हैं, जो सिद्धान्ती ने प्रतिषेध हेतु में "अन्यत्व" पद का निवेश करके यह कथन किया है कि भेद होने पर भी अभ्यास उपचारसिद्ध है ? वह इसलिये ठीक नहीं कि भेद कोई पदार्थ नहीं, क्योंकि जो पदार्थ दूसरे से "अन्य" है वही स्वरूप में भेद न होने के कारण "अनन्य" कहाता है, इस प्रकार पदार्थमात्र अनन्य होने से "अन्यता" कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, अतएव उक्त प्रतिषेध कल्पनामात्र है।

सं०—अब उक्त प्रतिषेध का समाधान करते हैं :—

तदभावे नास्त्यनन्यता तयोरि-तरेतरापेक्षसिद्धेः । ३३ ।

पद०—तदभावे । न । अस्ति । अनन्यता । तयोः । इतरेतरा-पेक्षसिद्धेः ।

पदा०—(तदभावे) अन्यता के न होने से (अनन्यता) अनन्यता (न) सिद्ध नहीं (अस्ति) होसक्ती, क्योंकि (तयोः) उन दोनों की (इतरेतरापेक्षसिद्धेः) परस्पर अपेक्षा से सिद्धि होती है ।

भाष्य—भेद का नाम "अन्यता" और अभेद=भेदाभाव को "अनन्यता" कहते हैं, यह नियम है कि अभावज्ञान प्रतियोगी-ज्ञान के अधीन होता है, इस नियम के अनुसार जिस प्रकार घटाभाव का ज्ञान घटज्ञान के अधीन है, यों यो कहो कि यदि घट स्वरूप से कोई पदार्थ न होता तो "इह भूतले घटो नास्ति"= इस भूतल में घट का अत्यन्ताभाव है,यह व्यवहार न होता,क्योंकि जो आकाशपुष्पादि अत्यन्तालीक=तुच्छ पदार्थ हैं उनमें घटाभाव की भांति अभावरूप व्यवहार प्रमाणसिद्ध नहीं, इस प्रकार प्रकृत में यदि "अन्यता" कोई पदार्थ न होता तो उसका अभाव प्रमाणसिद्ध न होता अर्थात् भेद पदार्थ के तुच्छ होने पर प्रत्येक पदार्थ के निजरूप का अपने २ स्वरूप में भेदाभाव न माना जाता और नाही उसका ज्ञान अनुभवसिद्ध होता परन्तु ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि "अन्यता" का सर्वथा अभाव नहीं ।

"वात्स्यायनमुनि" ने उक्त सूत्र के आशय को इस प्रकार स्फुट किया है कि "अनन्यादित्येतत्समासपदोऽयं प्रतिषेधेन सह समस्यते यदि चोत्तरपदं नास्ति कस्यायं प्रतिषेधेन सह समासः" न्या० भा०=दूसरे पदार्थ से भेद को उपपादन करते हुए वादी ने अन्यता का प्रतिषेध किया है, वह इसलिये ठीक नहीं कि "अनन्यत्" शब्द ही अपने से भिन्न "अन्य" शब्द का प्रतिपादन करता है अर्थात् "न अन्यत् अनन्यत्"=इस नञ्समास से यह अर्थ उपलब्ध हुआ कि जो अन्य नहो उसको "अनन्यत्" कहते हैं, यदि विग्रहवाक्य में भिन्न-पदार्थवाची "अन्य" शब्द न होता तो प्रतिषेधार्थक "नञ्" पद से किस का प्रतिषेध किया जाता, इस प्रकार अन्य शब्द की अपेक्षा बिना स्वार्थ बोध के लिये "अनन्य" शब्द की प्रवृत्ति न होने से अन्यपदार्थ के प्रतिषेधद्वारा अन्यता का अभाव कथन करना समीचीन नहीं।

सं०-अब पूर्वपक्षी शब्द के नित्यत्व में और हेतु कथन करता है:—

विनाशकारणानुपलब्धेः । ३४ ।

पद०-एकपद० ।

पदा०-(विनाशकारणानुपलब्धेः) विनाश कारण के उपलब्ध न होने से शब्द नित्य है।

भाष्य-"यदनित्यं तस्य नाशः कारणाद्भवति यथा

लोष्टस्य कारणद्रव्यविभागात्" न्या० भा०=यह नियम है कि जो अनित्य है उसका कारण से नाश होता है, इस नियम के अनुसार जिसप्रकार किसी निमित्तद्वारा अवयवों के विभाग से लोष्ट का नाश प्रत्यक्षसिद्ध है इस प्रकार शब्द के नाश का कोई कारण उपलब्ध नहीं होता, यदि उसके नाश का कोई कारण होता तो लोष्ट-ध्वंस के कारण की भांति अवश्य उपलब्ध होता पर नहीं होता, इससे सिद्ध है कि शब्द नित्य है।

सं०—अब उक्त अर्थ में "प्रतिबन्दी" तर्क कथन करते हैं:—

अश्रवणकारणानुपलब्धेः सतत-श्रवणप्रसङ्गः । ३५ ।

पद०—अश्रवणकारणानुपलब्धेः। सततश्रवणप्रसङ्गः।

पदा०—(अश्रवणकारणानुपलब्धेः) अश्रवण कारण के उपलब्ध न होने से (सततश्रवणप्रसङ्गः) निरन्तर श्रवण की आपत्ति होगी।

भाष्य—श्रोत्रज साक्षात्कार का नाम "**श्रवण**" और उसके अभाव को "**अश्रवण**" कहते हैं, अश्रवण तथा श्रवणाभाव यह दोनों पर्याय शब्द हैं, यदि नाश कारण के उपलब्ध न होने से शब्द को नित्य मानाजाय तो श्रवणाभाव कारण के उपलब्ध न होने से शब्द का निरन्तर श्रोत्रज साक्षात्कार होना चाहिये, क्योंकि कारण की अनुपलब्धि दोनों पक्षों में समान पाई जाती है, यदि यह कहा जाय कि अभिव्यञ्जक कारण के न होने से विद्यमान होने पर भी

शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय नहीं ? इसका उत्तर यह है कि शब्दाभिव्यञ्जक कारण में कोई प्रमाण नहीं पायाजाता और संयोग रूप अभिव्यञ्जक मानें तो उसका पीछे प्रतिषेध कर आये हैं,इसलिये नाश कारण की अनुपलब्धि शब्द के नित्य होने में हेतु नहीं होसक्ती ।

सं०—अब वादी के हेतु को हेत्वाभास कथन करते हैं :—

उपलभ्यमानेचानुपलब्धेरसत्वादनपदेशः । २६ ।

पद०—उपलभ्यमाने । च । अनुपलब्धेः । असत्वात् । अनपदेशः ।

पदा०—(च) और (उपलभ्यमाने) नाशकारण के उपलब्ध होने से (अनुपलब्धेः) अनुपलब्धि का (असत्वात्) अभाव है, इसलिये (अनपदेशः) उक्त हेतु ठीक नहीं ।

भाष्य—जो शब्द के नित्य होने में "विनाशकारणानुपलब्धेः" हेतु कथन किया है वह "स्वरूपासिद्ध" होने से शब्दगत नित्यत्व का साधक नहीं, क्योंकि अनुमानद्वारा उसके नाश की उपलब्धि पाई जाती है अर्थात् "यत्र जन्यभावत्वं तत्रानित्यत्वम्"= जो भावपदार्थ जन्य है वह अनित्य होता है, इस व्याप्तिनियम के अनुसार घटादि की भांति जन्य भाव होने के कारण शब्द अनित्य=विनाशी है, इसप्रकार अनुमानद्वारा शब्दध्वंसरूप कार्य्य से उसके कारण का अनुमान होसक्ता है, इसलिये उक्त हेतु ठीक नहीं, शब्द के उत्पत्ति विनाश का प्रकार विस्तारपूर्वक "वैशेषिका-

र्थभाष्य" में लिखा है, यहां ग्रन्थगौरवभय से पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं।

सं०—अब शब्द नाश का कारण कथन करते हैं:—

पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दा-भावे नानुपलब्धिः। ३७।

पद०—पाणिनिमित्तप्रश्लेषात्। शब्दाभावे। न। अनुपलब्धिः।

पदा०—(पाणिनिमित्तप्रश्लेषात्) पाणिरूप निमित्त के संयोग द्वारा (शब्दाभावे) शब्द का अभाव होने से (अनुपलब्धिः) उसके नाश कारण की अनुपलब्धि (न) नहीं होती।

भाष्य—अभिघातद्वारा कांस्यादि पात्र से शब्दसन्तान के होने पर पात्र के साथ पाणि=हाथ का संयोग होने से शब्द की निवृत्ति सर्वानुभवसिद्ध है अर्थात् उक्त शब्दध्वंस का पाणिपात्र संयोग ही कारण है, इसलिये शब्द के कारण की अनुपलब्धि नहीं प्रत्युत नाशकारण के पाये जाने से उसकी अनित्यता निराबाध सिद्ध होती है।

कई एक "आचार्य्य" इस सूत्र को इस प्रकार लापन करते हैं कि "पाणिनिमित्तस्य प्रश्लेषो नाम सम्बन्धो यत्र स पाणिनिमित्तप्रश्लेषः=पाणिजः शब्द उत्तरशब्द इति यावत् ततः शब्दाभावे=शब्दध्वंसे सति न विनाशकारणानुपलब्धिरिति"=जिसमें पाणिरूप निमित्त का सम्बन्ध हो उसको "पाणिनिमित्तप्रश्लेष" कहते हैं; इस बहुव्रीहि समास से यह अर्थ

उपलब्ध हुआ कि पाणिज=उत्तरशब्द में पूर्वशब्द का नाश होने पर नाशकारण की अनुपलब्धि कथन करना सर्वथा असङ्गत है।

और कईयों का कथन है कि घंटादि वस्तुओं का वेग-नामक संस्कारविशेष शब्द की उत्पत्ति में कारण है, इसलिये वेग की तीव्रता, मन्दता के कारण शब्द के तीव्र, मन्द आदि नाना भेद होजाते हैं और उनमें पूर्व२ शब्द उत्तरोत्तर शब्द का नाशक होता है, इसपर पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त संस्कार के होने में कोई प्रमाण नहीं, जिसका समाधान इस सूत्र से इस प्रकार किया गया है कि पाणिरूप निमित्त का घंटादि के साथ संयोग होने से उक्त संस्कार के अभावद्वारा शब्द का अभाव होता है, इसलिये शब्दजनक वेगात्मक संस्कार की अनुपलब्धि नहीं अर्थात् घण्टा आदि के साथ हाथ लगाने से उस वेग का स्पार्शनिक अनुभव प्रत्यक्षसिद्ध है।

सं०—अब "शब्दनित्यत्ववादी" के मत में और दोष कथन करते हैं:—

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ॥ २८ ॥

पद०—विनाशकारणानुपलब्धेः। च। अवस्थाने। तन्नित्यत्व-प्रसङ्गः।

पदा०—(च) और (विनाशकारणानुपलब्धेः) नाश-कारण के उपलब्ध न होने से (अवस्थाने) शब्द के स्थिर होने पर

(तन्नित्यत्वप्रसङ्गः) उसकी अभिव्यक्ति में नित्यत्व की आपत्ति होगी।

भाष्य-जिसके नाश का कारण उपलब्ध नहीं वह स्थिर होने से नित्य होता है यदि यही मानाजाय तो जिसप्रकार नाशकारण की अनुपलब्धि से शब्द को नित्य कथन किया है इसी प्रकार शब्द नित्यत्ववादी के मत में शब्दज्ञानरूप शब्दाभिव्यक्ति भी नित्य होनी चाहिये, क्योंकि शब्द के नाशकारण की भांति शब्दाभिव्यक्ति के नाश का कारण भी कोई उपलब्ध नहीं होता।

भाव यह है कि जैसे वादी के मत में नाशकारण के उपलब्ध न होने पर भी शब्द की अभिव्यक्ति नित्य नहीं, क्योंकि शब्द का सर्वदा प्रत्यक्ष नहीं पायाजाता वैसे ही उक्त कारण के उपलब्ध न होने पर भी शब्द के अनित्यत्व में कोई बाधा नहीं।

सं०-ननु, यदि शब्द घंटा आदि द्रव्यों के साथ पाणिसंयोग से नष्ट होजाय तो वह उन्हीं के आश्रित होना चाहिये आकाशाश्रित नहीं? उत्तरः—

अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः। ३९।

पद०-अस्पर्शत्वात्। अप्रतिषेधः।

पदा०-(अस्पर्शत्वात्) शब्द का आश्रय स्पर्शरहित होने से (अप्रतिषेधः) उक्त कथन ठीक नहीं।

भाष्य-शब्द स्पर्शरहित द्रव्य के आश्रित होता है अर्थात् घंटा आदि द्रव्य स्पर्श वाले होने के कारण शब्द के उपादान कारण नहीं होसक्ते, या यों कहो कि घंटा आदि पृथिव्यादि द्रव्यों के कार्य्य होते हैं और पृथिव्यादि चारो स्पर्शवाले हैं, यदि शब्द उनके

आश्रित होता तो गन्धादि गुणों के समान उसकी सर्वत्र पृथिव्यादि कार्य्यों में उपलब्धि होती पर नहीं होती, इससे सिद्ध है कि वह स्पर्शवालों का विशेषगुण नहीं किन्तु स्पर्शरहित आकाश का ही विशेषगुण है, इसी अभिप्राय से महर्षि " कणाद " का कथन है कि " कार्य्यान्तराप्रादुर्भावाच्छब्दः स्पर्शवतामगुणः " वै० २।१।२५=शब्द पृथिव्यादि द्रव्यों का गुण नहीं, क्योंकि वह उनके सब कार्य्यों में नहीं पायाजाता, इसका विस्तारपूर्वक निरूपण "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में किया है, इसलिये यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :—

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे।४०।

पद०—विभक्त्यन्तरोपपत्तेः। च। समासे।

पदा०—(च) और (समासे) शब्द स्पर्शादि समुदाय में नहीं रहता, क्योंकि (विभक्त्यन्तरोपपत्तेः) उसका तारतम्य पाया जाता है।

भाष्य—शब्द स्पर्शादिसमुदाय के समान अधिकरण में नहीं रहता, क्योंकि अग्निसंयोग के विना ही उसका तारतम्य=तीव्र मन्दादि विभाग पाया जाता है अर्थात् एक शंखादि के वजाने से अग्निसंयोग के विना भी शब्द के तीव्र, तीव्रतर मन्द, मन्दतर भेद उपलब्ध होते हैं यदि शब्द स्पर्शादि गुणों का सहचारी होता तो अग्निसंयोग के विना कदापि उसमें न्यूनाधिकभाव न पाया जाता

पर उक्त रीति से शब्द का तारतम्य सर्वसम्मत है, इससे सिद्ध है कि वह स्पर्शादि गुणों का सहचारी नहीं, अतएव उसको घंटादि स्पर्शवाले द्रव्यों के आश्रित कथन करना ठीक नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि पृथिव्यादि के गन्धादि गुण सब कार्य्यों में समान उत्पन्न होते हैं उनका कहीं तारतम्य नहीं और वह "यावद्द्रव्यभावी"=द्रव्य की स्थितिपर्य्यन्त बने रहते हैं, वैसे शब्द नहीं, शब्द मन्द, मन्दतरादि भेद से तारतम्य वाला तथा "अयावद्द्रव्यभावी" है, इसलिये गन्धादि गुणों से विपरीत होने के कारण वह पृथिव्यादि द्रव्यों के कार्य्यभूत घंटादि पदार्थों के आश्रित नहीं।

स्मरण रहे कि वर्णात्मक तथा ध्वन्यात्मक भेद से शब्द दो प्रकार का है, कण्ठताल्वादि अभिघातजन्य का नाम "वर्णात्मक" और भेरी दण्डादि संयोगजन्य को "ध्वन्यात्मक" कहते हैं, इस विषय का विस्तार "वैशेपिकार्य्यभाष्य" में स्पष्ट है।

सं०—अब "शब्दपरिणामवाद" का खण्डन करने के लिये प्रथम उसमें संशय कथन करते हैं:—

विकारादेशोपदेशात्संशयः । ४१ ।

पद०—विकारादेशोपदेशात्। संशयः।

पदा०—(विकारादेशोपदेशात्) विकार तथा आदेश का उपदेश पाये जाने से (संशयः) दोनों पक्षों में सन्देह है।

भाष्य-"इकोयणचि" अष्टा० ६।१।७७ इत्यादि उपदेश=विधिसूत्रों में कई एक आचार्य्य यकारादि वर्णों को इकारादि वर्णों का विकार=परिणाम कथन करते हैं, और दूसरे आचार्य्य इकारादि वर्णों के उच्चारणप्रसङ्ग में यकारादि वर्णों का प्रयोग मानते हैं, इस प्रकार दो कोटियों की उपस्थिति से यह संशय होता है कि शब्द का विकार होता है किंवा आदेश होता है ? पूर्व अवस्था के परित्यागपूर्वक अवस्थान्तर की प्राप्ति का नाम "विकार" और एक के स्थान पर दूसरे प्रतिनिधि का नाम "आदेश" है, विकार, परिणाम यह दोनों और आदेश तथा प्रतिनिधि यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं।

"वृत्तिकार" का कथन है कि "स्वरूपस्यविनाशेऽविनाशे द्रव्यारम्भकत्वं विकारः"=स्वरूप=प्रथमरूप के नाश होने वा न होने पर द्रव्यान्तर के आरम्भ का नाम "विकार" है अर्थात् विकाररूप कार्य्य किसी स्थल में समवायिकारण के स्वरूप का नाश होने पर उत्पन्न होता है, जैसाकि बीजोपमर्द=बीज का स्वरूप नाश होने से वृक्ष की उत्पत्ति "विकार" कहाता है, और किसी स्थल में समवायिकारण का स्वरूप बना रहने पर भी कार्य्य "विकार" कहाता है, जैसाकि घटादि कार्य्यों में प्रसिद्ध है, क्योंकि घटादि कार्य्यों में कपालादि समवायिकारण के स्वरूप का उपमर्द नहीं होता।

सं०-अब "विकारवादी" के मत में दोष कथन करते हैं:—

प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धेः । ४२ ।

पद०—प्रकृतिविवृद्धौ । विकारविवृद्धेः ।

पदा०—(प्रकृतिविवृद्धौ) प्रकृति की अधिकता से (विकारविवृद्धेः) विकार अधिक होने के कारण यकारादि शब्द विकार नहीं ।

भाष्य—उपादान कारण का नाम "प्रकृति" है, प्रकृत में प्रकृति, उपादानकारण तथा समवायिकारण यह तीनों एकार्थवाची हैं, विकारों में प्रकृति का अन्वय नियम से होता है जैसाकि छोटे कपालों से बने हुए घट की अपेक्षा बड़े कपालों से बना हुआ घट महान् होता है इस प्रकार यदि "वर्णात्मक" शब्द विकार होता तो ह्रस्वइकार से उत्पन्न हुए यकार की अपेक्षा दीर्घइकार से उत्पन्न हुआ यकार भी दीर्घ होता अर्थात् व्याकरण प्रसिद्ध यकार कारणभूत इकार के अठारह भेदों से उसके विकारभूत यकारों के भी अठारह भेद पाये जाते परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध है कि शब्द विकार नहोने से "शब्दपरिणामवाद" का मानना समीचीन नहीं ।

भाव यह है कि शब्द गुण होने से कार्य्यभूत शब्द का उपादानकारण नहीं होसकता, इसलिये यकारादि वर्णों को इकारादि वर्णों का विकार मानना ठीक नहीं ।

सं०—अब "विकारवादी" उक्त अर्थ में आक्षेप करता है :—

न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकाराणामहेतुः । ४३ ।

पद०—न्यूनसमाधिकोपलब्धेः । विकाराणां । अहेतुः ।

पदा०-(अहेतुः) उक्त हेतु ठीक नहीं, क्योंकि (विकाराणां) विकारों का न्यूनाधिकभाव पाया जाता है।

भाष्य-प्रकृति का न्यूनाधिकभाव विकारों के न्यूनाधिक होने में हेतु नहीं होसक्ता, क्योंकि तूल=रुई कारण की अपेक्षा तत्कार्य्य तन्तु अल्पपरिमाणक=छोटे और सुवर्णादि कारण से उत्पन्न हुए कटक कुण्डलादि कार्य्य अपने कारण के समान परिमाण वाले पाये जाते हैं, इस प्रकार नारियल बीज की अपेक्षा वहुत ही छोटे वटबीज से नारियलवृक्ष की अपेक्षा महान् वटवृक्ष तथा वटबीज की अपेक्षा बड़े नारियलबीज से छोटे वृक्ष की उत्पत्ति सर्वानुभव सिद्ध है, इससे स्पष्ट है कि प्रकृति की न्यूनता किंवा अधिकता कार्य्य के न्यूनाधिकभाव की नियामक नहीं, इसलिये उक्त नियम न होने से वर्णात्मक शब्द को विकार मानना ही ठीक है।

सं०-अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं:-

नातुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् । ४४ ।

पद०-न । अतुल्यप्रकृतीनां । विकारविकल्पात् ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (अतुल्यप्रकृतीनां) विलक्षण प्रकृति से उत्पन्न हुए (विकारविकल्पात) विकारों की विलक्षणता पाई जाती है।

भाष्य-कारण की विलक्षणता से कार्य्य की विलक्षणता होती है, इस नियम के अनुसार जिस प्रकार कपाल, तन्तु आदि विलक्षण कारणों से घट पटादि विलक्षण कार्य्य की उत्पत्ति होती है इसी

प्रकार ह्रस्व दीर्घादि इकार से यकाररूप कार्य्य में भी विलक्षणता होनी चाहिये परन्तु नहीं होती प्रत्युत अठारह प्रकार के इकार का कार्य्यरूप यकार समान ही पाया जाता है, इसलिये यकार में विलक्षणता न पाये जाने से वह इकार का विकार नहीं किन्तु आदेश है।

भाव यह है कि "यथाऽनुडुहः स्थानेऽश्वो वोढुं नियुक्तो न तद्विकारो भवति एवमिवर्णस्य स्थाने यकारः प्रयुक्तो न विकार इति" न्या० भा०=जिस प्रकार भार उठाने के लिये बैल के स्थान पर नियुक्त किया हुआ अश्व उसका विकार नहीं होता इसी प्रकार इवर्ण के स्थान पर यकार का प्रयोग करने से वह इकार का विकार नहीं, और जो छोटे बड़े बीज से बड़े छोटे वृक्ष का दृष्टान्त देकर प्रकृति से कार्य्य के न्यूनाधिक भाव में व्यभिचार कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि सिद्धान्ती का तात्पर्य्य भिन्न २ प्रकृति से भिन्न २ कार्य्य की उत्पत्ति में है, छोटे बड़े बीज से बड़े छोटे वृक्ष की उत्पत्ति में नहीं, वस्तुतः नारियल तथा वटबीज से होने वाले वृक्षरूप कार्य्य में भी कारणविलक्षणता से ही कार्य्य की विलक्षणता पाई जाती है इसलिये वादी का कथन केवल उपचारच्छल है।

सं०—अब पूर्वपक्षी अपने पक्ष की पुष्टि में दृष्टान्त कथन करता है:—

द्रव्यविकारवैषम्यवद्वर्णविकारविकल्पः ।४५।

पद०—द्रव्यविकारे । वैषम्यवत् । वर्णविकारविकल्पः ।

पदा०—(द्रव्यविकारे) द्रव्य के विकार में (वैषम्यवत्) विलक्षणता की भांति (वर्णविकारविकल्पः) वर्णविकार का भेद है।

भाष्य—जिस प्रकार नारियल वटबीजादि कारणों में द्रव्यत्व धर्म्म के समान होनें पर भी उनके वैषम्य=न्यूनाधिकभाव होते हैं इसी प्रकार ह्रस्व, दीर्घ इकारादि वर्णों में वर्णत्व धर्म्म के समान होने पर भी तत्कार्य्यभूत यकार में तत्तद्व्यक्तित्व=भिन्न २ व्यक्तिरूप धर्म से विलक्षणता होने में कोई अनुपपत्ति नहीं अर्थात् द्रव्यत्वधर्म्म से एकता=समानता और वटत्वादि विशेष धर्मों से विलक्षणता की भांति इवर्ण के विकारभूत यकारों में यकारत्व धर्म्म से एकता और तत्तद्व्यक्तित्व धर्म्म से विलक्षणता पाई जाती है, इसलिये विकारवाद में भी कारण से कार्य्य विलक्षणता के नियम का व्यभिचार नहीं होसक्ता ।

सं०—अब उक्त पक्ष का खण्डन करते हैं :—

न विकारधर्म्मानुपपत्तेः । ४६ ।

पद०—न । विकारधर्म्मानुपपत्तेः ।

पदा०—(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (विकारधर्म्मानुपपत्तेः) यकारादि वर्णों में विकार धर्म्म नहीं पाया जाता ।

भाष्य—वर्णविकारसिद्धि के लिये उक्त द्रव्य सम्बन्धी कार्य्य का दृष्टान्त सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि द्रव्यविकारों की भांति वर्णविकारों में कारण का अन्वय नहीं पाया जाता अर्थात् जैसे मृत्पिण्डादि कारणों का घटादि कार्य्यों में मृद्रूप से

अवयवान्तर का व्यूह=रचना विशेष पाई जाती है वैसे यकारादि विकारों में इकारादि वर्णों का अन्वय नहीं होता, यदि द्रव्यविकार की भांति वर्णविकार में "अन्वयान्वयिभाव" होता तो ह्रस्व, दीर्घ इकार से उत्पन्न हुए यकार में भी ह्रस्वत्व, दीर्घत्व धर्म्म उपलब्ध होते परन्तु ह्रस्वत्व, दीर्घत्व धर्म्मवाले इकारों का परस्पर भेद होने पर भी यकारों का भेद नहीं होता, इससे सिद्ध है कि यकारादि वर्ण विकार नहीं, और जो व्यक्तिभेद से यकारों का भेद कथन करके दृष्टान्त उपपादन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि व्यक्तिभेद तो ह्रस्व इकारों का भी पाया जाता है अर्थात् एक ह्रस्व इकार व्यक्तिरूप से नाना हैं और तत्तत् इकारव्यक्तिद्वारा यकारव्यक्ति का भेद होने पर भी ह्रस्वत्व, दीर्घत्व धर्मवाले इकार से उत्पन्न हुए यकार का कोई भेद उपलब्ध नहीं होता, इसप्रकार वर्णविकार की उपपत्ति के लिये द्रव्यविकार का दृष्टान्त समीचीन नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

विकारप्राप्तानामपुनरावृत्तेः । ४७ ।

पद०-विकारप्राप्तानां । अपुनरावृत्तेः ।

पदा०-(विकारप्राप्तानां) विकारों की (अपुनरावृत्तेः) पुनरावृत्ति न होने से वर्ण विकार नहीं होसकते।

भाष्य-जो पदार्थ विकार को प्राप्त होता है वह पुनः कारण रूप से परिणत नहीं होता, जैसाकि दुग्ध से उत्पन्न हुआ दधि पुनः दुग्धरूप नहीं होता, प्रकृत में वक्ता की इच्छा

के अनुसार इकार कभी यकार रूप तथा यकार कभी इकार रूप को प्राप्त होजाता है अर्थात् "दधि×अत्र" इस संहिता वाक्य में एकवार इकार के स्थान पर "दध्यत्र" इस प्रकार यकार का प्रयोग करने पर भी पुनः "दधि×अत्र" ऐसा प्रयोग वक्ता की इच्छा पर निर्भर है यदि दधि की भांति यकार इकार का विकार होता तो वक्ता की इच्छा से पुनः इकार रूप को कदापि प्राप्त न होता, क्योंकि सहस्रवार इच्छा करने पर भी दधि पुनः दुग्ध रूप से नहीं देखाजाता परन्तु वर्णों में "दधि" आदि विकारों से विपरीत नियम पाया जाता है, इससे स्पष्ट है कि वह विकाररूप नहीं ।

सं०—अब पूर्वपक्षी पुनः आक्षेप करता है :—

सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ॥ ४८ ॥

पद०—सुवर्णादीनां । पुनरापत्तेः । अहेतुः ।

पदा०—(अहेतुः) उक्त हेतु ठीक नहीं, क्योंकि (सुवर्णादीनां) सुवर्णादिकों की (पुनरापत्तेः) पुनरावृत्ति पाई जाती है ।

भाष्य—"सुवर्णं हि कुण्डलत्वं हित्वा कटकत्वमापद्यते कटकत्वं हित्वा पुनः कुण्डलत्वमापद्यते एवमिकारोऽपि यकारत्वमापन्नः पुनरिकारो भवतीति" न्या० भा०=जैसे सुवर्ण कुण्डलस्वरूप के त्यागपूर्वक कटक=कड़ा और पुनः कटक स्वरूप को त्यागकर कुण्डल होजाता है, इसी प्रकार इकार यकार-भाव को त्यागकर पुनः वक्ता की इच्छा से इकाररूप होसक्ता है,

इसलिये सुवर्णादि में व्यभिचार पाये जाने से "अपुनरापत्तेः" हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास होने के कारण विकाराभाव का साधक नहीं।

सं०—अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं:—

तद्विकाराणां सुवर्णभावाव्यतिरेकात्॥ ४९॥

पद०—तद्विकाराणां। सुवर्णभावाव्यतिरेकात्।

पदा०—(तद्विकाराणां) सुवर्ण के विकार (सुवर्णभावाव्यतिरेकात्) सुवर्णरूप होने के कारण उक्त दृष्टान्त ठीक नहीं।

भाष्य—सुवर्ण के विकारभूत कुण्डल कटकादि का दृष्टान्त इसलिये ठीक नहीं कि कटकादि का कारण सुवर्ण है कुण्डलादि नहीं और कटकादि के कारण कुण्डलादिकों अथवा उनके कार्य्यभूत कटकादिकों में सुवर्णत्वधर्म का परित्याग नहीं होता किन्तु उक्त धर्म कुण्डलकटकादिकों में समान रूप से अनुगत पाया जाता है,अतएव कुण्डल से कटक और कटक से कुण्डल होने में कोई बाधा नहीं, प्रकृत में इकारत्व धर्म के त्यागपूर्वक यकारत्व धर्म को प्राप्त होकर यकार पुनः इकारत्व धर्म को प्राप्त होता है यह प्रसिद्ध है, इसी अभिप्राय से "वात्स्यायनमुनि" का कथन है कि "अवस्थितं सुवर्णं हीयमानेन उपजायमानेन धर्मेण धर्मि भवति नचैवं कश्चिच्छब्दात्मा हीयमानेन इत्वेन उपजायमानेन यत्वेन धर्मी गृह्यते तस्मात्सुवर्णोदाहरणं नोपपद्यत इति" न्या० भा०=जिस प्रकार स्वरूप में

अवस्थित हुआ सुवर्ण कुण्डल कटकादि कार्य्यों की उत्पत्ति और विनाश का धर्मी=अधिष्ठान होता है अर्थात् एक ही सुवर्णपिण्ड कभी कुण्डल,कभी कटकभाव का ग्रहण करता हुआ पुनः पिण्डाकृति होजाता है इस प्रकार इकारत्व धर्म के नाशपूर्वक यकारत्व धर्म की उत्पत्ति का अधिष्ठान कोई शब्द नहीं जिससे वर्णविकारपक्ष में सुवर्ण का दृष्टान्त सङ्गत होसके।

सं०—अब पूर्वपक्षी स्वमत में उक्त दृष्टान्त की उपपत्ति कथन करता है :—

वर्णत्वाव्यतिरेकाद्वर्णविकारा-णामप्रतिषेधः। ५०।

पद०—वर्णत्वाव्यतिरेकात्। वर्णविकाराणां। अप्रतिषेधः।

पदा०—(वर्णत्वाव्यतिरेकात्) वर्णत्वधर्म के समान पाये जाने से (वर्णविकाराणां) वर्णों के विकार का (अप्रतिषेधः) प्रतिषेध नहीं होसक्ता।

भाष्य—जिस प्रकार सुवर्णत्व धर्म्म का कार्य्यकारण में समान अनुगम पाया जाता है इसी प्रकार इकार यकारादि वर्णों में वर्णत्व धर्म्म के समान होने से उक्त दृष्टान्त का प्रतिषेध नहीं होसक्ता अर्थात् कुण्डल कटकादि सुवर्णविकारों की भांति यकारादि वर्णों को विकार मानना ही ठीक है।

सं०—अब उक्त उपपत्ति का निराकरण करते हैं :—

सामान्यवतो धर्म्मयोगो न

सामान्यस्य । ५१ ।

पद०—सामान्यवतः । धर्मयोगः । न । सामान्यस्य ।

पदा०—(सामान्यवतः) कुण्डलादि धर्मवाले सुवर्ण के साथ (धर्मयोगः) कारणता का सम्बन्ध है (सामान्यस्य) कुण्डलादि के साथ (न) नहीं ।

भाष्य—कुण्डल से परिणत हुए कटक का सुवर्ण कारण है कुण्डल नहीं अर्थात् कटकादि कार्य्यों के प्रति सुवर्ण सुवर्णत्वधर्म से कारण होता है कुण्डलत्वादिरूप से नहीं, क्योंकि कुण्डलत्वादिधर्म कार्य्य अथवा कारणावस्था में ज्यों का त्यों नहीं बना रहता, और सुवर्ण का सब अवस्थाओं में समान अन्वय पाया जाता है, इस प्रकार प्रकृत में वर्णत्वधर्म से इकार यकार का कारण नहीं किन्तु इकार इकारत्वधर्म से यकार का कारण माना गया है, यदि यकार इकार का विकार होता तो जैसे सुवर्णविकारभूत कुण्डल कटकावस्था में सुवर्णत्वधर्म का परित्याग नहीं करते वैसे ही इकारात्मक वर्ण का विकारभूत यकार भी यकारावस्था में इकारत्वधर्म का परित्याग न करता परन्तु यकारावस्था में इकारत्वधर्म नहीं पाया जाता, इससे स्पष्ट है कि यकार इकार का विकारभूत नहीं और नाही उसकी उपपत्ति के लिये सुवर्ण का दृष्टान्त उपकारी होसक्ता है, इसलिये आदेशपक्ष ही समीचीन है ।

सं०—अब वर्णविकारपक्ष की बाधक और युक्ति कथन करते हैं :—

नित्यत्वेऽविकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ।५२।

पद०—नित्यत्वे। अविकारात्। अनित्यत्वे। च। अनवस्थानात्।

पदा०—(नित्यत्वे) नित्यपक्ष में (अविकारात्) विकार न होने से (च) और (अनित्यत्वे) अनित्यपक्ष में (अनवस्थानात्) अवस्थिति न होने से वर्णों का विकार नहीं होसक्ता।

भाष्य—वर्णविकारवादी से प्रष्टव्य है कि शब्द नित्य है किंवा अनित्य ? यदि शब्द नित्य मानाजाय तो विकार का होना सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि कूटस्थ नित्य में किसी प्रकार का विकार नहीं होता, जैसाकि आत्मादिक द्रव्यों में विकार का अभाव स्पष्ट है, और अनित्यपक्ष में शब्द की अवस्थिति न होने से विकार की सम्भावना ही नहीं होसक्ती अर्थात् शब्द प्रथमक्षण में उत्पन्न और दूसरे क्षण में प्रत्यक्ष होकर नष्ट होजाता है, इसलिये नष्ट हुए शब्द से विकाररूप शब्दान्तर की उत्पत्ति केवल कथनमात्र है वस्तुतः नहीं।

भाव यह है कि नित्यपक्ष में इकार तथा यकार दोनों के नित्य होने से परस्पर विकारविकारिभाव और अनित्यपक्ष में यकारोत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में नष्ट हुए इकार का यकार के साथ उत्पाद्योत्पादकभाव न बनसकने से विकारवाद की सर्वथा अनुपपत्ति है, अतएव यकारादि वर्णों को विकार मानना ठीक नहीं।

सं०—अब विकारवादी नित्यपक्ष में उक्त दोष का परिहार करता है:—

नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकाराणामप्रतिषेधः । ५३ ।

पद०—नित्यानाम् । अतीन्द्रियत्वात् । तद्धर्मविकल्पात् । च । वर्णविकाराणां । अप्रतिषेधः ।

पदा०—(वर्णविकाराणां) वर्णों के विकार का (अप्रतिषेधः) प्रतिषेध नहीं होसक्ता, क्योंकि (नित्यानां) नित्यपदार्थों के (अतीन्द्रियत्वात्) अतीन्द्रियत्व (च) और ऐन्द्रियकत्व धर्म की भांति (तद्धर्मविकल्पात्) उनमें धर्म भेद पाया जाता है ।

भाष्य—जिसका इन्द्रिय से ग्रहण हो उसका नाम "ऐन्द्रियक" और तद्वृत्ति धर्म्म को "ऐन्द्रियकत्व" कहते हैं, नित्य पदार्थों में होने वाले अतीन्द्रियत्व, ऐन्द्रियकत्व धर्म की भांति विकारित्व तथा अविकारित्व धर्म का भेद पायाजाता है, इसलिये उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं अर्थात् जैसे नित्य पदार्थों के मध्य कई एक आकाशादि पदार्थ "अतीन्द्रिय" और दूसरे गोत्व, अश्वत्वादि जाति रूप पदार्थ "ऐन्द्रियक" होते हैं वैसे ही आत्मादि नित्य पदार्थों में विकार न होने पर भी नित्य वर्णों में यकारादि विकार भेद होसक्ता है, अतएव नित्यपक्ष में वर्ण विकार की कोई अनुपपत्ति नहीं ।

भाव यह है कि सब नित्यपदार्थ एक स्वभाव वाले हों यह नियम नहीं, क्योंकि गोत्वादि नित्यपदार्थों का प्रत्यक्ष और आकाशादि पदार्थों का प्रत्यक्षाभाव पाया जाता है, इसलिये शब्द के नित्यपक्ष में विकारानुपपत्ति का कथन करना आग्रहमात्र है ।

सं०—अब विकारवादी शब्द के अनित्यपक्ष में विकार का उपपादन करता है :—

अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत्तद्विकारोपपत्तिः । ५४ ।

पद०—अनवस्थायित्वे । च । वर्णोपलब्धिवत् । तद्विकारोपपत्तिः ।

पदा०—(च) और अनवस्थित होने पर भी (वर्णोपलब्धिवत्) वर्णोपलब्धि की भांति (तद्विकारोपपत्तिः) वर्णविकार की उपपत्ति होसक्ती है ।

भाष्य—प्रकृत में दो क्षण पर्य्यन्त रहने वाले का नाम " अनवस्थायी " है, अनवस्थायी और अनवस्थित यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, जिस प्रकार शब्द के अनवस्थित होने पर भी वर्णात्मक शब्द की उपलब्धि=श्रोत्रज साक्षात्कार होता है इसी प्रकार अनवस्थित शब्द से यकारादि विकाररूप कार्य्य की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं ।

सं०—अब सिद्धान्ती उक्त प्रतिषेध का परिहार करता है :—

विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात्कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चाप्रतिषेधः । ५५ ।

पद०—विकारधर्मित्वे । नित्यत्वाभावात् । कालान्तरे । विकारोपपत्तेः । च । अप्रतिषेधः ।

भाष्य—(विकारधर्मित्वे) विकाररूप धर्म के होने पर (नित्यत्व

भावात्) नित्यता के न होने से (च) और (कालान्तरे) कालान्तर में (विकारोपपत्तेः) विकार के पाये जाने से (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य—पूर्व अवस्था के परित्यागपूर्वक रूपान्तर की प्राप्तिरूप विकार नित्यपदार्थों में नहीं पाया जाता, क्योंकि वह कूटस्थ एकरस बने रहते हैं, इसलिये नित्यपक्ष में वर्णविकार की उपपत्ति नहीं होसक्ती और अनित्यपक्ष में इसलिये नहीं होसक्ती कि शब्द दो क्षण पर्य्यन्त स्थित होकर तृतीयक्षण में नष्ट होजाता है, और जो यह कथन किया है कि द्वितीयक्षण में इकारादि शब्द के प्रत्यक्ष की भांति उसके यकारादि विकार होने में कोई बाधा नहीं ? इसका उत्तर यह है कि दूसरे क्षण में शब्दप्रत्यक्ष का नियम होने पर भी विकार का नियम नहीं होसक्ता, क्योंकि विकार में प्रायः अधिक समय की अपेक्षा है, जैसाकि दुग्धादि से दधि आदि विकारों में प्रसिद्ध है, यदि दुराग्रहवशात् मान भी लियाजाय कि सर्वत्र विकारो में अधिक समय की अपेक्षा प्रमाणसिद्ध नहीं तो भी वादी की इष्टसिद्धि नहीं होसक्ती, क्योंकि जब "दधि" शब्द के अनन्तर "अत्र" शब्द का उच्चारण किया जाता है तो इकार के न रहने पर यकाररूप विकार किसका होगा, इस प्रकार नष्ट कारण द्वारा विकार न बनसकने से नित्यानित्य दोनों पक्षों में विकार का कथन करना केवल साहसमात्र है।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

प्रकृत्यनियमाद्वर्णविकाराणाम् । ५६ ।

पद०—प्रकृत्यनियमात् । वर्णविकाराणाम् ।

पदा०—(वर्णविकाराणां) वर्ण विकारों की (प्रकृत्यनियमात्) प्रकृति का नियम न होने से विकारपक्ष ठीक नहीं ।

भाष्य—जहां पदार्थों का परस्पर "विकारविकारिभाव" होता है वहां यह नियम है कि उपादान कारण कार्य्य तथा कार्य्य उपादान कारण नहीं होता परन्तु वर्णविकारों में उक्त नियम का व्यभिचार पाया जाता है, जैसाकि "दध्यत्र" इत्यादि प्रयोगों में यकार का उपादान कारण इकार और "विध्यति" आदि प्रयोगों में इकार का उक्त कारण यकार है, क्योंकि यहां ताडनार्थक "व्यध" धातु के यकार को "ग्रहिज्या-वयिव्यधि०" अष्टा० ६।१।१६ इस पाणिनि सूत्र से इकाररूप सम्प्रसारण किया जाता है सो यदि वर्णों में विकारभाव होता तो उक्त नियम का व्यभिचार न होता पर होता है, इससे स्पष्ट है कि वर्णात्मक शब्द विकाररूप नहीं किन्तु आदेश हैं ।

भाव यह है कि दुग्ध दधि का उपादान और दधि उसका विकार है परन्तु दधि का विकार दुग्ध कदापि नहीं होता, इस प्रकार यदि यकार इकार का विकार होता तो यकार को इकार की प्राप्ति न होती और "विध्यति" आदि शब्दों में यकार से इकार की प्राप्ति देखी जाती है, इसलिये वर्णविकार पक्ष आदरणीय नहीं ।

सं०—अब "छलवादी" आशंका करता है :—

अनियमे नियमान्नानियमः । ५७ ।

पद०—अनियमे। नियमात्। न। अनियमः।

पदा०—(अनियमे) अनियम में (नियमात्) नियम पाये जाने से (अनियमः) नियम का अभाव (न) नहीं।

भाष्य—जो वर्णविकार पक्ष में उपादानरूप से कार्य्यकारणभाव का अनियम कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि "अनियम" भी एकप्रकार से "नियम" होसक्ता है अर्थात् जैसे दुग्ध से दधि का नियम है वैसे इकार से यकार और यकार से इकार होने का भी सूत्रों द्वारा नियम पाया जाता है, इसलिये नियम का प्रतिषेध करना ठीक नहीं।

सं०—अब उक्त कथन का समाधान करते हैं:—

नियमानियमविरोधादनियमे-नियमाच्चाप्रतिषेधः। ५८।

पद०—नियमानियमविरोधात्। अनियमे। नियमात्। च। अप्रतिषेधः।

पदा०—(अनियमे) अनियम में (नियमात्) नियम मानकर (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध नहीं होसक्ता क्योंकि (नियमानियम-विरोधात्) नियम और अनियम का परस्पर विरोध है।

भाष्य—नियमाभाव का नाम "अनियम" है, नियम तथा अनियम परस्पर विरोधि होने से एक अधिकरण में नहीं रहसक्ते अर्थात् एक ही शब्द में विकार का नियम और तदभाव का कथन करना समीचीन नहीं, क्योंकि उनका तेजस्तिमिरवत् परस्पर विरोध

प्रसिद्ध है, इसलिये जो अनियम को नियम मानकर प्रतिषेध किया है वह सर्वथा युक्तिशून्य होने से आदरणीय नहीं।

भाव यह है कि जब वर्णों में विकारविकारिभाव का उक्त रीति से व्यभिचार स्फुट है तो फिर उनको विकार कथन करना केवल साहमात्र है।

सं०—वर्णों के विकारविकारिभाव का खण्डन करके अब सिद्धान्ती स्वमत में विकार का व्यवहार उपपादन करता है :—

गुणान्तरापत्त्युपमर्द्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्य-स्तु विकारोपपत्तेर्वर्णविकारः। ५९।

पद०—गुणान्तरापत्त्युपमर्द्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यः। तु। वि-कारोपपत्तेः। वर्णविकारः।

पदा०—(गुणान्तरा०) गुणान्तरापत्ति; उपमर्द्द, ह्रास, वृद्धि, लेश और श्लेष से (विकारोपपत्तेः) विकार के सिद्ध होने पर (वर्णविकारः) वर्णों में विकार का व्यवहार होता है।

भाष्य—सूत्र में "तु" शब्द स्वमत में विकारव्यवहार के उपपादनार्थ आया है, प्रकृत में धर्मी=वर्ण के विद्यमान रहने पर उस में अनुदात्तादि धर्म की आपत्ति का नाम "गुणान्तरापत्ति" प्रथम वर्ण के निवृत्त होने पर दूसरे वर्ण के प्रयोग का नाम "उपमर्द्द" दीर्घ को ह्रस्व करने का नाम "ह्रास" ह्रस्व को दीर्घ करने का नाम "वृद्धि" किसी अंश के लोप का नाम "लेश" तथा प्रकृति

प्रत्यय के मध्य "इट्" आदि आगमों का नाम "श्लेष" है, उक्त गुणान्तरापत्ति आदि हेतुओं से एक वर्ण के प्रसङ्ग में वर्णान्तर के उच्चारणपूर्वक वर्णों में "विकार" का व्यवहार होता है वस्तुतः दधिदुग्धन्याय की भांति उनमें कोई विकार नहीं, इसी अभिप्राय से "**वात्स्यायनमुनि**" का कथन है कि "**स्थान्यादेशभावादप्रयोगे प्रयोगो विकार शब्दार्थः**"=व्याकरण नियम के अनुसार स्थान्यादेशभाव द्वारा स्थानी के अप्रयोगकाल में आदेश का प्रयोग "विकार" कहाता है, इसलिये परिणामरूप से वर्णों में विकार मानना ठीक नहीं, गुणान्तरापत्ति आदि के उदाहरण व्याकरण में प्रसिद्ध हैं, यहां ग्रन्थ गौरवभय से नहीं लिखे।

सं०-अब पदार्थबोध के हेतुभूत "पद" का निरूपण करते हैं:—

ते विभक्त्यन्ताः पदम्। ६०।

पद०-ते। विभक्त्यन्ताः। पदम्।

पदा०-(विभक्त्यन्ताः) विभक्ति वाले (ते) वर्णों को (पदम्) पद कहते हैं।

भाष्य-जिसके अन्त में "सुप्" वा "तिङ्" विभक्ति हों उस वर्ण का नाम "**पद**" है।

कई एक लोग इस सूत्र का यह अर्थ करते हैं कि "**विभक्तिर्वृत्तिरन्तः सम्बन्धो यत्र ते**" = जिनमें शक्ति अथवा लक्षणावृत्ति का सम्बन्ध पायाजाय उनको "पद" कहते हैं अर्थात्

शक्ति किंवा लक्षणावृत्ति द्वारा बोध के हेतु वर्ण "पद" कहाते हैं।

सं०-अब "पदार्थ" का निरूपण करने के लिये प्रथम उसमें संशय कथन करते हैं:-

तदर्थेऽव्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुप-चारात्संशयः । ६१ ।

पद०-तदर्थे। व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधौ। उपचारात्। संशयः।

पदा०-(व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधौ) व्यक्ति, आकृति और जाति के (उपचारात्) युगपत् प्रत्यक्ष होने से (तदर्थे) पदार्थ में (संशयः) संशय पायाजाता है।

भाष्य-अविनाभावरूप सम्बन्ध से रहने वाले गवादिव्यक्ति, अवयवसंयोगविशेष आकृति और गोत्वादि जाति इन तीनों पदार्थों में "अयं गौः"=यह गौ है, इस प्रकार गो शब्द के उच्चारण द्वारा पदार्थबोध होने से यह संशय होता है कि व्यक्ति आदि प्रत्येक पदार्थ हैं किंवा तीनों का समुदाय पदार्थ है।

स्मरण रहे कि जिसका शक्ति किंवा लक्षणा द्वारा पदजन्य बोध हो उसको "पदार्थ" कहते हैं, उन पदार्थों में से धातु प्रत्ययादि का अर्थबोध व्याकरणादि द्वारा निश्चित है यहां उसके निरूपण की आवश्यकता नहीं, इसलिये यह प्रकरण केवल गोघटादि पदार्थों के निरूपणार्थ जानना चाहिये।

सं०-अब "व्यक्तिशक्तिवादी" का उक्त विषय में मत कथन करते हैं:-

याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्धय

पचयवर्णसमासानुबन्धानां व्यक्ता-वुपचाराद्व्यक्तिः । ६३ ।

पद०—याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्यपचयवर्णसमासानु-बन्धानां । व्यक्तौ । उपचारात् । व्यक्तिः ।

पदा०—(व्यक्तिः) व्यक्ति पदार्थ है, क्योंकि (याशब्द०) याशब्द, समूह, त्याग, परिग्रह, संख्या, वृद्धि, अपचय, वर्ण, समास, और अनुबन्ध, इन सब का (व्यक्तौ) व्यक्ति में (उपचारात्) व्यवहार होता है ।

भाष्य—याशब्दादि का व्यक्ति में व्यवहार पाये जाने से व्यक्ति ही पदार्थ है जाति तथा आकृति नहीं अर्थात् "या गौर्गच्छति"= गौ जाती है, यह व्यवहार व्यक्ति में होता है जाति और आकृति में नहीं, क्योंकि वह दोनों अमूर्त्त हैं, और गमनादि क्रिया मूर्त्त द्रव्य में होती है अमूर्त्त में नहीं, यदि जाति किंवा आकृति "पदार्थ" होता तो उक्त व्यवहार न पाया जाता परन्तु पाया जाता है, इससे स्पष्ट है कि "व्यक्ति" पदार्थ है, इस प्रकार "समूह"="गवांसमूहः"= यह गौओं का समुदाय है "त्याग"="ब्राह्मणाय गां ददाति"= ब्राह्मण को गौ देता है, "परिग्रह"="गांगृह्णाति"=गौ लेता है अथवा "देवदत्तस्य गौः"=देवदत्त की गौ है, "संख्या"= "दश गावश्चरन्ति"=दस गौ घास चरती हैं वृद्धि="गौर्वर्द्धते"= गौ पुष्ट होरही है, अपचय="गौः कृशावर्त्तते"= गौ कृश है,

वर्ण=" कृष्णा गौः श्वेता गौः "=यह गौ काली और यह श्वेत है, **समास**=" गोहितं "=गौ का हित है, **अनुबन्ध**="गौः प्रसूते"= गौ जनती है, इत्यादि व्यवहार व्यक्ति में होते हैं जाति किंवा आकृति में नहीं, क्योंकि अमूर्त्त होने से उनमें त्याग ग्रहण आदि की उपपत्ति अनुभवविरुद्ध है ।

सं०—अब उक्त मत में दोष कथन करते हैं :—

न तदनवस्थानात् । ६३ ।

पद०—न । तदनवस्थानात् ।

पदा०—(तदनवस्थानात्) व्यक्तियों में संख्या का नियम न होने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—केवल व्यक्ति को पदार्थ मानना इसलिये ठीक नहीं कि व्यक्तियें अनन्त हैं उनमें शक्ति मानने से यह नियम उपलब्ध नहीं होता कि इतनी गौ गोपद का वाच्यार्थ हैं किंवा सब हैं ।

भाव यह है कि व्यक्ति में शक्ति मानने से गोपदद्वारा किसी एक गौ का बोध होगा सबका नहीं क्योंकि व्यक्ति सर्वत्र अनुगत नहीं, इसलिये गोत्वविशिष्ट गोव्यक्ति=गोमात्र में ही शक्तिज्ञान मानना उचित है ।

" **भाष्यकार** " ने इस सूत्र के आशय को इसप्रकार स्फुट किया है कि " **न द्रव्यमात्रमविशिष्टं जात्याविनाभिधीयते** "=विशेषण के ज्ञान बिना विशिष्ट=विशेषण वाले का ज्ञान नहीं होता, इस नियम के अनुसार जातिरूप विशेषण के बिना

केवल व्यक्ति से पदार्थ बोध न होने के कारण जातिविशिष्ट व्यक्ति में शब्द का व्यवहार मानना ही ठीक है अर्थात् यदि गोशब्द केवल व्यक्ति का ही वाचक होता तो किसी एक व्यक्ति में गोपदार्थ की प्रतीति पाई जाती सर्वत्र नहीं, परन्तु गोपद से गोव्यक्तिमात्र में सास्नादिमान् पदार्थ का भान होता है, इससे स्पष्ट है कि केवल व्यक्ति पदार्थ नहीं।

सं०—अब केवल व्यक्ति में "याशब्दादि" का व्यवहार औपचारिक कथन करते हैं :—

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजशक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्न पुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः ।६४।

पद०—सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यः । ब्राह्मणमञ्चकटराजशक्तचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेषु । अतद्भावे । अपि । तदुपचारः ।

पदा०—(सहचरण०) सहचरण, स्थान, तादर्थ्य, वृत्त, मान, धारण, सामीप्य, योग, साधन और आधिपत्य से (ब्राह्मण०) ब्राह्मण, मञ्च, कट, राज, शक्तु, चन्दन, गङ्गा, शाटक, अन्न और पुरुष इनमें यथाक्रम (अतद्भावे) तद्रूप के न होने पर (अपि) भी (तदुपचारः) तद्रूप का व्यवहार उपचार से होता है।

भाष्य-जो अन्य शब्द से अन्य पदार्थ का बोध होता है वह उपचार =लक्षणा द्वारा पाया जाता है,इसलिये जाति में शक्ति मानने से कोई अनुपपत्ति नहीं अर्थात् जिस प्रकार सहचरणादि निमित्तों से ब्राह्मणादिरूप अर्थ के बोधार्थ यष्टि आदि पदों का प्रयोग उपचार से किया जाता है इसी प्रकार जाति में शक्ति होने पर भी उसमें याशब्दादि का व्यवहार उपचार से होता है साक्षात् नहीं, सहचरणादि निमित्तों से ब्राह्मणादि अर्थबोध के उदाहरण इस प्रकार हैं कि जैसे स्वामी ने यष्टिधर ब्राह्मण को देखकर सेवक से कहा कि "यष्टिं भोजय"=यष्टि को भोजन कराओ, इस वाक्य से स्वामी का तात्पर्य्य यष्टि=लाठी के भोजन कराने में नहीं किन्तु उक्त ब्राह्मण के भोजन कराने में है, क्योंकि यष्टि में भोजन क्रिया नहीं होसक्ती, इस प्रकार यहां सहचार=संयोग निमित्त से "यष्टि" पद "यष्टिधर" ब्राह्मण का उपचारद्वारा बोधक है मुख्य नहीं, सहचरण और सहचार यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, इसी प्रकार स्थान=स्थिति निमित्त से "मञ्चाःक्रोशन्ति=मञ्चान पुकारते हैं, इस वाक्य में "मञ्च" पद भी मञ्चस्थ पुरुषों के बोध में औपचारिक है, और जहां कट=चटाई के उपादान कारण वीरण=तृणविशेष में "कटं करोति"=कट बनाता है, इस प्रकार का व्यवहार पाया जाय वहां उपचार में "तादर्थ्य"=उसके लिये होना ही निमित्त माना है, क्योंकि असिद्ध कट के साथ कर्म कारक का योग उक्त निमित्त के विना नहीं होसक्ता, एवं "वृत्त"=आचरण=यम की भांति दण्ड देने से राजा में "यम" "मान"=आढक

से मापे हुए शक्तुओं में "आढक" "धारण"=तुला पर चन्दन के धरने से चन्दन में "तुला" "समीप्य"=समीपता निमित्त से गङ्गासमीप देश में "गङ्गा" "योग"=कृष्णवर्ण के सम्बन्ध से शाटकनामक वस्त्र में "कृष्ण" "साधन"=प्राणों का साधन होने से अन्न में "प्राण" "आधिपत्य"=कुल वा गोत्र का स्वामी होने से पुरुष में "कुल" किंवा "गोत्र" पद का व्यवहार भी उपचारद्वारा होता है, और जैसे उक्त व्यवहार उपचारसिद्ध हैं इसी प्रकार गवादि पदों की गोत्वादि जाति में शक्ति मानने पर भी "यागौर्गच्छति" इत्यादि व्यवहारकाल में व्यक्ति का बोध औपचारिक होने से जातिशक्ति पक्ष में व्यक्तिबोध की कोई अनुपपत्ति नहीं।

सं०—अब "आकृतिशक्तिवादी" का मत कथन करते हैं:—

आकृतिस्तदपेक्षत्वात्सत्वव्यवस्थानसिद्धेः । ६९ ।

पद०—आकृतिः । तदपेक्षत्वात् । सत्वव्यवस्थानसिद्धेः ।

पदा०—(सत्वव्यवस्थानसिद्धेः) जीवों का भेदज्ञान (तदपेक्षत्वात्) आकृति ज्ञान के अधीन होने से (आकृतिः) आकृति पदार्थ है।

भाष्य—"सत्वावयवानां तदवयवानाञ्च नियतो व्यूह आकृतिः" न्या० भा०=गवादि जीवों के अवयवों की असा-

धारण रचना का नाम "आकृति" है, या यों कहो कि गवादि जीवों के विलक्षण अवयवसंयोग को "आकृति" कहते हैं, "अयं गौरयमश्वः"=यह गौ है और यह घोड़ा है, इस प्रकार की व्यवस्थिति=व्यवहारपूर्वक भेदज्ञान आकृतिज्ञान के विना नहीं होसक्ता अर्थात् जब गौ तथा अश्व के विलक्षण २ अवयवसंयोग का ज्ञान होता है तभी गवाश्वादिकों में भेदज्ञान होता है अन्यथा नहीं, और जिसके ज्ञान से उक्त व्यवहार सिद्ध है वही गवादि पदों का वाच्यार्थ "आकृति" कहाती है, इसलिये उक्त पदों की शक्ति आकृति में ही मानना ठीक है जाति अथवा व्यक्ति में नहीं ।

सं०-अब आकृतिशक्तिवाद के खण्डन पूर्वक "जातिशक्तिवाद" का स्थापन करते हैं:—

व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसङ्गात्प्रोक्षणा-दीनां मृद्गवके जातिः । ६६ ।

पद०-व्यक्त्याकृतियुक्ते । अपि । अप्रसङ्गात् । प्रोक्षणादीनां । मृद्गवके । जातिः ।

पदा०-(व्यक्त्याकृतियुक्ते) व्यक्ति और आकृति वाले (मृद्गवके) मृद्गवक में (प्रोक्षणादीनां) प्रोक्षण आदिकों का (अप्रसङ्गात्) प्रसङ्ग न होने से (जातिः) जाति पदार्थ है ।

भाष्य-यदि व्यक्ति किंवा आकृति पदार्थ होता तो "गां प्रोक्षय, गामानय, गांदेहीति"=गौ को न्हिलाओ, गौ लेआ, गौ का दान कर, इस प्रकार का व्यवहार मृद्गवक=मिट्टी के बने

हुए गौ के खिलौने में भी पाया जाता अर्थात् जहां वेदवेत्ता ब्राह्मण के लिये गोदान काल में गौ का प्रोक्षण, आनयन तथा दानादि का विधान किया है वह मृद्गवक में भी होता क्योंकि उसमें सच्ची गौ के समान आकृति=अङ्गरचना पाई जाती है और आकृति के होने से व्यक्ति का होना भी सिद्ध है, परन्तु मृद्गवक में प्रोक्षणादि व्यवहार नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि जिससे उक्त व्यवहार होता है वही "जाति" पदार्थ है व्यक्ति आकृति नहीं।

सं०—अब "जातिशक्तिवाद" में दोष कथन करते हैं :—

नाकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जा-त्यभिव्यक्तेः । ६७ ।

पद०—न। आकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वात्। जात्यभिव्यक्तेः।

पदा०—(जात्यभिव्यक्तेः) जाति का ज्ञान (आकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वात्) आकृतिव्यक्ति ज्ञान के अधीन होने से (न) उक्त कथन ठीक नहीं।

भाष्य—आकृति तथा व्यक्ति ज्ञान के विना गवादि पदों से जाति का बोध नहीं होता किन्तु व्यक्त्याकृतिज्ञानपूर्वक ही जाति ज्ञान होता है, इसलिये केवल जाति को पदार्थ मानना ठीक नहीं।

सं०—अब सूत्रकार उक्त विषय में स्वसिद्धान्त कथन करते हैं:—

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः । ६८ ।

पद०—व्यक्त्याकृतिजातयः। तु। पदार्थः।

पदा०—(व्यक्त्याकृतिजातयः) व्यक्ति, आकृति और जाति

यह तीनों (पदार्थः) पदार्थ हैं ।

भाष्य–"तु" शब्द अन्य पक्षों की व्यावृत्ति के बोधनार्थ आया है, व्यक्ति आदि तीनोंमें पदशक्ति समान होने से तीनोंपदार्थ हैं,भेद केवल इतना है कि "यदा हि भेदविवक्षा विशेषगतिश्च तदा व्यक्तिः प्रधानमङ्गन्तु जात्याकृती, यदा तु भेदोऽविवक्षितः सामान्यगतिश्च तदा जातिः प्रधानमङ्गन्तु व्यक्त्याकृती" न्या० भा०="यह गौ देवदत्त की है अथवा कपिला गौ बहुत दूध देती है" इत्यादि वाक्यों से जब जाति, आकृति के साथ व्यक्ति का भेद विवक्षित हो तब व्यक्ति की प्रधानता और जाति आकृति गौण होती हैं, और "गौः पदा न स्प्रष्टव्या, गौर्नहन्तव्या"=गौ को पैर न लगाना चाहिये, गौ को न मारना चाहिये, इत्यादि वाक्यों से जब व्यक्ति आदि का भेद विवक्षित न हो तब जाति की प्रधानता और व्यक्ति आकृति दोनों गौण होती हैं, क्योंकि उक्त वाक्यों से गोमात्र को न मारना तथा उसको पैर न लगाना अभिप्रेत है ।

सं०–अब व्यक्ति का लक्षण कथन करते हैं :–

व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयोमूर्त्तिः । ६९ ।

पद०–व्यक्तिः । गुणविशेषाश्रयः । मूर्त्तिः ।

पदा०–(गुणविशेषाश्रयः) विशेष गुणों के आश्रय (मूर्त्तिः)

मूर्त्ति को (व्यक्तिः) व्यक्ति कहते हैं।

भाष्य-संख्यादि सामान्य गुणों से भिन्न जाति और आकृति के सहचारी रूपादि विशेष गुणों के आश्रय मूर्त्ति=मध्यम परिमाण वाले द्रव्य का नाम "**व्यक्ति**" है, इसी अभिप्राय से "वात्स्यायनमुनि" का कथन है कि "**व्यज्यत इति व्यक्तिरिन्द्रियग्राह्येति न सर्वं द्रव्यं व्यक्तिः**" न्या० भा०=जो अभिव्यक्त=इन्द्रिय का विषय हो उसका नाम व्यक्ति है, द्रव्यमात्र नहीं।

इस सूत्र को कई एक लोग इस प्रकार लापन करते हैं कि जिसमें गुण=रूपादिक, विशेष=उत्क्षेपणादि कर्म हों वह "व्यक्ति" है अर्थात् जाति का आश्रय द्रव्य ही "व्यक्ति" कहाता है, यह व्यक्ति का सामान्य लक्षण किया गया है, और "मूर्त्ति" पद से सूत्रकार को व्यक्ति का विशेष लक्षण अभिमेत है अर्थात् जो मूर्त्ति=अणु और परममहत्परिमाण से भिन्न परिमाणवाला पदार्थ है उसका "नाम" "**व्यक्तिविशेष**" है।

भाव यह है कि जिसमें जाति और आकृति पाईजाय वह "**व्यक्ति**" है, यह व्यक्ति का विशेष लक्षण और "**प्रमेयत्वं व्यक्तित्वं**"=प्रमा के विषय को व्यक्ति कहते हैं, यह सामान्य लक्षण जानना चाहिये।

सं०-अब आकृति का लक्षण कथन करते हैं:-

आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या । ७० ।

पद०—आकृतिः । जातिलिङ्गाख्या ।

पदा०—(जातिलिङ्गाख्या) जाति के लिङ्ग का नाम (आकृतिः) आकृति है।

भाष्य—जाति के लिङ्ग=बोधक हेतु का नाम "आकृति" है अर्थात् "यया जातिर्जातिलिङ्गानि च प्रख्यायन्ते तामाकृतिं विद्यात्" न्या० भा० = जिससे जाति और जाति के लिङ्गों की प्रतीति हो ऐसे अवयवसंयोग विशेष को "आकृति" कहते हैं।

सं०—अब जाति का लक्षण कथन करते हैं :—

समानप्रसवात्मिका जातिः । ७१ ।

पद०—समानप्रसवात्मिका । जातिः ।

पदा०—(समानप्रसवात्मिका) अनुगत प्रतीति के हेतुभूत धर्म को (जातिः) जाति कहते हैं।

भाष्य—अनेक पृथक् २ अवस्थित घटादि पदार्थों में "अयंघटः" अयंघटः" = यह घट है, यह घट है, इस प्रकार की अनुगत प्रतीति के कारण घटत्वादि धर्म का नाम "जाति" है।

भाव यह है कि अनुगतप्रतीति के हेतु अनेक पदार्थों में समवाय सम्बन्ध से वर्त्तमान नित्यधर्म जाति कहाता है, जैसाकि गोत्व घटत्वादि धर्म जाति हैं, जाति का विस्तारपूर्वक निरूपण "सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्" वै० १।२।३ के भाष्य

में किया है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं, विशेषाभिलाषियों को "वैशेषिकार्य्यभाष्य" का अवलोकन करना चाहिये।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
न्यायार्य्यभाष्ये
द्वितीयाध्यायः
समाप्तः

ओ३म्

अथ न्यायार्य्यभाष्ये तृतीयाध्याये प्रथमाह्निकं प्रारभ्यते

सं०—द्वितीयाध्याय में प्रमाणों की परीक्षा तथा तत्सम्बन्धी अनेक विषयों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया, अब इस अध्याय में प्रमेयपरीक्षा का वर्णन करने के लिये प्रथमाह्निक का प्रारम्भ करते हुए प्रथम आत्मा को इन्द्रियादिसंघात से पृथक् कथन करते हैं :—

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्। १।

पद०—दर्शनस्पर्शनाभ्याम्। एकार्थग्रहणात्।

पदा०—(दर्शनस्पर्शनाभ्याम्) दर्शन तथा स्पर्शन द्वारा (एकार्थ ग्रहणात्) एक पदार्थ का ग्रहण पायेजाये से आत्मा इन्द्रियादि संघात से भिन्न है।

भाष्य—"योऽहंचक्षुषा घटमद्राक्षं सोहंत्वचास्पृशामि"= मैं वही हूं जिसने प्रथम चक्षुः से घट देखा था, अब त्वचा से स्पर्श करता हूं, इस घटविषयक एक पदार्थ के ज्ञान में दर्शन तथा स्पर्शन क्रिया का अनुसन्धाता = ग्रहीता चक्षुः तथा त्वगिन्द्रिय से भिन्न पाया जाता है, इसलिये आत्मा इन्द्रियादि संघातरूप नहीं, यदि वह इन्द्रियादि का संघात होता तो उक्त प्रतीति कदापि न होती, पर होती है, इससे सिद्ध है कि आत्मा रथ के चलानेवाले सारथि

की भान्ति इन्द्रियादि संघात से विलक्षण उनका नियन्ता = अपने २ विषयों में प्रेरणा करनेवाला पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ है।

भाव यह है कि चक्षुः में देखने की सामर्थ्य है स्पर्श करने की नहीं एवं त्वगिन्द्रिय में स्पर्शसामर्थ्य होने पर भी दर्शनसामर्थ्य नहीं पाई जाती, इसलिये उक्त प्रतीतिबल से जो एकविषयक अनेक ज्ञानों का साक्षी है वही देहेन्द्रियादि संघात से विलक्षण सत् तथा चित् पदार्थ आत्मपद का वाच्यार्थ है, इस विषय को विस्तार पूर्वक " उपनिषदार्य्यभाष्य " के नाचिकेतोपाख्यान में वर्णन किया है यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्षी आक्षेप करता है :-

न विषयव्यवस्थानात्। २।

पद०-न। विषयव्यवस्थानात्।

पदा०-(विषयव्यवस्थानात्) केवल इन्द्रियों से विषयोपलब्धि की व्यवस्था पाये जाने के कारण उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य-प्रत्येक इन्द्रिय से विषयोपलब्धि का नियम पाया जाता है अर्थात् चक्षुः से रूप की, रसना से रस की उपलब्धि द्वारा सिद्ध है कि इन्द्रिय ही चेतन हैं, इसलिये इन्द्रियातिरिक्त चेतन मानना ठीक नहीं।

भाव यह है कि रूपादिज्ञान इन्द्रिय समवेत हैं इन्द्रियातिरिक्त आत्मसमवेत नहीं, इसलिये एकविषयक अनेक ज्ञानों के अनुसन्धान काल में ज्ञाता की उक्त अभेदात्मक प्रतीति भ्रान्तिरूप जाननी चाहिये।

सार यह निकला कि जो जिसके होने से होता है न होने से नहीं होता वह उसी के आश्रित होता है अन्य के नहीं, इस नियम के अनुसार चक्षुरादि के होने से रूपादि ज्ञानों का होना न होने से न होना सिद्ध करता है कि रूपादि ज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियों के आश्रित हैं, यदि वह इन्द्रियातिरिक्त आत्मा के आश्रित होते तो चक्षुरादि के नाशकाल में भी रूपादि की उपलब्धि पाई जाती परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि ज्ञानाश्रय होने के कारण इन्द्रिय ही "चेतन" हैं, और "चक्षूरूपं पश्यति"=चक्षुः रूप को देखता है, इत्यादि व्यवहार से भी यही सिद्ध होता है कि रूपादि विषयों की उपलब्धि में चक्षुरादि इन्द्रिय स्वतन्त्र होने से ज्ञान के आश्रय हैं, इसलिये इन्हीं को चेतन मानना ठीक है ।

सं०—अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं :—

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ।२।

पद०—तद्व्यवस्थानात् । एव । आत्मसद्भावात् । अप्रतिषेधः ।

पदा०—(तद्व्यवस्थानात्) विषयोपलब्धि की व्यवस्था पाये जाने के कारण (एव) निश्चय करके (आत्मसद्भावात्) इन्द्रियातिरिक्त आत्मा के सिद्ध होने से (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य—जो प्रत्येक इन्द्रिय से भिन्न २ विषय की उपलब्धि कथन की है वह इन्द्रियातिरिक्त आत्मा का साधक है बाधक नहीं अर्थात् यदि एकही इन्द्रिय विषयमात्र की उपलब्धि में स्वतन्त्र होता

तो उससे अतिरिक्त आत्मा न मानाजाता परन्तु इन्द्रियों द्वारा विषयोपलब्धि की व्यवस्था पाये जाने से सिद्ध है कि जो चक्षुरादि इन्द्रियों से प्रत्येक विषय की उपलब्धि में स्वतन्त्र और उनका अधिष्ठाता चेतन है वही इन्द्रियादि संघात से अतिरिक्त "आत्मा" है, दूसरी वात यह है कि अनुभव तथा स्मृतिज्ञान समानाधिकरण होते हैं यह नियम है, इस नियम के अनुसार पूर्व देखे हुए आम्रादि फलों को कालान्तर में पुनः देखने से रूपदर्शी पुरुष पूर्वानुभूत रस की स्मृति द्वारा अनुमान करता है कि यह आम्रफल मधुर किंवा आम्ल है, यदि चक्षुरादि इन्द्रिय ही आत्मा होते तो रूपद्रष्टा को उक्त रसविषयक अनुमान ज्ञान न होता, क्योंकि चक्षुः रसानुभव में सर्वथा असमर्थ देखा जाता है, अतएव उसको पूर्वानुभूत रूप सहचारी रस की स्मृति कदापि न होती परन्तु उक्त स्मृति में किसी वादी की विप्रतिपत्ति नहीं, इससे सिद्ध है कि स्मृत्यादि ज्ञान का आश्रय न होने से इन्द्रिय आत्मा नहीं, और जो "इन्द्रियचैतन्यवादी" ने "चक्षूरूपंपश्यति" इत्यादि व्यवहार से रूपाद्युपलब्धि में इन्द्रियों को स्वतन्त्र मानकर उनको चेतन सिद्ध करने की चेष्टा की है वह इसलिये ठीक नहीं कि उक्त कथन "स्थाली पचति" = स्थाली पकाती है, इत्यादि व्यवहार के समान वक्ता की इच्छा पर निर्भर होने से गौण है मुख्य नहीं अर्थात् कर्त्ता आदि कारकों का प्रयोग वक्ता की इच्छा के अधीन होता है यह व्याकरणप्रसिद्ध नियम है जिसके अनुसार जड़पदार्थों में स्वातन्त्र्य विवक्षित होने से कर्तृपद का प्रयोग किया जाता है इस

विषय को "वैयाकरणभूषण" तथा "वाक्यपदीय" आदि व्याकरण ग्रथों में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है यहां विशेष उपयोगी न होने से नहीं लिखा, यदि उक्त व्यवहार एकमात्र ज्ञान क्रिया का साधक होता तो "स्थाली पचति" आदि व्यावहार से स्थाली आदि जड़ पदार्थों को भी चेतन मानाजाता वा उनमें चैतन्य की उपलब्धि होती पर ऐसा नहीं, इससे स्पष्ट है कि "चक्षुः पश्यति" इत्यादि व्यवहार इन्द्रियवृत्ति चैतन्य का साधक नहीं, यहां "इन्द्रियचैतन्यवादी" से प्रष्टव्य है कि सब इन्द्रिय मिलकर एक चेतन आत्मा है वा पृथक् २ नाना चेतन हैं? यदि प्रथम पक्ष मानाजाय तो इन्द्रियों के नाश से आत्मा का नाश होने पर आत्मा की नित्यता नहीं रहसक्ती और इस पक्ष में एक इन्द्रिय के नाश द्वारा तद्विषय सम्बन्धी स्मृतिज्ञान की सर्वथा अनुपपत्ति होगी, क्योंकि अन्य के अनुभूत विषय की अन्य को स्मृति नहीं होती यह सर्वानुभवसिद्ध है परन्तु किसी एक इन्द्रिय के नष्ट होने पर भी तद्द्वारा होने वाले अनुभव के संस्कारों से स्मृतिज्ञान पाया जाता है, इसलिये प्रथम पक्ष ठीक नहीं, दूसरे पक्ष में एक शरीर के नाना नियन्ताओं का मानना सर्वथा निष्फल तथा गौरवादिदोष युक्त है और दूसरी वात यह है कि यदि इन्द्रिय ही आत्मा होते तो "अहं सुखी"=मैं सुखी हुं, इत्यादि ज्ञान के समान "अहञ्चक्षुः"= मैं चक्षु हुं, इत्यादि प्रतीतियें भी अहंप्रत्यय के समानाधिकरण होतीं पर नहीं होतीं, इस प्रकार अनेक दोषों के पाये जाने से "इन्द्रियात्मवाद" सर्वथा असङ्गत है, अहंप्रतीति द्वारा देहादिसंघात से पृथक् आत्म-

सिद्धि का प्रकार " वैशेषिकार्य्यभाष्य " में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है इसलिये यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं।

और जो इन्द्रियों के अभावकाल में तत्कर्तृक अनुभव के अभाव द्वारा इन्द्रियों को चेतन माना है वह इसलिये ठीक नहीं कि इन्द्रिय ज्ञानोत्पत्ति में करण हैं कर्त्ता नहीं और करण का अभाव कर्त्ता के अभाव का नियामक नहीं होसक्ता अर्थात् जिस प्रकार कुठार छिदिक्रिया का करण है और उसके नष्ट होजाने से छिदि-क्रिया न होने पर भी तक्षा=काटने वाले का अभाव नहीं होता और नाही करणरूप कुठार छिदिक्रिया में स्वतन्त्र पाया जाया है प्रत्युत वह स्वभिन्न छिदिक्रिया वाले कर्त्ता के अधीन देखा जाता है इसी प्रकार किसी एक इन्द्रिय के नष्ट होने पर तद्द्वारा होने वाले अनुभव ज्ञान के न होने पर भी आत्मा का अभाव नहीं होता और नाही इससे इन्द्रियों में चैतन्य की सिद्धि होसक्ती है इसलिये उन को चेतन मानना ठीक नहीं।

सं०—ननु, " गौरोऽहं "=मैं गौर हूं, इत्यादि प्रतीति से शरीर को ही आत्मा क्यों न माना जाय ? उत्तरः—

शरीरदाहे पातकाभावात्। ४।

पद०—शरीरदाहे। पातकाभावात्।

पदा०—(शरीरदाहे) शरीर का दाह करने पर दग्धा को (पात-काभावात्) पातक न होने से आत्मा शरीर भिन्न है।

भाष्य—यदि आत्मा शरीर से पृथक् न होता तो जीवितशरीर को दाह करने वाले दग्धा को जन्मान्तर में दुःखात्मक पापफल न होता परन्तु होता है इससे सिद्ध है कि फल का भोक्ता आत्मा शरीर से भिन्न है शरीर नहीं।

भाव यह है कि यदि शरीर को ही आत्मा मानाजाय तो "**कृतप्रणाश**"=किये हुए कर्मों का विना फल भोगे हुए ही नाश और "**अकृताभ्यागम**"=न किये हुए कर्म फल की प्राप्ति रूप दोष की आपत्ति होगी, क्योंकि जिस पंचभूतात्मकसंघात ने दाहरूप पाप किया था वह शरीर के नाश द्वारा नष्ट होगया और जो नवीनसंघात उत्पन्न हुआ है उसने वह पाप नहीं किया परन्तु उसमें दुःखात्मक फल पाया जाता है, इसलिये शरीर को आत्मा मानना ठीक नहीं।

सं०—अब "शरीरात्मवादी" सिद्धान्ती के मत में दोष कथन करता है:—

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् । ५ ।

पद०—तदभावः । सात्मकप्रदाहे । अपि । तन्नित्यत्वात् ।

पदा०—(तन्नित्यत्वात्) आत्मा के नित्य होने से (सात्मकप्रदाहे) जीवित शरीर का दाह करने पर (अपि) भी (तदभावः) पाप का अभाव है।

भाष्य—शरीरातिरिक्त आत्मवादी के मत में भी पातक=शरीर-हिंसा के फल का न होना समान पाया जाता है, क्योंकि उसके मत

में आत्मा नित्य है अर्थात् आत्मा के नित्य होने से शरीरनाश के साथ ही धर्माधर्मरूप अदृष्ट का नाश होने पर देहातिरिक्त आत्मवाद में सुख दुःखरूप फल की उपपत्ति नहीं होसक्ती।

तात्पर्य्य यह है कि नित्य होने से आत्मा न मरता और नाही माराजाता है, इसी अभिप्राय से शास्त्रों में वर्णन किया है कि "नायं हन्ति न हन्यते"=नित्य आत्मा में वध्यघातकभाव सम्बन्ध कदापि नहीं होता, इस प्रकार से शरीरात्मवाद में हिंसा निष्फल और देहातिरिक्त आत्मवाद में हिंसा की सर्वथा अनुपपत्ति जाननी चाहिये।

सं०—अब उक्त दोष का परिहार करते हैं:—

न कार्य्याश्रयकर्त्तृवधात्। ६।

पद०—न। कार्य्याश्रयकर्त्तृवधात्।

पदा०—(कार्य्याश्रयकर्त्तृवधात्) शरीर और इन्द्रियों के उपघात का नाम हिंसा होने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य—नित्य आत्मा के सुखदुःखोपभोग का अधिष्ठानभूत शरीर और भोगसाधन इन्द्रियों के उपघात का नाम "हिंसा" है, और इन्हीं के दाहकर्त्ता=नाश करने वाले जीवात्मा को शास्त्र में पातक कथन किया है जिसके फल की प्राप्ति जन्मान्तर में होती है, इस प्रकार देहातिरिक्त नित्य आत्मा के मानने में हिंसा तथा कर्मफल की अनुपपत्ति न होने से उक्त दोष ठीक नहीं।

और जो उक्त प्रमाण से जीवात्मा में वध्यघातकभाव का

अभाव कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि उक्त वाक्य ईश्वर-प्रकरण में आया है जीवप्रकरण में नहीं, जिसका आशय यह है कि बिना कर्मों के ईश्वर किसी का हनन नहीं करता और नाहीं वह किसी से हनन किया जाता है, इस भाव को "उपनिषदार्य्यभाष्य" तथा "गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्य" में स्पष्ट किया है।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि स्वरूप से जीवात्मा में वध्यघातक-भाव नहीं तथापि उक्त रीति से उसके अधिष्ठानभूत शरीरादि के उपघातद्वारा शरीरविशिष्ट में उक्त सम्बन्ध पाये जाने के कारण हिंसा की सिद्धि में कोई दोष नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:—

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्। ७।

पद०—सव्यदृष्टस्य। इतरेण। प्रत्यभिज्ञानात्।

पदा०—(सव्यदृष्टस्य) एक आंख से देखे हुए पदार्थ का (इतरेण) दूसरे नेत्र द्वारा प्रत्यभिज्ञान पाये जाने के कारण आत्मा देहादि से भिन्न है।

भाष्य—"**पूर्वापरयोर्विज्ञानयोरेकविषये प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्**"=एकविषयक पूर्वोत्तर ज्ञान के समान विषयता-सम्बन्ध को विषय करने वाले ज्ञान का नाम "**प्रत्यभिज्ञान**" है, या यों कहो कि यह वही घट है, यह वही पट है, इसप्रकार प्रथम अनुभव किये हुए अर्थ को विषय करनेवाले प्रत्यक्षज्ञान का नाम "प्रत्यभि-

ज्ञान" है, प्रत्यभिज्ञान तथा प्रत्यभिज्ञा यह दोनों एकार्थवाची हैं, "तदेवेदं वेदपुस्तकं यं पूर्वमद्राक्षम्"=यह वही वेद पुस्तक है जिसको प्रथम देखा था, इसप्रकार दाईं आंख से देखे हुए वेदपुस्तक की "प्रत्यभिज्ञा" बाईं आंख से भी पाई जाती है, यदि इन्द्रियसंघात आत्मा होता तो जिस आंख से प्रथम वेद पुस्तक देखा था उसी आंख से कालान्तर में प्रत्यभिज्ञा होती दूसरे से नहीं, क्योंकि "नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः" न्या० कु०=अन्य के अनुभूत पदार्थ की दूसरे को स्मृति नहीं होती, परन्तु दक्षिण नेत्र से दृष्ट पदार्थ की वाम नेत्र से तथा वाम नेत्र से दृष्ट की दक्षिणनेत्र द्वारा प्रत्यभिज्ञा सर्वानुभवसिद्ध है, इससे पाया जाता है कि इन्द्रिय आत्मा नहीं किन्तु उनसे पृथक् जो उनका अधिष्ठाता=प्रेरक है वही आत्मा है।

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:-

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात्। ८।

पद०-न। एकस्मिन्। नासास्थिव्यवहिते। द्वित्वाभिमानात्।

पदा०-(नासास्थिव्यवहिते) नासिकास्थि के व्यवधान वाले (एकस्मिन्) एक चक्षुरिन्द्रिय में (द्वित्वाभिमानात्) द्वित्व का अभिमान होने से (न) उक्त कथन ठीक नहीं।

भाष्य-बाईं आंख का नाम "वामनेत्र" तथा दाईं का नाम "सव्यनेत्र" है, नासिकास्थि का मध्य में व्यवधान होने के

कारण एक चक्षुरिन्द्रिय में दो इन्द्रियों की प्रतीति भ्रान्ति से होती है वस्तुतः चक्षुरिन्द्रिय दो नहीं, इसलिये वामनेत्र से दृष्ट पदार्थ की सव्यनेत्र द्वारा तथा सव्यनेत्र से दृष्ट पदार्थ की वामनेत्र द्वारा प्रत्यभिज्ञा सिद्ध होने पर आत्मा को इन्द्रियों से पृथक् मानना ठीक नहीं।

भाव यह है कि जिसप्रकार मध्य में सेतु=पुल के व्यवधान से एक तालाब दो रूप होकर प्रतीत होता है इसीप्रकार नासिकास्थि का व्यवधान होने के कारण एक ही चक्षुः का गोलक दो प्रकार से प्रतीत होता है जिसकी प्रतीति द्वारा चक्षुरिन्द्रिय में द्वैत प्रतीति मिथ्या है वस्तुतः चक्षुः एक है, अतएव इन्द्रियचैतन्यवाद में प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति नहीं होसक्ती।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

एकविनाशे द्वितीयाविनाशान्नैकत्वम् ।९।

पद०—एकविनाशे। द्वितीयाविनाशात्। न। एकत्वम्।

पदा०—(एकविनाशे) एक का नाश होने पर (द्वितीयाविनाशात्) दूसरे का नाश न पाये जाने से चक्षुरिन्द्रिय (एकत्वम्) एक (न) नहीं।

भाष्य—एक चक्षुः के नाश होने पर भी रूपादि विषयों की उपलब्धि होने से सिद्ध है कि चक्षुरिन्द्रिय एक नहीं, यदि चक्षुरिन्द्रिय एक होता तो सव्य किंवा वाम दोनों नेत्रों में से किसी एक का नाश होने पर विषयोपलब्धि न होती पर होती है, इससे पाया

जाता है कि वह एक नहीं किन्तु दो हैं, इसलिये वादी का उक्त कथन ठीक नहीं ।

सं०-अब पूर्वपक्षी उक्त अर्थ में दोष कथन करता है :—

अवयवनाशेप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः । १० ।

पद०-अवयवनाशे । अपि । अवयव्युपलब्धेः । अहेतुः ।

पदा०-(अवयवनाशे) किसी एक अवयव के नाश होने पर (अपि) भी (अवयव्युपलब्धेः) अवयवी की उपलब्धि होने से (अहेतुः) उक्त हेतु ठीक नहीं ।

भाष्य-जिस प्रकार अवयवी वृक्ष की कई एक शाखाओं के छिन्न भिन्न होने पर भी वृक्षरूप अवयवी की उपलब्धि ज्यों की त्यों पाईजाती है इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय के किसी एकदेश का नाश होने पर भी उसका सर्वथा अभाव नहीं होता, इसलिये शेष चक्षुरिन्द्रियद्वारा रूपादि की उपलब्धि पाये जाने से " एकविनाशे-द्वितीयाविनाशात् " हेतु चक्षुरिन्द्रिय वृत्ति द्वित्व का साधक नहीं ।

सं०-अब उक्त दोष का परिहार करते हैं :—

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः । ११ ।

पद०-दृष्टान्तविरोधात् । अप्रतिषेधः ।

पदा०-(दृष्टान्तविरोधात्) दृष्टान्त के साथ विरोध पायेजाने से (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य-वृक्षावयवी की शाखाओं के समान एक चक्षुः दूसरे का अवयव नहीं प्रत्युत जिस प्रकार शाखा स्वाभिन्न वृक्ष के अवयव हैं

इसी प्रकार दोनों चक्षुः स्वातिरिक्त देहरूप अवयवी के अवयव हैं, इसलिये वृक्षरूप दृष्टान्त के साथ उक्त अर्थ की समानता न पाये जाने के कारण पूर्वोक्त हेतु का प्रतिषेध नहीं होसक्ता अथवा "दृश्यमानार्थविरोधो दृष्टान्तविरोधः" न्या० भा० = दृश्यमान = प्रत्यक्षसिद्ध अर्थ के साथ होने वाले विरोध को "दृष्टान्तविरोध" कहते हैं, दृष्टान्तविरोध पाये जाने से पूर्वोक्त हेतु को अहेतु कथन करना समीचीन नहीं।

भाव यह है कि मृतपुरुष के कपाल में नासिकास्थि का व्यवधान होने पर भी दो नेत्रछिद्र भिन्न २ उपलब्ध होते हैं, यदि एकही चक्षुरिन्द्रिय होता और उसका गोलक भी सेतुव्यवहित तालाब के जल की भांति एक होता तो भिन्न २ छिद्र कदापि उपलब्ध न होते परन्तु होते हैं, इससे सिद्ध है कि चक्षुरिन्द्रिय एक नहीं।

सं०—अब प्रकृत आत्मा के इन्द्रियातिरिक्त होने में और हेतु कथन करते हैं :—

इन्द्रियान्तरविकारात्। १२।

पद०—एकपद०।

पदा०—(इन्द्रियान्तरविकारात्) रसनेन्द्रिय का विकार पाये जाने से सिद्ध है कि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है।

भाष्य—खट्टा नीबू आदि आम्ल फलों के देखने से पूर्वानुभूत रस की स्मृतिद्वारा मुख में पानी भर आने के कारण सिद्ध है कि स्मृतिज्ञान का अधिष्ठानभूत आत्मा इन्द्रियों से अतिरिक्त है इन्द्रियरूप नहीं, यदि इन्द्रिय आत्मा होते तो रूप के देखने से तत्सहचारी

रस की स्मृति न पाई जाती, क्योंकि-अन्य के अनुभूत पदार्थ की दूसरे को स्मृति नहीं होती, इस नियम के अनुसार रसना से अनुभूत रस की स्मृति भी चक्षुरिन्द्रिय को नहीं होसक्ती परन्तु उक्त स्मृति सर्वानुभव सिद्ध है, इससे स्पष्ट है कि पूर्वकाल में रस का अनुभव करने वाला स्मृति का आश्रयभूत " आत्मा " इन्द्रियों से भिन्न है।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :—

न स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् । १३ ।

पद०—न । स्मृतेः । स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ।

पदा०—(स्मृतेः, स्मर्त्तव्यविषयत्वात्)पूर्वानुभूत पदार्थ स्मृति का विषय होने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य—स्मृतिज्ञान स्मर्त्तव्य विषय के अधीन होता है, इसलिये अनुभवस्मृति का उक्त रीति से समानाधिकरण मानना समीचीन नहीं अर्थात् जिस विषय का अनुभव हो उसी की स्मृति होती है अन्य की नहीं, इस प्रकार विषय नियम पाये जाने पर भी अनुभव स्मृति के उक्त सामानाधिकरण्य की कोई अवश्यकता नहीं, क्योंकि उद्बोधक कारण होने पर तत्काल ही अनुभूत पदार्थ की स्मृति हो आती है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥ १४ ॥

पद०—तदात्मगुणसद्भावात् । अप्रतिषेधः ।

पदा०—(तदात्मगुणसद्भावात्) स्मृति आत्मा का गुण होने से

(अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध नहीं होसक्ता ।

भाष्य—केवल विषय व्यवस्था से अनुभवस्मृति का कार्य्यकारणभाव मानना ठीक नहीं, क्योंकि स्मृति ज्ञान होने से आत्मा का गुण है और उक्त युक्तियों द्वारा आत्मा देहेन्द्रियादि संघात से अतिरिक्त है, यदि अनुभवस्मृति का कार्य्यकारणभाव केवल विषय के अधीन ही होता तो चैत्रानुभूत पदार्थ के देखने से मैत्र को भी स्मृति होती, क्योंकि दोनों का विषय समान है पर ऐसा नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि जिस अधिकरण में अनुभव होता है उसी अधिकरण में स्मृति होती है अन्यत्र नहीं, और जो उक्त स्मृति ज्ञान का अधिकरण है वही इन्द्रियादिसंघात से भिन्न आत्मा है ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य ॥ १५ ॥

पद०—अपरिसंख्यानात् । च । स्मृतिविषयस्य ।

पदा०—(च) और (स्मृतिविषयस्य, अपरिसंख्यानात्) एक स्मृति ज्ञान में अनेक विषयोपलब्धि पायेजाने के कारण आत्मा देहादि से भिन्न है ।

भाष्य—" अज्ञासिषमहममुमर्थमिति "=मैंने इस विषय को जाना था, इत्यादि मानस अनुव्यवसायजन्य संस्कारों से होने वाली स्मृति के विषय नाना हैं एक नहीं अर्थात् उक्त ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय यह तीनों विषय उपलब्ध होते हैं, इससे पाया जाता है कि स्मृति का विषय केवल घट पटादि पदार्थ ही नहीं किन्तु घटादि विषय, पूर्वानुभवज्ञान, और उसका आश्रय आत्मा भी विषय है, इस प्रकार

जो उक्त स्मृति ज्ञान का समवायसम्बन्ध से आधार पदार्थ है वही आत्मा देहेन्द्रियादि संघात से भिन्न है।

वृत्तिकार " विश्वनाथ " ने इस सूत्र को इसप्रकार लापन किया है कि ननु—स्मर्त्तव्य=स्मृति के विषयभूत घटपटादि को ही समवायसम्बन्ध से स्मृति का आश्रय क्यों न मानाजाय? उत्तर— "अपरिसंख्यानाच्च०"= अनेक स्मृति ज्ञानों के अनेक अधिकरण मानने में गौरव तथा तदतिरिक्त एक चेतनात्मा के मानने में लाघव है, इसलिये लाघवबल से भी आत्मा को देहादि से पृथक् मानना ही ठीक है।

तात्पर्य्य यह है कि घटपटादि विषयों को स्मृतिज्ञान का उपादान कारण मानने से उनके नाशद्वारा स्मृतिज्ञान का भी नाश होजाना चाहिये, क्योंकि आश्रयनाश से गुण का नाश सर्वसम्मत है परन्तु उक्त विषय के नाश होने पर भी स्मृतिज्ञान बने रहने से सिद्ध है कि घटपटादि विषयों से अतिरिक्त समवायसम्बन्ध द्वारा जो स्मृतिज्ञान का आश्रय है वही देहादिसंघात से भिन्न आत्मा है।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्षी पुनः आशंका करता है:—

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात्। १६।

पद०—न। आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां। मनसि। सम्भवात्।

पदा०—(न) देहादिसंघात से आत्मा को पृथक् मानना ठीक नहीं, क्योंकि (आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां) आत्मा के साधक हेतु (मनसि)

मन में (सम्भवात्) पाये जाते हैं।

भाष्य–"दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्" इत्यादि हेतु मन में पाये जाने से सर्वविषयी मन ही चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा दर्शन स्पर्शनादिकों को उपलब्ध करता है, इसलिये देहेन्द्रियादि संघात से पृथक् आत्मा मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

सं०–अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं :—

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञा-भेदमात्रम्। १७।

पद०–ज्ञातुः। ज्ञानसाधनोपपत्तेः। संज्ञाभेदमात्रम्।

पदा०–(ज्ञानसाधनोपपत्तेः) ज्ञानसाधन पाये जाने से (ज्ञातुः) ज्ञाता का (संज्ञाभेदमात्रम्) केवल संज्ञाभेद किया है।

भाष्य–जिस प्रकार "चक्षुषापश्यति"=चक्षुः से देखता है, "घ्रानेण जिघ्रति"=घ्राण से सूंघता है, इत्यादि ज्ञाता के बाह्य-विषयोपलब्धि साधन चक्षुरादि इन्द्रिय पाये जाते हैं इसी प्रकार सर्व विषयों के मन्ता=मनन करने वाले आत्मा की मति=मनन क्रिया का साधन भी अन्तरिन्द्रिय है, क्योंकि साधन के विना कोई क्रिया नहीं होसक्ती, या यों कहो कि रूपादि वाह्यविषयों के ज्ञानसाधन की भांति सुखादि आन्तरविषयोपलब्धि का साधन मन और उसका अधिष्ठाता आत्मा उससे भिन्न है सो यदि मन को रूपादि उपलब्धि का आश्रय मानकर उसी को ज्ञाता तथा उससे भिन्न आन्तर साधन मानाजाय तो इससे केवल संज्ञाभेद होता है वस्तु भेद नहीं अर्थात्

जो रूपादि का उपलब्धा " ज्ञाता " और सर्वविषयों की मति का साधन " मन " इस अर्थ में किसी प्रकार का भेद नहीं होसक्ता, यदि वादी का यह अभिप्राय हो कि सिद्धान्त में जिसको " मन " कथन किया है उसी को आत्मा मानना चाहिये तद्भिन्न आत्मा के मानने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि पूर्वपक्षोक्त युक्ति से आत्मसाधक हेतु उसी में पाये जाते हैं तो प्रश्न यह होता है कि ऐसा मानने से "मति" क्रिया का साधन और मानना पड़ेगा, क्योंकि विना साधन के कोई क्रिया नहीं होती, इस प्रकार मन को ज्ञाता और मन से अतिरिक्त अन्य मतिसाधन मानने से उक्त युक्त्यनुसार वादी ने केवल संज्ञाभेद किया है जिससे सिद्धान्त में किसी प्रकार की बाधा नहीं, और दूसरी बात यह है कि "प्रत्याख्याने वा सर्वेन्द्रिय-विलोपप्रसङ्गः" न्या० भा०=यदि दुराग्रहवशात् सुखाद्युपलब्धि का साधन आन्तर इन्द्रिय न मानाजाय तो समानयुक्ति से रूपादि विषयोपलब्धि के साधन बाह्य इन्द्रियों का मानना भी निरर्थक होजायगा परन्तु यह बात वादी को भी इष्ट नहीं, इसलिये यही समीचीन है कि बाह्य ज्ञान के साधन चक्षुरादि की भांति मननक्रिया का साधन आन्तरिन्द्रिय ज्ञाता से भिन्न है ज्ञाता नहीं ।

सं०—ननु, रूपादि का प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य है सुखादि का नहीं ? उत्तर :—

नियमश्चनिरनुमानः । १८ ।

पद०—नियमः । च । निरनुमानः ।

पदा०—(च) और (नियमः) उक्त नियम में (निरनुमानः) कोई प्रमाण नहीं ।

भाष्य—रूपादि विषयकज्ञान इन्द्रियजन्य है सुखादि विषयक नहीं, जो यह नियम कियाजाता यह इसलिये ठीक नहीं कि उक्त नियम में कोई अनुमानादि प्रमाण नहीं पाया जाता जिससे सुखादि विषयोपलब्धि को इन्द्रियाजन्य मानकर वाह्यविषयोपलब्धि इन्द्रियजन्य मानी जाय प्रत्युत जिसप्रकार रूप का ज्ञान चक्षु से होता है गन्ध का नहीं, और गंध का ज्ञान घ्राण द्वारा होता है त्वक् से नहीं, इस प्रकार अन्यान्य विषयोपलब्धि के लिये अन्यान्य इन्द्रियों को माना जाता है इसी प्रकार सुखाद्युपलब्धि के लिये भी आन्तर इन्द्रिय का मानना आवश्यक है, क्योंकि उनकी किसी वाह्यइन्द्रिय से उपलब्धि नहीं होती और नाही वह क्रिया होने के कारण अपनी उत्पत्ति में स्वतन्त्र है ।

सं०—अब आत्मा को नित्य कथन करते हैं :—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः । १९ ।

पद०—पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् । जातस्य । हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ।

पदा०—(पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात्) पूर्वानुभूत पदार्थ विषयक स्मृति के संस्कारद्वारा (जातस्य) उत्पन्न हुए बालक में (हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः) हर्ष, भय और शोक पाये जाने का कारण आत्मा नित्य है ।

भाष्य-" अभिप्रेतविषयप्रार्थनाप्राप्तौ सुखानुभवो-हर्षः "=वाञ्छित वस्तु के संकल्पोत्तर वस्तुप्राप्तिद्वारा होनेवाले सुखानुभव का नाम " हर्ष " " अनिष्टविषयसाधनोपनिपाते तज्जिहासोर्हानाशक्यता भयम्"=अनिष्ट साधनों के प्राप्त होने पर उनकी निवृत्ति में अशक्यता का नाम " भय " और " इष्टविषयवियोगे सति तत्प्राप्त्यशक्यप्रार्थना शोकः "=इष्ट वस्तु का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिये निरर्थक प्रार्थना का नाम " शोक " है वालक के उत्पन्न होते ही उसमें हर्ष, भय तथा शोक पाये जाने से अनुमान होता है कि इसने अवश्य हर्षादि साधनों का अनुभव किया है जिससे उद्बोधक संस्कार द्वारा हर्षभयादि की स्मृति से कभी प्रसन्न होकर हंसता और कभी म्लान होकर रुदन करता है और वर्त्तमान जन्म में तत्काल वालक को हर्षादि हेतुओं का अनुभव हो नहीं सक्ता, क्योंकि उत्पत्तिकालीन वालक में उक्त सामर्थ्य का अभाव है, इस प्रकार उक्त स्मृति का हेतु अनुभव पूर्वजन्म के विना न होने से सिद्ध है कि जो पूर्वजन्म में हर्षादि विषयों का अनुभव करने वाला है वही नित्य आत्मा है यदि आत्मा नित्य न होता किन्तु शरीर के साथ ही उत्पत्तिविनाशवाला होता तो जन्मकालीन वालक में हर्ष, भय तथा शोक कदापि न पाये जाते परन्तु पाये जाते हैं इसलिये उसकी नित्यता में कोई सन्देह नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :—

पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकार-वत्तद्विकारः । २० ।

पद०—पद्मादिषु । प्रबोधसम्मीलनविकारवत् । तद्विकारः ।

पदा०—(पद्मादिषु) पद्म आदि पुष्पों में होने वाले (प्रबोध-सम्मीलनविकारवत्) प्रबोध तथा सम्मीलन की भांति (तद्विकारः) बालक को हर्षादि विकार होता है ।

भाष्य—खिलने का नाम " **प्रबोध** " तथा मीचने का नाम " **सम्मीलन** " है, प्रबोध, विकाश यह दोनों और संकोच, सम्मीलन यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं जिसप्रकार अदृष्ट=शक्ति-विशेष से पद्मादिक पुष्पों में संकोच विकाश होता है इसी प्रकार अदृष्ट द्वारा बालक के मुखविकाशादि=हंसना आदि होते हैं,इसलिये मुखविकाशादि से अनुमेय हर्षादि द्वारा आत्मा को नित्य मानना ठीक नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात्पञ्चा-त्मकविकाराणाम् । २१ ।

पद०—न । उष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् । पञ्चात्मकविका-राणाम् ।

पदा०—(पञ्चात्मकविकाराणाम्) पाञ्चभौतिक पद्मादिकों के विकार (उष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात्) उष्ण, शीत तथा

वर्षाकाल के निमित्त से होने के कारण उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य–पृथिव्यादि पांच भूतों के कार्य्यभूत पद्मादिकों में प्रवोध सम्मीलनादि विकार उष्ण=गर्मी शीत=जाड़ा और वर्षा के निमित्त से पाये जाते हैं, इसलिये उक्त दृष्टान्त द्वारा आत्मा के नित्यत्व का खण्डन करना समीचीन नहीं।

भाव यह है कि कई एक कमलादिक पुष्प सूर्य्योदय होने से उष्णता द्वारा और कई एक कुमुदादिक=रात्रिविकाशी कमल चन्द्रोदयादि निमित्तों के होने से शीतलता के कारण विकसित होते हैं, इस रीति से पद्मादिकों के विकाश में शीतादि निमित्त होते हैं परन्तु इन निमित्तों के विना भी मुखविकाशादि पाये जाने से स्पष्ट है कि पद्मादिकों के दृष्टान्त विषम होने से आत्मवृत्ति नित्यत्व के बाधक नहीं होसक्ते।

सं०–अव उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :—

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात्स्तन्याभिलाषात्। २२

पद०–प्रेत्य। आहाराभ्यासकृतात्। स्तन्याभिलाषात्।

पदा०–(प्रेत्य) पुनर्जन्म होते ही (आहाराभ्यासकृतात्) आहार के अभ्यासद्वारा होने वाली (स्तन्याभिलाषात्) स्तन्यपान की इच्छा पाये जाने से आत्मा नित्य है।

भाष्य–जन्म होते ही वालक की स्तनपान में प्रवृत्ति पाये जाने से अनुमान होता है कि इसको स्तन्य=दूध पीने की अभिलाषा है, क्योंकि इच्छा के विना कोई प्रवृत्ति नहीं होती और उक्त इच्छा आहार=भोजन के अभ्यास से होती है अन्यथा नहीं, यदि पूर्वजन्म में

जीवात्मा को स्तनपानादि आहार का अभ्यास न होता तो उत्पत्त्य-नन्तर तत्काल ही उसकी स्तनपान में प्रवृत्ति नपाई जाती परन्तु उक्त प्रवृत्ति में किसी वादी की विप्रतिपत्ति नहीं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जिसको पूर्वजन्मों में वारम्वार स्तनपानादि क्रिया का अभ्यास हुआ है वही उक्त इच्छा का अधिकरण आत्मा अनादि है, इसप्रकार अनादि भावरूप होने से आत्मा के नित्य होने में कोई सन्देह नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में पुनः आशंका करते हैं :—

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुप-सर्प्पणम् । २३ ।

पद०—अयसः । अयस्कान्ताभिगमनवत् । तदुपसर्प्पणम् ।

पदा०—(अयसः, अयस्कान्ताभिगमनवत्) अयस्कान्त की ओर लोहे के उपसर्प्पण की भांति (तदुपसर्प्पणम्) बालक की स्तनपान में प्रवृत्ति होती है।

भाष्य—जिसप्रकार अयस्कान्त=चुम्बक मणि के सन्मुख होते ही लोहा स्वयं आकर्षित होजाता है इसीप्रकार बालक भी स्तनपान की ओर स्वयं प्रवृत्त होता है उसकी प्रवृत्ति के लिये किसी निमित्तान्तर की अपेक्षा नहीं अर्थात् पूर्वजन्म के अभ्यासद्वारा स्तनपान में प्रवृत्ति मानकर आत्मा को अनादि नित्य कथन करना समीचीन नहीं।

सं०—अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं :—

नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात् । २४ ।

पद०—न। अन्यत्र। प्रवृत्त्यभावात्।

पदा०—(अन्यत्र) अन्य विषय में (प्रवृत्यभावात्) प्रवृत्ति न होने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य—जन्मकालीन बालक की स्तनपान के विना अन्य विषय में प्रवृत्ति न होने से उक्त दृष्टान्त आत्मा की नित्यता का बाधक नहीं अर्थात् जो आत्मनित्यता के प्रतिषेधार्थ चुम्बकमणि का दृष्टान्त दिया गया है वह इसलिये ठीक नहीं कि लोहे का चुम्बक के पास जाना किसी निमित्त के अधीन पाया जाता है अन्यथा नहीं, यदि लोहे के उपसर्प्पण में कोई निमित्त न होता तो लोष्टादिक भी चुम्बक से खैंचे जाते अथवा चुम्बक के विना भी लोहा लोष्टादि से आकर्षित होता पर नहीं होता इससे पाया जाता है कि कोई चुम्बक में शक्तिविशेष है जिससे लोहा ही आकर्षित होता है अन्य पदार्थ नहीं जिस शक्तिविशेष का अनुमान लोहे की उपसर्प्पण क्रिया द्वारा किया जाता है, प्रकृत में तात्पर्य्य यह निकला कि जिस प्रकार लोहे का उपसर्प्पण निमित्त के विना नहीं होता इसी प्रकार बालक की स्तनपान में प्रवृत्ति भी किसी निमित्तविशेष के अधीन है निमित्त के विना नहीं, इस प्रकार उक्त रीति से प्रवृत्ति का निमित्त पूर्वजन्मकृत आहाराभ्यासजन्य भावनानामक संस्कार विशेष है, जिसके द्वारा "इदं ममेष्टसाधनं"=स्तनपान मेरा इष्ट-साधन है, इस ज्ञान से इच्छापूर्वक बालक की स्तनपान में प्रवृत्ति होती है, इससे सिद्ध है कि जो पूर्व २ जन्म में वारंवार स्तनपानादि का अनुभव करने वाला है वह स्मृतिजनक संस्कारों का आश्रयभूत

आत्मा अनादि नित्य है।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

वीतरागजन्मादर्शनात् ॥ २५ ॥

पद०—एकपद०।

पदा०—(वीतरागजन्मादर्शनात्) वीतराग पुरुष का जन्म न होने से आत्मा नित्य है।

भाष्य—"वीतो निवृत्तो रागोयस्य स वीतरागः"= जिसका राग निवृत्त होगया हो उसको "वीतराग" कहते हैं, वीतराग पुरुष का पुनः २ जन्म नहीं होता इस कथन से यह बात अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा सिद्ध होती है कि रागवाले पुरुष का जन्म होता है और पूर्वानुभूतविषयचिन्तन=विषयस्मरण के विना राग का होना असम्भव है, इसलिये विषयचिन्तन ही राग का कारण है, इस प्रकार पूर्व २ शरीर में अनुभूत विषयों का चिन्तन उत्तरोत्तर रागोत्पत्ति का कारण होने से शरीर प्रवाह अनादि है, अतएव तदधिष्ठाता आत्मा के अनादि नित्य होने में कोई वाधा नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में आक्षेप करते हैं:—

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः ॥ २६ ॥

पद०—सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्। तदुत्पत्तिः।

पदा०—(सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्) गुणविशिष्ट द्रव्य की उत्पत्ति के समान (तदुत्पत्तिः) रागविशिष्ट आत्मा की उत्पत्ति होने से आत्मा को अनादि नित्य मानना ठीक नहीं।

भाष्य–जिस प्रकार रूपादि गुणों के साथ ही घटादिक द्रव्यों की उत्पत्ति पाई जाती है अर्थात् घटादि कार्य्यों के साथ रूपादिक गुण स्वतः उत्पन्न होजाते हैं इसी प्रकार शरीर के साथ उत्पन्न होने वाले आत्मा में भी इच्छादि गुण स्वतः उत्पन्न होजाते हैं इसलिये पूर्व २ जन्म में इच्छादि गुणों के आश्रयार्थ अनादि नित्य आत्मा के मानने की कोई आवश्यकता नहीं ।

तात्पर्य्य यह है उत्पत्ति से पूर्व राग न होने के कारण पूर्वजन्म का अभाव और उसके अभाव द्वारा नित्य आत्मा का अभाव स्वतःसिद्ध होने से उक्त हेतु अनुकूल तर्क रहित होने के कारण प्रामाणिक नहीं ।

सं०–अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं:–

न संकल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ॥ २७ ॥

पद०–न । संकल्पनिमित्तत्वात् । रागादीनाम् ।

पदा०–(रागादीनाम्) रागादिकों के संकल्पनिमित्त होने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं ।

भाष्य–"**इदं ममेष्टसाधनम्**"=यह मेरा इष्ट साधन=इष्टसिद्धि का हेतु है, इत्यादि ज्ञान को "**संकल्प**" कहते हैं, घटादि सगुण द्रव्य के समान रागादि गुणों की उत्पत्ति नहीं होसक्ती क्योंकि उनका कारण संकल्प होता है अर्थात् पूर्वानुभूत विषयों के चिन्तनरूप संकल्प द्वारा राग की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं, यदि आत्मा जन्य पदार्थ होता और उसके उपादान कारण से ही

घटगतरूप की भांति राग की उत्पत्ति होती तो रागोत्पत्ति का कारण संकल्प न पाया जाता परन्तु वह संकल्प भिन्न कारण से जन्य नहीं और नाहीं अप्राकृत होने से आत्मा का कोई उपादान-कारण है, इससे सिद्ध है कि राग और आत्मा की रूपादि गुण-विशिष्ट घटादि द्रव्य की भांति उत्पत्ति नहीं होती किन्तु आत्मा उत्पत्ति विनाश से रहित अजन्य और राग का कारण संकल्प है इस प्रकार उत्पत्ति से पूर्व राग संकल्पजन्य होने के कारण पूर्वजन्म का अभाव नहीं होसक्ता और पूर्वजन्म के सिद्ध होने से रागादि गुणों के आश्रयभूत शरीराधिष्ठाता आत्मा के अनादि नित्य होने में कोई बाधा नहीं।

भाव यह है कि इच्छादि गुणों का निमित्तकारण इष्टसाधनता-ज्ञान, प्रवृत्ति का कारण इच्छा और चेष्टा का कारण प्रवृत्ति है इस प्रकार उत्तरोत्तर कार्य्यकारणभाव पाये जाने से उक्त आत्मनित्यता साधक हेतुओं में अनुकूल तर्क का अभाव न होने के कारण निः-सन्देह आत्मा अनादि नित्य है।

सं०—आत्मरूप प्रमेय की परीक्षा के अनन्तर अब शरीर की परीक्षा करते हैं:—

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥ २८ ॥

पदा०—(गुणान्तरोपलब्धेः) गन्धादि गुणों के पाये जाने से (पार्थिवं) अस्मदादि शरीर पार्थिव हैं।

भाष्य—पृथिवी के कार्य्य का नाम "पार्थिव" है, गन्धादि

विशेष गुणों के पाये जाने से मनुष्यादिक शरीर पार्थिव हैं अर्थात् जिसके कार्य्य में जिन विशेषगुणों की उपलब्धि हो वह उन्हीं विशेषगुणों वाले उपादान का कार्य्य होता है,इस नियम के अनुसार जिस प्रकार जलीयादि-शरीरों में जलादिवृत्ति शीतस्पर्शादि गुणों की उपलब्धि से वह जलाद्युपादानक होते हैं इसी प्रकार गन्ध, नीलरूप तथा कठिन स्पर्शादि गुणों की उपलब्धि पाये जाने के कारण मनुष्यादिक शरीर पृथिवीकार्य्य होने से "पार्थिव" जानने चाहियें।

स्मरण रहे कि यद्यपि पार्थिव शरीर केवल पृथिवी से उत्पन्न नहीं होता क्योंकि उसके साथ जलादिकों का भी संयोग पाया जाता है तथापि वह उसकी उत्पत्ति में निमित्त है उपादान नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि अस्मदादि शरीर पांच भूतों के उपलब्ध होने पर भी पृथिवी परमाणुओं की विशेषता होने के कारण उनकी "पार्थिव" संज्ञा है, इसका विशेष विचार "वात्स्यायनभाष्य" तथा "न्यायवार्त्तिक" में किया है यहां अधिक उपयोगी न होने से नहीं लिखा।

सं०–अब उक्त अर्थ में तीन सूत्रों द्वारा अन्य आचार्य्यों के मत कथन करते हैं:—

पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः ।२९।

पद०–पार्थिवाप्यतैजसं। तद्गुणोपलब्धेः।

पदा०–(तद्गुणोपलब्धेः) गन्ध, स्नेह तथा उष्णस्पर्श के उपलब्ध होने से अस्मदादि शरीर (पार्थिवाप्यतैजसम्) त्रैभौतिक हैं।

भाष्य–गन्ध, स्नेह और उष्णस्पर्श के पाये जाने से प्रतीत होता है कि अस्मदादि शरीर पृथिवी, जल, तेज इन तीनों भूतों का कार्य्य होने से "त्रैभौतिक" हैं।

निश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम् । ३० ।

पद०–निश्वासोच्छ्वासोपलब्धेः । चातुर्भौतिकम् ।

पदा०–(निश्वासोच्छ्वासोपलब्धेः) गन्धादि तीनों तथा श्वासप्रश्वास रूप प्राण वायु के पाये जाने से उक्त शरीर (चातुर्भौतिकम्) चातुर्भौतिक हैं।

भाष्य–पृथिवी, जल, तेज और वायु इनसे उत्पन्न होने वाले का नाम "चातुर्भौतिक" है।

गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकम् । ३१ ।

पद०–गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः । पाञ्चभौतिकम् ।

पदा०–(गन्धक्लेद०) गन्ध, क्लेद=जलविशेष पाक=तेजः-संयोग व्यूह=प्राणगति अवकाश=छिद्र इनके पाये जाने से (पाञ्चभौतिकम्) अस्मदादि शरीर "पाञ्चभौतिक" हैं।

भाष्य–कई एक आचार्य्यों का कथन है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांचभूतों का कार्य्य होने से शरीर "पाञ्चभौतिक" है।

सं०-अब शरीर के पार्थिव होने में शब्दप्रमाण कथन करते हैं:—

श्रुतिप्रामाण्याच्च । ३२ ।

पद०-श्रुतिप्रामाण्यात् । च ।

पदा०-(श्रुतिप्रामाण्यात्) शब्द प्रमाण से (च) भी अस्मदादि शरीर पार्थिव है ।

भाष्य-"**भस्मान्तꣳशरीरम्**" यजु०४०।१५ "**सूर्य्यन्ते चक्षुर्गच्छतात्पृथिवीन्ते शरीरम्**"=शरीर भस्मान्त है,तेरा चक्षुरिन्द्रिय सूर्य्य=तेज और शरीर पृथिवी में लय को प्राप्त हो, इत्यादि वाक्यों से पाया जाता है कि शरीर "**पार्थिव**" है, यदि ऐसा न होता तो उसका अपने कारण में लय कथन न किया जाता, क्योंकि कार्य्य का अपने कारण में लय होता है अन्यत्र नहीं परन्तु उक्त कथन शरीर का अपने समवायिकारण में लय बोधन करता है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि अस्मदादिकों के शरीर पार्थिव हैं, इसका विस्तारपूर्वक निरूपण "**वैशेषिकार्य्यभाष्य**" में किया है यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं ।

सं०-अब क्रमप्राप्त इन्द्रियपरीक्षा का आरम्भ करते हुए प्रथम उसमें संशय कथन करते हैं:—

कृष्णसारे सत्युपलम्भाद्व्यतिरिच्य-चोपलम्भात्संशयः । ३३ ।

पद०-कृष्णसारे। सति। उपलम्भात्। व्यतिरिच्य। च। उपलम्भात्। संशयः।

पदा०-(कृष्णसारे) कृष्णसार के (सति) होने पर (उपलम्भात्) विषयोपलब्धि होने से (च) और (व्यतिरिच्य) विषय को प्राप्त होकर चक्षुरिन्द्रिय द्वारा उपलब्धि पाये जाने से (संशयः) इन्द्रियों में संशय पाया जाता है कि वह भौतिक हैं किंवा अभौतिक हैं।

भाष्य-चक्षुर्गोलक=आंखकी पुतली का नाम "कृष्णसार" है, कृष्णसार के होने पर घटपटादि पदार्थों की उपलब्धि होती है न होने से नहीं, इसलिये चक्षुरिन्द्रिय गोलक से अतिरिक्त स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, ऐसा कई एक आचार्य्य मानते हैं और दूसरे आचार्य्यों का यह सिद्धान्त है, कि विषय को प्राप्त होकर इन्द्रिय अर्थ के प्रकाशक होते हैं अन्यथा नहीं, इस नियम के अनुसार "प्राप्यप्रकाशकारी" होने के कारण चक्षुरिन्द्रिय गोलकरूप नहीं किन्तु उससे भिन्न गोलकस्थानवर्त्ती तैजस पदार्थ है।

तात्पर्य्य यह है कि भौतिक कृष्णसार के नष्ट होने पर विषयोपलब्धि नहीं होती और कृष्णसार को छोड़कर भी विषयदेश पर्य्यन्त चक्षुरिन्द्रिय की गति पाई जाती है, इससे यह सन्देह होता है कि इन्द्रिय भौतिक=पांच भूतों के कार्य्य हैं अथवा अभौतिक=अहङ्कार से उत्पन्न होते हैं।

सं०-अब उक्त विषय में "अभौतिकवादी" का मत कथन करते हैं:-

महदणुग्रहणात् । ३४ ।

पद०—एकपद० ।

पदा०—(महदणुग्रहणात्) महत् तथा अणु पदार्थ का ग्रहण पाये जाने से इन्द्रिय " अभौतिक " हैं ।

भाष्य—" महदिति महत्तरं महत्तमञ्चोपलभ्यते यथा न्यग्रोधपर्वतादि अण्वित्यणुतरमणुतमञ्च गृह्यते यथा न्यग्रोधधानादि " न्या० भा०=छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े पदार्थों की उपलब्धि पाये जाने के कारण सिद्ध है कि इन्द्रिय " अभौतिक " हैं अर्थात् जिसप्रकार चक्षुरिन्द्रिय से वटवृक्ष तथा पर्वतादि महान् पदार्थों की उपलब्धि होती है इसीप्रकार वटबीजादि सूक्ष्मपदार्थों का ज्ञान भी पाया जाता है, यदि इन्द्रिय " भौतिक " होते तो चक्षुः से महत्=बड़े और अणु=छोटे पदार्थों का साक्षात्कार न पाया जाता क्योंकि भौतिक पदार्थ अपने परिमाण से अधिक परिमाण वाले द्रव्य को व्याप्त नहीं कर सक्ता जैसाकि बड़े छोटे घटपटादि पदार्थों में प्रसिद्ध है परन्तु चक्षुः से महदणु पदार्थों का ग्रहण पाये जाने के कारण स्पष्टसिद्ध है कि इन्द्रिय "अभौतिक" हैं ।

भाव यह है कि अहंकार सापेक्ष व्यापक होने से तत्कार्य्यभूत इन्द्रिय विषयदेश को सर्वत्र व्याप्त करसक्ते हैं इसलिये उनको अभौतिक मानना ही समीचीन है ।

सं०—अब उक्त अर्थ में दोष कथन करते हैं :—

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात्तद्ग्रहणम् । ३५ ।

पद०—रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् । तद्ग्रहणम् ।

पदा०—(रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात्) चक्षुरिन्द्रिय की रश्मि और विषय का परस्पर संयोग होने से (तद्ग्रहणम्) महदणु पदार्थ का साक्षात्कार होता है अभौतिक होने से नहीं ।

भाष्य—जब नेत्ररश्मि=चक्षुरिन्द्रिय की किरण तथा घटपटादि विषयों का परस्पर संयोग होता है तभी साक्षात्कार होता है अन्यथा नहीं, इसलिये विषयोपलब्धि इन्द्रियों के अभौतिक होने में हेतु नहीं होसक्ती अर्थात् जिसप्रकार भौतिक प्रदीपरश्मि भित्ति आदि से अव्यवहित पदार्थ का प्रकाश करती है व्यवहित का नहीं इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय भी अव्यवहित पदार्थ का प्रकाशक होने से भौतिक है अभौतिक नहीं, यदि वह अभौतिक होता तो प्रकृति के अहंकारादि कार्य्यों के समान सर्वत्र समव्यापक होने से व्यवहिताव्यवहित पदार्थ का प्रकाशक होता पर नहीं होता, इससे सिद्ध है कि चक्षुरिन्द्रिय अभौतिक मानना ठीक नहीं ।

सं०—अब पूर्वपक्षी उक्त अर्थ में आक्षेप करता है :—

तदनुपलब्धेरहेतुः । ३६ ।

पद०—तदनुपलब्धेः । अहेतुः ।

पदा०—(तदनुपलब्धेः) नेत्ररश्मि की उपलब्धि न होने से (अहेतुः) उक्त हेतु ठीक नहीं ।

भाष्य—जो नेत्ररश्मि=आंख की ज्योति और पदार्थ संयोग से विषयोपलब्धि कथन की गई है वह इसलिये ठीक नहीं कि नेत्ररश्मि

में कोई प्रमाण नहीं पाया जाता अर्थात् यदि वास्तविक चक्षुरिन्द्रिय की रश्मि होती तो गोलक के समान उसकी उपलब्धि पाई जाती परन्तु नहीं पाई जाती, इसलिये गोलकातिरिक्त चक्षुरिन्द्रिय का मानना केवल कल्पनामात्र है।

सं०-अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं:—

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः । ३७ ।

पद०-न। अनुमीयमानस्य । प्रत्यक्षतः । अनुपलब्धिः । अभावहेतुः ।

पदा०-(अनुमीयमानस्य) अनुमानसिद्ध वस्तु की (प्रत्यक्षतः) प्रत्यक्ष से (अनुपलब्धिः) अनुपलब्धि उसके (अभावहेतुः) अभाव का कारण नहीं।

भाष्य-यह नियम है कि जो पदार्थ प्रत्यक्ष का विषय न हो वह अनुमानादि प्रमाण द्वारा ज्ञात होता है, इस नियम के अनुसार प्रत्यक्ष का न होना वस्तु के अभाव का हेतु नहीं होसक्ता, इसलिये अनुमानसिद्ध नेत्ररश्मि का अभाव कथन करना ठीक नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ को दो सूत्रों से स्फुट करते हैं :—

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः । ३८ ।

पद०-द्रव्यगुणधर्मभेदात् । च । उपलब्धिनियमः ।

पदा०-(च) और (द्रव्यगुणधर्मभेदात्) द्रव्यधर्म तथा गुण धर्म के भेद से (उपलब्धिनियमः) प्रत्यक्ष का नियम होता है।

भाष्य—द्रव्यधर्म=महत्परिमाणादि गुणधर्म=उद्भूतत्वादि प्रत्यक्ष के नियामक होते हैं अर्थात् जिन पदार्थों में महत्परिमाणादि तथा उद्भूतत्वादि धर्म पाये जाते हैं उन्हीं की प्रत्यक्ष से उपलब्धि होती है सब की नहीं, इसप्रकार चक्षुरिन्द्रिय में उद्भूतरूप न होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता।

भाव यह है कि क्रिया करणजन्य होती है, इस नियमानुसार जिस प्रकार छिदि क्रिया कुठारादि साधनों से जन्य है इसी प्रकार नील पीतादि रूपों की उपलब्धि क्रिया होने से करणजन्य है और जो उसका करण है वही चक्षुरिन्द्रिय है, इस प्रकार अनुमान द्वारा चक्षुरिन्द्रिय के सिद्ध होने से नेत्ररश्मि का अभाव कथन करना वादी की भ्रान्ति है।

अनेकद्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः । ३९ ।

पद०—अनेकद्रव्यसमवायात्। रूपविशेषात्। च। रूपोपलब्धिः।

पदा०—(अनेकद्रव्यसमवायात्) अनेकद्रव्य में समवेत होने (च) और (रूपविशेषात्) रूप विशेष से (रूपोपलब्धिः) रूप की उपलब्धि होती है।

भाष्य—कार्य्यद्रव्य का नाम "अनेकद्रव्य" और रूपवृत्ति उद्भूतत्वादि धर्म को "रूपविशेष" कहते हैं, जो रूप अनेकद्रव्य=महत्परिमाण वाले द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहे और उद्भूतत्वधर्म वाला हो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है अन्य का नहीं, इसलिये

नेत्ररश्मि में उद्भूतरूप न पायेजाने के कारण उसकी प्रत्यक्ष से उपलब्धि नहीं होती, इसका विशेष विचार "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में स्फुट है।

सं०—ननु, चक्षु में उद्भूतरूप क्यों नहीं ? उत्तरः—

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ॥ ४० ॥

पद०—कर्मकारितः। च। इन्द्रियाणां। व्यूहः। पुरुषार्थतन्त्रः।

पदा०—(च) और (कर्मकारितः) अदृष्टरूप कर्म से होने वाली (इन्द्रियाणां) इन्द्रियों की (व्यूहः) रचना (पुरुषार्थतन्त्रः) पुरुष के भोगाधीन है।

भाष्य—जिसप्रकार सुखदुःखोपभोग पुरुष के कर्माधीन है अर्थात् जिसका जैसा अदृष्ट होता है उसको वैसा ही सुखदुःख प्राप्त होता है इसी प्रकार सुखदुःखान्यतर साक्षात्कार के साधनभूत इन्द्रियों की रचना भी अदृष्टाधीन है, अदृष्टाधीन सृष्टि रचना में ननुनच करना पुरुष की शक्ति से बाहिर है।

तात्पर्य्य यह है कि जीवों के तत्तत् कर्मानुसार ही ईश्वर उनको सुख दुःखोपभोगार्थ साधन सम्पत्ति देता है अन्यथा नहीं, इसलिये चक्षुरिन्द्रिय में केवल रूपादि ग्रहण का सामर्थ्य है उद्भूतरूप नहीं क्योंकि उद्भूतरूप न होने पर भी उससे रूपाद्युपलब्धि का प्रयोजन सिद्ध होसक्ता है।

सं०–अब इन्द्रियों के "भौतिकत्व" में और युक्ति कथन करते हैं:–

अव्यभिचाराच्च प्रतीघातो भौतिकधर्मः।४१।

पद०–अव्यभिचारात्। च। प्रतीघातः। भौतिकधर्मः।

पदा०–(च) और (अव्यभिचारात्) व्यभिचार न पाये जाने से (प्रतीघातः) प्रतीघात (भौतिकधर्मः) भूतों का स्वाभाविक धर्म्म है।

भाष्य–अन्य वस्तु को रोक देने का नाम "प्रतीघात" है, प्रतीघात, प्रतिघात और रुकावट यह पर्य्याय शब्द हैं, भित्ति आदि का व्यवधान होने से प्रत्यक्ष नहीं होता न होने से होता है इस अन्वयव्यतिरेक द्वारा सिद्ध है कि चक्षुः तैजस होने के कारण भौतिक है क्योंकि प्रतिघातनामक धर्म भूत तथा उनके कार्य्यों में स्वाभाविक पाया जाता है।

तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार दीपप्रकाशादि प्रतिघाती द्रव्य भौतिक हैं इसी प्रकार प्रतिघाती होने से चक्षुरिन्द्रिय भी भौतिक है और उसके भौतिक होने में अनुमान यह है कि "चक्षुर्भौतिकं कुड्यादिभिः प्रतीघातदर्शनात् घटादिवत्"=जिसका भित्ति आदि के साथ प्रतिघात पाया जाता है वह भौतिक होता है इस व्याप्ति के अनुसार जिस प्रकार घट पटादि पदार्थ प्रतिघाती होने से भौतिक हैं वैसेही भित्ति आदि के साथ प्रतिघात पाये जाने के कारण चक्षुरिन्द्रिय भी भौतिक है।

सं०—अब चक्षुरिन्द्रिय के प्रत्यक्षाभाव में दृष्टान्त कथन करते हैं:

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ॥ ४२ ॥

पद०—मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत् । तदनुपलब्धिः ।

पदा०—(मध्यन्दि०) मध्यान्हकाल में उल्काप्रकाश की अनुपलब्धि के समान (तदनुपलब्धिः) चक्षुरिन्द्रिय की उपलब्धि नहीं होती ।

भाष्य—तारा, नक्षत्रादि का नाम "उल्का" सूर्य्यप्रकाश का नाम "सौरालोक" और स्वसमानजातीय महान् प्रकाश द्वारा अल्प प्रकाश के दब जाने को "अभिभव" कहते हैं, जैसे अनेकद्रव्यसमवेतत्व तथा उद्भूतरूपादि कारणों के होने पर भी मध्यान्हकाल में सौरालोक से अभिभव को प्राप्त हुआ उल्काप्रकाश नहीं दीखता इसी प्रकार महत्परिमाण=मध्यमपरिणाम होने पर भी उद्भूतरूप न होने से चक्षुरिन्द्रिय का प्रत्यक्ष नहीं होता ।

भाव यह है कि उल्काप्रकाश की अनुपलब्धि में सौरालोकजन्य अभिभव के समान नेत्ररश्मि की अनुपलब्धि में उद्भूतरूप का अभाव ही कारण है ।

सं०—ननु, उल्काप्रकाश की भांति लोष्टादि पदार्थों में भी सूर्य्यप्रकाश द्वारा अभिभव ही क्यों न माना जाय ? उत्तर :—

न रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥ ४३ ॥

पद०—न। रात्रौ। अपि। अनुपलब्धेः।

पदा०—(रात्रौ) रात्रिकाल में (अपि) भी (अनुपलब्धेः) उपलब्धि न पाये जाने से लोष्टादिकों में (न) तैजसरश्मि का अभाव है।

भाष्य—वायु में रूप की भांति लोष्टादिकों में तैजसरश्मि का अत्यन्ताभाव पाया जाता है, यदि उनमें तैजसरश्मि होती तो रात्रिकाल में उल्काप्रकाश की भांति उनका प्रकाश भी पाया जाता पर ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध है कि लोष्टादिकों में तैजसरश्मि नहीं, और उक्तरश्मि के न होने से उनको उल्कादि पदार्थों के समान तैजस मानना ठीक नहीं।

सं०—ननु, उल्काप्रकाश के समान नेत्ररश्मि का अन्यतेज से अभिभव ही क्यों न माना जाय? उत्तरः—

वाह्यप्रकाशानुग्रहाद्विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः॥ ४४॥

पद०—वाह्यप्रकाशानुग्रहात्। विषयोपलब्धेः। अनभिव्यक्तितः। अनुपलब्धिः।

पदा०—(वाह्यप्रकाशानुग्रहात्) वाह्य प्रकाश की सहायता से (विषयोपलब्धेः) चक्षु द्वारा विषयोपलब्धि होने के कारण (अनभिव्यक्तितः) अभिभव से (अनुपलब्धिः) चक्षुः की उपलब्धि का अभाव कथन करना ठीक नहीं।

भाष्य—सौरालोकादि सहकारी कारण के होने पर ही चक्षुः

विषय का प्रकाशक होता है अन्यथा नहीं, यदि चक्षुः में उद्भूतरूप होता तो वह विषयप्रकाशार्थ स्वभिन्न आलोक की अपेक्षा न करता प्रत्युत सूर्य्यादि प्रकाश की भांति स्वतन्त्र प्रकाशक होता परन्तु ऐसा नहीं, इससे स्पष्ट है कि चक्षुरिन्द्रिय उद्भूतरूप वाला नहीं, और नाही उसका सूर्य्यादि बलवत् प्रकाश से अभिभव पाया जाता है, यदि दुराग्रह से चक्षुः के उद्भूतरूप का अभिभव मानाजाय तो भी वादी की इष्टसिद्धि नहीं होसक्ती, क्योंकि अभिभूतप्रकाश अन्य वस्तु का प्रकाशक नहीं होता पर चक्षुः का प्रकाशक होना सर्वानुभवसिद्ध है यदि वह प्रकाशान्तर से अभिभूत होता तो मध्याह्नकालीन उल्काप्रकाश के समान घटपटादि पदार्थों का प्रकाशक न होता पर होता है, इससे सिद्ध है कि उसके रूप का अभिभव नहीं, अतएव उसमें अनुद्भूतरूप मानना ही समीचीन है ।

सं०-अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं:-

अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ॥ ४५ ॥

पद०-अभिव्यक्तौ । च । अभिभवात् ।

पदा०-(अभिव्यक्तौ) उद्भूतरूप के होने (च) और बाह्य प्रकाश की अपेक्षा न होने पर ही (अभिभवात्) अभिभव होता है अन्यथा नहीं ।

भाष्य-यह नियम है कि जो रूप उद्भूत हो तथा बाह्यप्रकाश की अपेक्षा न करे उसी का सजातीय बलवत् प्रकाश से अभिभव होता है, इस नियम के अनुसार नेत्ररश्मि का अभिभव कथन करना

ठीक नहीं, क्योंकि उसमें न तो उद्भूतरूप है और नाही वह विषय प्रकाश काल में बाह्यप्रकाश निरपेक्ष है प्रत्युत बाह्यप्रकाश की सहायता से ही विषय का प्रकाशक होता है।

सं०—अब चक्षुरिन्द्रिय के तैजस होने में और हेतु कथन करते हैं:—

नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनात् ॥ ४६ ॥

पद०—एकपद० ।

पदा०—(नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनात्) रात्रिचर जीवों की नेत्ररश्मि के उपलब्ध होने से भी चक्षुः तैजस है।

भाष्य—प्रायः रात्रि में विचरने वाले उल्लूकादि जीवों का नाम "नक्तञ्चर" है, नक्तञ्चर, रात्रिचर यह दोनों एकार्थवाची हैं, उल्लूक, मार्जार तथा सिंह आदि जीवों की नेत्ररश्मि अन्धेरे में प्रत्यक्ष से उपलब्ध होती है जिससे अनुमान किया जाता है कि चक्षुरिन्द्रिय गोलक से अतिरिक्त तैजस पदार्थ है।

सं०—अब पूर्वपक्षी उक्त अर्थ में प्रकारान्तर से आक्षेप करता है:—

अप्राप्यग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ॥ ४७ ॥

पद०—अप्राप्यग्रहणं । काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ।

पदा०—(काचा०) काच, अभ्रक और स्फटिक का व्यवधान होने पर भी विषयोपलब्धि पायेजाने से (अप्राप्यग्रहणं) प्राप्ति के विना ही चक्षुः विषय का प्रकाशक होता है।

भाष्य—काचादि पदार्थों का व्यवधान होने पर भी चक्षुः द्वारा विषय का प्रकाश पाये जाने से सिद्ध है कि विषय सम्बन्ध न होने पर भी चक्षुः से अर्थ का प्रकाश होता है यदि चक्षुः तैजस पदार्थ होता तो भित्ति के समान काचादि से प्रतिघात होने पर भी अर्थ का प्रकाशक न होता पर होता है, इससे स्पष्ट है कि सम्बन्ध के बिना अर्थ का प्रकाशक होने से चक्षुरिन्द्रिय तैजस नहीं।

सं०—अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं:—

कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥ ४८ ॥

पद०—कुड्यान्तरितानुपलब्धेः। अप्रतिषेधः।

पदा०—(कुड्यान्तरितानुपलब्धेः) भित्तिरूप व्यवधान के होने पर उपलब्धि न होने से (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य—विषयप्राप्ति=विषयसम्बन्ध के बिना चक्षुः अर्थ का प्रकाशक न होने से वह गोलकातिरिक्त तैजस पदार्थ है गोलकरूप नहीं, यदि चक्षुः विषयप्राप्ति के बिना अर्थका प्रकाशक होता तो भित्ति आदि व्यवधान होने पर भी विषयोपलब्धि पाई जाती, क्योंकि विषय के साथ अप्राप्ति व्यवधान और अव्यवधान काल में समान है परन्तु उक्त व्यवधान होने से विषयोपलब्धि नहीं होती, इससे सिद्ध है कि चक्षुः गोलकातिरिक्त तैजस पदार्थ है जिसके साथ अव्यवहित विषय का सम्बन्ध होने से प्रत्यक्ष होता है अन्यथा नहीं।

सं०—ननु, भित्ति के समान काचादि व्यवधान विषयेन्द्रिय-संयोग का बाधक क्यों नहीं ? उत्तर:—

अप्रतिघातात्सन्निकर्षोपपत्तिः ॥ ४९ ॥

पद०—अप्रतिघातात् । सन्निकर्षोपपत्तिः ।

पदा०—(अप्रतिघातात्) प्रतिघात न होने से (सन्निकर्षोपपत्तिः) सन्निकर्ष की उपपत्ति होती है ।

भाष्य—काच तथा स्फटिकादि स्वच्छ पदार्थ भित्ति के समान नेत्ररश्मि के प्रतिघातक=प्रतिबन्धक नहीं होते, इसलिये चक्षुः का विषय के साथ संयोग होने से विषयोपलब्धि में कोई बाधा नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ को दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं :—

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेऽपि दाह्येऽविघातात् ॥ ५० ॥

पद०—आदित्यरश्मेः । स्फटिकान्तरिते । अपि । दाह्ये । अविघातात् ।

पदा०—(स्फटिकान्तरिते) स्फटिक का व्यवधान होने पर (अपि) भी (दाह्ये) दाह्य पदार्थ में (आदित्यरश्मेः) सूर्य्य की रश्मि का (अविघातात्) प्रतिघात न होने से उक्त अर्थ की सिद्धि पाई जाती है ।

भाष्य—दाह करने योग्य वस्त्रादि पदार्थों का नाम "दाह्य" है, जिस प्रकार मध्य में स्फटिक=सूर्य्यकान्तामणि रखने पर भी सूर्य्य की किरणें निकलकर दाह्य वस्तु को दग्ध करती हैं अर्थात् स्फटिकमणि से सूर्य्य किरणों का भित्ति के समान प्रतिघात नहीं होता

इसीं प्रकार काचादि स्वच्छ पदार्थ भी नेत्ररश्मि के अवरोधक नहीं होते प्रत्युत चक्षुः के साथ विषयसम्बन्ध के लिये विशेष उपकारी देखे जाते हैं जैसाकि उपनेत्र=ऐनक के लगाने से विशेषतः विषयोपलब्धि सर्वानुभव सिद्ध है।

"वात्स्यायनमुनि" ने इस सूत्र के आशय को इसप्रकार स्फुट किया है कि "आदित्यरश्मेरविघातात्, स्फटिकान्तरितेऽप्यविघातात्, दाह्येऽविघातात्" न्या० भा०=जिस प्रकार सूर्य्य की रश्मि का घटादि पदार्थों से अवरोध नहीं होता किन्तु तैजस होने के कारण वह घट के अन्दर प्रवेश करके जल को उष्ण कर देती हैं अथवा स्फटिक, काचादि आवरकद्रव्यों का व्यवधान होने पर भी प्रदीप रश्मियों द्वारा अर्थ का प्रकाश विशेष रूप से देखाजाता है किंवा स्थाली के अधोभाग का व्यवधान पाये जाने पर भी वन्हि का तण्डुलादि दाह्यवस्तु के साथ संयोग होने से उनका पाक होजाता है इसी प्रकार काचादि व्यवधायक वस्तुओं का प्रतिघात होने पर भी घटपटादि विषयों के साथ चक्षुः संयोग होने में कोई बाधा नहीं, इसलिये सूर्य्यादि तैजसपदार्थ के समान चक्षुरिन्द्रिय को "प्राप्यप्रकाशकारि" मानना ही समीचीन है।

सं०—अब पूर्वपक्षी उक्त अर्थ में आक्षेप करता है :—

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् । ५१ ।

पद०—न । इतरेतरधर्मप्रसङ्गात् ।

पदा०-(इतरेतरधर्मप्रसङ्गात्) इतरेतरधर्म का प्रसङ्ग पाये जाने से काचादिद्वारा अविघात मानना (न) ठीक नहीं।

भाष्य-परस्परधर्म का नाम "इतरेतरधर्म" और उसकी प्राप्ति को "इतरेतरधर्मप्रसङ्ग" कहते हैं, काचादिद्वारा चक्षुरिन्द्रिय का अविघात मानना इसलिये ठीक नहीं कि ऐसा मानने से "इतरेतरधर्म" की आपत्ति होगी अर्थात् काचादि के समान भित्ति आदि द्रव्यों को नेत्ररश्मि का अवरोधक न मानें अथवा भित्ति आदि की भांति काचादिकों को भी प्रतिघाती द्रव्य माना जाय तो इन दोनों पक्षों में विनिगमना=एकतर पक्ष की साधक युक्ति नहीं पाई जाती, इसलिये उक्त दृष्टान्त से काचादिद्वारा नेत्ररश्मि का अविघात मानना ठीक नहीं।

सं०-अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं:—

आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद्रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः । ५२ ।

पद०-आदर्शोदकयोः । प्रसादस्वाभाव्यात् । रूपोपलब्धिवत् । तदुपलब्धिः ।

पदा०-(प्रसादस्वाभाव्यात्) स्वच्छ होने के कारण (आदर्शोदकयोः) दर्पण तथा जल में (रूपोपलब्धिवत्) मुखादि रूप की उपलब्धि के समान (तदुपलब्धिः) काचादि व्यवहित पदार्थ की उपलब्धि होती है।

भाष्य-जिस प्रकार स्वच्छ होने से दर्पण तथा जल में मुखादि

प्रतिबिम्ब की उपलब्धि होती है इसी प्रकार काचादि पदार्थों का व्यवधान होने पर भी घटपटादि पदार्थों की उपलब्धि होती है, क्योंकि वह भी दर्पणादि की भांति स्वच्छ पदार्थ हैं और उक्त स्वच्छता के न पाये जाने से भित्ति आदि पदार्थों से व्यवहित विषय की उपलब्धि नहीं होसक्ती, इसलिये भित्तिआदि के समान काचादि स्वच्छ द्रव्यों को व्यवधायक कथन करना समीचीन नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं :—

दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः।५२।

पद०—दृष्टानुमितानाम्। नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः।

पदा०—(दृष्टानुमितानाम्) दृष्ट और अनुमित पदार्थ का (नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः) नियोग तथा प्रतिषेध करना ठीक नहीं।

भाष्य—जो पदार्थ प्रत्यक्ष अथवा अनुमानादि प्रमाण से सिद्ध हो उसका नियोग तथा प्रतिषेध नहीं होसक्ता, प्रकृत में स्वरूप से यथासिद्ध वस्तु में अन्यरूप के आरोप का नाम "नियोग" तथा युक्त्यन्तर से प्रमाणसिद्ध वस्तु के निराकरण का नाम "प्रतिषेध" है; प्रमाणसिद्ध वस्तु में नियोग प्रतिषेध का कथन करना इसलिये ठीक नहीं कि सहस्रवार नियोग प्रतिषेध करने पर भी रूप की भांति गन्ध चाक्षुष तथा गन्ध की भांति रूप अचाक्षुष नहीं होता, क्योंकि चक्षुः से रूप का तथा घ्राण से गन्ध का प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है, इस प्रकार भित्ति आदि की भांति काचादि पदार्थों को प्रतिघाती

तथा काचादि के समान भित्ति आदि को अप्रतिघाती कथन करना केवल साहसमात्र है ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे रूप का चाक्षुप और गन्ध का घ्राणज होना प्रमाणसिद्ध है वैसे ही भित्ति आदि का प्रतिघाती और काचादि का अप्रतिघाती होना भी अनुमान प्रमाणसिद्ध है अर्थात् व्यवहित पदार्थ की उपलब्धि द्वारा काचादि द्रव्यों में अप्रतिघात तथा व्यवहित पदार्थ की उपलब्धि न होने से भित्ति आदि पदार्थों में प्रतिघात का अनुमान होता है, इसलिये भित्ति काचादिकों में उक्त इतरेतरधर्मप्रसङ्ग का उद्भावन करना समीचीन नहीं ।

सं०—अब उपोद्घात संगति से इन्द्रियों के नानात्व में संशय कथन करते हैं :—

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च संशयः । ५३ ।

पद०—स्थानान्यत्वे । नानात्वात् । अवयविनानास्थानत्वात् । च । संशयः ।

पदा०—(स्थानान्यत्वे) अवयवभेद होने पर (नानात्वात्) पदार्थों का भेद पाये जाने से (च) और (अवयविनानास्थानत्वात्) अनेक अवयवों में एक अवयवी के उपलब्ध होने से यह (संशयः) संशय होता है कि इन्द्रिय अनेक हैं अथवा एक है ।

भाष्य—स्थान=कपाल, तन्तु आदि अवयवों का भेद होने से

घटपटादि अवयवी का भेद=नानात्व और हस्तपादादि अनेक अवयवों में एक ही अवयवी की उपलब्धि सर्वानुभव सिद्ध है, इस प्रकार उपलब्धि की अव्यवस्था से यह संशय होता है कि चक्षुरादि इन्द्रिय तन्तु आदि अवयवों की भांति किसी अवयवी द्रव्य के नाना अवयव हैं किंवा अनेक अवयवों में रहने वाले अवयवी पदार्थ के समान एक ही इन्द्रिय है।

सं०-अब "इन्द्रियैकत्ववादी" उक्त अर्थ में स्वसिद्धान्त कथन करता है :—

त्वगव्यतिरेकात् । ५४ ।

पद०-त्वक् । अव्यतिरेकात् ।

पदा०-(अव्यतिरेकात्) व्यतिरेक न होने से (त्वक्) त्वक् ही एक इन्द्रिय है।

भाष्य-अभाव का नाम "व्यतिरेक" और अभावाभाव को "अव्यतिरेक" कहते हैं, शरीर में सर्वत्र त्वगिन्द्रिय का अव्यतिरेक पायाजाता है व्यतिरेक नहीं अर्थात् ऐसा कोई इन्द्रिय नहीं जो "त्वक्" से व्याप्त न हो और "त्वक्" के होने पर ही ज्ञान होता है न होने पर नहीं, इस अन्वयव्यतिरेक से पाया जाता है कि "त्वक्" ही एक इन्द्रिय है-त्वग्भिन्न इन्द्रिय मानने में कोई प्रमाण नहीं, त्वक्, त्वचा यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं।

सं०-अब उक्त अर्थ में दोष कथन करते हैं :—

नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः । ५५ ।

पद०—न। इन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः।

पदा०—(इन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः) अन्य इन्द्रिय सम्बन्धी विषय की उपलब्धि न होने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य—केवल "त्वक्" इन्द्रिय मानना इसलिये ठीक नहीं कि अन्धादि पुरुषों को चाक्षुषादि ज्ञान नहीं होता, यदि त्वक् ही एक इन्द्रिय होता तो अन्धादि पुरुषों को भी रूपादि विषयों की उपलब्धि ज्यों की त्यों पाई जाती, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रिय के नाश होने पर भी त्वचा का नाश नहीं होता परन्तु अन्धादिक विषयोपलब्धि में सर्वथा असमर्थ देखे जाते हैं, इससे सिद्ध है कि त्वचारूप एक इन्द्रिय नहीं किन्तु चक्षुरादि नाना इन्द्रिय हैं।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :—

त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः। ५६।

पद०—त्वगवयवविशेषेण। धूमोपलब्धिवत्। तदुपलब्धिः।

पदा०—(त्वगवयवविशेषेण) त्वचा के अवयवविशेष द्वारा (धूमोपलब्धिवत्) धूमोपलब्धि की भांति (तदुपलब्धिः) रूपादि की उपलब्धि होती है।

भाष्य—जिस प्रकार त्वचा का कोई एक नेत्रस्थ अवयव ही धूमस्पर्श का ग्रहण करसक्ता है अन्य अवयव नहीं इसी प्रकार उसके भिन्न २ अवयवों से रूपादि विषयों की उपलब्धि होती है अवयवमात्र से नहीं और अन्धादि पुरुषों की त्वचा का तत्तत् विषय को

उपलब्ध करने वाला अवयव नष्ट होजाता है, इसलिये उनको रूपादि विषयों का भान नहीं होसक्ता, इस प्रकार त्वचारूप एक इन्द्रिय से सब विषयों की उपलब्धि पाये जाने के कारण उससे भिन्न शेष इन्द्रियों की कल्पना निरर्थक है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का तीन सूत्रों द्वारा समाधान करते हैं:—

आहतत्वादहेतुः । ५७ ।

पद०—आहतत्वात् । अहेतुः ।

पदा०—(आहतत्वात्) व्याघात होने से (अहेतुः) उक्त कथन ठीक नहीं।

भाष्य—जब वादी पृथक् २ विषयोपलब्धि के लिये त्वचा के भिन्न २ अंश मानता है तो फिर इन्द्रियों के नानात्व में क्या सन्देह अर्थात् प्रथम एक इन्द्रिय मानकर पुनः अंशभेद से नानात्व कथन करना व्याघात दोष युक्त होने से आदरणीय नहीं, इसलिये इन्द्रियों को नाना मानना ही ठीक है।

न युगपदर्थानुपलब्धेः । ५८ ।

पद०—न । युगपत् । अर्थानुपलब्धेः ।

पदा०—(युगपत्) एककाल में (अर्थानुपलब्धेः) सब विषयों की उपलब्धि न होने से एक ही इन्द्रिय मानना (न) ठीक नहीं।

भाष्य—"त्वचा" रूप एक इन्द्रिय मानना इसलिये ठीक नहीं कि एककाल में सब विषयों की उपलब्धि नहीं होती, यदि एक त्वचा ही इन्द्रिय होता तो युगपत् सब विषयों की उपलब्धि उसी एक

से पाई जाती अर्थात् आत्मा मन के साथ, मन इन्द्रियों के साथ और इन्द्रिय विषय के साथ संयुक्त होने से ज्ञान होता है, इस नियम के अनुसार त्वचारूप एक इन्द्रिय का सब विषयों के साथ सम्बन्ध होने से युगपत्काल में सम्पूर्ण विषयों का साक्षात्कार होता पर नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय एक नहीं किन्तु नाना हैं।

विप्रतिषेधाच्च नत्वगेका । ५९ ।

पद०—विप्रतिषेधात् । च । न । त्वक् । एका ।

पदा०—(च) और (विप्रतिषेधात्) विप्रतिषेध पाये जाने से (त्वक्) त्वचा ही (एका) एक इन्द्रिय (न) नहीं।

भाष्य—एक वस्तु में धर्मों के परस्पर विरोधका नाम "विप्रतिषेध" है, विप्रतिषेध होने के कारण त्वचारूप एक ही इन्द्रिय मानना ठीक नहीं अर्थात् त्वगिन्द्रिय का स्वभाव है कि वह अत्यन्त समीपस्थ द्रव्य तथा तद्गत स्पर्श को उपलब्ध करता है दूरस्थ को नहीं और चक्षुरादि इन्द्रिय दूरस्थ विषय को भी उपलब्ध करते हैं, यदि त्वचा को ही एक इन्द्रिय मानाजाय तो उसमें उक्त नियम का विरोध होगा, इसलिये एक "त्वचा" को ही इन्द्रिय मानना ठीक नहीं।

भाव यह है कि त्वगिन्द्रिय में विषयप्राप्ति तथा विषयाप्राप्ति यह परस्पर विरुद्ध धर्म न रह सकने से एक त्वचा ही को इन्द्रिय मानना समीचीन नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् ॥ ६० ॥

पद०—एकपद०।

पदा०—(इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्) पांच इन्द्रियों के रूपादि पांच विषय भिन्न २ पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य—चक्षुरादि पांच इन्द्रिय और उनके रूपादि पांच विषय भिन्न २ होने से एक इन्द्रिय मानना ठीक नहीं, यदि इन्द्रिय एक होता तो विषयोपलब्धि में कोई विलक्षणता न पाई जाती परन्तु विषयोपलब्धि की विलक्षणता में किसी वादी की विप्रतिपत्ति नहीं, इसलिये पांच इन्द्रियों का मानना ही ठीक है।

सं०अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्षी आक्षेप करता है:—

न तदर्थबहुत्वात् ॥ ६१ ॥

पद०—न। तदर्थबहुत्वात्।

पदा०—(तदर्थबहुत्वात्) इन्द्रियों के अनेक विषय पाये जाने से विषयभेद इन्द्रिय नानात्व का हेतु (न) नहीं होसक्ता।

भाष्य—विषयभेद से इन्द्रियों को नाना मानना इसलिये ठीक नहीं कि नील पीतादि नाना विषयों के पाये जाने पर भी सिद्धान्त में चक्षुरिन्द्रिय एक ही माना गया है, यदि विषयभेद से इन्द्रिय नाना होते तो नील पीतादि भिन्न २ विषयों की उपलब्धि से चक्षुरिन्द्रिय भी अनेक पाये जाते परन्तु उनका नानात्व सिद्धान्ती को भी इष्ट नहीं, इससे स्पष्ट है कि विषयभेद इन्द्रियनानात्व का साधक न होने से अनेक विषयों के होने पर भी एक ही त्वगिन्द्रिय मानना ठीक है।

सं०—अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं:—

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद्गन्धादीनाम-

प्रतिषेधः ॥ ६२ ॥

पद०—गन्धत्वाद्यव्यतिरेकात् । गन्धादीनाम् । अप्रतिषेधः ।

पदा०—(गन्धादीनाम्) गन्धादिकों में (गन्धत्वाद्यव्यतिरेकात्) गन्धत्वादि धर्मों के अनुगत होने से (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य—सुरभि तथा असुरभि भेद से गन्ध और नीलपीतादि भेद से रूपादि विषयों के नाना होने पर भी उनमें अनुगत गन्धत्वादि धर्म एक २ पाया जाता है जिससे भिन्न २ इन्द्रिय द्वारा विषयोपलब्धि के नियम में कोई बाधा नहीं अर्थात् घ्राण से गन्धत्वधर्म वाले तथा रसना से रसत्वधर्म वाले अनेक प्रकार के गन्धरसादिकों की उपलब्धि होती है जिसका होना पृथक् २ इन्द्रियों का नियामक है, इसलिये नीलत्वादि व्याप्य धर्मों का भेद इन्द्रियभेद का हेतु नहीं और नाही उक्त दृष्टान्त से नीलादिज्ञानहेतुक चक्षुरिन्द्रिय के समान सम्पूर्ण विषयोपलब्धि के लिये त्वचारूप एक इन्द्रिय मानना ठीक है ।

सं०—अब पूर्वपक्षी उक्त अर्थ में फिर आक्षेप करता है:—

विषयत्वाव्यतिरेकादेकत्वम् ॥ ६३ ॥

पद०—विषयत्वाव्यतिरेकात् । एकत्वम् ।

पदा०—(विषयत्वाव्यतिरेकात्) विषयत्व धर्म्म के सर्वत्र अनुगत होने से (एकत्वम्) इन्द्रिय एक है ।

भाष्य—जिस प्रकार सिद्धान्त में नीलत्वादि व्याप्यधर्म से

प्रत्यक्षभेद न मानकर रूपत्वादि व्यापक धर्म द्वारा प्रत्यक्षभेद माना है, या यों कहो कि रूपत्वादि व्यापकधर्मों से नील रूपादि विषय को एक मानकर पांच इन्द्रियों की कल्पना की है इसी प्रकार गन्धत्वादि के व्यापक "विषयत्व" धर्म की एकता से एक ही इन्द्रिय मानना ठीक है क्योंकि उक्त धर्म भी विषयमात्र में समानरूप से अनुगत पाया जाता है ।

सं०—अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं:—

न बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजाति-पञ्चत्वेभ्यः ॥ ६४ ॥

पद०—न । बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः ।

पदा०—(बुद्धि०) बुद्धिलक्षण, अधिष्ठान, गति, आकृति और जाति इन पांच कारणों से भी एक इन्द्रिय मानना (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—बुद्धिलक्षण=ज्ञानभेद, अधिष्ठानभेद=स्थानभेद, गति-भेद=क्रियाभेद, आकृतिभेद=रचनाभेद और जातिभेद=कारणभेद से भी इन्द्रिय पांच हैं अर्थात् चाक्षुषादि ज्ञान और इन्द्रियों के अधिष्ठानभूत पांच स्थानों के भेद से सिद्ध होता है कि इन्द्रिय नाना हैं एक नहीं यदि इन्द्रिय एक होता तो चाक्षुषादि ज्ञान तथा इन्द्रियों के अधिष्ठान का भेद न पाया जाता परन्तु उक्त भेद सर्वसम्मत है इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय नाना हैं और गतिभेदादि से भी इन्द्रियों का नानात्व ही सिद्ध होता है

जैसाकि जिस प्रकार चक्षुः दूरस्थ विषय को भी उपलब्ध कर सक्ता है वैसे त्वगिन्द्रिय नहीं, और श्रोत्र वीचीतरङ्गन्याय से प्राप्त हुए शब्द को ग्रहण करता है अन्यथा नहीं इत्यादि, एवं इन्द्रियों की रचना और उनके उपादान कारण पृथिवी आदि पांचों का भेद भी उक्त अर्थ की सिद्धि में हेतु जानना चाहिये ।

सं०—अब इन्द्रियों के भौतिक होने में और हेतु कथन करते हैं:—

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥ ६५ ॥

पद०—भूतगुणविशेषोपलब्धेः । तादात्म्यम् ।

पदा०—(भूतगुणविशेषोपलब्धेः) पृथिव्यादि भूतों के गुण-विशेष की उपलब्धि पाये जाने से भी इन्द्रिय (तादात्म्यम्) भूतों के कार्य्य हैं ।

भाष्य—घ्राण आदि पांच इन्द्रिय पृथिव्यादि पांच भूतों के यथा क्रम कार्य्य हैं, क्योंकि उनसे पृथिव्यादि के गन्धादि विशेष गुणों की उपलब्धि पाई जाती है अर्थात् जो इन्द्रिय जिस भूत से उत्पन्न होता है वह उसी के विशेष गुण का ग्राहक होता है अन्य का नहीं, यह नियम है, इस नियम के अनुसार गन्ध का ग्राहक होने से पृथिवी का कार्य्य घ्राण "पार्थिव" कहाता है जैसाकि प्रथमाध्याय में निरूपण कर आये हैं, इस प्रकार रसनादि इन्द्रियों को भी तत्तत् विशेष गुण का ग्राहक होने से जलादि का यथाक्रम कार्य्य जानना चाहिये, इसका विस्तारपूर्वक निरूपण "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में किया है इसलिये यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं ।

सं०—अब क्रमप्राप्त अर्थरूप प्रमेय की परीक्षा का आरम्भ करते हुए प्रथम उसमें सिद्धान्त कथन करते हैं:—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्य्यन्ताः पृथिव्या अप्तेजोवायूनां पूर्वं पूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ॥ ६६ ॥

पद०—गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां। स्पर्शपर्य्यन्ताः। पृथिव्याः। अप्तेजोवायूनां। पूर्वं। पूर्वं। अपोह्य। आकाशस्य। उत्तरः।

पदा०—(गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानाम्) गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, और शब्द इनमें से (स्पर्शपर्य्यन्ताः) स्पर्शपर्य्यन्त चार (पृथिव्याः) पृथिवी के गुण हैं और (पूर्वं, पूर्वं) पूर्व २ को (अपोह्य) छोड़कर शेष (अप्तेजोवायूनाम्) जल, तेज और वायु का तथा (उत्तरः) सब से उत्तर शब्द (आकाशस्य) आकाश का गुण है।

भाष्य—गन्ध, रस, रूप और स्पर्श यह चार पृथिवी के गुण हैं, एवं जल में रस, रूप तथा स्पर्श, तेज में रूप, स्पर्श, वायु में केवल स्पर्श और आकाश में शब्द गुण जानना चाहिये।

सं०—अब पूर्वपक्षी उक्त अर्थ में आक्षेप करता है:—

न सर्वगुणानुपलब्धेः। ६७।

पद०—न। सर्वगुणानुपलब्धेः।

पदा०—(सर्वगुणानुपलब्धेः) सब गुणों की उपलब्धि न होने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य-यह नियम है कि जिस भूत का जो विशेष गुण होता है उसका ग्रहण उसी के कार्य्यभूत इन्द्रिय से होता है अन्य से नहीं, यदि रसादिक पृथिवी के गुण होते तो गन्ध की भांति उनका भी घ्राणेन्द्रिय से साक्षात्कार पायाजाता पर ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध है कि रसादि पृथिवी के विशेष गुण नहीं, यही रीति जलादि वृत्ति शेष गुणों में भी जाननी चाहिये।

सं०-अब पूर्वपक्षी उक्त अर्थ में स्वसिद्धान्त कथन करता है:—

एकैकस्यैवोत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः । ६८ ।

पद०-एकैकस्य । एव । उत्तरोत्तरगुणसद्भावात् । उत्तरोत्तराणां । तदनुपलब्धिः ।

पदा०-(उत्तरोत्तराणां) जलादिकों में (एकैकस्य) एक २ (एव) ही (उत्तरोत्तरगुणसद्भावात्) उत्तरोत्तर गुण पाये जाने से (तदनुपलब्धिः) रसादिकों की घ्राणादि इन्द्रियों से उपलब्धि नहीं होती ।

भाष्य-गन्धादिक पृथक् २ पृथिव्यादि के विशेष गुण होने से तत्तत् इन्द्रियद्वारा तत्तत् गुण की उपलब्धि होती है सबकी नहीं, इसलिये इस पक्ष में घ्राणादि से रसादि साक्षात्कार की आपत्ति का दोष नहीं होसक्ता ।

सं०-अब वादी पृथिव्यादि में रसादि प्रतीति का कारण कथन करता है:—

संसर्गाच्चानेकगुणग्रहणम् । ६९ ।

पद०—संसर्गात् । च । अनेकगुणग्रहणम् ।

पदा०—(च) और (संसर्गात्) संसर्ग से (अनेकगुणग्रहणम्) अनेक गुणों की प्रतीति होती है ।

भाष्य—पृथिव्यादि में रसादि गुणों की प्रतीति का कारण भूतों का परस्पर संसर्ग=संयोगविशेष है वस्तुतः पृथिवी का अपना एक विशेष गुण गन्ध ही है और उसमें रस आदि की प्रतीति " स्वसमवायिसंयोग " सम्बन्ध से होती है समवाय सम्बन्ध से नहीं, यहां " स्व " पद से रसादि गुणों का ग्रहण है और उनके समवायि जलादि के साथ पृथिवी का संयोग पाये जाने से रसादि प्रतीति में कोई अनुपपत्ति नहीं, यही रीति जलादिकों में उत्तरोत्तर गुणोपलब्धि की जाननी चाहिये ।

सं०—अब उक्त अर्थ को स्फुट करते हैं :—

विष्टं ह्यपरं परेण । ७० ।

पद०—विष्टम् । हि । अपरं । परेण ।

पदा०—(हि) निश्चय करके (अपरं) पृथिव्यादिक (परेण) उत्तरोत्तर भूत के साथ (विष्टम्) सम्बद्ध हैं ।

भाष्य—सूत्र में " हि " शब्द उक्त अर्थ की दृढ़तार्थ आया है अर्थात् जलादि के साथ पृथिव्यादि सम्बद्ध होने से रसादि गुणों की प्रतीति होती है ।

भाव यह है कि पृथिवी सम्बद्ध जल में होने वाले रस के साथ

सन्निकर्ष होने से रस का साक्षात्कार होता है वस्तुतः पृथिवी में रस नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

न पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् । ७१ ।

पद०—न । पार्थिवाप्ययोः । प्रत्यक्षत्वात् ।

पदा०—(पार्थिवाप्ययोः) पार्थिव तथा आप्य द्रव्य का (प्रत्यक्षत्वात्) प्रत्यक्ष पाये जाने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—यह नियम है कि जिस द्रव्य में महत्व तथा उद्भूत रूप हो उसी का प्रत्यक्ष होता है अन्य का नहीं जैसाकि पीछे निरूपण कर आये हैं, सो यदि पृथिव्यादिकों में रूपादि विशेषगुण न माना जाय तो घट पटादि पार्थिव तथा आप्य=जलीय द्रव्य का प्रत्यक्ष न होना चाहिये, क्योंकि वादी ने पृथिव्यादि में रूपादि विशेषगुण नहीं माना परन्तु उक्त नियमानुसार पार्थिवादि द्रव्य का प्रत्यक्ष सर्वानुभवसिद्ध है इससे पाया जाता है कि पृथिव्यादि में गन्धादि की भांति रूप रसादि भी विशेषगुण हैं ।

सं०—अब घ्राणादिकों से गन्धादि प्रत्यक्ष के नियामक हेतु का कथन करते हैं :—

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम् । ७२ ।

पद०—पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात् । तत्तत्प्रधानम् ।

पदा०—(पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्) पूर्व २ इन्द्रिय के गुणोत्कर्ष से (तत्तत्प्रधानम्) इन्द्रियों में गन्धादि गुणों की प्रधानता है ।

भाष्य-इन्द्रियों में पूर्व २ गन्धादि गुण की उत्कर्षता पाये जाने से घ्राणादि द्वारा गन्धादि विषय का प्रत्यक्ष होता है रूपादि का नहीं।

भाव यह है कि यद्यपि पृथिव्यादि का कार्य्य होने से घ्राणादि इन्द्रियों में गन्धादि असाधारण गुण की भांति रसादिक भी पाये जाते हैं तथापि वह प्रधान नहीं अर्थात् जो गन्धादि गुण घ्राणादिकों में अधिक वर्त्तमान हो वही स्वसजातीय बाह्यगुणोपलब्धि का नियामक होता है अन्य नहीं, इसप्रकार घ्राणादिद्वारा रूप रसादि का प्रत्यक्ष न होने पर भी सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं।

सं०-अब घ्राणादिकों में इन्द्रिय व्यवहार की उपपत्ति कथन करते हैं:—

तद्व्यवस्थानन्तु भूयस्त्वात्। ७३।

पद०-तद्व्यवस्थानं। तु। भूयस्त्वात्।

पदा०-(तु) और (भूयस्त्वात्) पृथिव्यादि तत्वों की उत्कर्षता से (तद्व्यवस्थानम्) घ्राणादिकों में इन्द्रिय व्यवहार होता है।

भाष्य-पृथिव्यादि भूतों के सब कार्य्यों में गन्धादि गुणों के पाये जाने पर भी घ्राणादिकों में इन्द्रिय व्यवहार पृथिव्यादि की अधिकता से होता है अर्थात् जलादि सम्बन्ध से रहित केवल पृथिवी तत्त्व से आरब्ध=उत्पन्न होने के कारण गन्धग्राहक इन्द्रिय को "घ्राण" और पृथिव्यादि सम्बन्ध से रहित केवल जल से आरब्ध रसग्राहक इन्द्रिय को "रसना" कहते हैं, यही रीति शेष इन्द्रियों में तत्तत् इन्द्रियत्व व्यवहार की उपपत्ति के लिये जाननी चाहिये।

सं०—अब इन्द्रियवृत्ति गन्धादि गुणों में हेतु कथन करते हैं :—

सगुणानामिन्द्रियभावात् । ७४ ।

पद०—सगुणानाम् । इन्द्रियभावात् ।

पदा०—(सगुणानां, इन्द्रियभावात्) गुणविशिष्ट इन्द्रियों में इन्द्रियत्व धर्म पाये जाने से घ्राणादि गन्धादि गुणों वाले हैं ।

भाष्य—जिसप्रकार स्ववृत्ति गन्ध के होने से घृत केसरगन्ध का अभिव्यञ्जक होता है इसप्रकार घ्राणादि इन्द्रियों में भी स्ववृत्ति गन्धादि गुणों के होने पर ही वह वाह्यगन्धादि विषय के अभिव्यञ्जक होते हैं अन्यथा नहीं, इसलिये उनमें गन्धादिगुण अनुमान सिद्ध जानने चाहियें, गन्धादिगुणविशिष्ट घ्राणादि इन्द्रियों के अनुमान का प्रकार "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में स्फुट है ।

सं०—अब इन्द्रियवृत्ति गुणों के अनुद्भुत होने में हेतु कथन है:—

तेनैव तस्याग्रहणाच्च । ७५ ।

पद०—तेन । एव । तस्य । अग्रहणात् । च ।

पदा०—(च) और (तेन, एव) उसी इन्द्रिय से (तस्य) उसका (अग्रहणात्) ग्रहण न होने के कारण इन्द्रियवृत्ति गन्धादिगुण उद्भूत रूप नहीं ।

भाष्य—तत्तत् इन्द्रिय द्वारा तत्तत् इन्द्रिय का प्रत्यक्ष न होने से पाया जाता है कि गन्धादिगुणविशिष्ट घ्राणादि इन्द्रियों में गन्धादि गुण अनुद्भूत हैं यदि इन्द्रियवृत्ति गुण उद्भूतरूप होते तो वाह्यउद्भूतरूपादिगुणविशिष्ट द्रव्यों की भांति उसी इन्द्रिय से

उसका प्रत्यक्ष पायाजाता, क्योंकि उद्भूतरूपादिक प्रत्यक्ष के सह-कारी कारण होते हैं पर ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि इन्द्रियवृत्ति गन्धादिगुण अनुद्भूत हैं उद्भूत नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :—

न शब्दगुणोपलब्धेः । ७६ ।

पद०-न । शब्दगुणोपलब्धेः ।

पदा०-(शब्दगुणोपलब्धेः) श्रोत्रवृत्ति शब्दगुण की श्रोत्रेन्द्रिय से उपलब्धि पाये जाने के कारण उक्त कथन (न) ठीक नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् । ७७ ।

पद०-तदुपलब्धिः । इतरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ।

पदा०-(इतरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात्) द्रव्यवृत्ति गुणों की परस्पर विलक्षणता पायेजाने से (तदुपलब्धिः) शब्द की श्रोत्र द्वारा उपलब्धि होती है ।

भाष्य-पृथिव्यादि द्रव्यवृत्ति गन्धादि विशेषगुणों की परस्पर विलक्षणता पाये जाने से श्रोत्ररूप आकाश में रहने वाले शब्द का उसी श्रोत्र द्वारा साक्षात्कार होने पर भी उक्त अर्थ में कोई बाधा नहीं, क्योंकि गन्धादिगुणविशिष्ट घ्राणादि इन्द्रियों की भांति श्रोत्र सगुणरूप से इन्द्रिय नहीं और नाहीं बाह्यगन्धाभिव्यञ्जक घ्राणवृत्ति गन्ध के समान शब्द किसी बाह्यशब्द का अभिव्यञ्जक है, दूसरी बात यह है कि घ्राणादि इन्द्रिय स्ववृत्ति गन्धादिगुणों

के ग्राहक हैं" इसमें कोई प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण नहीं पाया जाता और श्रोत्र से शब्द का ग्रहण होना प्रत्यक्ष सिद्ध है जिससे शब्दाश्रय आकाश का अनुमान किया जाता है, इसलिये शब्द के साथ गन्धादि गुणों की विलक्षणता होने से घ्राणादि इन्द्रियवृत्ति गन्धादि गुणों के अनुद्भूतत्व सिद्धि के लिये कथन किये हुए "तेनैवतस्याग्रहणात्" हेतु में किसी प्रकार का दोष नहीं आता, परिशेषानुमानद्वारा शब्दाश्रय आकाश की सिद्धि का प्रकार विस्तारपूर्वक "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में निरूपण किया गया है, इसलिये यहां पुनरुल्लेख की आवश्यक्ता नहीं।

इति न्यायार्य्यभाष्ये तृतीयाध्याये
प्रथमान्हिकं
समाप्तम्

ओ३म्

अथ न्यायार्य्यभाष्ये तृतीयाध्याये द्वितीयाह्निकं प्रारभ्यते

सङ्गति—प्रथमाह्निक में आत्मादि प्रमेयों का विस्तारपूर्वक निरूपण करके अब बुद्धि तथा मन की परीक्षा के लिये द्वितीयाह्निक का प्रारम्भ करते हुए प्रथम बुद्धि की परीक्षा में संशय कथन करते हैं :—

कर्माकाशसाधर्म्यात्संशयः । १ ।

पद०—कर्माकाशसाधर्म्यात् । संशयः ।

पदा०—(कर्माकाशसाधर्म्यात्) कर्म तथा आकाश के साथ साधर्म्य पाये जाने से (संशयः) यह संशय होता है कि बुद्धि कर्म की भांति अनित्य है किंवा आकाश के समान नित्य है ।

भाष्य—अस्पर्शत्व=स्पर्शरहित होना ही बुद्धि में कर्म और आकाश के साथ साधर्म्य है जिससे उसमें उक्त संशय होता है ।

सं०—अब पूर्वपक्षी बुद्धि को नित्य कथन करता है :—

विषयप्रत्यभिज्ञानात् । २ ।

पद०—एकपद० ।

पदा०—(विषयप्रत्यभिज्ञानात्) विषय की प्रत्यभिज्ञा पाये जाने के कारण बुद्धि नित्य है ।

भाष्य—"स एवायं पुण्यात्मा यः काश्यामासीत्"= यह वही पुण्यात्मा है जो काशी में रहता था, इस प्रकार एकही

विषय में प्रत्यभिज्ञा रूप ज्ञान के पायेजानेसे सिद्ध है कि उक्त ज्ञान का आश्रय बुद्धि नित्य पदार्थ है यदि प्रत्यभिज्ञाज्ञान का आश्रयभूत बुद्धि अनित्य होती तो उक्त ज्ञान कदापि न होता परन्तु इसमें किसी वादी की विप्रतिपत्ति न होने से स्पष्ट है कि बुद्धि नित्य पदार्थ है।

सं०—अब उक्त पक्ष में दोष कथन करते हैं:—

साध्यसमत्वादहेतुः । ३ ।

पद०—साध्यसमत्वात् । अहेतुः ।

पदा०—(साध्यसमत्वात्) साध्यसम होने से (अहेतुः) उक्त हेतु ठीक नहीं ।

भाष्य—जैसे बुद्धि की नित्यता साध्य है वैसे ही प्रत्यभिज्ञाज्ञान का बुद्धि के आश्रित होना भी साध्य है, इसप्रकार उक्त हेतु "साध्यसम" हेत्वाभास होने से बुद्धिवृत्ति नित्यता का साधक नहीं ।

भाव यह है कि ज्ञान तथा बुद्धि यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं,जैसाकि "बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्" न्या० १ । १ । १५ के भाष्य में स्पष्ट कर आये हैं,इसलिये बुद्धि और ज्ञान का आश्रयाश्रयिभाव मानना ठीक नहीं अर्थात् उक्त ज्ञान का आश्रय "आत्मा" को नित्य और क्षणद्वयावस्थायी होने से बुद्धि को अनित्य पदार्थ मानना ही समीचीन है ।

सं०—ननु, वन्हि के चिंगारों की भांति "अयं घटः" इत्यादि

वृत्तिरूप ज्ञान नित्य बुद्धि से अभिन्न होने के कारण आत्माश्रित नहीं ? उत्तर :—

न युगपदग्रहणात् । ४ ।

पद०—न । युगपदग्रहणात् ।

पदा०—(युगपदग्रहणात्) युगपत् अनेक ज्ञान न होने से (न) वृत्तिज्ञान का बुद्धि से अभेद कथन करना ठीक नहीं ।

भाष्य—"अयं घटः"=यह घट है "अयं पटः"=यह पट है, इत्यादि वृत्तिरूप ज्ञानों का नित्यबुद्धि से अभेद कथन करना इसलिये ठीक नहीं कि घटपटादि अनेक विषयों का ज्ञान एककाल में नहीं होता जैसाकि पीछे कई स्थलों में निरूपण कर आये हैं, यदि बुद्धि नित्य होती और उक्त घटादि विषयक वृत्तिज्ञान का उससे अभेद पाया जाता तो वृत्तिज्ञान का आश्रयभूत बुद्धि विद्यमान होने से एक ही काल में सब ज्ञान उत्पन्न होते परन्तु नहीं होते, इससे पाया जाता है कि बुद्धि नित्य पदार्थ नहीं और नाही वृत्तिरूप ज्ञानों का उसके साथ अभेद होने में कोई प्रमाण है, इसलिये बुद्धि को अनित्य मानकर आत्माश्रित मानना ही ठीक है ।

सं०—अब बुद्धि नित्यत्ववादी के मत में और दोष कथन करते हैं :—

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः । ५ ।

पद०—अप्रत्यभिज्ञाने । च । विनाशप्रसङ्गः ।

पदा०-(च) और (अप्रत्यभिज्ञाने) ज्ञानाभाव काल में (विनाशप्रसङ्गः) बुद्धि के नाश की आपत्ति होगी ।

भाष्य-" अयं घटः " इत्यादि ज्ञान नित्य बुद्धि के वृत्तिरूप हैं और उक्त वृत्तिरूपज्ञानों का आश्रयभूत बुद्धि स्ववृत्तियों से भिन्न नहीं यदि ऐसा मानाजाय तो भी वादी के मत में बुद्धि नित्य नहीं हो-सक्ती, क्योंकि ऐसा मानने से ज्ञानाभावकाल में वृत्तियों के नाश द्वारा तदभिन्न बुद्धि का भी नाश मानना पड़ेगा अर्थात् जिसप्रकार वन्हि के चिंगारों का नाश होने से तदभिन्न वन्हि का नाश प्रत्यक्ष सिद्ध है इसीप्रकार घटादि विषयक वृत्तिज्ञानों के नाश से वृत्त्यभिन्न बुद्धि का नाश होने पर वह नित्य नहीं रहसक्ती, इसलिये वृत्त्यात्मक ज्ञानों से अभिन्न मानकर बुद्धि को नित्य मानना ठीक नहीं ।

सं०-अब स्वसिद्धान्तानुसार एक काल में अनेकज्ञानों का अभाव कथन करते हैं :—

क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् । ९ ।

पद०-क्रमवृत्तित्वात् । अयुगपद्ग्रहणम् ।

पदा०-(क्रमवृत्तित्वात्) मन की वृत्ति का क्रम न होने से (अयुगपद्ग्रहणम्) युगपत्काल में अनेक ज्ञान नहीं होते ।

भाष्य-सब इन्द्रियों के साथ समानसम्बन्ध होने पर भी आत्मप्रयत्न से जिस इन्द्रियदेश में मन की वृत्ति उत्पन्न होती है उसी इन्द्रिय से तत्सम्बन्धी विषय का ज्ञान होता है अन्य से नहीं, इसप्रकार सिद्धान्त में युगपत् अनेक ज्ञानों की आपत्ति का दोष नहीं आता ।

सं०-अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं :—

अप्रत्यभिज्ञानञ्च विषयान्तर-व्यासङ्गात् । ७ ।

पद०-अप्रत्यभिज्ञानं । च । विषयान्तरव्यासङ्गात् ।

पदा०-(च) और (विषयान्तरव्यासङ्गात्) अन्य विषय के साथ सम्बन्ध होने से (अप्रत्यभिज्ञानम्) विषयान्तर की उपलब्धि नहीं होती ।

भाष्य-जब मन का किसी एक इन्द्रियद्वारा विषय के साथ सम्बन्ध होता है तब अन्य विषयक ज्ञान का अभाव भी पाया जाता है और यह बात वृत्ति तथा वृत्तिवाले अन्तःकरण के भेद होने पर ही होसक्ती है अन्यथा नहीं, यदि वृत्ति वृत्तिमान् का अभेद होता तो विषयान्तर के साथ कदापि व्यासङ्ग न पाया जाता प्रत्युत सब इन्द्रियों के साथ समान सम्बन्ध होने से एक काल में अनेक ज्ञान होते पर ऐसा न होने के कारण बुद्धि के नित्यत्वपक्ष में उक्त व्यवस्था न बनसकने से उसको अनित्य मानना ही ठीक है, किसी एक विषय में अत्यन्त आसक्ति का नाम "व्यासङ्ग" है ।

सं०-अब अन्तःकरण के विभुत्व का खण्डन करते हैं :—

न गत्यभावात् । ८ ।

पद०-न । गत्यभावात् ।

पदा०-(गत्यभावात्) गति के न होने से (न) अन्तःकरण विभु नहीं ।

भाष्य-विभु=सब मूर्त्त पदार्थों के साथ संयोगी होने से परम महत्परिमाण वाले पदार्थों में गति=क्रिया नहीं पाई जाती जैसाकि आकाशादि में प्रसिद्ध है, यदि बुद्धि=अन्तःकरण विभु होता तो उसका सब इन्द्रियों के साथ समान सम्बन्ध होने और क्रिया न पाये जाने से सर्वदा सब ज्ञान ज्यों के त्यों बने रहते अर्थात् किसी ज्ञान का कदापि अभाव न होता परन्तु रूपज्ञान काल में रसज्ञान का तथा रसज्ञान काल में रूपज्ञान का अभाव पाये जाने से स्पष्ट है कि अन्तःकरण विभु नहीं अपितु मध्यमपरिमाण वाला है जिसके उक्त वृत्तिनामक सम्बन्ध द्वारा ही किसी एक विषय का ज्ञान होता और वृत्तिसम्बन्ध न होने से ज्ञानाभाव भी पाया जाता है, इसका विस्तारपूर्वक निरूपण "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में किया है यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं ।

सं०-अब पूर्वपक्षी उक्त अर्थ में आशंका करता है :—

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्तदन्यत्वाभिमानः ।९।

पद०-स्फटिकान्यत्वाभिमानवत् । तदन्यत्वाभिमानः ।

पदा०-(स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्) स्फटिक में भेद भ्रम की भांति (तदन्यत्वाभिमानः) बुद्धि और बुद्धिवृत्ति का परस्पर भेदज्ञान भ्रम से होता है वस्तुतः नहीं ।

भाष्य-जिसप्रकार जवापुष्पादि के प्रतिबिम्ब द्वारा स्फटिक में भिन्न २ रूप की प्रतीति से स्फटिक भी अनेक प्रकार का प्रतीत

होता है इसीप्रकार नाना विषयों के प्रतिविम्बद्वारा घटपटादिविषयक ज्ञान तथा उनका आधारभूत बुद्धि भिन्न २ प्रतीत होते हैं वस्तुतः बुद्धि और वृत्त्यात्मक ज्ञानों का परस्पर कोई भेद नहीं।

सं०-अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं:—

न हेत्वभावात्। १०।

पद०-न। हेत्वभावात्।

पदा०-(हेत्वभावात्) हेतु का अभाव होने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य-स्फटिक का दृष्टान्त इसलिये ठीक नहीं कि बुद्धि तथा उसके वृत्तिरूप ज्ञानों की एकता में कोई हेतु उपलब्ध नहीं होता अर्थात् स्फटिक भेद के समान गन्धादिविषयक वृत्तियों की भेद प्रतीति भ्रान्तिरूप नहीं, क्योंकि उनके गन्धादि विषय प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध हैं, इस प्रकार बुद्धि तथा तद्वृत्तियों के अभेद में हेतु न पायेजाने के कारण उन दोनों की एकता कथन करना ठीक नहीं।

भाव यह है कि गन्धादि विषयों के अनुसार ज्ञानों का भेद वास्तविक होने से प्रकृत में उक्त दृष्टान्त असङ्गत है, यदि हेतु का अभाव दोनों पक्षों में समान है, यह कथन किया जाय तो उत्तर यह है कि विषयेन्द्रियसंयोग से क्रमशः ज्ञानोत्पत्ति और क्षणद्वयानन्तर ज्ञान का नाश पाये जाने के कारण गन्धादि विषयों के भेद से ज्ञानों का भेद ही मानना उचित है, यदि बुद्धि और बुद्धिवृत्तियों का अभेद होता तो ज्ञानों की उत्पत्तिविनाश का

कोई क्रम न पाया जाता परन्तु पाया जाता है, इससे सिद्ध कि उक्त दोनों एक नहीं और नाहीं उनकी एकता में कोई प्रमाण है,इसप्रकार सिद्धान्त पक्ष में हेत्वभाव की समानता कथन करना केवल कथन मात्र है।

सार यह निकला कि बुद्धि एक अनित्य पदार्थ है जो दो क्षण पर्य्यन्त स्थिर रहती है और उसका आश्रय आत्मा नित्य एकरस है, इसलिये ज्ञान को बुद्धि से अतिरिक्त मानकर उसका आश्रय बुद्धि मानना प्रमाणशून्य होने से आदरणीय नहीं।

सं०-अब क्षणिकवादी "योगाचार" स्फटिक के दृष्टान्त में दोष कथन करता है :—

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद्व्यक्तीनामहेतुः ।११।

पद०-स्फटिके । अपि । अपरापरोत्पत्तेः । क्षणिकत्वात् । व्यक्तीनाम् । अहेतुः ।

पदा०-(व्यक्तीनाम्) व्यक्तियें (क्षणिकत्वात्) क्षणिक होने से (स्फटिके) स्फटिक में (अपि) भी (अपरापरोत्पत्तेः) अन्यान्य व्यक्ति कीउत्पत्ति होने के कारण (अहेतुः) उक्त कथन ठीक नहीं।

भाष्य-जो बुद्धिवृत्ति के अभेदार्थ स्फटिक का दृष्टान्त देकर यह कथन किया है कि जैसे जपापुष्पादि के प्रतिबिम्ब से एक स्फटिक अन्यान्यरूप होकर प्रतीत होता है वैसे ही बाह्यविषयों के प्रति-

बिम्बित होने से बुद्धिवृत्ति का परस्पर भेद प्रतीत होता है वस्तुतः नहीं, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि प्रतिक्षण स्फटिक में नील पीतादि रूप से अन्यान्य व्यक्तियें उत्पन्न होकर नष्ट होती हैं, क्योंकि जो भावपदार्थ है वह क्षणिक=उत्पत्ति क्षण से उत्तर क्षण में नहीं रहता यह नियम है, इस नियम के अनुसार स्फटिक भावपदार्थ होने से क्षणिक है अर्थात् प्रतिक्षण नीलपीतादि रूप से स्फटिक व्यक्तियें अनेक उत्पन्न होती चली जाती हैं, इसप्रकार घट पट के भेद की भांति उनका भेद होने से स्फटिक दृष्टान्त द्वारा बुद्धि वृत्तियों के परस्पर भेद को भ्रममूलक कथन करना प्रमाणशून्य होने से आदरणीय नहीं।

भाव यह है कि जिसप्रकार प्रतिक्षण उपचय=वृद्धि,अपचय=ह्रास वाले शरीरादि भाव पदार्थ क्षणिक होने से उत्तरोत्तर भिन्न २ हैं अभिन्न नहीं इसी प्रकार भावरूप स्फटिक व्यक्तियें भी क्षणिक होने से नाना हैं एक नहीं।

सं०—अब क्षणिकवादी के मत का प्रतिषेध करते हैं:—

नियमहेत्वभावाद्यथादर्शनमभ्यनुज्ञा। १२।

पद०—नियमहेत्वभावात्। यथादर्शनम्। अभ्यनुज्ञा।

पदा०—(नियमहेत्वभावात्) नियामक हेतु न पाये जाने के कारण (यथादर्शनं) उपलब्धि के अनुसार ही (अभ्यनुज्ञा) कल्पना करना ठीक है अन्यथा नहीं।

भाष्य—कल्पना उपलब्धि के अधीन होती है कल्पनाधीन

उपलब्धि नहीं, इस नियम के अनुसार जिन शरीरादि व्यक्तियों में उपचयापचय पाये जाने से क्षणिकत्व सिद्ध है वह क्षणिक हैं और जिन स्फटिकादिकों में उपचयापचय प्रमाणसिद्ध नहीं वह क्षणिक भी नहीं, इसप्रकार स्फटिक व्यक्तियों को क्षणिक न मानकर पूर्वोक्त समाधान मानना ही ठीक है।

सं०—अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:—

नोत्पत्तिविनाशकारणोपपत्तेः । १३ ।

पद०—न। उत्पत्तिविनाशकारणोपपत्तेः ।

पदा०—(उत्पत्तिविनाशकारणोपपत्तेः) शरीरादिकों में उत्पत्ति विनाश के हेतुभूत उपचयादिकों के पायेजानेसे क्षणिकत्व है स्फटिकादिकों में (न) नहीं।

भाष्य—जिसप्रकार वल्मीक=वर्मी आदि पदार्थों में अवयवों का उपचयरूप कारण तथा घटादिकों में अवयवविभागरूप नाश कारण उपलब्ध होता है इसीप्रकार उक्त दोनों कारणों के पाये जाने से शरीरादिकों के क्षणिक होने में कोई बाधा नहीं परन्तु जिन स्फटिकादिकों में उपचयापचयरूप कारण नहीं उनको क्षणिक मानना केवल साहसमात्र है।

सं०—अब पूर्वपक्षी उक्त अर्थ में आक्षेप करता है:—

क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्च तदुपपत्तिः । १४ ।

पद०—क्षीरविनाशे । कारणानुपलब्धिवत् । दध्युत्पत्तिवत् । च । तदुपपत्तिः ।

पदा०—(क्षीरविनाशे) दुग्धनाश में (कारणानुपलब्धिवत्) कारण उपलब्ध न होने पर (च) भी (दध्युत्पत्तिवत्) दधि उत्पत्ति की भांति (तदुपपत्तिः) अन्यान्य स्फटिक व्यक्तियों का उत्पत्ति विनाश होता है ।

भाष्य—जैसे दुग्ध के नाश तथा दध्युत्पत्ति का कोई कारण उपलब्ध न होने पर भी उनका उत्पत्ति विनाश सर्वसम्मत है वैसे ही नीलपीतादि भेद से पूर्व स्फटिक नाश तथा उत्तरस्फटिक की उत्पत्ति का हेतु उपलब्ध न होने पर भी अन्यान्य व्यक्तियों के उत्पत्ति विनाश से स्फटिकादिकों को क्षणिक मानना ही ठीक है ।

सं०—अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं :—

लिङ्गतोग्रहणान्नानुपलब्धिः । १५ ।

पद०—लिङ्गतः । ग्रहणात् । न । अनुपलब्धिः ।

पदा०—(लिङ्गतः) लिङ्ग द्वारा (ग्रहणात्) उत्पत्ति विनाश कारण के पाये जाने से (अनुपलब्धिः) उसकी उपलब्धि का अभाव (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य—जैसे धूमादि लिङ्गों से वह्नि आदि पदार्थों का ज्ञान अनुमान प्रमाण सिद्ध है वैसे ही दुग्धनाश तथा दध्युत्पत्ति रूप कार्य्य से तत्तत्कारण के आनुमानिक ज्ञान में कोई बाधा नहीं ।

भाव यह है कि दुग्धदधि का उत्पत्ति विनाश प्रत्यक्षसिद्ध पाये

जाने से अनुमान होता है कि उनकी उत्पत्ति विनाश का कोई कारण अवश्य है परन्तु पूर्वस्फटिक की उत्पत्ति और दूसरे स्फटिक के विनाश में कोई प्रमाण नहीं पाया जाता जिससे उसको उपचयापचयधर्म वाले शरीरादि पदार्थों के समान क्षणिक मानाजाय, इसलिये वादी का स्फटिकादिकों को क्षणिक कथन करना भ्रममात्र है।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:—

न पयसः परिणामगुणान्तर-प्रादुर्भावात् ।१६।

पद०—न। पयसः। परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात्।

पदा०—(पयसः, परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात्) दुग्ध के परिणाम पूर्वक अन्य गुण का आविर्भाव होने से (न) उसका उत्पत्ति विनाश नहीं होता।

भाष्य—कई एक लोग विद्यमान पदार्थ में पूर्वावस्था के निवृत्तिपूर्वक अवस्थान्तर की आपत्ति को "परिणाम" मानते हैं और कई एक आचार्य्य पूर्व गुण के निवृत्त होने पर विद्यमान द्रव्य में अन्य गुण की उत्पत्ति को "परिणाम" कथन करते हैं, विकार तथा परिणाम यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, दुग्ध का उत्पत्ति विनाश नहीं होता किन्तु केवल उसके मधुररस की निवृत्तिपूर्वक आम्लरस का आविर्भाव होता है और दुग्धरूप धर्मी पदार्थ ज्यों का त्यों बना रहता है, उक्त गुणों के तिरोभाव तथा आविर्भाव द्वारा एक ही वस्तु में दुग्ध दधि व्यवहार

पाये जाने से दुग्धविनाश और दधिउत्पत्ति रूप कार्य्य से उसके कारण का अनुमान कथन करना ठीक नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

व्यूहान्तराद्द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्य निवृत्तेरनुमानम् । १७ ।

पद०-व्यूहान्तरात् । द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनम् । पूर्वद्रव्यनिवृत्तेः । अनुमानम् ।

पदा०-(व्यूहान्तरात्) अन्य व्यूह द्वारा (द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनम्) द्रव्यान्तर की उत्पत्ति पायेजाने से (पूर्वद्रव्यनिवृत्तेः) प्रथम द्रव्य नाश का (अनुमानम्) अनुमान होता है ।

भाष्य-यह नियम है कि एक अधिकरण में अनेक मूर्त्त द्रव्य समकाल में नहीं रहसक्ते, इस नियम के अनुसार जिसप्रकार मृत्पिण्डादि पूर्वव्यूह=प्रथम रचना का नाश होने पर घटावयवी के व्यूहान्तर की उत्पत्ति होती है इसी प्रकार दुग्धावयवी के व्यूहनिवृत्तिपूर्वक दध्यवयवी की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं, इसप्रकार एकही द्रव्य में धर्ममात्र अथवा गुणमात्र का परिवर्त्तन कथन करना ठीक नहीं और नाही क्षणिकवाद के अनुसार उपादान कारण के अन्वय=अन्वयवसम्बन्ध विना कार्य्य का उत्पत्ति विनाश मानना ठीक है, इसलिये आम्लरस संयोगादि कारणों से दुग्धावयवों के विभागपूर्वक अवयवी का नाश होने पर दधिरूप नये अवयवी की

उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं, और नाही उक्त उत्पत्तिविनाश रूप कार्य्यद्वारा उनके कारणानुमान में कोई दोष होसक्ता है।

सं०–अब क्षणिकवादी के मत में और दोष कथन करते हैं:–

क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः । १८ ।

पद०–क्वचित् । विनाशकारणानुपलब्धेः । क्वचित् । च । उपलब्धेः । अनेकान्तः ।

पदा०–(क्वचित्) किसी एक स्थल में (विनाशकारणानुपलब्धेः) नाशकारण के उपलब्ध न होने से (च) और (क्वचित्) किसी स्थल में (उपलब्धेः) उक्त कारण के पाये जाने से (अनेकान्तः) उक्त दृष्टान्त एकपक्ष का साधक नहीं।

भाष्य–घटपटादि पदार्थों के नाश के कारण दण्डादि प्रत्यक्ष से उपलब्ध होते हैं और दुग्ध तथा शब्दादि कार्य्य पदार्थों के नाश का कारण प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं होता, इसलिये स्फटिक व्यक्तियों के उत्पत्ति विनाश में दुग्ध दधि का दृष्टान्त कथन करना ठीक नहीं अर्थात् एक ही स्फटिक में नीलपीतादि भेद से अन्यान्य व्यक्तियों के उत्पत्ति विनाश का घटादि उत्पत्ति विनाश की भांति प्रत्यक्ष नहीं होता और नाहीं दुग्धनाश तथा दध्युत्पत्ति के समान उन व्यक्तियों के कारण का अनुमान होसकता है जिससे उक्त व्यक्तियों को क्षणिक मानाजाय, इसलिये उक्त दृष्टान्त क्षणिकवादी के पक्ष का साधक नहीं।

सं०-ननु, विषयेन्द्रियसंयोगजन्य होने से बुद्धि इन्द्रिय अथवा विषय का गुण है आत्मा का नहीं ? उत्तर :-

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञाना-वस्थानात् । १९ ।

पद०-न । इन्द्रियार्थयोः । तद्विनाशे । अपि । ज्ञानावस्थानात् ।

पदा०-(तद्विनाशे) इन्द्रिय तथा विषय के नाश होने पर (अपि) भी (ज्ञानावस्थानात्) स्मृति ज्ञान के बने रहने से बुद्धि (इन्द्रियार्थयोः) विषयेन्द्रिय का गुण (न) नहीं ।

भाष्य-"अयं घटः"=यह घट है, इत्यादि ज्ञान विषयेन्द्रिय संयोगजन्य होने पर भी चक्षुरादि इन्द्रिय और घटपटादि विषयों के आश्रित नहीं होसक्ते, क्योंकि इन्द्रिय तथा विषय के नाश होने पर भी "घटमद्राक्षम्"=मैंने घट को देखा था "पटमस्प्राक्षम्"=मैंने पट का स्पर्श किया था, इत्यादि स्मृतिज्ञान पूर्वानुभवजन्य पाये जाते हैं, यदि बुद्धि विषयेन्द्रियाश्रित होती तो इन्द्रियादि के नष्ट होने से घटपटादि के नाशपूर्वक तदाश्रित रूपनाश की भांति उक्त घटादि विषयक अनुभव ज्ञान का भी नाश होजाता और उसके नाश होने से संस्कारों के अभावद्वारा स्मृतिज्ञान कदापि न होता परन्तु स्मृतिज्ञान पाया जाता है इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियादिक बुद्धि के आश्रय नहीं किन्तु उनसे भिन्न नित्य आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है,इसलिये ज्ञान गुण के आत्मसमवेत होनेमें कोई बाधा नहीं ।

सं०—अब मन में बुद्धि का प्रतिषेध करते हैं:—

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ।२०।

पद०—युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेः । च । न । मनसः ।

पदा०—(च) और (युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेः) युगपत्काल में अनेक विषयों की उपलब्धि न होने से बुद्धि (मनसः) मन का गुण (न) नहीं।

भाष्य—रूपज्ञान काल में रसज्ञान और रसज्ञान काल में रूपज्ञान का अभाव होने से सिद्ध है कि बुद्धि मन का गुण नहीं, यदि बुद्धि मन का गुण होती तो सब इन्द्रियों के साथ समानसम्बन्ध होने से समकाल में अनेक विषयों की उपलब्धि होती परन्तु नहीं होती, इससे पाया जाता है कि बुद्धि मन का गुण नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :—

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ।२१।

पद०—तत् । आत्मगुणत्वे । अपि । तुल्यम् ।

पदा०—(आत्मगुणत्वे) बुद्धि को आत्मा का गुण मानने में (अपि) भी (तत्, तुल्यम्) समान दोष पाया जाता है ।

भाष्य—जिसप्रकार बुद्धि को मन के आश्रित मानने में युगपत् अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति का दोष कथन किया है इसी प्रकार उसके आत्मगुण होने में भी उक्त दोष होसक्ता है, क्योंकि सब इन्द्रियों के साथ मध्यम परिमाण वाले मन के सम्बन्ध की भांति अणुपरिमाण वाले आत्मा की चिच्छक्ति का सम्बन्ध भी सब इन्द्रियों के साथ समान पाया जाता है ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

इन्द्रियैर्मनसः सान्निकर्षाभावात्तदनु-पपत्तिः । २२ ।

पद०—इन्द्रियैः । मनसः । सन्निकर्षाभावात । तदनुपपत्तिः ।

पदा०—(इन्द्रियैः) इन्द्रियों के साथ (मनसः) मन की वृत्ति का (सन्निकर्षाभावात) सम्बन्ध न होने से (तदनुपपत्तिः) युगपत्काल में सब ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती ।

भाष्य—यद्यपि मध्यमपरिमाण वाले मन की भांति अणु आत्मा की चिच्छक्ति का सब इन्द्रियों के साथ समानसम्बन्ध है तथापि इन्द्रियमात्र के साथ आत्मप्रेरित मन की वृत्ति का सम्बन्ध न होने से एककाल में अनेक ज्ञान नहीं होसक्ते, इसलिये बुद्धि को अनित्य मानकर आत्माश्रित मानना ही ठीक है ।

सं०—अब पूर्वपक्षी उक्त अर्थ में दो सूत्रों से पुनः दोष कथन करता है :—

नोत्पत्तिकारणानपदेशात् । २३ ।

पद०—न । उत्पत्तिकारणानपदेशात ।

पदा०—(उत्पत्तिकारणानपदेशात) उत्पत्ति कारण का व्यवहार न होने से (न) बुद्धि आत्मा का गुण नहीं ।

भाष्य—बुद्धि की उत्पत्ति में आत्मा का कारण होना निश्चित नहीं अर्थात आत्मा ही बुद्धि का कारण है अन्य नहीं, इस नियम के न होने से बुद्धि को केवल आत्माश्रित कथन करना ठीक नहीं ।

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः । २४ ।

पद०—विनाशकारणानुपलब्धेः । च । अवस्थाने । तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ।

पदा०—(च) और (विनाशकारणानुपलब्धेः) बुद्धिनाश का कारण उपलब्ध न होने से उसको (अवस्थाने) स्थिर मानाजाय तो (तन्नित्यत्वप्रसङ्गः)-उसमें नित्यता की आपत्ति होगी ।

भाष्य—यह नियम है कि आश्रयनाश वा विरोधी गुण से गुण का नाश होता है, इस नियम के अनुसार बुद्धिनाश का आश्रयनाशादि कारण उपलब्ध न होने से सिद्ध है कि बुद्धि स्वतन्त्र नित्य पदार्थ है आत्माश्रित नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

अनित्यत्वग्रहाद्बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत् । २५ ।

पद०—अनित्यत्वग्रहात् । बुद्धेः । बुद्ध्यन्तरात् । विनाशः । शब्दवत् ।

पदा०—(शब्दवत्) शब्द की भांति (अनित्यत्वग्रहात्) अनित्यत्व के पायेजाने से (बुद्ध्यन्तरात्) उत्तरबुद्धिद्वारा (बुद्धेः) प्रथमबुद्धि का (विनाशः) नाश होता है ।

भाष्य—प्रकृत में बुद्धि, ज्ञान यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, जैसाकि

"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्" न्या० १।१।१५ सूत्र में पीछे वर्णन किया गया है, घटज्ञानकाल में पटज्ञान के न होने से तथा पटज्ञानकाल में घटज्ञान के न होने से सिद्ध है कि बुद्धि नित्य नहीं किन्तु शब्द की भांति उत्पत्ति विनाश वाली है, और जैसे पूर्व शब्द का उत्तर शब्द से नाश होता है वैसे प्रथम बुद्धि का उत्तर बुद्धि से नाश पाया जाता है, इसलिये अनित्य गुण रूप बुद्धि आत्माश्रित है आत्मभिन्न द्रव्याश्रित नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि बुद्धि का समवायिकारण आत्मा, असमवायिकारण आत्ममनःसंयोग और अदृष्टादि निमित्तकारण हैं, इस प्रकार कारणजन्य होने से अनित्य मानकर उसको आत्माश्रित मानने में कोई बाधा नहीं।

स्मरण रहे कि किसी स्थल में उत्तर शब्द की भांति प्रथम ज्ञान का उत्तर ज्ञान और किसी एक स्थल में अदृष्ट अथवा दीर्घ कालादिक भी बुद्धिनाश के कारण होते हैं।

सं०—अब एकदेशी के मत से एककाल में अनेक स्मृतियों का अभाव कथन करते हैं :—

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः । २६ ।

पद०—ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षात् । मनसः । स्मृत्युत्पत्तेः । न । युगपदुत्पत्तिः ।

पदा०—(ज्ञानसम०) ज्ञानसमवेत आत्मा के किसी एकदेश के

साथ सम्बन्ध होने से (स्मृत्युत्पत्तेः) स्मृति की उत्पत्ति होती है इसलिये (युगपदुत्पत्तिः) युगपत्काल में अनेक स्मृतियों की उत्पत्ति (न) नहीं होती।

भाष्य–प्रकृत में "ज्ञान" पद स्मृति जनक संस्कारों का वाचक है, अनुभवजन्य भावना नामक संस्कार वाले जिस आत्मप्रदेश के साथ मन की वृत्ति का सम्बन्ध होता है उसी देश में वर्त्तमान संस्कारों द्वारा स्मृतिज्ञान की उत्पत्ति होती है सब संस्कारों से नहीं, अतएव युगपत्काल में अनेक स्मृतियें नहीं होतीं।

भाव यह है कि विभु आत्मा के जिस २ प्रदेश के साथ बाहिर होकर मन का सम्बन्ध होता है उसी प्रदेश में होने वाले संस्कारों से स्मृति होती है, इसलिये एक काल में सब स्मृतियों का मानना ठीक नहीं।

सं०–अब उक्त एकदेशी के मत का खण्डन करते हैं:—

नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः ।२७।

पद०–न। अन्तःशरीरवृत्तित्वात्। मनसः।

पदा०–(मनसः, अन्तः शरीर वृत्तित्वात्) मन शरीर के भीतर वर्त्तमान होने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य–जब तक शरीरविशिष्ट आत्मा के साथ अदृष्टाधीन मनः-संयोगरूप जीवन बना रहता है तब तक मन का शरीर से निकल कर बाहिर जाना सम्भव नहीं अर्थात् मृत्युकाल में ही मन का शरीर से बाहिर निकलना होता है अन्यथा नहीं, इस प्रकार शरीर से बाहिर निकले हुए मन का तत्तत् संस्कारविशिष्ट आत्मप्रदेश के

साथ संयोग द्वारा युगपत् अनेक स्मृतियों का अभाव कथन करना ठीक नहीं और नाही आत्मा का विभु होना किसी प्रमाण से सिद्ध है जिससे शरीर के बाहिर आत्मा को व्यापक मानकर उक्त रीति से स्मृतिजनक मनःसंयोग भी मानाजाय, इसलिये विभुवादी का स्वमत में युगपत् अनेक स्मृतियों का अभाव कथन करना ठीक नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि जीवनकालपर्य्यन्त शरीर से वाहिर मन की उत्क्रान्ति न होने से शरीराभ्यन्तर संयोग के बने रहने पर ही वह स्मृति ज्ञान की उत्पत्ति का कारण होता है अन्यथा नहीं ।

सं०—अब पूर्वपक्षी उक्त अर्थ में आक्षेप करता है :—

साध्यत्वादहेतुः ॥ २८ ॥

पद०—साध्यत्वात् । अहेतुः ।

पदा०—(साध्यत्वात्) साध्य होने से (अहेतुः) उक्त हेतु ठीक नहीं ।

भाष्य—शरीर के भीतर होनेवाला आत्ममनःसंयोग स्मृति का हेतु होता है, यह साध्य है और जो साध्य होता है वह हेतु नहीं होसक्ता इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं ।

भाव यह है कि शरीरविशिष्ट आत्मा के साथ होने वाला मनः, संयोग ही स्मृति का कारण है इसमें कोई प्रमाण नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २९ ॥

पद०—स्मरतः । शरीरधारणोपपत्तेः । अप्रतिषेधः ।

पदा०—(स्मरतः) स्मरण करते हुए पुरुष के (शरीरधारणोपपत्तेः) शरीर का जीवन पाये जाने से (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य—स्मृतिकाल में पुरुष का शरीर सजीव बना रहता है निर्जीव नहीं, यदि स्मृतिकाल में मन=अन्तःकरण शरीर से बाहिर निकलजाय तो मृतपुरुष की भांति स्मृतिकर्त्ता पुरुष का शरीर भी निर्जीव होना चाहिये पर ऐसा नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि स्मृतिकाल में मन शरीर से बाहिर नहीं होता प्रत्युत शरीर के भीतर विद्यमान रहकर ही तत्तद् विशेषरूप से आत्मसंयोग द्वारा स्मृत्युत्पत्ति का कारण होता है ।

सं०—अब उक्त अर्थ में पुनः पूर्वपक्षी आशङ्का करता है :—

न तदाशुगतित्वान्मनसः ॥ ३० ॥

पद०—न । तदा । आशुगतित्वात् । मनसः ।

पदा०—(तदा) स्मृतिकाल में (मनसः) मन (आशुगतित्वात्) आशुगति होने के कारण उक्त कथन (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—शीघ्रगति का नाम "**आशुगति**" है, स्मृतिकाल में आशुगति होने से मन का बाह्यात्मप्रदेश और शरीर के साथ संयोग बना रहता है, अतएव उसमें मृतशरीर के समान निर्जीव होने का दोष नहीं आता ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

न स्मरणकालानियमात् ॥ ३१ ॥

पद०—न । स्मरणकालानियमात् ।

पदा०—(स्मरणकालानियमात्) स्मरणकाल का नियम पाये जाने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—मन शरीर से बाहिर निकलकर पुनः शरीर के भीतर शीघ्र ही प्रवेश करता है जिससे शरीर निर्जीव नहीं होता, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि स्मरणकाल का कोई नियम नहीं पाया जाता अर्थात् कभी उद्बोधक हेतु की समीपता से शीघ्र और कभी किसी विषय में तत्पर होकर विलम्ब से स्मृति होने के कारण मन का शरीर के भीतर बाहिर आशुसञ्चार कथन करना साहसमात्र है ।

सं०—अब पूर्वपक्षी स्मृतिहेतुक मनःसंयोग का प्रतिषेध करता है:—

आत्मप्रेरणयदृच्छताज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः ॥ ३२ ॥

पद०—आत्मप्रेरणयदृच्छताज्ञताभिः । च । न । संयोगविशेषः ।

पदा०—(च) और (आत्मप्रेरण०) आत्मप्रेरण, यदृच्छा और ज्ञता इन तीन कारणों से मन का (संयोगविशेषः) संयोगविशेष स्मृति का हेतु (न) नहीं होता ।

भाष्य—आत्मा की प्रेरणा का नाम "आत्मप्रेरण" आकस्मिक होने का नाम "यदृच्छा" और ज्ञातृत्व का नाम "ज्ञता" है,

यदृच्छा, आकस्मिक यह दोनों तथा ज्ञता, ज्ञातृत्व यह दोनों एकार्थवाची हैं, आत्मप्रेरण यदृच्छा तथा ज्ञता यह तीनों स्मृतिहेतुक आत्ममनःसंयोग की उत्पत्ति में कारण नहीं अर्थात् पूर्वानुभूत विषय के चिन्तनार्थ आत्मा की प्रेरणा द्वारा वाहिर निकलकर विशेषरूप से संयुक्त हुआ मन स्मृति को उत्पन्न करता है, यदि यही मानाजाय तो स्मृति का विषयभूत पदार्थ स्मृत होने के कारण स्मरणीय नही रहता जिसके लिये इच्छापूर्वक आत्मा स्वप्रयत्न द्वारा मन को प्रेरित करसके, क्योंकि ऐसा मानने से स्मरणीय विषय स्मृति के पूर्व ही ज्ञात होजाता है, इस प्रकार आत्मा की प्रेरणा भी स्मृति हेतुक मनःसंयोग में कारण नहीं होसक्ती और यदृच्छा कारण मानने से स्मृतिउत्पत्ति का कालनियम नहीं रहता, या यों कहो कि ऐसा मानने से सर्वदा स्मृति वनी रहेगी, और ज्ञातृत्वभाव से मन को कारण मानना इसलिये ठीक नहीं कि मन की चेतनता का पीछे प्रतिषेध कर आये हैं, इस रीति से उक्त तीनों कारणों के सिद्ध न होने से स्मृति का मानना निष्फल है।

सं०—अव पूर्वपक्षी के उक्त कथन का खण्डन करते हैं:—

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण च समानम् ॥ ३३ ॥

पद०—व्यासक्तमनसः। पादव्यथनेन। संयोगविशेषेण। च। समानम्।

पदा०-(व्यासक्तमनसः) व्यासक्त मन वाले पुरुष की (पादव्यथनेन) पादपीड़ा से होने वाले (संयोगविशेषेण, समानम्) संयोगविशेष की भांति (च) आत्मा के साथ मन का संयोगविशेष ही स्मृति का कारण है।

भाष्य-व्यासक्त नम वाले=गीतश्रवणादि विषय में अत्यन्त आसक्त हुए पुरुष के पाद में कंटकव्यथा होते ही गीतादि विषय को छोड़कर मन की वृत्ति त्वगिन्द्रिय के साथ मिल जाती है जिससे पुरुष तत्काल ही कण्टकादि विषय के तीक्ष्ण स्पर्श को अनुभव करता है, सो यदि आत्मा के साथ मन का कोई विशेषरूप से संयोग न होता तो गीतादि श्रवणकाल में कंटकव्यथा का कदापि अनुभव न होता पर होता है, इससे सिद्ध है कि पादपीड़ानुभव के हेतुभूत आत्ममनःसंयोगविशेष का दृष्ट कारण उपलब्ध न होने से कोई अदृष्टविशेष कारण है और जिस प्रकार उक्त स्थल में अदृष्ट-विशेष को सामान्यरूप से आत्ममनःसंयोग की कारणता मानी है इसी प्रकार स्मृतिमात्र की उत्पत्ति में फलोन्मुख अदृष्टविशेष ही कारण जानना चाहिये।

सं०-अब समकाल में अनेक स्मृतियों के अभाव का हेतु कथन करते हैं:-

प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावादयुगपत्स्मरणम् ॥ ३४ ॥

पद०-प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानां । अयुगपद्भावात् । अयुगपत्स्मरणम् ।

पदा०–(प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानां) प्रणिधान तथा लिङ्गादि ज्ञानों के (अयुगपद्भावात्) युगपत् न होने से (अयुगपत्स्मरणम्) समकाल में अनेक स्मृतिज्ञान नहीं होसक्ते ।

भाष्य–प्रणिधान=चित्त की एकाग्रता वा सुस्मूर्षा=स्मरण की इच्छा, लिङ्ग=स्मृत्युद्बोधक आदि का ज्ञान समानकाल में न पाये जाने के कारण एककाल में अनेक स्मृतियों का अभाव होता है ।

भाव यह है कि जिस क्रम से स्मृतिहेतुओं का ज्ञान होता है उसी क्रम से स्मृतिज्ञान उत्पन्न होते हैं अन्यथा नहीं, और कदाचित् उद्बोधक आदि स्मृतिकारणों के युगपत् उपस्थित होने से युगपत् अनेक स्मृतियों के होने में भी कोई बाधा नहीं, जैसाकि अनेक वर्णों के ज्ञान से अनेकपदज्ञान तथा अनेकपदों की स्मृति वाक्यार्थ-बोध में प्रसिद्ध है ।

सं०–अब ज्ञान तथा इच्छादि गुणों को आत्माश्रित कथन करते हैं :–

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः।३५

पद०–ज्ञस्य । इच्छाद्वेषनिमित्तत्वात् । आरम्भनिवृत्त्योः ।

पदा०–(आरम्भनिवृत्त्योः) आरम्भ तथा निवृत्ति (इच्छाद्वेष-निमित्तत्वात्) इच्छाद्वेष के अधीन होने से ज्ञानादिक (ज्ञस्य) ज्ञाता के गुण हैं ।

भाष्य–सुखप्राप्त्यर्थ सुखसाधनों के उपादान की इच्छा से

होने वाली प्रवृत्तिविशेष का नाम "आरम्भ" और दुःख निवृत्ति के लिये दुःख साधनों के परित्यागविषयक इच्छा द्वारा होने वाली चेष्टा का नाम "निवृत्ति" है, या यों कहो कि प्रवृत्ति को "आरम्भ" तथा तदभाव को "निवृत्ति" कहते हैं, इच्छा, द्वेष के होने से प्रवृत्ति निवृत्ति का होना और उन दोनों के न होने से प्रवृत्ति निवृत्ति का अभाव पाये जाने से सिद्ध है कि जिस चेतन में प्रवृत्ति आदि के हेतुभूत इच्छादिक होते हैं उसी में ज्ञानादि विशेष गुण पाये जाते हैं अन्यत्र नहीं, इसलिये ज्ञानादिकों को आत्माश्रित=आत्मगुण मानना ही समीचीन है।

सं०–अब उक्त अर्थ में "भूतचैतन्यवादी" चार्वाक आशंका करता है:—

तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः । ३६ ।

पद०–तल्लिङ्गत्वात् । इच्छाद्वेषयोः । पार्थिवाद्येषु । अप्रतिषेधः ।

पदा०–(इच्छाद्वेषयोः, तल्लिङ्गत्वात्) प्रवृत्ति निवृत्ति इच्छा द्वेष का लिङ्ग होने से (पार्थिवाद्येषु) पार्थिवादि शरीरों में (अप्रतिषेधः) ज्ञानादिकों का प्रतिषेध नहीं होसक्ता।

भाष्य–प्रवृत्ति निवृत्ति द्वारा इच्छा द्वेष का अनुमान पाये जाने से सिद्ध है कि ज्ञानादि गुण पार्थिवादि शरीर के धर्म हैं शरीर

भिन्न आत्मा के नहीं अर्थात् जिसमें प्रवृत्ति निवृत्ति पाई जाय उसी में इच्छादि होते हैं, इस नियमानुसार शरीर में प्रवृत्ति निवृत्ति पाये जाने से ज्ञानादिकों को शरीराश्रित मानना ही ठीक है ।

स्मरण रहे कि यद्यपि प्रयत्न और तदभावरूप निवृत्ति का शरीर में प्रत्यक्ष नहीं तथापि प्रत्यक्षसिद्ध शरीरचेष्टा द्वारा उनके अनुमान में कोई बाधा नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में प्रथम "प्रतिवन्दी" तर्क कथन करते हैं:—

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् । ३७ ।

पद०—परश्वादिषु । आरम्भनिवृत्तिदर्शनात् ।

पदा०—(परश्वादिषु) परशु आदि पदार्थों में (आरम्भनिवृत्तिदर्शनात्) आरम्भ निवृत्ति पाये जाने पर भी उनमें ज्ञानादिकों का अभाव है ।

भाष्य—कुठार का नाम "परशु" है, काष्ठादि के छेदन काल में परशु आदि पदार्थों में छेदनविषयक प्रवृत्तिनिवृत्ति पाई जाने पर भी ज्ञानादिक नहीं होते, इसलिये "जहां प्रवृत्त्यादिक हों वहां ज्ञानादिक होते हैं" इस नियम का व्यभिचार होने के कारण उक्त हेतु ठीक नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :—

कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः । ३८ ।

पद०—कुम्भादिषु । अनुपलब्धेः । अहेतुः ।

पदा०—(कुम्भादिषु) घटपटादि पदार्थों में (अनुपलब्धेः) ज्ञानादि

न पाये जाने के कारण (अहेतुः) उक्त हेतु ठीक नहीं ।

भाष्य-आरम्भ निर्वृत्ति के होने से ज्ञानेच्छादिक शरीर के गुण मानना इसलिये ठीक नहीं कि कपालादि कारणों में घटादि कार्य्यारम्भरूप प्रवृत्ति तथा घटादि के अकारणभूत सिकतादि पदार्थों में उक्त कार्य्यों की निवृत्ति=अभाव पाये जाने से "तल्लिङ्गत्वात्" हेतु व्यभिचारी है अर्थात् कपालतन्तु आदि अवयवों में घटपटादि कार्य्यारम्भरूप प्रवृत्ति और सिकतादि पदार्थों में घट पटादि कार्य्य की निवृत्ति पाये जाने पर भी ज्ञानेच्छादिकों के न पाये जाने से "तल्लिङ्गत्वात्" हेतु उनके शरीराश्रित होने का साधक नहीं ।

सं०-ननु, "जहां प्रवृत्ति निवृत्ति होती है वहां ज्ञानादिक होते हैं" इस नियम का सिद्धान्त में भी व्यभिचार है, क्योंकि शरीर में प्रवृत्त्यादिक मानकर भी ज्ञानादिकों को शरीराश्रित नहीं माना ? उत्तर :—

नियमानियमौतुतद्विशेषकौ । ३९ ।

पद०-नियमानियमौ । तु । तद्विशेषकौ ।

पदा०-(नियमानियमौ) नियम तथा अनियम (तद्विशेषकौ) चेतन, अचेतन के भेदक होते हैं ।

भाष्य-"तु" शब्द सिद्धान्त में व्यभिचाराभाव के बोधनार्थ आया है, नियम=समवायसम्बन्ध से ज्ञानेच्छादि का होना, अनियम=उक्त सम्बन्ध से उनका न होना, जड़चेतन का भेदक होता

है अर्थात् जिसमें समवायसम्बन्ध से ज्ञानेच्छादिक पाये जायं वह "चेतन" और जो उक्त सम्बन्ध से ज्ञान,इच्छा तथा प्रयत्न का आश्रय नहीं वह "अचेतन" है,प्रकृत में तात्पर्य्य यह निकला कि अवच्छेदकता नामक स्वरूप सम्बन्ध से ज्ञानादि शरीरवृत्ति चेष्टा के कारण हैं समवायसम्बन्ध से नहीं, क्योंकि रूपादि की भांति ज्ञानादि शरीर के विशेष गुण नहीं होते, इसलिये सिद्धान्त में उक्त नियम का व्यभिचार न होने से ज्ञानादिकों को आत्मा का गुण मानना ही समीचीन है, शरीरदेश में ज्ञानादि के उत्पत्ति हेतुक सम्बन्ध का नाम "**अवच्छेदकताख्यस्वरूपसम्बन्ध**" है।

स्मरण रहे कि घटपटादि विषयों में ज्ञान की भांति कुठारादि साधनों में प्रयत्न=प्रवृत्ति आदि "विषयतासम्बन्ध" से होते हैं अन्य सम्बन्ध से नहीं, वस्तुतस्तु कुठारादिकों में क्रिया का कारण प्रयत्न नहीं किन्तु परम्परासम्बन्ध से प्रयत्नजन्य चेष्टा है, विषय के साथ ज्ञानादिकों के सम्बन्ध को "**विषयतासम्बन्ध**" कहते हैं।

सं०-अब मनमें इच्छादि का अभाव कथन करते हैं:-

यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्याग-माच्च न मनसः ।४०।

पद०-यथोक्तहेतुत्वात् । पारतन्त्र्यात् । अकृताभ्यागमात् । च । न । मनसः ।

पदा०-(यथोक्तहेतुत्वात्) उक्त हेतुओं के पाये जाने से (पारतन्त्र्यात्) परतन्त्र होने से (च) और अकृताभ्यागम दोष से

इच्छादिक (मनसः) मन के गुण (न) नहीं।

भाष्य—जिसप्रकार "दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्" न्या० ३।१।१ में कथन किये इत्यादि हेतुओं से ज्ञानेच्छा दिक शरीरादि के गुण नहीं इसी प्रकार उक्त हेतुओं द्वारा इच्छादिक भी मन के गुण नहीं होसक्ते, और दूसरी वात यह है कि करण होने से चक्षुरादि की भांति ज्ञानादि की उत्पत्ति में मन परतन्त्र है स्वतन्त्र नहीं, यदि ज्ञानादिक मन के गुण होते तो मन भी आत्मा की भांति स्वतन्त्र होता पर ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि वह मन के आश्रित न होने से आत्मा के गुण हैं मन के नहीं, यदि दुराग्रहवशात् उनको मन का गुण मानाजाय तो भी वादी की इष्टसिद्धि नहीं होसक्ती, क्योंकि ऐसा मानने से अकृताभ्यागम दोष की आपत्ति होती है जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं, इसलिये ज्ञानादिकों को आत्मा का गुण मानना ही समीचीन है।

सं०—अव प्रकृत विषय का उपसंहार करते हुए ज्ञानादिकों का आत्मा का गुण कथन करते हैं:—

परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च । ४१ ।

पद०—परिशेषात् । यथोक्तहेतूपपत्तेः । च ।

पदा०—(परिशेषात्) परिशेष से (च) और (यथोक्तहेतूपपत्तेः) उक्त हेतुओं के उपपन्न होने से ज्ञानादिक आत्मा के गुण हैं।

भाष्य—"प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे

सम्प्रत्ययःपरिशेषः "=प्राप्त के निषेध तथा अन्य में अप्राप्ति द्वारा शेष विषय में अनुमिति के हेतु का नाम "परिशेष" है, परिशेष अनुमान द्वारा तथा "दर्शनस्प०" आदि हेतुओं द्वारा ज्ञानादि आत्मा के गुण हैं अर्थात् गुण होने से ज्ञानादि किसी द्रव्य के आश्रित होने चाहिये परन्तु जैसे रूपादि शरीरादिकों के आश्रित हैं वैसे ज्ञानादिक उनके आश्रित नहीं, क्योंकि उक्त रीति से उनका शरीरादि के आश्रित होना निषेध कर आये हैं, गुण कर्मादिकों में उनकी प्राप्ति नहीं होसक्ती अर्थात् गुण, कर्म गुण वा कर्म के आश्रित नहीं होते, इसलिये उनमें ज्ञानादि की प्राप्ति का होना ही असम्भव है, इसप्रकार शरीरेन्द्रियादि द्रव्यों से जो शेष द्रव्य हैं वही ज्ञानादि का आश्रय "आत्मा" कहाता है।

सं०—अब शिष्य की निपुणता के लिये स्मृतिज्ञान को आत्माश्रित कथन करते हैं :—

स्मरणन्त्वात्मनोज्ञस्वाभाव्यात्। ४२।

पद०—स्मरणं। तु। आत्मनः। ज्ञस्वाभाव्यात्।

पदा०—(ज्ञस्वाभाव्यात्) ज्ञानाधिकरण होने से (स्मरणं) स्मृतिज्ञान (तु) भी (आत्मनः) आत्मा के आश्रित है।

भाष्य—जैसे ज्ञानरूप होने से अनुभव आत्मा के आश्रित है वैसे ही ज्ञानरूप होने के कारण स्मृति भी आत्माश्रित जाननी चाहिये।

कई एक "आचार्य्य" इस सूत्र को इसप्रकार लापन करते हैं कि स्मृतिहेतु अनुभव के नष्ट होने पर भी ज्ञानाधिकरण

आत्मा के भावनाख्य संस्कार गुण द्वारा कालान्तर में उद्बोधकरूप सहकारी कारण के पाये जाने से स्मृति उत्पन्न होती है, इसलिये संस्काररूप कारण के समानाधिकरण में विद्यमान होने के कारण स्मृतिज्ञान भी आत्मा का गुण है।

सं०-अब स्मृतिहेतुक संस्कारों के उद्बोधक कारणों का कथन करते हैं:—

प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्य परिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्य्यवियो गैककार्य्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधान सुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रिया रागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः ।४३।

पद०-एकपद०।

पदा०-(प्रणिधान०) प्रणिधान, निबन्ध, अभ्यास, लिंग, लक्षण, सादृश्य, परिग्रह, आश्रय, आश्रित, सम्बन्ध, आनन्तर्य्य, वियोग, एककार्य्य, विरोध, अतिशय, प्राप्ति, व्यवधान, सुख, दुखः, इच्छा, द्वेष, भय, अर्थित्व, क्रिया, राग, धर्म और अधर्म, इन कारणों द्वारा संस्कारों के उद्बुद्ध होने से स्मृति होती है।

भाष्य-प्रणिधान=मन को एक विषय से हटाकर बलपूर्वक अन्य विषय में लगाना "निबन्ध"=किसी एक विषय को ग्रन्थन करना "अभ्यास"=संस्कारों की अधिकता "लिङ्ग"=

संयोगि,समवायि आदि भेद से अनेक प्रकार का साध्यसिद्धि में समर्थ हेतु "**लक्षण**"=चिन्हविशेष "**सादृश्य**"=समानरूपता "**परिग्रह**" =स्वस्वामीभाव "**आश्रय**"=आधार "**आश्रित**"=आधेय "**सम्बन्ध**"=शिष्यशासितृभाव तथा याज्ययाजकभावादि अनेक-सम्बन्ध "**आनन्तर्य्य**"=प्रथम क्रियासमाप्ति के अव्यवहित उत्तर क्षण में दूसरी क्रिया का पश्चाद्भाव "**वियोग**"=इष्टमित्रादि का विरह "**एककार्य्य**"=साध्यायादि "**विरोध**"= परस्परविरोधि नकुल-सर्पादि का सहानवस्थान "**अतिशय**"= उपनयनादि संस्कार "**प्राप्ति**"= धनादि का लाभ "**व्यवधान**"=कोशादिरूपआवरण "**सुख**"=अनुकूलवेदनीय "**दुःख**"=प्रतिकूलवेदनीय "**इच्छा**"= सुख तथा सुखसाधनों में रागात्मक चित्तवृत्ति "**द्वेष**"=दुःख तथा दुःख साधनों में क्रोधात्मक चित्तवृत्ति "**भय**"=अभिनिवेशात्मक मरणादि की भीति "**अर्थित्व**"=अप्राप्त वस्तु की प्रार्थना "**क्रिया**"=तक्षणादि "**राग**"=पुत्रादि विषयक प्रीति "**धर्म**"= विहितकर्मों के अनुष्ठान से होने वाले पुण्यविशेष = "**अधर्म्म**"=निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से होने वाला पापविशेष, इत्यादि स्मृतिजनक संस्कारों के उद्बोधक अनेक हेतु हैं जिनके युगपत् न होने से एक काल में अनेक स्मृतियों का अभाव होता है।

भाव यह है कि जब पुरुष बलात्कार मन को किसी एक

विषय से हटाकर अन्य विषय में प्रेरित करता है तब पूर्वानुभवजन्य आत्मनिष्ठ संस्कार प्रणिधानद्वारा उद्बुद्ध होकर तद्विषयक स्मृति को उत्पन्न करते हैं, एवं एक ग्रन्थ=प्रकरण में पढ़े हुए पदार्थ निबन्धरूप से अन्य ग्रन्थ की स्मृति के हेतु होते हैं, जैसाकि प्रमाण-ग्रन्थ द्वारा प्रमेय की तथा प्रमेयग्रन्थ द्वारा प्रमाण की स्मृति में प्रसिद्ध है, यही रीति प्रकरणानुसार शेषस्मृतिकारणों के लापन में भी जाननी चाहिये, यहां ग्रन्थगौरव भय से शेषकारणों के उदा-हरणों का विस्तार नहीं किया,और संयोगी आदि लिङ्गों के उदाहरण "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में स्पष्ट हैं, इसलिये यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं।

सं०–अब बुद्धि को "आशुतरविनाशिनी" कथन करते हैं:–

कर्मानवस्थायिग्रहणात् । ४४ ।

पद०–एकपद० ।

पदा०–(कर्मानवस्थायिग्रहणात्) अनवस्थित क्रिया का ग्रहण पाये जाने से बुद्धि आशुतरविनाशिनी है ।

भाष्य–शब्द की भांति अपनी उत्पत्ति से तीसरे क्षण में नष्ट होने के कारण बुद्धि को "आशुतरविनाशिनी" कहते हैं, विषय भेद से ज्ञान का भेद होता है,इस नियमानुसारशरीर प्राणादि क्रियाओं का प्रवाह प्रतिक्षण भिन्न होने से उनके ज्ञान भी परस्पर भिन्न२ पायेजाते हैं अर्थात् प्रथम बुद्धि प्रथम क्रिया को विषय करके दूसरी क्रिया को विषय नहीं करसक्ती, क्योंकि "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य

व्यापाराभावः "= शब्द, बुद्धि तथा कर्म इन तीनों का एकवार व्यापार होकर पुनः व्यापार नहीं होता,इसलिये प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर दूसरे क्षण में अर्थप्रकाशरूप व्यापार को समाप्त करके तीसरे क्षण में नाश होने से बुद्धि "आशुतरविनाशिनी" है, प्रकृत में आशुतरविनाशित्व, उत्पन्नापवर्गित्व और तृतीयक्षणवृत्ति-ध्वंसप्रतियोगित्व यह तीनों एकार्थवाची शब्द हैं।

कई एक "आचार्य्य" इस सूत्र का यह अर्थ करते हैं कि "कर्मवद्बुद्धेरनवस्थायित्वग्रहणादुत्पन्नापवर्गिणीबुद्धिः" =कर्म की भांति अनवस्थित होने से बुद्धि का तीसरे क्षण में नाश होता है, इसलिये वह "आशुतरविनाशिनी" कहाती है।

सं०-अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैंः—

बुद्ध्यवस्थानात्प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यभावः।४५।

पद०-बुद्ध्यवस्थानात्। प्रत्यक्षत्वे। स्मृत्यभावः।

पदा०-(बुद्ध्यवस्थानात्) बुद्धि के अवस्थित होने से (प्रत्यक्षत्वे) प्रत्यक्षज्ञान चिरकाल पर्य्यन्त स्थायी होने के कारण (स्मृत्यभावः) स्मृतिज्ञान का अभाव होगा।

भाष्य-प्रकृत में दूसरे क्षण से अधिक क्षण पर्य्यन्त स्थिर रहने वाले का नाम "अवस्थित" है, यदि बुद्धि को अवस्थित माना जाय तो उसके स्थितिकाल पर्य्यन्त ज्ञेय=विषय का प्रत्यक्ष बने रहने से स्मृतिज्ञान का अभाव होना चाहिये परन्तु स्मृतिज्ञान के होने में

किसी वादी की विप्रतिपत्ति नहीं, इससे स्पष्ट है कि बुद्धि का स्वोत्पत्ति से तीसरे क्षण में नाश होजाता है जिससे अनुभवजन्य संस्कारों के बने रहने से स्मृतिज्ञान के होने में कोई बाधा नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:—

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वेविद्युत्सम्पाते-रूपाव्यक्तग्रहणवत् ।४६।

पद०-अव्यक्तग्रहणम् । अनवस्थायित्वे । विद्युत्सम्पाते । रूपाव्यक्तग्रहणवत् ।

पदा०-(अनवस्थायित्वे) बुद्धि अनवस्थित होने के कारण (विद्युत्सम्पाते) बिजली के चमकने पर (रूपाव्यक्तग्रहणवत्) रूप के अव्यक्त ग्रहण की भांति (अव्यक्तग्रहणम्) पदार्थमात्र का व्यक्तरूप से ज्ञान नहीं होसक्ता ।

भाष्य-तीसरे क्षण में बुद्धि का नाश मानना इसलिये ठीक नहीं कि पदार्थों का ज्ञान विशेषणविशेष्यभावरूप सम्बन्ध ज्ञान के अधीन होता है अर्थात् यदि बुद्धि को आशुतरविनाशिनी माना जाय तो जिस प्रकार बिजली की चमक से पदार्थों का व्यक्त-रूप से भान नहीं होता इसी प्रकार घटपटादि विषयों का भी अव्यक्तग्रहण=विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धज्ञान के बिना ही ज्ञान पाया जाता परन्तु ऐसा नहीं, इससे स्पष्ट है कि बुद्धि विद्युदादि पदार्थों की भांति क्षणिक न होने से स्थिर है आशुतरविनाशिनी नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

हेतूपादानात्प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा । ४७ ।

पद०—हेतूपादानात् । प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा ।

पदा०—(हेतूपादानात्) हेतु के उपादान से (प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा) बुद्धि के आशुतरविनाशित्व का प्रतिषेध करना ठीक नहीं ।

भाष्य—विजली के चमकने पर तात्कालिक उत्पन्न हुई विद्युद्विषयक बुद्धि में आशुतरविनाशित्व धर्म के स्वीकार से वादी का उक्त पूर्वपक्ष असङ्गत है ।

भाव यह है कि जो बुद्धि के तृतीयक्षणध्वंस में सिद्धान्ती ने हेतु कथन किया था वही वादी ने भी प्रकारान्तर से स्वीकार कर लिया है, इसलिये सिद्धान्त का प्रतिषेध नहीं होसक्ता, क्योंकि उक्त दृष्टान्त में अनवस्थायी बिजली की चमक को विषय करने वाली बुद्धि भी अनवस्थायी होने के कारण विद्युत् की भांति आशुतरविनाशिनी है ।

सं०—अब उक्त अर्थ को दृष्टान्त से स्फुट करते हैं:—

प्रदीपार्च्चिःसन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत्तद्ग्रहणम् ॥ ४८ ॥

पद०—प्रदीपार्च्चिःसन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत् । तद्ग्रहणम् ।

पदा०—(प्रदीपार्च्चिः०) प्रदीप किरणों के सन्तानविषयक व्यक्तग्रहण की भांति (तद्ग्रहणम्) पदार्थों का व्यक्त रूप से ग्रहण होता है।

भाष्य—जिस प्रकार क्षणिक=प्रतिक्षण नष्ट होने वाली दीपज्योति का समुदाय व्यक्तरूप से प्रतीत होता है इसी प्रकार बुद्धि

के अनवस्थित होने पर भी घटपटादि पदार्थों के व्यक्तग्रहण में कोई बाधा नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि अनवस्थित प्रदीपसन्तति की भांति बुद्धि से घटपटादि पदार्थों का व्यक्त ग्रहण होसक्ता है, अतएव बिजली के प्रकाश काल में होने वाली बुद्धि भी स्वविषय में व्यक्त है अव्यक्त नहीं।

सं०-अब बुद्धि के शरीरगुण होने का निषेध करने के लिये प्रथम उसमें संशय कथन करते हैं:-

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः ॥ ४९ ॥

पद०-द्रव्ये। स्वगुणपरगुणोपलब्धेः। संशयः।

पदा०-(द्रव्ये) द्रव्य में (स्वगुणपरगुणोपलब्धेः) स्वगुण तथा परगुण की उपलब्धि पाये जाने से (संशयः) यह संशय होता है कि बुद्धि=चेतनता शरीर का गुण है अथवा किसी अन्य द्रव्य का गुण है।

भाष्य-प्रायः द्रव्यों में स्वगुण तथा परगुण की उपलब्धि होती है जैसाकि जल में स्वगुण=द्रवत्व और परगुण=स्वभिन्न तेज द्रव्य की उष्णता पाई जाती है इस प्रकार उपलब्धि की अव्यवस्था से प्रकृत में यह सन्देह होता है कि चेतनता शरीर का गुण है किंवा जलवृत्ति उष्णता की भांति शरीरभिन्न किसी अन्यद्रव्य का गुण शरीर में प्रतीत होता है? इस प्रकरण में बुद्धि, चैतन्य, चेतना, चेतनता यह चारो एकार्थवाची शब्द हैं।

सं०-अब उक्त अर्थ में सिद्धान्त कथन करते है:-

यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम् । ५० ।

पद०—यावच्छरीरभावित्वात् । रूपादीनाम् ।

पदा०—(रूपादीनाम्) रूपादिक (यावच्छरीरभावित्वात्) यावच्छरीरभावि होने से बुद्धि शरीर का गुण नहीं ।

भाष्य—शरीर की स्थितिकाल पर्य्यन्त रहने वाले का नाम "**यावच्छरीरभावि**" है, बुद्धि शरीर का गुण नहीं क्योंकि वह रूपादि की भांति यावच्छरीरभावी=शरीर की स्थिति काल पर्य्यन्त नहीं रहती अर्थात् जो शरीर की स्थिति पर्य्यन्त रहे वह शरीर का गुण होता है, इस व्याप्ति के अनुसार जिसप्रकार गन्धादि गुणों की भांति रूपादि शरीर के गुण हैं इसप्रकार बुद्धि शरीर का गुण नहीं, यदि वह शरीर का गुण होती तो रूपादि की भांति मृत शरीर में भी पाई जाती परन्तु नहीं पाई जाती, इससे सिद्ध है कि बुद्धि यावच्छरीरभावी न होने से शरीर का गुण नहीं किन्तु जल में उष्णता की भांति आत्मसंयोग द्वारा शरीर में प्रतीत होने वाली शरीरातिरिक्त आत्मा का गुण है ।

सं०—ननु, पाकजरूपादि की भांति बुद्धि को शरीर का गुण ही क्यों न माना जाय ? उत्तर :—

न पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः । ५१ ।

पद०—न । पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः ।

पदा०—(पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः) शरीर में स्वविरोधी अन्य पाकज गुण की उत्पत्ति पाये जाने से बुद्धि शरीर का गुण (न) नहीं ।

भाष्य–तेजःसंयोग से परिवर्त्तन शील रूपादि गुणों का नाम "पाकजगुण" है, जिसप्रकार तेजःसंयोग द्वारा पूर्व श्यामरूप के निवृत होने पर अन्य तद्विरोधी रक्तादि पाकजगुणों की उत्पत्ति पाई जाती है इसीप्रकार शरीर में कभी चेतनता और कभी अचेतनता पाये जाने से बुद्धि को शरीर का गुण मानना इसलिये ठीक नहीं कि शरीर में रूपादि की भांति बुद्धि का कोई विरोधी गुणान्तर नहीं पाया जाता, यदि बुद्धि शरीर का गुण होती तो उसका विरोधी गुण अवश्य उपलब्ध होता जिससे मृतकावस्था में बुद्धि का अभाव माना जाता परन्तु ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि बुद्धि रूपादि के समान शरीर का विशेष गुण नहीं।

यदि यह कहाजाय कि मृत पुरुषों में होने वाले अचेतना नामक विरोधी गुण द्वारा चेतनता का नाश पाये जाने से रूपादि की भांति बुद्धि को शरीर का गुण मानना ही ठीक है ? इसका उत्तर यह है कि अचेतनता कोई गुण नहीं किन्तु एक अभाव पदार्थ है जिसका प्रतियोगी चेतनता है, इसलिये अचेतनता को विरोधी गुण मानकर बुद्धि को शरीर का गुण मानना केवल साहसमात्र है।

सार यह निकला कि शरीरादिकों में रूपादि का अत्यन्ताभाव नहीं पाया जाता, क्योंकि पूर्व रूप के निवृत्त होने पर भी पाकज रूपान्तर की उत्पत्ति देखी जाती है परन्तु मृतकावस्था में चेतनता का अत्यन्ताभाव होने से बुद्धि शरीर का विशेष गुण नहीं।

सं०–अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं :—

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ।५२।

पद०–प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः । पाकजानाम् । अप्रतिषेधः ।

पदा०–(पाकजानां) पाकजरूपादिकों का (प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः) विरोधिगुण पाये जाने के कारण (अप्रतिषेधः) शरीर में प्रतिषेध न होने पर भी मृतकावस्था में चेतनता का अत्यन्ताभाव होने से बुद्धि शरीर का गुण नहीं ।

भाष्य–" यावत्सु द्रव्येषु पूर्वगुणप्रतिषेधस्तावत्सु प्रतिद्वन्द्विनोगुणान्तरस्य दर्शनं यथा श्यामनिवृत्तौ रक्तादीनाम् " न्या० वा०=जिन द्रव्यों में विरोधी गुणान्तर पाये जाते हैं उनमें पाकद्वारा विरोधी गुण की उत्पत्ति होती है जैसाकि घटादिकों में श्यामरूप की निवृत्ति से रक्तादि रूपों की उपलब्धि स्पष्ट है परन्तु शरीर में चेतनता का विरोधी कोई पाकजगुणान्तर नहीं पाया जाता, इसलिये बुद्धि को शरीर का विशेषगुण मानना ठीक नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :–

शरीरव्यापित्वात् । ५३ ।

पद०–एकपद० ।

पदा०–(शरीरव्यापित्वात्) शरीर के विशेष गुण शरीरव्यापी होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य–यहां प्रकरणानुसार " शरीरविशेषगुणानां " इस पद का अध्याहार करने से यह अर्थ उपलब्ध होता है कि रूपादि

विशेष गुण शरीरव्यापी हैं ज्ञानादि नहीं, यदि ज्ञानादि शरीर के गुण होते तो रूपादि की भांति उनकी सारे शरीर में उपलब्धि पाई जाती केवल हृदय देश में ही नहीं परन्तु ज्ञानादिकों की विशेषतः हृदयदेश में उपलब्धि पाये जाने से स्पष्ट है कि बुद्धि शरीर का गुण नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में आक्षेप करते हैं :—

न केशनखादिष्वनुपलब्धेः। ५४।

पद०-न। केशनखादिषु। अनुपलब्धेः।

पदा०-(केशनखादिषु) केश नखादिकों में (अनुपलब्धेः) शरीरवृत्ति श्वेत रूपादि गुणों की उपलब्धि न होने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य-रूपादि विशेष गुणों को शरीरव्यापी मानकर उनके विपरीत=हृदयैकदेशवृत्ति होने से बुद्धि को शरीर का गुण न मानना इसलिये ठीक नहीं कि रूपादि भी सारे शरीर में व्यापक नहीं होते, क्योंकि शरीरवृत्ति गौरादि वर्णों का केश नखादिकों में अभाव पाया जाता है।

भाव यह है कि जैसे शरीर के केशनखादिकों में श्यामादि रूप एकदेशवृत्ति होने पर भी वह शरीर के गुण होते हैं वैसे ही हृदयरूप एकदेश में वर्त्तमान होने पर भी बुद्धि शरीर का गुण है शरीरातिरिक्त द्रव्य का नहीं।

सं०-अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं :—

त्वक्पर्य्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखा-दिष्वप्रसङ्गः । ५५ ।

पद०—त्वक्पर्य्यन्तत्वात् । शरीरस्य । केशनखादिषु । अप्रसङ्गः ।

पदा०—(शरीरस्य, त्वक्पर्य्यन्तत्वात्) शरीर त्वक्पर्य्यन्त होने के कारण (केशनखादिषु) केश नखादिकों में (अप्रसङ्गः) शरीरवृत्ति रूपादिकों का प्रसङ्ग नहीं होसक्ता ।

भाष्य—यह नियम है कि रूपादि विशेष गुण यावच्छरीरभावी होते हैं, इस नियम का केशादिकों में व्यभिचार कथन करना इसलिये ठीक नहीं कि "इन्द्रियाश्रयत्वं शरीरत्वं"=इन्द्रियाश्रयत्वरूप शरीरलक्षण त्वगिन्द्रियपर्य्यन्त शरीर में माना है अर्थात् जितने देश में त्वगिन्द्रिय होता है उतने देश का नाम ही शरीर है अन्य का नहीं, इस प्रकार त्वगिन्द्रिय न होने से केशनखादिकों में शरीरत्वधर्म का अभाव होने के कारण वह शरीर के संयोगी द्रव्यान्तर हैं शरीर नहीं ।

कई एक "आचार्य्य" इस त्रिसूत्री को इस प्रकार लापन करते हैं कि "चेतना न शरीरगुणः—शरीरव्यापित्वात्"= शरीर के सब अवयवों में पूर्वोक्त अवच्छेदकतानामक स्वरूप सम्बन्ध से वर्त्तमान होने के कारण बुद्धि शरीर का विशेष गुण नहीं, क्योंकि रूपादि गुण शरीर में "समवायसम्बन्ध" से और उसके अवयवों में "स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध" से रहते हैं, यादि

बुद्धि शरीर का विशेष गुण होती तो उसकी शरीर-वृत्ति रूपादि के समान समवायादि सम्बन्ध से सर्वत्र प्रतीति पाई जाती परन्तु ऐसा नहीं, इससे स्पष्ट है कि वह शरीर का विशेषगुण नहीं, इस पर पूर्वपक्षी यह आक्षेप करता है कि "न केशनखादिष्वनुपलब्धेः"=केश नखादिकों में अवच्छेदकता सम्बन्ध से भी चेतनता की उपलब्धि न होने के कारण "शरीरव्यापित्वात्" हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास है, इस पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने इस रीति से किया है कि केशनखादिकों में चेतनता के न होने पर भी उक्त दोष की आपत्ति नहीं आती, क्योंकि त्वगिन्द्रियविशिष्ट अवयवों में ही चेतनता की प्रतिज्ञा की है सर्वत्र नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :—

शरीरगुणवैधर्म्यात् । ५६ ।

पद०—एकपद० ।

पदा०—(शरीरगुणवैधर्म्यात्) शरीर के रूपादि गुणों से विरुद्ध धर्मवाली होने के कारण बुद्धि शरीर का गुण नहीं।

भाष्य—"द्वये शरीरगुणा भवन्ति वाह्यकरणप्रत्यक्षा रूपादयोऽतीन्द्रियश्च गुरुत्वं विधान्तरन्तु चेतना" न्या० वा०=शरीर में दो प्रकार के गुण होते हैं एक वह जिनका बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है जैसाकि रूपादिक, और दूसरे वह जिनका वाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसाकि अतीन्द्रिय

गुरुत्वादि, परन्तु गुण होने पर भी बुद्धि रूपादि तथा गुरुत्वादि दोनों प्रकार के गुणों से विपरीत है क्योंकि वह प्रत्यक्ष का विषय होने पर भी किसी बाह्य इन्द्रिय का विषय नहीं, और अतीन्द्रिय होने पर भी अन्तरिन्द्रिय=मन का विषय है, इस प्रकार शरीर के रूपादिक अथवा गुरुत्वादिक गुणों से विपरीत होने के कारण बुद्धि को शरीर का गुण मानना समीचीन नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में पुनः पूर्वपक्ष करते हैं:—

न रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात्। ५७।

पद०—न। रूपादीनाम्। इतरेतरवैधर्म्यात्।

पदा०—(रूपादीनाम्) रूपादिकों में (इतरेतरवैधर्म्यात्) परस्पर विरुद्ध धर्म पाये जाने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य—जिस प्रकार परस्पर विरुद्ध होने पर भी रूपस्पर्शादि शरीर के गुण हैं इसीप्रकार उक्त रीति से विपरीत धर्म वाली होने पर भी बुद्धि शरीर का गुण है अर्थात् गुणों का परस्पर विरुद्ध धर्म होना शरीरवृत्ति गुणत्वाभाव का साधक नहीं, यदि विरुद्धधर्म उक्त अर्थ का साधक होता तो चक्षुः से स्पर्श तथा त्वचा से रूप का ग्रहण न होसकने से उक्त दोनों कदापि शरीर के गुण न माने जाते परन्तु परस्पर विरुद्ध धर्म वाले रूपादिकों के शरीर गुण होने में किसी वादी की विप्रतिपत्ति नहीं, इससे स्पष्ट है कि रूपादि से विलक्षण होने पर भी बुद्धि को शरीर का गुण मानने में कोई बाधा नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

ऐन्द्रियकत्वाद्रूपादीनामप्रतिषेधः । ५८ ।

पद०—ऐन्द्रियकत्वात् । रूपादीनाम् । अप्रतिषेधः ।

पदा०—(ऐन्द्रियकत्वात्) ऐन्द्रियक होने से (रूपादीनाम्) रूपादिकों में (अप्रतिषेधः) शरीरगुणत्व का प्रतिषेध नहीं होसक्ता ।

भाष्य—प्रकृत में वाह्येन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ का नाम "ऐन्द्रियक" है, यह नियम है कि जो शरीर का विशेषगुण हो वह "ऐन्द्रियक" होता है, इस नियम के अनुसार रूपादिक ही शरीर के विशेषगुण हैं बुद्धि नहीं, क्योंकि बुद्धि रूपादि की भांति "ऐन्द्रियक" होती तो अवश्य उसका किसी एक वाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता परन्तु ऐसा नहीं, इससे स्पष्ट है कि बुद्धि शरीर का गुण नहीं किन्तु शरीरातिरिक्त आत्मा का गुण है जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं ।

सं०—बुद्धि की परीक्षा समाप्त करके अब मन की परीक्षा का आरम्भ करते हुए प्रथम उसको प्रत्येक शरीर में एक२ कथन करते हैं:

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः ॥ ५९ ॥

पद०—ज्ञानायौगपद्यात् । एकं । मनः ।

पदा०—(ज्ञानायौगपद्यात्) एककाल में एकविषयक अनेक ज्ञान न होने से (मनः) मन (एकं) एक है ।

भाष्य—अनेक विषयों में सब ज्ञान युगपत् न होने के कारण

मन प्रत्येक शरीर में एक २ है, यदि प्रत्येक शरीर में मन अनेक होते तो उनका प्रत्येक इन्द्रिय के साथ संयोग होने से एककाल में अनेक ज्ञान उत्पन्न होते परन्तु नहीं होते, इससे सिद्ध है कि मन प्रति शरीर एक है अनेक नहीं, इसका विशेष विचार "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में किया है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:—

न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥ ६० ॥

पद०—न। युगपत्। अनेकक्रियोपलब्धेः।

पदा०—(युगपत्) एक काल में (अनेकक्रियोपलब्धेः) अनेक क्रियाओं की उपलब्धि पाये जाने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य—"**अयं खल्वध्यापकोऽधीते व्रजति कमण्डलुं धारयति पन्थानं पश्यति शृणोत्यरण्यजान् शब्दान् बिभ्यत् व्याललिङ्गानि बुभुत्सते स्मरति च गन्तव्यं स्थानीयमिति**" न्या० भा०=यह अध्यापक कमण्डलु को धारण किये हुए पढ़ता, चलता, मार्ग को देखता, वन के शब्दों को सुनता और डरता हुआ सर्प के चिह्नों को जानने की इच्छा करता है तथा अपने गन्तव्य देश को भी स्मरण करता है, इस प्रकार एक अध्यापक की एककाल में अनेक क्रिया पाये जाने से सिद्ध है कि तत्तत् विषयोपलब्धि के हेतु प्रत्येक शरीर में मन अनेक हैं एक नहीं,

अथवा यों कहो कि मधुरादि अनेक रसों वाले किसी एक भोज्य पदार्थ के भक्षण काल में रूप, रस तथा स्पर्शादिविषयक अनेक ज्ञानों की युगपत् उपलब्धि पाये जाने से भी सिद्ध है कि प्रत्येक शरीर में मन एक नहीं किन्तु अनेक हैं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशु-सञ्चारात् ॥ ६१ ॥

पद०—अलातचक्रदर्शनवत्। तदुपलब्धिः। आशुसञ्चारात्।

पदा०—(अलातचक्रदर्शनवत्) अलातचक्र के दर्शन की भांति (आशुसञ्चरात्) आशुसञ्चार होने से (तदुपलब्धिः) एक मन में युगपत् अनेकक्रियायों की उपलब्धि होती है।

भाष्य—जिस प्रकार अलातचक्र=आतिशबाजी की चरखी के आशुसञ्चार=शीघ्र चलने से उसकी अनेक क्रिया उपलब्ध नहीं होतीं किन्तु एक ही चक्र बन्धा हुआ दीखता है इसी प्रकार अति-सूक्ष्मकाल का विलम्ब होने पर भी तत्तत् इन्द्रिय के साथ मन की वृत्ति का आशुसञ्चार होने के कारण अनेक रूपादिविषयक ज्ञानों की युगपत् प्रतीति होती है वस्तुतः एककाल में एक ही ज्ञान होता है नाना नहीं, इसलिये उक्त प्रतीति से एक शरीर में अनेक मन की कल्पना करना ठीक नहीं।

सं०—अब मन की सूक्ष्मता कथन करते हैं:—

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥ ६२ ॥

पद०—यथोक्तहेतुत्वात् । च । अणु ।

पदा०—(च) और (यथोक्तहेतुत्वात्) शास्त्रोक्त होने से मन (अणु) सूक्ष्म है ।

भाष्य—"यथाशास्त्रमुक्तं यथोक्तमितिमध्यमपदलोपी समासः"=सूत्रस्थ "यथोक्त" पद से शाकपार्थिवादि पदों की भांति मध्यमपदलोपी समास द्वारा यह अर्थ उपलब्ध होता है कि जो शास्त्रीय उक्ति के अनुसार हो उसको "यथोक्त" कहते हैं, प्रकृत में यथोक्त, शास्त्रोक्त यह दोनों एकार्थवाची शब्द हैं, शास्त्रोक्त होने से मन इन्द्रियादि की अपेक्षा सूक्ष्म है स्थूल नहीं जैसाकि:— "इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः" कठ० ३ । १० में वर्णन किया है कि इन्द्रियों की अपेक्षा शब्दादि विषय और उनकी अपेक्षा मन सूक्ष्म है, और जो यहां कई एक लोग "अणु" शब्द से मन को अणुपरिमाण वाला कथन करते हैं यह उनकी भूल है, क्योंकि वैदिकसिद्धान्त में मन को मध्यमपरिमाणवाला माना है अणुपरिमाण वाला नहीं, यदि मन परमाणुओं की भांति अणु होता तो "एतस्मात्प्रजायन्ते मनः सर्वेन्द्रियाणि च" मुं० ४ । खं० १–३ में मन की उत्पत्ति कदापि वर्णन न की जाती और नाही "अन्नमयं सोम्य मनः" छा० प्रपा० ६ । खं० ५ । ४

में उसको अन्न का विकार कहा जाता परन्तु उक्त प्रमाणों से मन का उत्पत्ति विनाश पाये जाने के कारण सिद्ध है कि वह मध्यम परिमाण वाला है अणु नहीं, और जो वादी मन के मध्यम परिमाण में युगपत् अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति का दोष कथन करते हैं उसका खण्डन "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्" न्या० १।१।१६ के भाष्य में कर आये हैं यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं, यदि यह कहा जाय कि परमाणु पर्य्यायिक अणुशब्द के ग्रहण से मन को अणु मानना ही ठीक है ? इसका उत्तर यह है कि सर्वत्र अणु शब्द से परमाणु परिमाण के ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि प्रायः अणुशब्द मध्यम परिमाण वाले पदार्थों के लिये भी देखा जाता है जैसाकि "महदणुग्रहणात्" न्या० ३ । १ । ३१ में अणु शब्द मध्यम परिमाणक सूक्ष्म वटबीजादि के बोधनार्थ आया है, यदि सर्वथा अणु शब्द केवल परमाणु परिमाण का ही वाचक होता तो उक्त सूत्र में महर्षि गौतम कदापि "अणु" शब्द का प्रयोग न करते किन्तु "महत्सूक्ष्मग्रहणात्" इस प्रकार सूत्र की कल्पना करते परन्तु सूक्ष्मपद को छोड़कर "अणु" पद के ग्रहण से पाया जाता है कि प्रकृत में भी अणु शब्द सूक्ष्मवाची है परमाणु परिमाण का बोधक नहीं, इसी अभिप्राय से "अणोरणीयान्" कठ० २ । २० इत्यादि परमात्मविषयक वाक्यों में "अणु" शब्द सूक्ष्मार्थक पढ़ागया है, अन्यथा उक्त

वाक्य में परमाणु परिमाणार्थक अणु शब्द का ग्रहण करने से वादी को भी अनिष्टापत्ति होगी क्योंकि ईश्वर को परमाणुवत् परिच्छिन्न मानना किसी वादी को इष्ट नहीं, इसलिये उक्त सूत्र से महर्षि को मन का सूक्ष्म होना ही अभिमेत है यही मानना ठीक है।

सं०—अब प्रसङ्गसङ्गति से शरीर की उत्पत्ति अदृष्टाधीन कथन करते हैं :—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ६३ ॥

पद०—पूर्वकृतफलानुन्धात् । तदुत्पत्तिः ।

पदा०—(पूर्वकृतफलानुबन्धात्) पूर्वजन्मकृत कर्मजन्य अदृष्ट के सम्बन्ध से (तदुत्पत्तिः) शरीर की उत्पत्ति होती है ।

भाष्य—"पूर्व शरीरे या प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरम्भलक्षणा तत्पूर्वकृतं तस्य फलं तज्जनितौ धर्म्माधर्म्मौ तयोरनुबन्ध आत्मसमवेतस्यावस्थानं तेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यस्तस्योत्पत्तिः शरीरस्य न स्वतन्त्रेभ्य इति" न्या० भा०=जो पीछे वागारम्भ, बुद्ध्यारम्भ, शरीराम्भ भेद से तीन प्रकार की प्रवृत्ति कथन की है उससे उत्पन्न होने वाले आत्मसमवेत धर्माधर्मरूप अदृष्ट के अनुसार यथायोग्य पञ्चभूतों से शरीर की उत्पत्ति होती है स्वतन्त्र नहीं अर्थात् पूर्व जन्म में जिस जीव का जैसा कर्म होता है वैसा ही अनेक प्रकार की योनियों में भूतों के विलक्षण परिणाम से जीवों के शरीर उत्पन्न होते हैं, इसलिये अदृष्ट ही शरीरोत्पत्ति की

विचित्रता में कारण हैं।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:—

भूतेभ्योमूर्त्त्युपादानवत्तदुपादानम् । ६४ ।

पद०—भूतेभ्यः । मूर्त्त्युपादानवत् । तदुपादानम् ।

पदा०—(मूर्त्त्युपादानवत्) सिकता, गैरिक और अञ्जन आदि मूर्त्तिमान् द्रव्यों की उत्पत्ति के समान (भूतेभ्यः) अदृष्ट निरपेक्ष पञ्चभूतों से (तदुपादानम्) शरीर की उत्पत्ति होती है।

भाष्य—जिस प्रकार मृत्तिका गैरिक अञ्जनादि पदार्थ विना किसी निमित्त के पुरुषोपभोगार्थ स्वतः ही उत्पन्न होजाते हैं अर्थात् उनकी उत्पत्ति के लिये अदृष्टरूप कारण की अपेक्षा नहीं इसी प्रकार शरीरोत्पत्ति भी अदृष्टनिरपेक्षभूतों से होती है उसकी उत्पत्ति के लिये भूतों में किसी अदृष्टविशेष की अपेक्षा नहीं।

भाव यह है कि " **कर्मनिरपेक्षाणि भूतानि शरीरमारभन्ते पुरुषार्थक्रियासामर्थ्यात् सिकतादिवत्** "=जो पुरुषार्थक्रिया=पुरुषोपभोग के लिये समर्थ है वह अदृष्टरूप कर्मों की अपेक्षारहित भूतों से जन्य है, इस नियम के अनुसार जिस प्रकार सिकता, गैरिकादि पदार्थ पुरुषार्थक्रियासमर्थ होने के कारण कर्मनिरपेक्ष भूतों से जन्य हैं इसी प्रकार पुरुषोपभोग के लिये समर्थ होने से शरीर भी अदृष्ट निरपेक्ष भूतों से जन्य है, इस अनुमान द्वारा कर्मनिरपेक्ष भूतों से शरीरोत्पत्ति सिद्ध होने के कारण शरीरोत्पत्ति के लिये भूतों को कर्मसापेक्ष मानना ठीक नहीं।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

न साध्यसमत्वात् । ६५ ।

पद०–न । साध्यसमत्वात् ।

पदा०–(साध्यसमत्वात्) साध्यसम होने से (न) उक्त हेतु ठीक नहीं ।

भाष्य–जैसे कर्मनिरपेक्ष भूतों से शरीरोत्पत्ति साध्य है वैसे ही गैरिकादि मूर्त्तिमान् द्रव्यों की कर्मनिरपेक्ष उत्पत्ति भी साध्य है, इसलिये वादी का उक्त दृष्टान्त ठीक नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि अदृष्टाधीन भूतों द्वारा गैरिकादि मूर्त्तिमान् पदार्थों की उत्पत्ति पाये जाने से दृष्टान्तभूत गैरिकादि पदार्थों में कर्मनिरपेक्षजन्यत्वरूप साध्य के अभाव द्वारा "पुरुषक्रियासामर्थ्यात्" हेतु "साध्यविकल" दृष्टान्तासिद्ध हेत्वाभास होने के कारण उक्त साध्य का साधक नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ को दो सूत्रों से स्फुट करते हैं:—

नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः । ६६ ।

पद०–न । उत्पत्तिनिमित्तत्वात् । मातापित्रोः ।

पदा०–(मातापित्रोः) माता पिता का अदृष्ट भी (उत्पत्तिनिमित्तत्वात्) शरीरोत्पत्ति में निमित्त होने से उक्त दृष्टान्त (न) ठीक नहीं ।

भाष्य–शरीर में आने वाले जीव का अदृष्ट ही भूतों द्वारा

शरीरोत्पत्ति का हेतु नहीं प्रत्युत माता पिता का अदृष्ट भी निमित्त कारण पाया जाता है अर्थात् पुत्रोत्पत्ति के सुखानुभव का पूर्वजन्मकृत यागादिविहितकर्मजन्य शुभादृष्ट और उत्पन्न हुए पुत्र की मृत्यु से दुःखानुभव का हिंसा आदि निषिद्धानुष्ठान जन्य पापादृष्ट भी शरीरोत्पत्ति का निमित्त कारण होता है, क्योंकि सुख दुःख की प्राप्ति अदृष्ट के विना नहीं होसक्ती, इसलिये उक्त दृष्टान्त विषम होने के कारण आदरणीय नहीं ।

तथाहारस्य । ६७ ।

पद०—तथा । आहारस्य ।

पदा०—(तथा) और (आहारस्य) माता पिता का आहार भी अदृष्टद्वारा शरीरोत्पत्ति में कारण है ।

भाष्य—माता पिता का आहार=पायसादि भोजन भी अदृष्ट सहायतापूर्वक शुक्रशोणितादि की उत्पत्तिद्वारा पुत्रादि शरीरोत्पत्ति में निमित्तकारण होने से गैरिकादि दृष्टान्त ठीक नहीं ।

सं०—अब विपक्ष में " बाधकतर्क " कथन करते हैं:—

प्राप्तौ चानियमात् ॥ ६८ ॥

पद०—प्राप्तौ । च । अनियमात् ।

पदा०—(च) और (प्राप्तौ) स्त्री पुरुष का परस्पर संयोगविशेष होने पर भी (अनियमात्) सन्तानोत्पत्ति का नियम न पाये जाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—यदि माता पिता का आहार शुक्रशोणितादि परिणाम द्वारा अदृष्ट सहायता के विना ही कारण होता तो स्त्री पुरुष का परस्पर सम्बन्ध होने पर अवश्य सन्तानोत्पत्ति होती परन्तु कदाचित् सम्बन्ध होने पर भी नहीं होती, इससे पाया जाता है कि कोई ऐसा सहकारिकारण है जिसके न होने से सन्तानोत्पत्ति नहीं होती और होने से होती है, इस प्रकार जो सन्तानोत्पत्ति का सहकारी-निमित्त है वही आत्मसमवेत " अदृष्ट " भूतों द्वारा शरीरोत्पत्ति का हेतु जानना चाहिये, और जो कई एक लोगों का कथन है कि जहां स्त्री पुरुष का परस्पर सम्बन्ध होने पर भी सन्तान की उत्पत्ति नहीं होती वहां अनेक प्रकार के शुक्रशोणितादि में रोगविशेष कारण होते हैं अदृष्ट नहीं ? इसका उत्तर यह है कि उक्त रोग दुःख-रूप होने से अदृष्ट सापेक्ष हैं निरपेक्ष नहीं, यदि अदृष्ट कारण न होते तो विशेषकारण के अभाव से सब प्राणी सुखी अथवा दुःखी देखे जाते परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि सुख दुःख वैचित्र्य का हेतु " अदृष्ट " ही शरीरोत्पत्ति में कारण है ।

सं०—अब शरीरात्मसंयोग में अदृष्टों को कारण कथन करते हैं:—

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्ति निमित्तं कर्म । ६९ ।

पद०—शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् । संयोगोत्पत्तिनिमित्तं । कर्म ।

पदा०-(शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्) शरीरोत्पत्ति की भांति (कर्म) अदृष्ट (संयोगोत्पत्तिनिमित्तं) शरीरात्मसंयोग में कारण हैं।

भाष्य-जिसप्रकार अदृष्टरूप कर्म तत्तत् शरीरोत्पत्ति में निमित्त कारण हैं इसी प्रकार अनेक योनियों में नानाशरीरों के साथ आत्मा का संयोग भी अदृष्टरूप कारण के अधीन जानना चाहिये।

सं०-अब उक्त अर्थ को स्फुट करते हैं:—

एतेनानियमः प्रत्युक्तः। ७०।

पद०-एतेन। अनियमः। प्रत्युक्तः।

पदा०-(एतेन) अदृष्ट कारण मानने से (अनियमः) अनियम होने का दोष भी (प्रत्युक्तः) नहीं आता।

भाष्य-जो पञ्चभूतरूप उपादान कारण के समान पाये जाने पर भी कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई राजा, कोई रङ्क, होने से शरीरों का अनियम देखा जाता है अर्थात् उत्पत्ति कारण के समान होने पर भी तत्तत् शरीरविशिष्ट जीवों में सुखदुखादि का एक नियम नहीं पाया जाता उसमें भी अदृष्ट कारण हैं, इसलिये शरीरोत्पत्ति में अदृष्टों को कारण मानना ही समीचीन है।

सं०-अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं:—

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः। ७१।

पद०-उपपन्नः। च। तद्वियोगः। कर्मक्षयोपपत्तेः।

पदा०-(च) और (कर्मक्षयोपपत्तेः) कर्मों के क्षीण होने से

(तद्वियोगः, उपपन्नः) आत्मा का शरीर के साथ वियोग पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य–शरीरोत्पत्ति कर्माधीन होने से कर्मों के नाश द्वारा आत्मा का शरीर के साथ वियोग देखा जाता है, यदि अदृष्ट कारण न होते तो आत्मा का शरीर से कदापि वियोग न होता, इससे पाया जाता है कि आत्मसमवेत अदृष्ट ही शरीर के उत्पत्ति विनाश में निमित्त हैं।

सं०–ननु, परमाणुसमवेत अदृष्टों को ही शरीरोत्पत्ति में कारण क्यों न मानाजाय? उत्तर:—

तदहृष्टकारितमितिचेत् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे।७२।

पद०–तददृष्टकारितम्। इति। चेत्। पुनः। तत्प्रसङ्गः। अपवर्गे।

पदा०–(तददृष्टकारितम्) परमाणुसमवेत अदृष्ट ही शरीरोत्पत्ति के नियामक हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा मानाजाय तो (अपवर्गे) मोक्षावस्था में पुनः २ (तत्प्रसङ्गः) शरीरोत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा।

भाष्य–अदृष्टों को परमाणुसमवेत मानना इसलिये ठीक नहीं कि ऐसा मानने से मोक्ष में भी शरीरोत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा अर्थात् मुक्ति अवस्था में भी अदृष्टों द्वारा शरीर सम्बन्ध से आत्मा को

वैषयिक सुखदुःखोपभोग की प्राप्ति माननी पड़ेगी परन्तु मोक्ष में विषयजन्य सुखदुःखोपभोग मानना किसी वादी को इष्ट नहीं और नाही उसके होने में कोई प्रमाण है, इसलिये अदृष्टात्मक कर्मों को आत्मसमवेत मानकर शरीरोत्पत्ति में कारण मानना ही समीचीन है परमाणुसमवेत मानना ठीक नहीं।

सं०—ननु, मनःसमवेत अदृष्टोंद्वारा शरीरोत्पत्ति मानने में क्या हानि? उत्तर:—

मनःकर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः।७३।

पद०—मनःकर्मनिमित्तत्वात्। च। संयोगानुच्छेदः।

पदा०—(च) और (मनःकर्मनिमित्तत्वात्) मनःसमवेत अदृष्टों-द्वारा शरीरोत्पत्ति मानने से (संयोगानुच्छेदः) आत्मा का शरीर से वियोग न होगा।

भाष्य—यदि मनःसमवेत=मन में रहने वाले अदृष्टों द्वारा शरीरोत्पत्ति मनीजाय तो आत्मा का शरीर से वियोग नहीं होसक्ता अर्थात् अदृष्टों को मानोवृत्ति मानने से आत्मा का शरीर के साथ सदा संयोग बना रहेगा, क्योंकि इस पक्ष में शरीर और मन के उपसर्पणहेतुक अदृष्ट मन और परमाणुओं में सदा बने रहते हैं परन्तु शरीर का वियोग प्रत्यक्ष सिद्ध होने से अदृष्टों को मनोवृत्ति मानना ठीक नहीं और नाही पूर्वोक्त दोष पाये जाने के कारण वह परमाणुवृत्ति होसक्ते हैं, इसलिये उनको आत्मसमवेत मानकर ही शरीरोत्पत्ति मानना ठीक है अन्यथा नहीं।

सं०—अब कर्मनिरपेक्ष शरीरोत्पत्ति मानने में और दोष कथन करते हैं :—

नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः । ७४ ।

पद०—नित्यत्वप्रसङ्गः । च । प्रायणानुपपत्तेः ।

पदा०—(च) और कर्मनिरपेक्ष शरीरोत्पत्ति पक्ष में (प्रायणानुपपत्तेः) प्रायण के न बन सकने से (नित्यत्वप्रसङ्गः) शरीर की नित्यता का प्रसङ्ग होगा।

भाष्य—" विपाकसंवेदनात्कर्माशयक्षये शरीरपातः प्रायणम् कर्माशयान्तराच्च पुनर्जन्म "=फल देकर अदृष्टों के नाश होने से शरीरात्मवियोग का नाम " प्रायण " है, प्रायण, मृत्यु यह दोनों एकार्थवाची हैं, प्रायण होने के अनन्तर फलोन्मुख कर्मान्तर से पुनर्जन्म होता है यह वैदिक सिद्धान्त है जिसका विशेष विचार प्रेत्यभाव की परीक्षा में कियाजायगा, यदि शरीरोत्पत्ति कर्माधीन न मानीजाय तो कर्मनाश से शरीरनाश वा अन्य शरीर की प्राप्ति नहीं होसक्ती अर्थात् शरीरनाशक निमित्तान्तर न होने के कारण प्रायणाभावद्वारा शरीर भी आत्मा की भांति सदा बना रहेगा परन्तु उसका नाश प्रत्यक्षसिद्ध होने से कर्मनिमित्तक शरीरोत्पत्ति मानना ही समीचीन है।

सं०—अब वादी प्रकारान्तर से आक्षेप करता है :—

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत्स्यात् । ७६ ।

पद०—अणुश्यामतानित्यत्ववत् । एतत् । स्यात् ।

पदा०—(अणुश्यामतानित्यत्ववत्) परमाणुवृत्ति नित्य श्यामता की भांति (एतत्) शरीरनाश अथवा परमाणुगत अदृष्टों की निवृत्ति (स्यात्) वन सकने से उक्त दोष नहीं आता ।

भाष्य—"यथा परमाणोः श्यामता नित्यापि निवर्त्तते तथा शरीरादिकमपीति"=जिस प्रकार परमाणु की श्यामता परमाणुनाश के विना ही नष्ट होजाती है इसी प्रकार परमाणुवृत्ति अदृष्टरूप कारण के बने रहने पर भी शरीरनाश में कोई बाधा नहीं अथवा जैसे परमाणुगत नीलरूप नित्य होने पर भी अग्निसंयोगद्वारा नष्ट होजाता है वैसे ही सम्यग्ज्ञानद्वारा परमाणुवृत्ति अदृष्टों का नाश होने से पुनः मोक्षावस्था में शरीरोत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं होसकता, इसलिये अदृष्टों को परमाणुसमवेत मानना ही ठीक है ।

सं०—अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं :—

नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । ८५ ।

पद०—न । अकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ।

पदा०—(अकृताभ्यागमप्रसङ्गात्) प्रमाणविरुद्ध अर्थ का प्रसङ्ग होने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—"अकृतस्य प्रमाणाविषयस्य अभ्यागमः स्वीकारस्तत्प्रसङ्गात्"=परमाणुवृत्ति नित्य नीलरूपनाश के दृष्टान्त से अदृष्ट को परमाणुसमवेत मानकर शरीर का नाश मानना

इसलिये ठीक नहीं कि परमाणुओं में रूप का नित्य होना प्रमाण सिद्ध नहीं, क्योंकि रूपरसादि चारो गुण पार्थिव परमाणुओं में अग्निसंयोग से परिवर्त्तन होने के कारण "पाकज" हैं, और पार्थिव परमाणुओं से अतिरिक्त जलादि परमाणुओं में नीलरूप का सर्वथा अभाव है,यदि उक्त दृष्टान्त में नित्यशब्द से अनादि परमाणुगत नीलरूप के नाश की भांति शरीर का नाश भी मानाजाय तो भी वादी की इष्ट-सिद्धि नहींहोसक्ती,क्योंकि अनादिभाव रूप पदार्थ के अनित्य होने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, इसलिये अदृष्टों को परमाणुसमवेत मानकर शरीर का नाश कथन करना केवल साहसमात्र है।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
न्यायार्य्यभाष्ये
तृतीयाध्यायः
समाप्तः

ओ३म्

अथ न्यायार्य्यभाष्ये चतुर्थाध्याये प्रथमान्हिकं प्रारभ्यते

सं०-तृतीयाध्याय में आत्मादि छः प्रमेयों की परीक्षा का विस्तारपूर्वक निरूपण किया, अब इस अध्याय में प्रवृत्ति आदि शेष प्रमेयों की परीक्षा का वर्णन करने के लिये प्रथमान्हिक का प्रारम्भ करते हुए प्रथम "प्रवृत्ति" की परीक्षा करते हैं :-

प्रवृत्तिर्यथोक्ता । १ ।

पद०-प्रवृत्तिः । यथा । उक्ता ।

पदा०-(यथा) जिसप्रकार (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति को लक्षणद्वारा (उक्ता) कथन कर आये हैं वैसे ही उसकी परीक्षा जाननी चाहिये ।

भाष्य-प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ इति " न्या० १।१।१७ में कथन किये हुए लक्षण से अधिक परीक्षणीय न होने के कारण प्रवृत्ति की परीक्षा में विशेष वक्तव्य नहीं ।

सं०-अब दोषों की परीक्षा का अतिदेश कथन करते हैं :-

तथा दोषाः । २ ।

पद०-तथा । दोषाः ।

पदा०-(तथा) प्रवृत्ति की भांति (दोषाः) दोष भी परीक्षित जानने चाहियें ।

भाष्य–"प्रवर्त्तनालक्षणादोषाः" न्या० १।१।१८ सूत्र में सम्यक् प्रकार से दोषों का लक्षण कथन किया गया है, यहां विशेष वक्तव्य यह है कि "बुद्धिसमानाश्रयत्वादात्मगुणाः,प्रवृत्तिहेतुत्वात्पुनर्भवप्रतिसन्धानसामर्थ्याच्चसंसारहेतवःसंसारस्यानादिनाप्रबन्धेनप्रवर्त्तन्ते" न्या० भा०=बुद्धि के समानाधिकरण में वर्त्तमान होने से रागद्वेषादि दोष भी बुद्धि की भांति आत्मा के गुण हैं, और यही प्रवृत्ति द्वारा जन्ममरणात्मक संसार के प्रवाहरूप से अनादि कारण हैं जिन की निवृत्ति मिथ्याज्ञान की निवृत्तिपूर्वक तत्त्वज्ञान से होती है, जैसाकि प्रथमाध्याय में वर्णन कर आये हैं।

सं०–अब दोषों को तीन राशियों में विभक्त करते हैं:–

तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात्। ३।

पद०–तत्त्रैराश्यं। रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात्।

पदा०–(रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात्) राग द्वेष तथा मोहरूप अवान्तर भेद पाये जाने के कारण (तत्त्रैराश्यम्) दोषों की तीन राशियें हैं।

भाष्य–समूह का नाम "राशि" है, प्रकृत में राशि, समूह, और पक्ष यह तीनों एकार्थवाची शब्द हैं, राग, द्वेष और मोह इन तीनों में भय, शोक और मानादि अनेक दोषों का अन्तर्भाव होने के कारण दोषों के तीन "पक्ष" हैं अर्थात् एक राग दूसरा द्वेष

तथा तीसरा मोहपक्ष कहाता है, उक्त तीनों पक्षों में भय शोकादि असंख्य दोषों का अन्तर्भाव होने से विभागसूत्र में उनके पृथक् उपन्यास की आवश्यकता नहीं और नाही इच्छात्व, द्वेषत्व और मिथ्या ज्ञानत्व धर्मों के भेद से दोष अधिक होसकते हैं किन्तु वह राग, द्वेष तथा मोहभेद से तीन ही प्रकार के हैं, उक्त तीनों दोषों की राशियों का प्रकार यह है कि " **कामो मत्सरः स्पृहा तृष्णा लोभो माया दम्भ इति रागपक्षः** "=अनेक प्रकार के भोग विलास की इच्छा का नाम " **काम** " अपने प्रयोजन के विना ही दूसरे के अर्थनीय विषयोपघात की इच्छा का नाम " **मत्सर** " धर्म्म से धनप्राप्ति का नाम " **स्पृहा** " यह मेरा पदार्थ नष्ट न हो इस प्रकार की इच्छा का नाम " **तृष्णा** " या यों कहो कि यज्ञादि वैदिक कर्मों के लिये योग्य धन व्यय करने के समय कृपणता का नाम " **तृष्णा** " पाप से धनप्राप्ति की इच्छा का नाम " **लोभ** " स्वार्थसिद्धि के लिये दूसरों को वञ्चन करने का नाम " **माया** " और छलकपट से धर्मात्मा बन के अपनी प्रसिद्ध की इच्छा का नाम " **दम्भ** " है, यह सब कामादिक " **रागपक्ष** " कहाता है, " **क्रोधोऽसूयेर्ष्याद्रोहोऽमर्षोऽभिमान इति द्वेषपक्षः** "=नेत्रविकारादि के हेतुभूत दोष का नाम " **क्रोध** " दूसरे के उत्तम गुणों को न सहारने का नाम " **असूया** " अन्य पुरुष को लाभ होने पर द्वेष बुद्धि का

नाम " ईर्ष्या " हनन करने के लिये चित्त की क्रोधात्मक वृत्ति का नाम " द्रोह " अपराध करने वाले पुरुष में अपना बल न चल सकने पर भी क्रोध करने का नाम " अमर्ष " और अपकारी पुरुष पर प्रत्यपकार करने के लिये असमर्थ होने पर भी वृथा अहंकार करने का नाम " अभिमान " है, यह सब " द्वेषपक्ष " कहाता है, " विपर्य्ययसंशय तर्कमान प्रमादभयशोकाः मोहपक्षः "=मिथ्याज्ञान नामक अयथार्थ निश्चय का नाम " विपर्य्यय " एक विषय में परस्पर विरुद्ध धर्मों को विषय करने वाले ज्ञान का नाम " संशय " व्याप्य भ्रमद्वारा व्यापक के भ्रम का नाम " तर्क " अथवा यों कहो कि ऊहा तथा युक्तिविशेष का नाम " तर्क " अपने में न रहने वाले गुणों के भ्रम से अपने आपको बड़ा मानने का नाम " मान " अथवा स्वभिन्न गुणी में निर्गुणता बुद्धि का नाम " मान " कर्त्तव्य कर्म में अकर्तव्य बुद्धि का नाम " प्रमाद " या यों कहो कि कर्तव्य कर्म में सावधान न रहने का नाम " प्रमाद " दुःख साधनों के प्राप्त होने पर उनकी निवृत्ति=वर्जन में अशक्य बुद्धि का नाम " भय " और पुत्रादि इष्ट पदार्थों का वियोग होने पर उनकी पुनः प्राप्ति में असमर्थ बुद्धि का नाम " शोक " है, इन सब का नाम " मोहपक्ष " है,

सन्देह, विचिकित्सा और संशय यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, इस प्रकार दोषों की तीन राशि जाननी चाहियें।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:—

नैकप्रत्यनीकभावात् ॥ ४ ॥

पद०—न। एकप्रत्यनीकभावात्।

पदा०—(एकप्रत्यनीकभावात्) एक ही तत्वज्ञान विरोधि होने के कारण रागादि दोषों के तीन भेद मानना ठीक नहीं।

भाष्य—तत्वज्ञान, सम्यङ्मति, आर्य्यप्रज्ञा और सम्बोध यह चारो समानार्थक शब्द हैं, रागादि तीन दोषों का विरोधी=नाशक एक ही तत्वज्ञान पाये जाने के कारण उनके तीन भेद मानना निरर्थक है, यदि रागादि भिन्न २ दोष होते तो उनका विरोधी तत्वज्ञान भी भिन्न २ उपलब्ध होता पर ऐसा नहीं, इससे स्पष्ट है कि रागादिक तीन नहीं किन्तु एक दोष है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

व्यभिचारादहेतुः ॥ ५ ॥

पद०—व्यभिचारात्। अहेतुः।

पदा०—(व्यभिचारात्) व्यभिचार पाये जाने से (अहेतुः) उक्त हेतु ठीक नहीं।

भाष्य—जो एक कारण से निवृत्त होजायं वह अनेक नहीं होते यह नियम नहीं, क्योंकि एक अग्निसंयोगरूप कारण से नाश्य होने

पर भी पृथिवीवृत्ति रूपादि अनेक पाये जाते हैं, इस प्रकार उक्त नियम का व्यभिचार होने के कारण एक तत्वज्ञान द्वारा नाश्य होने पर भी दोषों के अनेक होने में कोई बाधक न होने से तीन दोषों की अपेक्षा एक दोष मानना सर्वथा असङ्गत है।

सं०—अब उक्त दोषों में मोह को प्रधान कथन करते हैं:—

तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥ ६ ॥

पद०—तेषां। मोहः। पापीयान्। न। अमूढस्य। इतरोत्पत्तेः।

पदा०—(अमूढस्य) मोह के विना (इतरोत्पत्तेः, न) राग द्वेष की उत्पत्ति न होने के कारण (तेषां) तीन दोषों के मध्य (मोहः) मोह (पापीयान्) प्रबलशत्रु है।

भाष्य—मोहरहित पुरुष का नाम "अमूढ" है, अमूढ पुरुष को राग द्वेष न होने से सब दोषों में मोह की प्रधानता है, क्योंकि मोक्षमार्ग का यही एक प्रबलशत्रु है और इसीसे राग द्वेष की उत्पत्ति होती है, इसकी निवृत्ति के लिये पुरुषमात्र को अर्थनीय होने के कारण "तत्त्वज्ञान" भी परमपुरुषार्थ कहाता है, इसलिये पुरुष को उचित है कि सब से प्रथम मोह की निवृत्ति के लिये प्रयत्न करे।

तात्पर्य्य यह है कि "प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति"=मुख्य वस्तु के लिये किया हुआ प्रयत्न ही फलीभूत होता है

अमुख्य वस्तु के लिये नहीं, इस न्याय के अनुसार मोह की निवृत्ति से सहज में ही रागादि की निवृत्ति होने के कारण दोषों के मध्य मोह को प्रधान जानना चाहिये ।

सं०—अब उक्त अर्थ में आशंका करते हैं :—

निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तरभावो दोषेभ्यः ॥ ७ ॥

पद०—निमित्तनैमित्तकभावात् । अर्थान्तरभावः । दोषेभ्यः ।

पदा०—(निमित्तनैमित्तिकभावात्) निमित्तनैमित्तिकभाव पाये जाने के कारण (दोषेभ्यः) दोषों से (अर्थान्तरभावः) मोह पृथक् पदार्थ है ।

भाष्य—"अन्यद्धि निमित्तमन्यच्च नैमित्तिकम्"= कारण का नाम "निमित्त" और तज्जन्य को "नैमित्तिक" कहते हैं, निमित्तनैमित्तिकभाव, कार्य्यकारणभाव यह दोनों समानार्थक हैं, यह नियम है कि कार्य्य कारण तथा कारण कार्य्य नहीं होता अर्थात् कार्य्यकारण का परस्पर भेद है अभेद नहीं, इस नियम के अनुसार अन्य दोषों का कारण होने से "मोह" दोष नहीं किन्तु उनका हेतुभूत पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ है ।

सं०—अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं :—

न दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥ ८ ॥

पद०—न। दोपलक्षणावरोधात्। मोहस्य।

पदा०—(मोहस्य) मोह में (दोपलक्षणावरोधात्) दोप लक्षण पाये जाने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य—"प्रवर्त्तना लक्षणा दोषाः" न्या० १।१।१८ में कथन किये हुए अन्य दोषों की भांति दोपलक्षण समान पाये जाने से सिद्ध है कि मोह भी दोष है दोषातिरिक्त पदार्थ नहीं, और जो उसके दोष न होने में निमित्तनैमित्तिकभाव हेतु दिया है वह इस-लिये ठीक नहीं कि समान लक्षण पाये जाने पर भी व्यक्तियों का परस्पर कार्य्यकारणभाव देखा जाता है, जैसाकि पृथिवीत्व किंवा गन्धवत्त्व लक्षण समान होने पर भी दण्ड, चक्र और मृत्पिण्डादि कारणों तथा घटादि कार्य्यों का परस्पर कार्य्यकारणभाव है, इस प्रकार मोह को अदोष सिद्ध करने के लिये कथन किया हुआ उक्त हेतु "स्वरूपासिद्ध" होने से प्रामाणिक नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ को स्फुट करते हैं:—

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीया-नामप्रतिषेधः॥ ९॥

पद०—निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेः। च। तुल्यजातीयानां। अप्रतिषेधः।

पदा०—(च) और (तुल्यजातीयानां) समान जातिवालों का (निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेः) निमित्तनैमित्तिकभाव होने के कारण (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध नहीं होसक्ता।

भाष्य-एक जातिवाले द्रव्य तथा गुणों का परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव पाये जाने से राग, द्वेष तथा मोह के परस्पर कार्य्य कारणभाव का प्रतिषेध करना ठीक नहीं अर्थात् जिसप्रकार पार्थिव कपालों से पार्थिव घट तथा कपालगतरूप से घटगत रूप की उत्पत्ति में स्वसमानजातीय पदार्थों का कार्य्यकारणभाव है इसी प्रकार दोषत्वरूप समान धर्मवाले राग द्वेष और मोह के परस्पर निमित्त नैमित्तिकभाव की उपपत्ति में कोई बाधा न होने से मोह को दोषों से पृथक् पदार्थ मानना सर्वथा असङ्गत है।

सं०-अब प्रेत्यभाव की परीक्षा में सिद्धान्त कथन करते हैं :-

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः । १० ।

पद०-आत्मनित्यत्वे । प्रेत्यभावसिद्धिः ।

पदा०-(आत्मनित्यत्वे) आत्मा के नित्य होने से (प्रेत्यभाव-सिद्धि) प्रेत्यभाव की सिद्धि होती है।

भाष्य-" पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः " न्या० १ । १ । १९ में जो नष्ट पदार्थ की पुनः उत्पत्ति का नाम "प्रेत्यभाव" कथन किया है उसमें यह संशय होता है कि पुनरुत्पत्ति शरीर, बुद्धि अथवा आत्मा की है परन्तु उत्पत्ति विनाश का विषय न होने से नित्य आत्मा का प्रेत्यभाव नहीं होसक्ता और नाही शरीर अथवा बुद्धि का प्रेत्यभाव माना जासक्ता है, क्योंकि नष्ट बुद्धि तथा शरीर की पुनरुत्पत्ति में कोई प्रमाण नहीं, इसलिये प्रेत्यभावरूप प्रमेय का

मानना सर्वथा असङ्गत है ? इस पूर्वपक्ष के अभिप्राय से यह सिद्धान्त कथन किया गया है कि आत्मा का नित्य होना प्रेत्यभाव का साधक है बाधक नहीं अर्थात् "यदापूर्वोत्पन्नाभिः शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिर्वियुज्यते, म्रियत इति चोच्यते, यदा अपूर्वोत्पन्नाभिर्निकायविशिष्टाभिः शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिः सम्बद्ध्यते, जायत इति चोच्यते"=नित्य आत्मा के प्रथम शरीरेन्द्रियादिसंघात से वियोग का नाम "मृत्यु" और नये शरीरेन्द्रियादि संघात के साथ संयोग का नाम "जन्म" है, और इसीजन्ममृत्युप्रवाह को "प्रेत्यभाव" कहते हैं वस्तुतः स्वरूप से आत्मा का जन्म मृत्यु अभिप्रेत नहीं, क्योंकि वह उत्पत्ति विनाश से रहित है।

सं०—अब प्रसङ्गसङ्गति से भावरूप कारण द्वारा भावकार्य्य की उत्पत्ति कथन करते हैं:—

व्यक्ताद्व्यक्तानांप्रत्यक्षप्रामाण्यात् । ११ ।

पद०—व्यक्तात् । व्यक्तानां । प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ।

पदा०—(प्रत्यक्षप्रामाण्यात्) प्रत्यक्ष प्रमाण पाये जाने के कारण (व्यक्तात्) व्यक्त से (व्यक्तानाम्) व्यक्त की उत्पत्ति होती है।

भाष्य—"उपलब्धिलक्षणप्राप्तं रूपादियुक्तं द्रव्यं व्यक्तं तत्सामान्यात्परमाणुलक्षणमपि पृथिव्यादिकारणं व्यक्तमित्युच्यते" न्या० वा०=प्रत्यक्ष उपलब्धि के

विषयभूत रूपादिगुण वाले द्रव्य का नाम "व्यक्त" और उसके साथ रूपादि की सदृशता पाये जाने से कार्य्य पृथिव्यादि के कारणभूत परमाणु द्रव्य भी "व्यक्त" कहाते हैं और रूपादि गुणों वाले व्यक्त=भावरूप परमाणुओं से ही पृथिव्यादि कार्य्यों की उत्पत्ति होती है, इसी अभिप्राय से "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" छां० प्र० ६ में वर्णन किया है किकार्य्यरूप जगत् उत्पत्ति से पूर्व कारणरूप से विद्यमान होने के कारण सद्रूप था, और इसी भाव को "असद्व्यपदेशान्नेतिचेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्" ब्र० सू० २। १। १७ में इस प्रकार स्फुट किया है कि "असदेवेदमग्र आसीत्" छा० ३। १९। १ "असद्वा इदमग्र आसीत्" तै० २। ७। १=उत्पत्ति के पूर्व कार्य्य असत् रूप से विद्यमान था, यदि यह कहाजाय तो ठीक नहीं, क्योंकि"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" "तत्सदासीत्" इत्यादि वाक्यशेष द्वारा कार्य्य का कारणरूप से सत् होना ही पाया जाता है।

तात्पर्य्य यह है कि "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" गी० २। १६=असत् से सत् तथा सत् से असत् नहीं होता, यदि असत्=अत्यन्तासत् रूप कारण से कार्य्य होता अथवा सत्=भावरूप कारण से असत् कार्य्य की उत्पत्ति होती तो शशशृङ्गादि अत्यन्तासत् पदार्थों से भावात्मक घटपटादि कार्य्य वा

मृत्पिण्डादि भावात्मक कारणों से शशशृङ्गादि तुच्छ कार्य्यों की उत्पत्ति भी पाई जाती परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध है कि व्यक्त कारण से व्यक्त कार्य्य की उत्पत्ति होती है अव्यक्त=असत् से नहीं, और जहां उत्पत्ति से पूर्व कार्य्य का अपने कारण में "असत्" होना कथन किया है वह इस अभिप्राय से नहीं कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य्य अत्यन्तासत्=तुच्छ होता है किन्तु कारणरूप से "सत्" हुआ भी कार्य्यरूप से "असत्" होता है, इस अभिप्राय से वैदिकसिद्धान्त में आचार्य्यों को "सत्कार्य्यवाद" ही अभिमेत है अथवा यों कहो कि सत्कार्य्यवाद असत्कार्य्यवाद दोनों परिभाषा समानार्थक होने के कारण अर्थभेद का हेतु नहीं, क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व कारणरूप से कार्य्य को "सत्" कथन करने का नाम "**सत्कार्य्यवाद**" तथा उत्पत्ति से पूर्व कार्य्यरूप से "असत्" कथन करने का नाम "**असत्कार्य्यवाद**" है, इसी भाव से महर्षि "**कणाद**" का कथन है कि "**क्रियागुणव्यपदेशाभावात्प्रागसत्**" वै० ९। १।१=उत्पत्ति से पूर्व कार्य्य में "भवति" आदि क्रिया तथा नीलादि गुणों का व्यवहार न पाये जाने के कारण कार्य्य "असत्" कहाता है शशशृङ्गादि की भांति तुच्छ होने के अभिप्राय से नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:—

न घटाद्घटानिष्पत्तेः। १२।

पद०—न। घटात्। घटानिष्पत्तेः।

पदा०—(घटात्) घट से (घटानिष्पत्तेः) घटोत्पत्ति न पाये

जाने के कारण उक्त कथन (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—व्यक्त कारण से व्यक्त कार्य्य की उत्पत्ति मानना इसलिये ठीक नहीं कि घट से घट की उत्पत्ति नहीं पाई जाती, यदि व्यक्त पदार्थ ही व्यक्त कार्य्य का कारण होता तो घटरूप व्यक्त कारण से घटान्तर की उत्पत्ति पाई जाती, क्योंकि मृत्पिण्डादि की भांति घट भी व्यक्त है परन्तु घटद्वारा घटोत्पत्ति में कोई प्रमाण न होने से सिद्ध है कि व्यक्त कारण से कार्य्य की उत्पत्ति नहीं होती ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

व्यक्ताद्घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः । १३ ।

पद०—व्यक्तात् । घटनिष्पत्तेः । अप्रतिषेधः ।

पदा०—(व्यक्तात्) व्यक्तरूप कपालादि कारणों द्वारा (घटनिष्पत्तेः) घटोत्पत्ति पाये जाने से (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य—व्यक्तमात्र प्रत्येक कार्य्य के प्रति कारण होता है यह नियम नहीं किन्तु जो कार्य्य है वह स्वसमान जातीय कारण से जन्य होता है यह सिद्धान्त है, उक्त सिद्धान्तानुसार व्यक्तरूप कपालों द्वारा घटोत्पत्ति पाये जाने से सिद्ध है कि प्रत्येक कार्य्य अपने समानजातीय कारण से जन्य होता है अन्य से नहीं, इसी भाव से **"कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणोदृष्टः"** वै० २ । १ । २४ में वर्णन किया है कि जिसका जैसा कारण होता है उससे वैसा ही कार्य्य उत्पन्न होता है,

इसप्रकार सिद्धान्ती के आशय को न समझकर वादी का उक्त प्रतिषेध करना केवल साहसमात्र है।

तात्पर्य्य यह है कि जिस कारण में जैसे रूपादि गुण होते हैं उसके कार्य्य में भी वही गुण पाये जाते हैं, यदि कारण में रूपादि गुण न हों तो कार्य्य में भी वह कदापि उत्पन्न नहीं होसक्ते, इससे स्पष्ट है कि शरीरादि व्यक्त कार्य्य स्वसमानरूपादि गुणों वाले परमाणुरूप कारणों से उत्पन्न होते हैं असमान कारण से नहीं, इसलिये सब से सब की उत्पत्ति मानना ही समीचीन है।

सं०—अब उक्त अर्थ में "शून्यवादी" आक्षेप करता है :—

अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य-प्रादुर्भावात्। १४।

पद०—अभावात्। भावोत्पत्तिः। न। अनुपमृद्य। प्रादुर्भावात्।

पदा०—(अनुपमृद्य) उपमर्द के विना (न, प्रादुर्भावात्) उत्पत्ति न पाये जाने के कारण (अभावात्) अभाव से (भावोत्पत्तिः) भाव की उत्पत्ति होती है।

भाष्य—प्रकृत में पूर्वस्वरूप की निवृत्ति का नाम "उपमर्द" है, उपमर्द, स्वरूपनिवृत्ति तथा नाश यह तीनों समानार्थक शब्द हैं, अभाव=शून्य से भावात्मक कार्य्य की उत्पत्ति होती है भाव से नहीं, क्योंकि बीजोपमर्द=बीजनाश के विना अंकुरोत्पत्ति नहीं होती, यदि बीजनाश अंकुरोत्पत्ति का कारण न होता तो बीजनाश के विना

ही अंकुरोत्पत्ति पाई जाती पर ऐसा नहीं होता, इसलिये भावात्मक कार्य्य के प्रति अभाव को कारण मानना ही ठीक है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

व्याघातादप्रयोगः । १५ ।

पद०—व्याघातात् । अप्रयोगः ।

पदा०—(व्याघातात्) व्याघात पाये जाने से (अप्रयोगः) उक्त प्रयोग=कथन ठीक नहीं।

भाष्य—" **उपमृद्य प्रादुर्भवतीति व्याघातः**"=प्रथम उपमर्द करके पश्चात् उत्पन्न होता है, यह कथन व्याघात दोषयुक्त है अर्थात् यदि अंकुर ने वीज का उपमर्द किया है तो प्रथम ही विद्यमान होने से उसकी उत्पत्ति निरर्थक है, क्योंकि कार्यरूप से अविद्यमान पदार्थ की उत्पत्ति होती है विद्यमान की नहीं, यदि अंकुर उत्पन्न ही नहीं हुआ भविष्य में होगा तो असिद्ध अंकुर से वीज का नाश होना ही असम्भव है, इसप्रकार उपमर्दक=उपमर्द करने वाले तथा प्रादुर्भवन्=प्रकट होने वाले वीजांकुर का सहासम्भव=एक कालवर्त्ती न होना रूप विरोध पाये जाने के कारण उक्त अनुमान न वनसकने से अभाव को कारण मानना सर्वथा भ्रान्तिमूलक होने के कारण आदरणीय नहीं।

सं०—अब पूर्वपक्षी स्वपक्ष में उक्त दोष का परिहार करता है:—

नातीतानागतयोः कारकशब्दप्रयो-

गात् । १६ ।

पद०—न । अतीतानागतयोः । कारकशब्दप्रयोगात् ।

पदा०—(अतीतानागतयोः) भूत तथा भविष्यत् पदार्थों में भी (कारकशब्दप्रयोगात्) कारक शब्दों का व्यवहार पाये जाने से उक्त व्याघात (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य—जिस प्रकार " जनिष्यते पुत्रः "=पुत्र उत्पन्न होगा, " जनिष्यमाणं पुत्रमभिनन्दति "=होने वाले पुत्र के स्मरण से प्रसन्न होता है, " अभूत् कुम्भो भिन्नं कुम्भमनुशोचति "= घट बना था और भग्न हुए घट का शोक करता है, इत्यादि भूत भविष्यत् पदार्थों में कर्तृ कर्मादि कारकों का प्रयोग=व्यवहार व्याकरणनियमानुसार पाया जाता है इसी प्रकार प्रकृत में भी "उपमृद्य बीजं प्रादुर्भवत्यङ्कुरः " = बीजनाश करके अङ्कुर उत्पन्न होता है, इत्यादि औपचारिक प्रयोग पायेजाने के कारण अभाव= शून्य कारण से कार्य्य की उत्पत्ति मानने में कोई बाधा नहीं ।

सं०—अब पूर्वपक्षी के परिहार का खण्डन करते हैं:—

न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः । १७ ।

पद०—न । विनष्टेभ्यः । अनिष्पत्तेः ।

पदा०—(विनष्टेभ्यः) विनष्ट कारणों द्वारा (अनिष्पत्तेः) कार्य्यो-त्पत्ति न होसकने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—विनष्ट कारणों द्वारा कार्य्योत्पत्ति मानने वाले शून्य

वादी से प्रष्टव्य है कि अङ्कुरादि कार्य्यों के प्रति नष्ट हुए वीजादि उपादान कारण हैं वा वीजादि का नाश उपादान कारण है किंवा वीजादि का नाश अङ्कुरादि की उत्पत्ति में निमित्तरूप से सहकारि कारण है ? प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि अङ्कुररूप कार्य्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में नष्ट वीज विद्यमान न रहने से उपादान कारण नहीं होसक्ता, दूसरे पक्ष में यह दोष है कि वीजध्वंसरूप वीजनाश में उपादान कारणता का नियामक द्रव्यत्वधर्म्म नहीं पाया जाता जिसका स्वकार्य्यभूत अङ्कुरादिकों में अन्वय होसके फिर उससे उत्पत्ति का कथन करना सर्वथा असङ्गत है, और तीसरा पक्ष सिद्धसाधन होने से आदरणीय नहीं, क्योंकि वीजादि कारणों का ध्वंस वीजावस्थारूप प्रतिबन्धक के अभाव द्वारा सिद्धान्त में सहकारी कारण अभिमेत है।

सं०—अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं:—

क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः । १८ ।

पद०—क्रमनिर्देशात्। अप्रतिषेधः।

पदा०—(क्रमनिर्देशात्) उत्पत्तिक्रम पाये जाने से (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य—"बीजे विनष्टेऽङ्कुरो जायते=पूर्वं बीजविनाशः पश्चादङ्कुरोत्पत्तिरितिप्रत्ययाद्बीजस्य प्रतिबन्धकस्या-

भावः कारणं विनष्टे हि वीजे तदवयवैर्जलाभिषिक्त-भूम्यवयवसहितैरङ्कुर आरभ्यते "= वीजनाशोत्तर अङ्कुरोत्पत्ति का क्रम पाया जाता है अर्थात् प्रथम क्षण में वीजनाश उसके उत्तर क्षण में पुनः जलसेचनादि सहकारी कारणों के होने परवीजावयव और मृदवयवों से अङ्कुर की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं, इस प्रकार वीजरूप उपादान कारण के अवयवों का अन्वय कार्य्यभूत अङ्कुरादिकों में पाये जाने के कारण अभाव को उपादानकारण मानना ठीक नहीं और उक्त रीति से अङ्कुरोत्पत्ति के प्रति वीजनाश के सहकारी कारण होने में कोई वाधा नहीं, क्योंकि कार्य्यमात्र के प्रति प्रतिबन्धकसंसर्गाभाव = प्रागभाव, ध्वंस तथा अत्यन्ताभाव सहकारी कारण होते हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि यदि दुराग्रहवशात् अभाव ही को उपादान कारण माने तो "अभावस्यनिर्विशेषात्"=अभाव में विशेषता न पाये जाने से पीसकर फेंके हुए वीजों द्वारा भी अङ्कुरोत्पत्ति होनी चाहिये परन्तु पीसे हुए वीजों से अङ्कुरोत्पत्ति प्रमाण विरुद्ध होने से सिद्ध है कि अभाव=शून्य उपादान कारण नहीं किन्तु कार्य्य समानजातीय व्यक्त=भावरूप परमाणु ही पृथिव्यादि कार्य्यों के उपादान कारण हैं ।

सं०—जगत् के उपादान कारण का निरूपण करके, अब उसके निमित्तकारण ईश्वर की परीक्षा में सिद्धान्त कथन करते हैं:—

ईश्वरःकारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।१९।

पद०-ईश्वरः । कारणं । पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।

पदा०-(पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्) पुरुषकृत कर्म फलोत्पत्ति में स्वतन्त्र न होने से (ईश्वरः) ईश्वर जगत् का (कारणम्) निमित्त कारण है ।

भाष्य-"पुरुषाणां जीवानां कर्माणि धर्माधर्मात्मकान्यदृष्टापरपर्य्यायाणि तेषामफल्यदर्शनाज्जड़त्वात्स्वयं फलोत्पत्तावसामर्थ्यदर्शनादित्यर्थः"=जीवों के धर्माधर्मात्मक कर्मों का नाम "पुरुषकर्म" है, प्रकृत में पुरुषकर्म, अदृष्ट और धर्माधर्म यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, जड़ पुरुषकर्म फलोत्पत्ति में स्वतन्त्र न होने के कारण तदधिष्ठाता ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है अर्थात् जो कई एक वादियों का यह कथन है कि जीव के शुभाशुभ कर्म ही फलोत्पत्ति में समर्थ होने से कर्मफल की सिद्धि के लिये कर्माधिष्ठाता जगत्कर्ता ईश्वर मानना निरर्थक है ? यह इसलिये ठीक नहीं कि जड़ होने से कर्म चेतनाधिष्ठाता के विना स्वयं फल देने में असमर्थ हैं और अल्पज्ञ, अल्पशक्ति वाले जीव फलोत्पत्ति में स्वतन्त्र न होने से कर्माधिष्ठाता नहीं होसक्ते, क्योंकि वह कर्मों के अनुष्ठानमात्र में स्वतन्त्र हैं फल भोग में नहीं, यदि चेतन अधिष्ठाता के विना जड़ कर्म फलोत्पत्ति में स्वतन्त्र होते किंवा ईश्वर से भिन्न जीव ही उनके अधिष्ठाता होते तो लोक में ईशितव्यें-

शितृभाव=नियम्यानियन्तृभाव न पाया जाता और नाही जीवेच्छा के विरुद्ध अशुभकर्मों के दुःखादि फल की उपलब्धि होती परन्तु ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि जो चेतन कर्मफल का नियामक है वही जगत्कर्त्ता=जगत् का निमित्तकारण "ईश्वर" है, इसी अभिप्राय से महर्षि "कपिल" का कथन है कि "नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः" सां० ५। २=ईश्वर के अधिष्ठाता होने पर फल की सिद्धि होती है केवल कर्म द्वारा नहीं, और वह "स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत्" सां० ५।६=लोक में राजा की भांति जीवों पर उपकार करने से कर्मों का अधिष्ठाता मानागया है, और यही भाव महर्षि "जैमिनि" का है, जैसाकि सर्वशक्तिमत्ताधिकरण में वर्णन किया है कि "सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात्तथाभूतोपदेशात्, अपिवाप्येकदेशेस्यात्प्रधानेह्यर्थनिर्वृत्तिर्गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात्" मी० ६। २। १२=वेद में सर्वशक्तिमान् परमात्मा की प्रधानता पाये जाने के कारण सर्वशक्ति=परमात्मा के उद्देश से सब यज्ञों की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि "पादोऽस्य विश्वाभूतानि" यजु० ३१। ३ इत्यादि मन्त्रों से पाया जाता है कि चेतनाचेतन सब भूतवर्ग परमात्मा के एकदेश में है और एकदेश में प्रवृत्ति मुख्यफल की सिद्धि का कारण न होने से सर्वोपरिमुख्य परमात्मविषयक यज्ञादि प्रवृत्ति ही मुख्यफल का हेतु है, इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि सर्वशक्तिमान् ही कर्मफल

दाता होसक्ता है अन्य नहीं और जो कर्मफल दाता है वही जगत् का निमित्तकारण "ईश्वर" कहाता है।

स्मरण रहे कि यद्यपि धर्माधर्मरूप कर्म जीवसमवेत होने से उनके अधिष्ठाता जीव होते हैं ईश्वर नहीं तथापि "संयुक्त-संयोगिसमवायसम्बन्ध" से ईश्वर के कर्माधिष्ठाता होने में कोई सन्देह नहीं, प्रकृत में "संयुक्त" पद से ईश्वर के साथ संयोग-सम्बन्ध वाले परमाणुओं का ग्रहण है उनके साथ संयोगी=संयोग वाले जीवों में अदृष्टरूप कर्मों का समवायसम्बन्ध होता है।

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:—

न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः ॥ २० ॥

पद०-न। पुरुषकर्माभावे। फलानिष्पत्तेः।

पदा०-(पुरुषकर्माभावे) पुरुषकर्म के विना (फलानिष्पत्तेः) फलप्राप्ति न होसकने से कर्मफल के लिये ईश्वर का मानना (न) ठीक नहीं।

भाष्य-जब तक पुरुषकर्म न हों तब तक फल की प्राप्ति नहीं होसक्ती अर्थात् पुरुषकर्म फलप्राप्ति में मुख्य होने से जगत् का निमित्तकारण हैं, यदि ईश्वर निमित्त होता तो ईशनायोग=अपने ऐश्वर्य्य की स्वतन्त्रता से कर्मों के विना भी फल देता परन्तु नहीं, इससे सिद्ध है कि जिनके पराधीन हुआ ईश्वर फल देता है वही कर्म मुख्यरूप से भूतसृष्टि के निमित्तकारण हैं, इसलिये अन्यथा सिद्ध ईश्वर का मानना निरर्थक है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

तत्कारितत्वादहेतुः ॥ २१ ॥

पद०—तत्कारितत्वात् । अहेतुः ।

पदा०—(तत्कारितत्वात्) कर्म ईश्वराधीन होने से (अहेतुः) उक्त कथन ठीक नहीं ।

भाष्य—केवल कर्मों से भूतसर्ग मानना इसलिये ठीक नहीं कि कर्म जड़ होने के कारण फलोत्पत्ति में स्वतन्त्र नहीं और यह नियम है कि "**नह्यचेतनं चेतनानधिष्ठितं कुर्व्वदुपपद्यते**"=विना चेतन के अचेतन किसी कार्य्योत्पत्ति में समर्थ नहीं होता, इस नियम के अनुसार जिस प्रकार कुठारादि चेतनाधिष्ठाता के विना छिदादि क्रिया में सर्वथा असमर्थ देखे जाते हैं अथवा यों कहो कि जैसे लोक में भी हिताहित कर्मों का फल चेतनस्वामी के अधीन होता है इसी प्रकार जीवों के शुभाशुभ कर्म चेतन अधिष्ठाता ईश्वर के विना भूतसर्ग में समर्थ नहीं होसक्ते, यदि जड़कर्म फल देने में चेतन अधिष्ठाता के अधीन न होते तो विना चेतन के कुठारादि से भी छिदादि क्रिया की उपलब्धि होती वा चेतनस्वामी के विना भी लोक में कर्मफल प्राप्ति देखी जाती परन्तु ऐसा न होने से सिद्ध है कि जड़कर्म भूतसर्ग में स्वतन्त्र निमित्तकारण नहीं अपितु कुलाल की क्रिया में दण्डादि की भांति सहकारी निमित्तकारण हैं, और जो यह कथन किया है कि यदि ईश्वर निमित्त होता तो

स्वतन्त्र होने के कारण ईशनायोग से कर्मों के विना भी फल देता ? इसका उत्तर यह है कि कर्मनिरपेक्ष ईश्वर को निमित्तकारण मानने से वैषम्य, नैघृण्य दोषों की आपत्ति होती है अर्थात् यदि ईश्वर को कर्मनिरपेक्ष कारण मानाजाय तो प्रत्यक्षसिद्ध जीवों के सुख दुःखादि वैचित्र्य से उसमें वैषम्य=जीवों को उच्च नीचादि बनाने से न्यूनाधिकभाव तथा नैर्घृण्य=कइयों को अतिदीन दुःखी बनाने से निर्दयता आदि दोष पाये जाने के कारण प्राकृतजनों के समान राग द्वेषादि वाला होने से ईश्वर के ईश्वरीयभाव का लोप होजायगा, इसलिये ईश्वर को कर्मनियन्तारूप से जगत्कारण मानना ही समीचीन है, इसी अभिप्राय से महर्षि "व्यास" का कथन है कि "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति" ब्र० सू० २।१।३४=कर्म सापेक्ष सृष्टि कर्त्ता होने से परमात्मा में वैषम्य नैघृण्य दोषों की आपत्ति नहीं आती, क्योंकि "पुण्यः पुण्येन पापः पापेन" बृहदा० ३।२।१३, इत्यादिकों में ऐसा ही पाया जाता है अर्थात् सत्कर्म से धर्मात्मा सद्गति को तथा असत्कर्म से पापात्मा दुर्गति को प्राप्त होता है, इस प्रकार शास्त्र में कर्मानुसार ही फल प्राप्ति मानी गई है, और जो यह कथन किया है कि कर्माधीनफल दाता होने से ईश्वर की स्वतन्त्रता नहीं होसक्ती, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि वह न्यायकारी होने से कर्मों की अपेक्षा रखता है पराधीनता से नहीं।

भाव यह है कि :—

स देवः परमोज्ञाता नित्यानन्दः कृपान्वितः ।
क्लेशकर्मविपाकादिपरामर्शविवर्जितः ॥

जो सर्वशक्तिमान्=जगत्कर्तृत्वादि निखिल शक्तियों वाला, सर्वज्ञ, नित्यानन्दैकरस, कल्याणगुणाकर, अविद्यादि क्लेशों से रहित तथा सर्वनियन्ता आदि विशेषणों वाला पुरुषविशेष है वही जगत्कर्त्ता "ईश्वर" कहाता है।

कई एक लोगों का कथन है कि "मानाधीना मेयसिद्धिः"=वस्तु की सिद्धि प्रमाण के अधीन होती है, इस नियम के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिससे जगत्कर्त्ता "ईश्वर" मानाजाय, उसकी सिद्धि में बाह्यप्रत्यक्ष इसलिये नहीं कि ईश्वर में रूपादि गुण नहीं और सुख दुःखादि की भांति अन्तःकरण का विषय न होने से उसकी सिद्धि में आन्तरप्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं होसक्ता, इस प्रकार बाह्य तथा मानस प्रत्यक्ष का विषय न होने से ईश्वर को अनुमान का विषय मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है जैसाकि प्रथमाध्याय में वर्णन कर आये हैं, यदि दुराग्रहवशात् "सामान्यतोदृष्ट" अनुमान ही ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण मानाजाय अर्थात् "यत् कार्य्यं तत् कर्त्तृजन्यम्"=जो कार्य्य है वह कर्त्ता से जन्य होता है, इस सामान्यव्याप्ति द्वारा "भूभूधरादिकं कर्त्तृ-

जन्यं कार्य्यत्वात् घटवत्"=घट की भांति पृथिव्यादि कार्य्य होने से कर्त्तृजन्य हैं और जो उनका कर्त्ता है वही ईश्वर कहाता है ? इसका उत्तर यह है कि "भूभूधरादि" पक्ष में "कार्य्यत्व" हेतु "असिद्ध" होने से "कर्त्तृजन्यत्व" साध्य का साधक नहीं होसक्ता, क्योंकि घटादि कार्य्यों से पृथिव्यादिकों में सन्निवेश=आकृति-विशेष की विलक्षणता पाई जाती है, यदि घटादि कार्य्यों की भांति पृथिव्यादि कार्य्यों में रचना विशेष उपलब्ध होती तो दृष्टान्त के व्याप्तिबल से उनमें "कार्य्यत्व" हेतु मानकर "कर्त्तृजन्यत्व" साध्य की सिद्धि मानी जाती परन्तु घटादि कार्य्यवृत्ति अवयव संयोग की भांति पृथिव्यादिकों में रचनाविशेष सिद्धान्ती को भी इष्ट नहीं,इससे स्पष्ट है कि उक्त पक्ष में न रहने के कारण "कार्य्यत्व" हेतु "स्वरूपासिद्ध" है, जो हेतु स्वरूप से ही पक्षवृत्ति न हो उसको "स्वरूपासिद्ध" कहते हैं, यदि दुर्जनतोषन्याय से मान भी लिया जाय कि उक्त हेतु "स्वरूपासिद्ध" नहीं तो भी सिद्धान्ती की इष्ट सिद्धि नहीं होसक्ती, क्योंकि कर्षणादिरूप कर्त्तृव्यापार=किसान कर्त्ता के विना ही स्वयं उत्पन्न हुए वनस्थ तृण, तरु, गुल्मादि पदार्थों में "कर्त्तृ-जन्यत्व" साध्य न पाये जाने से उक्त हेतु "अनैकान्तिक" हेत्वाभास है, किञ्च "यत्कार्य्यं तद्घटवत्कर्तृजन्यम्"=जो कार्य्य है वह घट की भांति कर्त्ता से जन्य होता है, इस व्याप्तिबल से पृथिव्यादि कार्य्यों का कल्पना किया हुआ कर्त्ता कुलाल की भांति असर्वज्ञ, शरीरी और अविद्यादि क्लेश कर्मों से युक्त सिद्ध होने के कारण

हेतु में " विशेषविरुद्धता " दोष की आपत्ति होगी, साध्यविशेष के साथ हेतु विरोध का नाम "हेतुविरोधदोष" और उक्त दोष वाले हेतु को "विशेषविरुद्ध" हेत्वाभास कहते हैं, और:—

विशेषसाध्यतायां वा साध्यहीनं निदर्शनं।
कर्त्तृसामान्यसिद्धौ तु विशेषावगतिः कुतः ॥

अर्थ—कर्त्तृविशेष=कुलालादि कर्त्ता से विलक्षण कर्त्ता को साध्य मानने से " कार्य्यत्व " हेतु " साध्यविकल " दृष्टान्तासिद्ध हेत्वाभास होता है, जो हेतु साध्य से हीन हो अर्थात् जिस हेतु का दृष्टान्त में साध्य न पाया जाय उसका नाम "साध्यविकल" हेत्वाभास है, प्रकृत घट दृष्टान्त में कुलाल विलक्षण "सर्वज्ञकर्त्तृजन्यत्व" साध्य न पायेजाने के कारण कार्यत्व हेतु " साध्यविकल " होने से पृथिव्यादि पक्ष में उक्त साध्य का साधक नहीं, और कर्त्तृसामान्य=कर्त्तामात्र को साध्य मानने से " विशेषावगति "=ईश्वररूप विशेष कर्त्ता की सिद्धि ही दुर्घट है, दूसरी वात यह है कि:—

कर्त्तृतानाशरीरस्य दृश्यते भुविकस्यचित्।
शरीरं वास्यापि जन्यंस्याद्देहत्वान्मैत्रदेहवत् ॥

अर्थ—अशरीरी कर्त्ता में कोई प्रमाण न होने से ईश्वर को भी शरीरी मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से मैत्रशरीर की भांति ईश्वर का शरीर भी ईश्वरजन्य है वा किसी अन्य सर्वज्ञकर्त्ता से जन्य है,यह दो

विकल्प होते हैं, प्रथमपक्ष इसलिये ठीक नहीं कि स्वशरीरोत्पत्ति से प्रथम अशरीरी होने पर ईश्वर शरीरी सिद्ध नहीं होता और दूसरे पक्ष में अनन्त ईश्वरापत्ति से अनवस्था की प्राप्ति तथा प्रथम पक्षोक्त दोष ज्यों का त्यों बना रहता है,इस प्रकार उक्त अनुमान न बनसकने से ईश्वरसिद्धि के शेष अनुमानों का भी खण्डन जानना चाहिये, एवं सादृश्यज्ञान न होने से उपमान भी ईश्वर का साधक नहीं, और स्वतःप्रमाणभूत वेदरूप आगम से ईश्वर की सिद्धि तथा ईश्वरसिद्धि से वेद की सिद्धि में अन्योन्याश्रयदोष पाये जाने के कारण शब्दप्रमाण भी उसका साधक नहीं होसक्ता, इस प्रकार प्रमाणमात्र का विषय न होने से ईश्वर का मानना ठीक नहीं।

उत्तर—इसमें सन्देह नहीं कि रूपरसादि गुणों से रहित होने के कारण ईश्वर बाह्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं और नाही सुखादि की भांति आन्तर प्रत्यक्ष का विषय होसक्ता है परन्तु "सामान्यतोदृष्ट" अनुमान द्वारा उसकी सिद्धि में कोई बाधा नहीं, "**लिङ्गसामान्यस्य लिङ्गिसामान्येन व्याप्तिग्रहात् यदनुमानं तत्सामान्यतोदृष्टव्याप्तिकत्वात्सामान्यतोदृष्टम्**"=सामान्यरूप से लिङ्गलिङ्गी की व्याप्तिद्वारा अनुमिति के हेतु का नाम "सामान्यतोदृष्ट" है, या यों कहो कि लिङ्ग के प्रत्यक्ष होने पर भी लिङ्गी के प्रत्यक्ष न होने से लिङ्ग लिङ्गी की सामान्यव्याप्ति द्वारा जिससे परोक्ष लिङ्गी का ज्ञान होता है उसको

"सामान्यतोदृष्ट" कहते हैं, जैसाकि पीछे अनुमान प्रमाण के लक्षण में वर्णन कर आये हैं, प्रकृत में उक्त अनुमान के लापन का प्रकार यह है कि "विवादाध्यासिता भूभूधरादयःस्वोत्पत्तिप्रकाराद्यभिज्ञकर्त्तृका उत्पत्तिमत्त्वात् = कार्य्यत्वात् अचेतननोपादनत्वाद्वा घटप्रासादादिवत्,यदुत्पत्तिमत् = कार्य्यं अचेतनोपादनकं वा तत्सर्वं तदुत्पत्तिप्रकाराद्यभिज्ञकर्त्तृकं यथा घटादिकम्,तथाच विवादाध्यासिता भूभूधरादयः,तस्मात्तथेति"=जो कार्य्य है वह उत्पत्ति के ज्ञान वाले बुद्धिमान् कर्त्ता से जन्य होता है, यह नियम है, इस नियम के अनुसार जिसप्रकार कार्य्य होने से घटादिक मृत्तिकादि उपादान कारण के ज्ञान वाले कुलालादि कर्त्ता से जन्य हैं इसीप्रकार पृथिव्यादि भी परमाण्वादि उपादान कारण के ज्ञान वाले बुद्धिमान् कर्त्ता से जन्य हैं अर्थात् जो पृथिव्यादि का कर्त्ता है वही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् "ईश्वर" है, और जो पीछे "कार्यत्व" हेतु को "स्वरूपासिद्ध" कथन किया है उसमें विवेचनीय यह है कि उक्त पूर्वपक्ष "चार्वाकादि" नास्तिक वा बौद्धों किंवा आधुनिक "कुमारिलभट्ट" प्रभृति नवीन मीमांसकों की ओर से किया गया है,यदि चार्वाक की ओर से कहें तो उक्त हेतु को "स्वरूपासिद्ध" कथन करना ही असम्भव है, क्योंकि उनके मत में पृथिव्यादि चेतन कर्त्ता से जन्य न होने पर भी सावयव होने से "कार्य्य" हैं, और यदि योगाचारादि बौद्धों की ओर से कहें तो उनके मत में पदार्थमात्र नित्य

न होने के कारण उक्त हेतु में "स्वरूपासिद्धि" की सम्भावना ही नहीं होसक्ती; परिशेष से उक्त पूर्वपक्ष आधुनिक मीमांसकों की ओर से ही बनसक्ता है परन्तु वह इसलिये ठीक नहीं कि सावयवत्वादि हेतुओं द्वारा "कार्यत्व" हेतु की सिद्धि निरावाध पाई जाती है जिसका प्रकार यह है कि "**भूधरादिकं कार्य्यं सावयवत्वात्,महत्वे-सति क्रियावत्त्वात्, मूर्त्तत्वाद्वा घटादिवत्**"=जो सावयव, मध्यमपरिमाण वाला होकर क्रिया वाला अथवा जो मध्यम परिणाम वाला होकर मूर्त्त हो वह कार्य होता है,इस व्याप्ति नियमानुसार जिस प्रकार घटादि पदार्थ सावयवत्वादि हेतुओं के पाये जाने से कार्य्य हैं वैसे ही पृथिव्यादि भी सावयव किंवा मध्यम परिमाण वाले होकर उत्क्षेपणादि क्रिया का आश्रय होने से कार्य्य हैं,इसप्रकार अनुमानद्वारा पृथिव्यादि के "कार्यत्व" में सन्देह न होने के कारण उक्त हेतु को "स्वरूपासिद्ध" कथन करना केवल साहसमात्र है, दूसरी वात यह है कि पृथिव्यादि के विनाशत्व में किसी वादी की विप्रतिपत्ति नहीं, इस वात को अनीश्वरवादी आधुनिक मीमांसक भी उत्कण्ठा-पूर्वक मानते हैं कि जिसप्रकार किसी एक पट की उत्पत्ति का प्रत्यक्ष न होने पर भी तन्तुसंयोगनाश अथवा तन्तुनाश से पटनाश की कल्पना कीजाती है इसीप्रकार अवयवसंयोगनाशपूर्वक पूर्वावस्था से प्रच्युत होने वाले पृथिव्यादि पदार्थों के विनाशी होने में कोई सन्देह नहीं, क्योंकि वर्षाकाल में प्रवलमेघधारा के अनवरत सम्पात से कई एक पर्वतखण्ड छिन्नभिन्न होकर गिर जाते हैं,

इसप्रकार जब पृथिव्यादिकों का नाश आधुनिक निरीश्वरवादी मीमांसक भी मानते हैं तो फिर उनके "कार्य्यत्व" में सन्देह ही क्या होसक्ता है अर्थात् "यत्र कार्य्यत्वं तत्र विनाशित्वम्"=जो कार्य्य है वह विनाशी है तथा "यत्र भावत्वे सति विनाशित्वं तत्र कार्य्यत्वम्"=जो भावरूप होकर विनाशी है वह कार्य्य होता है, इस रीति से विनाशित्व तथा कार्यत्व इन दोनों धर्मों की "समव्याप्ति है विषमव्याप्ति नहीं, इस भाव को "कुमारिलभट्ट" ने स्वयं बलपूर्वक माना है कि:—

तेन यत्राप्युभौ धर्मौ व्याप्यव्यापकसम्मतौ।
तत्रापि व्याप्यतैवस्यादङ्गं न व्यापिताभितेः॥

मी० वा० अनु० खं० श्लो० ९।

अर्थ—जहां दोनों धर्मों का व्याप्यव्यापकभाव समान पाया जाय वहां भी व्याप्य=व्याप्ति का आश्रयभूत धर्म ही अनुमिति का लिङ्ग होता है व्यापकधर्म नहीं, इसी आशय को "पार्थसारथिमिश्र" ने उक्त श्लोक की व्याख्या में इस प्रकार स्फुट किया है कि "यत्र न्यूनाधिकभावेन व्याप्यव्यापकत्वमसङ्कीर्णं यथा गोत्वविषाणित्वयोः तत्र व्याप्यमेव गोत्वं विषाणित्वमनुमापयति नतु व्यापिका विषाणिता गोत्वं अतः समोदाहरणेऽपि व्याप्यतैवानुमितेरनुमानस्याङ्गं न

व्यापकतेति "=जैसे गोत्व तथा विषाणित्व=शृङ्गित्व का व्याप्य-व्यापकभाव न्यूनाधिक पाया जाता है अर्थात् जहां गोत्व है वहां विषाणित्व है, इस व्याप्ति के होने पर भी "यत्र विषाणित्वं तत्र गोत्वं"=जहां विषाणित्व है वहां गोत्व है, यह व्याप्ति नहीं होसक्ती, ऐसे स्थलों में विषाणित्व साध्य की व्याप्ति का आश्रयभूत न्यूनदेश-वृत्ति गोत्व रूपव्याप्य धर्म ही उक्त साध्य का अनुमापक होता है व्यापकभूत विषाणित्व गोत्वसिद्धि में अनुमिति का लिंग नहीं होता वैसे ही समान न्याय से समव्याप्ति के उदाहरणों में भी व्याप्यभूत धर्म ही अनुमिति का लिङ्ग जानना चाहिये, इस प्रकार "विनाशित्व" हेतु द्वारा "कार्य्यत्व" का अनुमान पाये जाने से निरीश्वरवादी मीमांसकों के मतानुसार भी कार्यत्व हेतु "स्वरूपा-सिद्ध" नहीं होसक्ता, और जो स्वयं उत्पन्न हुए वनस्थ तरुतृणादि-कों में "कार्य्यत्व" हेतु का "व्यभिचार" कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि वनस्थतरु तृणादिक सब "भूभूधरादि" पक्ष के अन्तर्गत हैं और पक्षैकदेश में व्यभिचार का उद्भावन करना सर्वथा दार्शनि-के प्रणाली से बाहिर है, यदि पक्षैकदेश में व्यभिचार माना जाय तो अनुमानमात्र का उच्छेद होने से अनीश्वरवादी के मत में भी अनिष्टापत्ति होगी, एवं प्रकृत अनुमान द्वारा ईश्वरसिद्धि पाये जाने के कारण कुलाल की भांति वनस्थ तरुतृणादिकों के कर्त्ता की प्रत्यक्ष अनुपलब्धि उसके अभाव का साधक न होने से "कार्य्यत्व" हेतु को "अनैकान्तिक"-कथन

करना साहसमात्र है, "भूभूधरादयो बुद्धिमत्कर्त्तृकाः सन्निवेशविशिष्टत्वात् गृहादिवत्"=विलक्षण अवयव-संयोग का नाम "सन्निवेश" है, सन्निवेश, संस्थान यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं सन्निवेश वाले को "सन्निवेशविशिष्ट" कहते हैं, गृहादि कार्य्यों की भांति सन्निवेश विशिष्ट होने से पृथिव्यादि किसी बुद्धिमान् कर्त्ता से जन्य हैं, इस अनुमान में "सन्निवेशविशिष्ट" हेतु भी ईश्वर का साधक है, और जो उक्त पूर्वपक्ष के अनुसार ही "कुमारिलभट्ट" ने ईश्वर का इस प्रकार खण्डन किया है कि:—

सन्निवेशविशिष्टानामुत्पत्तिं यो गृहादिवत् ।
साधयेच्चेतनाधिष्ठां देहानां तस्य चोत्तरम् ॥
कस्यचिद्धेतुमात्रत्वं यद्यधिष्ठातृतेष्यते ।
कर्मभिः सर्वजीवानां तत्सिद्धेः सिद्धसाधनम् ॥
इच्छापूर्वकपक्षेऽपि तत्पूर्वत्वेन कर्मणाम् ।
इच्छानन्तरसिद्धिस्तु दृष्टान्तेऽपि न विद्यते ॥
अनेकान्तश्च हेतुस्ते तच्छरीरादिना भवेत् ।
उत्पत्तिमांश्चतद्देहो देहत्वादस्मदादिवत् ॥

अर्थ—जो ईश्वरवादी सन्निवेशविशिष्ट होने से गृहादिकों की भांति देहादिकों को बुद्धिमान् चेतन कर्त्ता द्वारा उत्पन्न हुआ मानते हैं

वह इसलिये ठीक नहीं कि यदि "चेतनाधिष्ठातृत्व" पद से कारणमात्र अधिष्ठातारूप अभिप्रेत हो तो अदृष्टद्वारा क्षेत्रज्ञ जीव देहों के अधिष्ठाता होने से ईश्वरवादी के मत में " सिद्धसाधन " दोष की आपत्ति होगी, क्योंकि आधुनिक मीमांसक प्रभृति अनीश्वरवादीयों के मत से उक्त बात प्रथम ही सिद्ध है, और यही दोष इच्छापूर्वक चेतन के अधिष्ठातृत्व पक्ष में समान पाया जाता है, यदि इच्छा के अनन्तर ही चेतनाधिष्ठातृत्व=देहादिक चेतन कर्त्ता से उत्पन्न होते हैं, यह माना जाय तो इच्छा की उत्पत्ति के अनन्तर ही गृहादिकों की उत्पत्ति न पाये जाने से दृष्टान्त में साध्यहीनता=साध्याप्रसिद्धि दोष ज्यों का त्यों बना रहता है, क्योंकि " गृहं-कुर्य्याम् "=घर बनाऊं, इस इच्छा के अनन्तर ही गृहोत्पत्ति नहीं पाई जाती, और " कार्य्यत्व " किंवा " सन्निवेशविशिष्टत्व " हेतु भी " जैसा कुलालकर्त्ता है वैसा ही पृथिव्यादिकों का कर्त्ता होना चाहियें, इस प्रकार ईश्वर में सशरीरत्व अशरीरत्वादि धर्मों के विकल्प द्वारा विरोधादि दोष पाये जाने से " ईश्वरवाद के साधक नहीं, जैसाकि पीछे पूर्वपक्ष में स्पष्ट कर आये हैं, एवं कुलाल की भांति ईश्वर को कर्त्ता मानने से साध्यवैकल्यादि दोष भी पूर्ववत जानने चाहियें ? इत्यादि कुमारिलभट्ट के लेखों का उत्तर यह है कि जो अनीश्वरवादी यथा तथा शब्द का प्रयोग करके कुलालादि के समान " शरीरित्व और अल्पज्ञत्वादि " धर्मों की आपत्ति का दोष ईश्वर कर्त्ता में कथन करते हैं अथवा दृष्टान्तहीनता=साध्या-

प्रसिद्धि आदि दोषों का दम भरते हैं यह उनकी भूल है, क्योंकि सिद्धान्त में सन्निवेशमात्र = रचनामात्र कर्त्तृमात्र से व्याप्त है" अथवा यों कहो कि "कार्य्यत्व का कर्त्तामात्र से जन्यत्व होना विवक्षित है, शरीरित्वादि विशिष्ट कर्त्तृजन्यत्व नहीं।

भाव यह है कि जिस प्रकार धूममात्र वन्हिमात्र से व्याप्त है उसमें फूत्कारजन्यत्व, कृशरेखावत्त्व किंवा प्रवल वायुवेग द्वारा इतस्ततः प्रसृत हुई वन्हि से जलते हुए अनेक वनवृक्षादि से उत्पन्न होना आदि विशेषता अपेक्षित नहीं, इसी प्रकार प्रकृत में भी रचना मात्र की कर्त्तृजन्यत्व के साथ व्याप्ति है सर्वत्र कर्त्ता का शरीरी होना आदि अपेक्षित नहीं, यदि महानसीय धूम तथा पर्वतीय धूम के तत्तत् कृष्णधूसरादि विशेष धर्म भी धूम के साथ वन्हिव्याप्ति में अपेक्षित होते अर्थात् तत्तत् विशेषता विना धूम वन्हि का साधक न होता तो कदापि पर्वतीय धूम द्वारा पर्वतीय वन्हि का अनुमान न होता, क्योंकि तादृश धूम की महानसादि में व्याप्ति गृहीत नहीं, और अगृहीतव्याप्तिक=व्याप्तिज्ञानशून्य पुरुष को वन्ह्यनुमिति का होना सर्वथा असम्भव है परन्तु महानसीयत्व तथा फूत्कारजन्यत्वादि अवच्छेदकरूप गुरुधर्मों की अपेक्षा विना भी वन्हि की अनुमिति में धूमलिङ्ग के निराबाध पाये जाने से सिद्ध है कि धूममात्र से वन्हिमात्र की व्याप्ति की भांति रचनामात्र कर्त्तृजन्यत्व से व्याप्त है उसमें सशरीरत्व, अशरीरत्वादि विशेषणों की अपेक्षा नहीं, भेद केवल इतना है कि वन्हि की सिद्धि में धूम "दृष्टलिङ्ग" और ईश्वर

सिद्धि में कार्य्यत्व हेतु "सामान्यतोदृष्टलिङ्ग" है,इस प्रकार यादृक्त्व= जैसे तादृक्त्व = तैसे आदि विशेष धर्म हेतुसाध्य की व्याप्ति में अकिञ्चित्कर होने से कार्य्यत्वादि हेतुओं को "विशेषविरुद्ध" हेत्वाभास कथन करना वादी का भ्रममात्र है, यदि दुर्जनतोषन्याय से मान भी लिया जाय कि साध्यसाधन की व्याप्ति में सभी विशेष धर्म्म अपेक्षित होते हैं क्योंकि हेतु तत्तद्धर्म विशिष्ट ही पाया जाता है तो भी समानन्याय से वादी के मत में ही अनिष्टापत्तिहोगी, क्योंकि वादी भी छेदन क्रिया में कुठारादि साधनों की भांति विषयोपलब्धि में श्रोत्रादि करणों को काठिन्यादि धर्म वाला नहीं मानता अर्थात् जिस प्रकार क्रियामात्र करणमात्र से व्याप्त है, या यों कहो कि जो क्रिया है वह करणजन्य होती है, इस व्याप्ति में करणगत स्थूलता, कठिनता किंवा सूक्ष्मता और कोमलतादि विशेष धर्मों की अपेक्षा नहीं होती वैसे ही " **यत्सन्निवेशविशिष्टं=यत्कार्य्यं तद्बुद्धिमत् कर्त्तृजन्यम्** "=जो सन्निवेशविशिष्ट कार्य्य है वह बुद्धिमान् कर्त्ता से जन्य होता है, इस व्याप्ति में भी शरीरित्वादि विशेषता की अपेक्षा नहीं जिससे उस विशेषता के न पाये जाने के कारण उक्त अनुमान द्वारा जगत्कर्त्ता ईश्वर की सिद्धि में बाधकसम्भावना कीजाय, इस प्रकार यद्रूपावच्छेदेन = जिसरूप से हेतु साध्य का साधक हो तद्रूपावच्छेदेन=उसीरूप से साध्याभावव्याप्त हेतु विरुद्धहेत्वाभास होता है तत्तत् विशेपरूप से नहीं,प्रकृत में "कार्य्यत्व" किंवा "सन्निवेश विशिष्टत्व" हेतु बुद्धिमत्कर्त्तृजन्यत्वरूप साध्य के अभाव से व्याप्त

न होने के कारण "विरुद्ध" हेत्वाभास नहीं होसक्ते, और जो "कुमारिलभट्ट" का यह अभिप्राय है कि शरीरविशिष्ट ईश्वर के कर्त्ता होने में "कार्य्यत्व" किंवा "सन्निवेशविशिष्टत्व" दोनों हेतु अनैकान्तिक=व्यभिचारी हैं क्योंकि शरीरिकर्त्तृपक्ष में ईश्वर का शरीर चेतनान्तर से अधिष्ठित=जन्य नहीं और अशरीरी कर्त्ता के उपलब्ध न होने से कार्य्यत्व तथा कर्त्तृजन्यत्व की व्याप्ति ही नहीं बनसक्ती, इसलिये ईश्वरवादी के मत में पूर्वोक्त दोष तदवस्थ ही बनारहेगा ? इसका उत्तर यह है कि उक्त रीति से शरीरित्वादि गुरुधर्म्म साध्यतावच्छेदक न होने के कारण अनैकान्तिक दोष का उद्भावन करना ही सर्वथा असङ्गत है, यदि दुराग्रहवशात् निरीश्वरवादी का यह कथन मान भी लियाजाय कि "यत्कार्य्यं तच्छरीरिकर्त्तृजन्यं"=जो कार्य्य है वह शरीरी कर्त्ता से जन्य होता है, इस व्याप्ति के अनुसार जगत्कर्त्ता भी शरीरी होना चाहियें, तो प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ईश्वर को पक्ष मानकर "कर्त्तृत्व" हेतु से उसका शरीरी होना सिद्ध किया जाता है (१) वा शरीरी न होने से ईश्वर जगत्कर्त्ता ही नहीं (२) अथवा पृथिव्यादि को पक्ष मानकर कार्य्यत्व हेतु से उसका शरीरी होना सिद्ध है (३) किंवा शरीरा जन्य होने से पृथिव्यादि कार्य्य ही नहीं (४) वा उनमें शरीराजन्यत्व होने से ही अकर्त्तृकत्व=कर्त्ता का अभाव पाया जाता है (५) अथवा सिद्धान्त में व्याप्तिस्तम्भनार्थ विपरीतव्याप्ति का उद्भावनमात्र है (६) यह छः विकल्प हैं, प्रथम तथा द्वितीयपक्ष आश्रया-

सिद्धि, बाध, अपसिद्धान्त और प्रतिज्ञाविरोध पाये जाने से ठीक नहीं अर्थात् प्रथमपक्ष में वादी के मतानुसार अनुमान का आकार यह है कि "ईश्वरः शरीरी कर्त्तृत्वात् कुलालवत्"=कुलाल की भांति कर्त्ता होने से ईश्वर शरीरी है, इस अनुमान में "कर्त्तृत्वात्" हेतु "आश्रयासिद्ध" है, क्योंकि अनीश्वरवादी के मत में पक्षभूत ईश्वर सिद्ध ही नहीं और असिद्ध को पक्ष मानना सर्वथा दार्शनिक शैली से विरुद्ध है किन्तु जिसमें साध्य का सन्देह हो वही पक्ष कहाता है असिद्ध साध्य होता है पक्ष नहीं, और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से शरीररूप साध्याभाव के निश्चय द्वारा उक्त हेतु "बाधित" है, यदि अनीश्वरवादी पक्षभूत ईश्वर में "शरीरत्व" के लोभ से "कर्त्तृत्व" माने तो "अपसिद्धान्त" होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं, एवं "ईश्वरःशरीरी अकर्त्ता वेति"=ईश्वर शरीरी है किंवा ईश्वर अकर्त्ता है, इन प्रतिज्ञा पदों का परस्पर विरोध होने से "प्रतिज्ञाविरोध" भी जानना चाहिये, इसी अभिप्राय से "वर्द्धमानाचार्य्य" ने कथन किया है कि "ईश्वरपदस्या-शरीरकर्तृवाचकत्वम्"="ईश्वर" पद अशरीरी कर्त्ता का वाचक होने से ईश्वर में ईशना=ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति को स्वाभाविक बोधन करता है, और तीसरे पक्ष में "यत्कार्य्यं तच्छरीरिकर्तृजन्यं"=जो कार्य्य है वह शरीरी कर्त्ता से जन्य होता है, यह व्याप्ति निश्चित न होने से वादी के पक्ष की साधक नहीं,

क्योंकि लघुधर्म्म अवच्छेदक = नियामक होने के कारण कार्य्यत्व हेतु की कर्त्ता के साथ व्याप्ति है शरीरी कर्त्ता के साथ नहीं, जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं, इस प्रकार उक्त व्याप्ति के न वन सकने पर भी सिद्धान्त में अनिष्टापत्ति देना वादी का केवल साहसमात्र है अर्थात् प्रत्यक्ष से पृथिव्यादि पक्ष में शरीरी कर्त्ता का बाध पाये जाने के कारण अनीश्वरवादी के सिद्धान्त में "शरीरविशिष्ट कर्त्तृ-जन्यत्वरूप" साध्यसिद्धि के लिये प्रयुक्त "कार्य्यत्व" हेतु "बाधित" हेत्वाभास होने से ईश्वरीय शरीर के साधनार्थ प्रामाणिक नहीं होसक्ता, और चतुर्थ पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि उसमें "बाध" तथा "अनैकान्तिक" हेतुदोष स्फुट पायें जाते हैं अर्थात् "**भूभूधरादिकं कर्त्रजन्यं=अकार्य्यं शरीराजन्यत्वात्**"= शरीरी कर्त्ता से जन्य न होने के कारण पृथिव्यादि कार्य्य नहीं, वादी के इस अनुमान में पृथिव्यादि वस्तुमात्र पक्ष होने से "शरीराजन्यत्व" हेतु का घटादि कार्य्यों में "बाध" तथा सब को पक्ष न मानने से "व्यभिचार" दोष स्पष्ट है, एवं "**पृथिव्यादिकमकर्तृकं शरीराजन्यत्वात्**"=शरीरी कर्त्ता से जन्य न होने के कारण पृथिव्यादिकों का कोई कर्त्ता नहीं, इस पञ्चम पक्ष में "अजन्यत्वमात्र" हेतु वन सकने से शरीररूप विशेषण व्यर्थ होने के कारण उक्त हेतु ठीक नहीं, और छवें पक्ष में "**यत्र शरीराजन्यत्वं तत्र कर्तृजन्यत्वाभावः**"=जो शरीरजन्य नहीं वह कर्त्ता से भी जन्य नहीं होता; इस व्याप्ति द्वारा "**यत्कार्य्यं**

तत्कर्तृजन्यं" सिद्धान्ती की इस व्याप्ति का स्तम्भनमात्र कथन किया है ? इसका उत्तर यह है कि यदि "स्तम्भन" पद से "बाध" अभिप्रेत हो तो ठीक नहीं, क्योंकि "शरीराजन्यत्व" हेतु की पक्षधर्मता=पृथिव्यादिरूप पक्ष में वर्त्तमान होना असिद्ध है, और जिस हेतु की पक्षधर्मता सिद्ध न हो वह दूसरी व्याप्ति का बाधक नहीं होता और नाही धर्म्मी का अज्ञान होने से वह सत्प्रतिपक्ष होसक्ता है।

सार यह निकला कि "यद्विशेषयोः कार्य्यकारणभावस्तत्सामान्ययोरपीति नियमः" = जहां विशेषधर्मविशिष्ट पदार्थों का परस्पर कार्य्यकारणभाव होता है वहां सामान्यधर्मविशिष्ट पदार्थों का भी कार्य्यकारणभाव पाया जाता है, यह नियम है, इस नियम के अनुसार जैसे घटत्वविशिष्ट घटमात्र के प्रति कुलालत्वविशिष्ट कुलाल तथा पटत्वविशिष्ट पटमात्र के प्रति तन्तुवायत्वविशिष्ट तन्तुवाय कारण होने से विशेषरूप द्वारा अनन्तकार्य्यकारणभावों की कल्पना कीजाती है वैसेही लाघव बल से भी कार्य्यत्वविशिष्ट कार्य्यमात्र के प्रति कार्य्योत्पत्ति ज्ञान वाला कर्त्ता निमित्तकारण होता है, इस प्रकार सामान्यरूप से भी कार्य्यकारणभाव की कल्पना में कोई अनुपपत्ति नहीं किन्तु घटादि कार्य्यों की भांति पृथिव्यादि कार्य्य भी बुद्धिमान् चेतन से अधिष्ठित=जन्य हैं, परन्तु अल्पज्ञ, अल्पशक्ति होने से जीव उनके अधिष्ठाता नहीं और

जड़ होने से जीवादृष्टों में अधिष्ठातृत्व की सम्भावना ही नहीं होसक्ती परिशेष से जो उनका अधिष्ठाता सर्वज्ञ चेतन है वही जगत्कर्त्ता "ईश्वर" कहाता है, इस प्रकार सिद्धान्त में अनुकूल तर्क का अभाव न होने से भी ईश्वरसिद्धि निराबाध जाननी चाहिये अर्थात् यदि निरीश्वरवादी आशङ्का करे कि **"भूभूधरादौ कार्य्यत्वं हेतुरस्तु बुद्धिमत्कर्तृजन्यत्वं मास्तु तत्र किं बाधकमिति"** = पृथिव्यादि पक्ष में कार्य्यत्व हेतु होने पर भी "बुद्धिमत्कर्तृजन्यत्व" साध्य न हो इसमें क्या हानि ? इस आशङ्का की निवृत्ति के लिये ईश्वरवादी को व्याघातनामक तर्क का प्रयोग करना चाहिये, जैसा कि जिस प्रकार घट तथा घटप्रागभाव दोनों का सहानवस्थान = एक अधिकरण में विरोध होने से वह समानाधिकरण नहीं पाये जाते इसी प्रकार **"यदि बुद्धिमत्कर्तृजन्यत्वं न स्यात् तर्हि कार्य्यत्वमपि न स्यात्, अस्ति च कार्य्यत्वमतो बुद्धिमत्कर्तृजन्यत्वं निराबाधमेव"** = कार्य्यत्व हेतु तथा "बुद्धिमत्कर्तृजन्यत्व" रूप साध्य का अभाव भी पृथिव्यादिरूप समान अधिकरण में नहीं रहसक्ते अर्थात् पृथिव्यादि बुद्धिमान् कर्त्ता से जन्य न हों तो उनमें कार्य्यत्व भी नहीं होसक्ता परन्तु पूर्वोक्त युक्तिअनुसार कार्य्यत्व में सन्देह न होने से सिद्ध है कि पृथिव्यादि बुद्धिमान् कर्त्ता से जन्य होने के कारण जगत्कर्त्ता ईश्वर की सिद्धि में कोई सन्देह नहीं, और नाही उक्त रीति से साध्यवैकल्यादि

दोषों की आपत्ति होसक्ती है, और जो पूर्वपक्षी ने "कर्त्तृत्व-सामान्य" को साध्य मानने से ईश्वररूपविशेष कर्त्ता की सिद्धि को दुर्घट कथन किया है सो ठीक नहीं क्योंकि आगम प्रमाण से उसकी विशेषता पाई जाती है, जैसाकि "द्यावाभूमीजनयन्देव एकः" यजु० १७। १९ में वर्णन किया है कि द्यौ तथा भूमि आदि लोकों को उत्पन्न करने वाला सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक परमेश्वर एक है, इत्यादि मन्त्रों में जगत्कर्त्तृत्वरूप से ईश्वर का विशेष वर्णन पायेजाने के कारण उसकी विशेषरूपता में कोई बाधा नहीं, और नाही उक्त रीति से अनुमान द्वारा ईश्वरसिद्धि होने के कारण वेदप्रमाण से ईश्वरसिद्धि तथा ईश्वरसिद्धि से वेद की प्रमाणता मानने में अन्योन्याश्रयादि दोषों की सम्भावना होसक्ती है।

कई एक "आचार्य्य" जगत्कर्त्ता की विशेषरूपता में यह अनुमान कथन करते हैं कि "पृथिव्यादि कार्य्यमस्मदादि विलक्षण सर्वज्ञैककर्तृकं अस्मदादिषु बाधकोत्पत्तौ सत्यां कार्य्यत्वात"=अस्मदादि जीवों द्वारा जन्य न होने पर भी कार्य्य होने से पृथिव्यादि जीवविलक्षण सर्वज्ञकर्त्ता से जन्य हैं और जो उनका सर्वज्ञ कर्त्ता है वही ईश्वर पद का वाच्यार्थ है, दूसरे आचार्य्यों का यह कथन हैं कि जिसप्रकार अन्य धूमों से विलक्षण चन्दन धूम द्वारा चन्दन सम्बन्धी वन्हि का अनुमान होता है इसी प्रकार पृथिव्यादि विलक्षण कार्य्य द्वारा विलक्षण कर्त्ता के अनुमान में ईश्वर की सिद्धि पाई जाती है, और जो

" कुमारिलभट्ट " ने बड़ी उद्घोषणा के साथ " अशरीरोह्यधिष्ठाता " इत्यादि वाक्यों से ईश्वर के खण्डन में यह अनुमान किया है कि "ईश्वरो न भूभूधराद्याधिष्ठाता अशरीरित्वात् मुक्तात्मवत् "=मुक्त जीवों के समान अशरीरी होने से ईश्वर पृथिव्यादि का कर्त्ता नहीं ? इसका उत्तर यह है कि उक्त अनुमान " अल्पज्ञत्त्व " " अल्पशक्तिमत्त्व " और " अणुत्व " इन तीन उपाधियों के पाये जाने से सोपाधिक हेत्वाभास होने के कारण प्रकृत साध्य का साधक नहीं होसक्ता अर्थात् " यत्र २ मुक्तात्मसुभूभूधराद्यधिष्ठातृत्वाभावः तत्र २ अल्पज्ञत्व मल्पशक्तिमत्वमणुत्वञ्च "=जहां मुक्तात्मा जीवों में पृथिव्यादि कर्त्तृत्व का अभाव है वहां अल्पज्ञत्व, अल्पशक्तिमत्व, तथा अणुत्व भी पाया जाता है अल्पज्ञत्वादि के विना पृथिव्यादि कर्त्तृत्व का अभाव नहीं रहसक्ता, क्योंकि पृथिव्यादि कर्त्तृत्वाभाव अल्पज्ञत्वादि का सहचारी है, इसप्रकार " अल्पज्ञत्वादि धर्म " प्रकृत अनुमान में उक्त साध्य के " व्यापक " तथा ईश्वर में " अशरीरत्व " होने पर भी अल्पज्ञत्वादि का अभाव पाये जाने से उक्त धर्म " अशरीरत्व " साधन के " अव्यापक " होने के कारण " उपाधिरूप " हैं, अतएव अल्पज्ञत्वादि उपाधिवाला होने से " अशरीरत्वात् " हेतु सोपाधिक हेत्वाभास है, और जो यह कथन किया है कि " देहादयो न चेतनकर्त्तृकाः शरीरकर्त्तृकत्वविरहात् व्योमवत् "=

आकाश की भांति शरीरकर्तृकत्व=शरीरीकर्त्ता का अभाव पाये जाने से देहादि चेतनकर्त्ता से जन्य नहीं अर्थात् यह नियम है कि जो शरीरविशिष्ट कर्त्ता से जन्य नहीं वह चेतनकर्त्ता से भी जन्य नहीं होता, इस नियम के अनुसार जिसप्रकार शरीरकर्तृकत्व का अभाव पायेजाने से आकाश चेतनकर्त्ता से जन्य नहीं इसी प्रकार शरीरी कर्त्ता से जन्य न होने के कारण देहादि चेतन कर्त्ता से अजन्य हैं।

इस अनुमान में प्रष्टव्य यह है कि देहादि पद द्वारा पदार्थमात्र पक्षरूप से विवक्षित है अथवा कोई २ पदार्थ पक्षरूप से विवक्षित नहीं, प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध घटपटादि पदार्थों में चेतनकर्तृकत्वाभावरूप साध्य के न होने से "शरीरकर्तृकत्वाभावरूप" हेतु "वाधित" हेत्वाभास है, दूसरे पक्ष में यह दोष है कि चेतनकर्तृकत्वाभावरूप साध्य के अभाववाले चेतन कर्त्ता से जन्य और पक्षरूप से न माने हुए पृथिव्यादि पदार्थों में शरीरकर्तृकत्व के न पाये जाने से "शरीरकर्तृकत्वाभावात्" हेतु व्यभिचारी है, अतएव उक्त साध्य की सिद्धि में प्रामाणिक नहीं होसक्ता किञ्च वादी के सिद्धान्तानुसार आकाशादि पदार्थों में कर्तृकत्वाभाव की प्रसिद्धि से हेतु में शरीर विशेषण का उपादान निरर्थक है, और निरर्थक विशेषण वाले हेतु को शास्त्र की परिभाषा में "असमर्थविशेषण" हेतु कहते हैं, "तस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः"=ईश्वर से आकाश

उत्पन्न हुआ, इत्यादि प्रमाणों द्वारा आकाशोत्पत्ति पाये जाने के कारण "शरीरकर्तृकत्वाभावरूप" हेतु "साध्याप्रसिद्ध" हेत्वाभास है, क्योंकि आकाश में चेतनकर्तृकत्वाभाव=चेतनकर्त्ता से जन्य न होना अप्रसिद्ध है, और बात यह है कि "देहादयःचेतनकर्त्तृकाःजन्यत्वात् गृहादिवत्"=गृहादिकों की भांति जन्य होने से देहादिक "चेतनकर्तृक"=चेतन कर्त्ता से जन्य हैं, इस प्रतिद्वन्द्वी अनुमान द्वारा उक्त हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास होने से भी चेतनकर्तृकत्वाभावरूप साध्य का साधक नहीं होसक्ता इत्यादि अनेक दोष अनीश्वरवादी के उक्त अनुमान में पाये जाते हैं।

ननु—अशरीरी आत्मा में क्रिया न बन सकने से ईश्वर जगत्कर्त्ता नहीं? उत्तर —"ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नयोगित्वं कर्त्तृत्वं तच्चेश्वरेप्यस्त्येवेतिनानुपपत्तिः"=जो ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न का आधार हो वही कर्त्ता होता है, इस प्रकार ईश्वर में नित्यज्ञानादि पाये जाने से उसके कर्त्तृत्व में कोई बाधा नहीं अर्थात् जिसप्रकार स्वशरीरचालनादि क्रिया में स्वरूप से शरीररहित जीवात्मा में प्रयत्नादिकों के पाये जाने से कर्त्तृत्व निराबाध है वैसे ही शरीररहित ईश्वर के ज्ञानादिपूर्वक कर्त्ता होने में कोई सन्देह नहीं और जो यह कहा गया है कि :—

कुलालवच्च नैतस्य व्यापारो यदिकल्प्यते ।
अचेतनः कथं भावस्तदिच्छामनुरुध्यते ॥

अर्थ—शरीर वाले कुलाल की भांति ईश्वर का व्यापार सिद्ध न होने

से जड़ परमाणु ईश्वरेच्छा के अनुकूल सृष्टि रचना में प्रवृत्त नहीं होसक्ते ? इसका उत्तर यह है कि :—

यथाह्यचेतनः काय आत्मेच्छामनुवर्त्तते ।
तदिच्छामनुवर्त्स्यन्ते तथैवपरमाणवः ॥

जिस प्रकार अचेतन शरीर स्वरूप से अशरीरी जीवात्मा की इच्छा के अधीन होकर तत्तत्कार्य्य में व्यापार वाले होते हैं वैसे ही जड़ परमाणुओं में भी ईश्वरेच्छानुसार क्रिया होती है, इस प्रकार कुलाल की भांति ईश्वरव्यापार में कोई वाधा नहीं और नाही अशरीरी होने से क्रियादि की अनुपपत्ति का दोष आता है जैसाकि ऊपर प्रतिपादन कर आये हैं, इससे सिद्ध है कि नित्यज्ञान, इच्छा और नित्य प्रयत्न आदि गुणों का आधार सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परमेश्वर ही जगत्कर्त्ता है जड़ कर्म नहीं ।

सं०—अव " स्वभावकारणवादी " उक्त अर्थ में आक्षेप करता है :—

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतै-क्ष्ण्यादिदर्शनात् । २२ ।

पद०—अनिमित्ततः । भावोत्पत्तिः । कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ।

पदा०—(कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात्) कण्टकवृत्ति तीक्ष्णता के पाये जाने से (भावोत्पत्तिः) कार्य्य की उत्पत्ति (अनिमित्ततः) स्वाभाविक होती है किसी निमित्त से नहीं ।

भाष्य—जैसे कण्टक=कांटे की तीक्ष्णता तथा मयूरादि पक्षियों की विचित्रता निमित्त के विना स्वभावसिद्ध पाई जाती है वैसे ही सृष्टि में नानाप्रकार की रचना भी आकस्मिक=स्वाभाविक होती है, इस प्रकार कार्य्य की उत्पत्ति के लिये परमाण्वादि उपादान कारण तथा ईश्वररूप निमित्त कारण मानने की कोई अवश्यकता नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में "एकदेशी" दोष कथन करता है :—

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः। २३।

पद०—अनिमित्तनिमित्तत्वात्। न। अनिमित्ततः।

पदा०—(अनिमित्तनिमित्तत्वात्) अनिमित्त निमित्त होने के कारण (अनिमित्ततः) निमित्त के विना कार्य्य की उत्पत्ति कथन करना (न) ठीक नहीं।

भाष्य—कारण का नाम "**निमित्त**" और निमित्ताभाव को "**अनिमित्त**" कहते हैं, जो परमाण्वादि कारणों से सृष्टि की उत्पत्ति का निषेध करते हुए स्वभाववादी ने "अनिमित्त"=निमित्ताभाव से तीक्ष्णतादि कार्य्यों की उत्पत्ति कथन की है वह प्रतिज्ञा विरोध होने से ठीक नहीं, क्योंकि वादी ने कार्य्योत्पत्ति का कारण "निमित्ताभाव" स्वयं माना है, इसप्रकार "प्रतिज्ञाविरोध" नामक निग्रहस्थान पाये जाने से स्वभाववादी का कथन सर्वथा असङ्गत जानना चाहिये।

सं०—अब उक्त आक्षेप का सिद्धान्त की रीति से समाधान करते हैं :—

निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तर-भावादप्रतिषेधः । २४ ।

पद०—निमित्तानिमित्तयोः । अर्थान्तरभावात् । अप्रतिषेधः ।

पदा०—(निमित्तानिमित्तयोः) निमित्त तथा अनिमित्त का (अर्थान्तरभावात्) भेद पाये जाने से (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य—वादी ने जो कण्टकवृत्ति तीक्ष्णता के दृष्टान्त से निमित्त के बिना कार्योत्पत्ति कथन की है वह इसलिये ठीक नहीं कि अनिमित्त=निमित्ताभाव का ज्ञान स्वप्रतियोगी निमित्त के सापेक्ष होने से भावरूपनिमित्त को बोधन करता है अर्थात् यदि निमित्त=भावरूप कारण कोई पदार्थ न होता तो निमित्ताभाव का ज्ञान भी न पाया जाता परन्तु पाया जाता है, इससे स्पष्ट है कि अनिमित्त शब्द का प्रयोग मात्र परमाण्वादि भावरूप कारणों से कार्य्योत्पत्ति का प्रतिषेधक नहीं, और नाही अभाव से भावरूप कार्य्य की उत्पत्ति में कोई प्रमाण मिलता है जैसाकि पीछे उपादानकारणवाद में निरूपण कर आये हैं, और दूसरी बात यह है कि उपादान कारण से कार्य्यमात्र की उत्पत्ति में जीवों के अदृष्ट सहकारी कारण होने से कण्टकवृत्ति तीक्ष्णतादि भी निमित्त के बिना नहीं किन्तु सनिमित्त हैं अर्थात् जिन जीवों को कण्टकादि की तीक्ष्णता से सुख दुःख होना है उन्हीं के अदृष्टाधीन होकर उनकी उत्पत्ति होती है, अन्यथा

नहीं, इसलिये प्रमाणशून्य होने से कार्य्योत्पत्ति को स्वाभाविक कथन करना वादी का साहसमात्र है।

सं०—अब "सर्वानित्यत्ववादी" स्वमत कथन करता है :—

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् । २५ ।

पद०—सर्वं । अनित्यं । उत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ।

पदा०—(उत्पत्तिविनाशधर्म्मकत्वात्) उत्पत्ति तथा विनाश धर्म वाला होने से (सर्वम्) पदार्थमात्र अनित्य है ।

भाष्य—पदार्थमात्र को अनित्य मानने वाले का नाम "सर्वानित्यत्ववादी" है, "यस्य कदाचिद्भावस्तदनित्यम्"=जो वस्तु कभी हो और कभी न हो वह "अनित्य" होती है, उत्पत्ति तथा विनाश की उपलब्धि पाये जाने के कारण शरीरादि भौतिक तथा बुद्ध्यादि अभौतिक सब पदार्थ अनित्य हैं नित्य नहीं, इसलिये आत्मादि को नित्य मानना ठीक नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में दोष कथन करते हैं :—

नानित्यतानित्यत्वात् । २६ ।

पद०—न । अनित्यता । नित्यत्वात् ।

पदा०—(नित्यत्वात्) नित्य होने से (अनित्यता) अनित्यता=सब को अनित्य कथन करना (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—सर्वानित्यत्ववादी से प्रष्टव्य यह है कि पदार्थमात्र की अनित्यता नित्य है किंवा अनित्य है? यदि वादी प्रथम पक्ष माने

तो प्रतिज्ञा हेतु का विरोध होने से सब को अनित्य कथन करना ठीक नहीं, और दूसरा पक्ष मानने से पदार्थमात्र में नित्यता की आपत्ति होगी, इसलिये आत्मादि पदार्थों को नित्य तथा बुद्धि आदि को अनित्य मानना ही समीचीन है ।

सं०—अब पूर्वपक्षी उक्त अर्थ में आक्षेप करता है:—

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ॥ २७ ॥

पद०—तदनित्यत्वम् । अग्नेः । दाह्यम् । विनाश्य।अनुविनाशवत् ।

पदा०—(दाह्यं) काष्ठादि दाह्य पदार्थों का (विनाश्य) विनाश करके (अग्नेः) अग्नि के (अनुविनाशवत्) पश्चात् नाश की भांति (तदनित्यम्) पदार्थों की अनित्यता भी अनित्य है ।

भाष्य—जैसे काष्ठादि दाह्य पदार्थ को जलाकर पीछे अग्नि स्वयं नष्ट होजाती है वैसेही पदार्थों की अनित्यता भी अनित्य है नित्य नहीं, इसलिये सर्वानित्यत्ववाद में कोई दोष नहीं ।

सं०—अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं:—

नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात् ॥ २८ ॥

पद०—नित्यस्य । अप्रत्याख्यानम् । यथोपलब्धिव्यवस्थानात् ।

पदा०—(यथोपलब्धिव्यवस्थानात्) प्रमाण द्वारा यथायोग्य

उपलब्धि पाये जाने से (नित्यस्य) नित्यता का (अप्रत्याख्यानं) प्रतिषेध नहीं होसक्ता ।

भाष्य–जिस पदार्थ का उत्पत्ति विनाश प्रमाणसिद्ध है वह " अनित्य " और जिसका उत्पत्तिविनाश प्रमाण सिद्ध नहीं उसको " नित्य " मानना ही ठीक है ।

तात्पर्य्य यह है कि प्रमाण द्वारा आत्मादि पदार्थों में नित्यता पाये जाने से पदार्थमात्र को अनित्य कथन करना भ्रान्तिमूलक होने से आदरणीय नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ में "सर्वनित्यत्ववादी" आक्षेप करता है:–

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥ २९ ॥

पद०–सर्वं । नित्यं । पञ्चभूतनित्यत्वात् ।

पदा०–(पञ्चभूतनित्यत्वात्) पांचों भूतों के नित्य होने से (सर्वं) पदार्थमात्र (नित्यम्) नित्य है ।

सं०–अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं:–

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ ३० ॥

पद०–न । उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ।

पदा०–(उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः) उत्पत्ति तथा विनाश कारण के पाये जाने से पदार्थमात्र को नित्य कथन करना (न) ठीक नहीं ।

सं०–अब वादी उक्त अर्थ में पुनः आक्षेप करता है:–

तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ॥ ३१ ॥

पद०-तल्लक्षणावरोधात्। अप्रतिषेधः।

पदा०-(तल्लक्षणावरोधात्) पदार्थमात्र में पांचों भूतों का लक्षण पाये जाने से (अप्रतिषेधः) नित्यता का प्रतिषेध नहीं होसक्ता।

सं०-अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं:-

नोत्पत्तिकारणोपलब्धेः ॥ ३२ ॥

पद०-न। उत्पत्तिकारणोपलब्धेः।

पदा०-(उत्पत्तिकारणोपलब्धेः) प्रमाण द्वारा उत्पत्ति कारण के उपलब्ध होने से घटपटादि पदार्थों को नित्य मानना (न) ठीक नहीं।

सं०-ननु, पदार्थों का उत्पत्तिविनाश रज्जुसर्प की भांति मिथ्या ही क्यों न मानाजाय? उत्तर:-

न व्यवस्थानुपपत्तेः ॥ ३३ ॥

पद०-न। व्यवस्थानुपपत्तेः।

पदा०-(व्यवस्थानुपपत्तेः) व्यवस्था न बन सकने से (न) उत्पत्तिविनाश को मिथ्या मानना ठीक नहीं।

भाष्य-पदार्थमात्र को रज्जुसर्प की भांति मिथ्या मानना इसलिये ठीक नहीं कि यथार्थ, अयथार्थ भेद से ज्ञान की व्यवस्था=नियम पायाजाता है, यदि पदार्थमात्र मिथ्या होता तो उक्त व्यवस्था न बन सकने से अर्थक्रियाकारिता=व्यवहारसिद्धि न होती परन्तु होती है, इससे सिद्ध है कि पदार्थों का उत्पत्ति विनाश यथार्थ है मिथ्या नहीं, दूसरी बात यह है कि मिथ्या प्रतीति सत्यज्ञान के

अधीन होती है, यदि सत्यज्ञान न हो तो संस्कारों के न बन सकने से अन्यवस्तु में अन्य प्रतीतिरूप मिथ्याज्ञान नहीं होसक्ता, इसलिये पदार्थों का उत्पत्तिविनाश मिथ्या मानना ठीक नहीं ।

सं०-अब "सर्वपृथक्त्ववादी" पूर्वपक्ष करता है:-

सर्वं पृथग्भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥ ३४ ॥

पद०-सर्वं । पृथक् । भावलक्षणपृथक्त्वात् ।

पदा०-(भावलक्षणपृथक्त्वात्) अर्थवाचक शब्द समुदायार्थ के प्रतिपादक होने से (सर्वं) पदार्थमात्र (पृथक्) भिन्न २ हैं ।

भाष्य-सब पदार्थों को समुदायरूप मानने वाले वादी का नाम "**सर्वपृथक्त्ववादी**" और समाख्या = अन्वर्थवाची शब्दों को "**लक्षण**" कहते हैं, कम्बुग्रीवादि व्यक्ति वाले पदार्थों के लक्षण= घटपटादि वाचक शब्द समुदायार्थ के प्रतिपादक होने से पदार्थमात्र एकत्व संख्या वाला नहीं किन्तु नाना हैं अर्थात् "**घटादिः पदार्थः समूहरूपः वाच्यत्वात् सेनावनादिवत्**" =सेना, वन की भांति वाच्यरूप होने से घट पटादि पदार्थ समूहरूप हैं एक नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि गन्ध, रूप, रस, स्पर्शादि का समुदायरूप घट है समुदाय से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, इसलिये "अयंघटः" इत्यादि एकत्वबुद्धि भ्रान्तिरूप जाननी चाहिये ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ॥ ३५ ॥

पद०—न । अनेकलक्षणैः । एकभावनिष्पत्तेः ।

पदा०—(अनेकलक्षणैः) अनेक कारणों द्वारा (एकभावनिष्पत्तेः) एक पदार्थ की उत्पत्ति होने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—अनेक गन्धरूपरसादिविशिष्ट नाना अवयवों द्वारा घट पटादि एक अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति पाये जाने से सिद्ध है कि सब पदार्थ समुदायरूप नहीं किन्तु समुदाय से अतिरिक्त पदार्थ हैं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

लक्षणव्यवस्थानादेवाप्रतिषेधः । ३६ ।

पद०—लक्षणव्यवस्थानात् । एव । अप्रतिषेधः ।

पदा०—(लक्षणव्यवस्थानात्) लक्षण=कारण की व्यवस्था पाये जाने से (एव) ही (अप्रतिषेधः) समुदायभिन्न कार्य पदार्थ का प्रतिषेध नहीं होसक्ता ।

भाष्य—"कपाले घटः"=कपाल में घट है, इत्यादि प्रतीति द्वारा कपालों में समवायसम्बन्ध से विद्यमान घटात्मक द्रव्य समुदायरूप से भिन्न एकत्व प्रतीति का विषय है समुदायात्मक प्रतीति का नहीं, यदि घट समुदायरूप होता तो उक्त प्रतीति न पाईजाती परन्तु घट विषयक एकत्व प्रतीति पायेजाने से स्पष्ट है कि पदार्थ मात्र समुदायरूप नहीं ।

सं०—अब "सर्वशून्यवादी" पूर्वपक्ष करता है:—

सर्वमभावोभावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ।३७।

पद०—सर्वम् । अभावः । भावेषु । इतरेतराभावसिद्धेः ।

पदा०—(भावेषु) पदार्थों में (इतरेतराभावसिद्धेः) अन्योन्या-

भाव पाये जाने से (सर्व) सब पदार्थ (अभावः) अभावरूप हैं।

भाष्य-"घटः पटो न"=घट पट नहीं "पटो घटो न"= पट घट नहीं, इस प्रकार पदार्थों में परस्पर अभाव प्रतीति पाये जाने से सिद्ध है कि सब पदार्थ स्वरूप से अभाव=तुच्छ हैं, प्रकृत में अभाव, शून्य तथा तुच्छ यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

न स्वभावसिद्धेर्भावानाम्। ३८।

पद०-न। स्वभावसिद्धेः। भावानाम्।

पदा०-(भावानाम्) पदार्थों का (स्वभावसिद्धेः) स्वभाव पाये जाने के कारण उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य- "स्वोऽसाधारणोभावोगुणादिविशिष्टत्वमितिस्वभावस्तस्यासिद्धिः प्रमाणविषयत्वामित्यर्थः"= गुण क्रियाआदि से विशिष्ट का नाम "स्वभाव" है, पृथिव्यादि पदार्थों में स्वभाव=गन्धादि गुण तथा पृथिवीत्वादि सत्ता की व्याप्य जातियों के प्रत्यक्षसिद्ध होने से पदार्थ मात्र को अभाव रूप कथन करना ठीक नहीं, यदि सब पदार्थ अभावरूप होते तो उनमें "घटोऽस्ति"=घट है "पटोऽस्ति" = पट है, इस प्रकार की भावात्मक प्रतीति न पाई जाती और नाही तुच्छ होने से शशशृङ्ग तथा वन्ध्यासुतादि की भांति उनका परस्पर कार्य्यकारणभाव प्रमाणसिद्ध होता परन्तु उक्त रीति से भावात्मक प्रतीति पाये जाने और पदार्थों का परस्पर कार्य्यकारणभाव प्रमाण

सिद्ध होने के कारण पदार्थमात्र को अभावरूप कथन करना भ्रान्ति-मूलक होने से आदरणीय नहीं ।

सं०—अब पूर्वपक्षी उक्त अर्थ में पुनः आक्षेप करता है:—

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् । ३९ ।

पद०—न । स्वभावसिद्धिः । आपेक्षिकत्वात् ।

पदा०—(स्वभावसिद्धिः) स्वभावसिद्धि (आपेक्षिकत्वात्) आपेक्षिक होने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—परस्पर अपेक्षासिद्ध का नाम " आपेक्षिक " है, " एतन्नीलमिदञ्चततोप्यधिकतरं रक्तमिति "= यह वस्त्र नीला और यह उसकी अपेक्षा अधिक रक्तवर्ण वाला है, इस प्रकार पदार्थों की स्वभावसिद्धि=गुणादि वाला होना आपेक्षिक है वस्तुः नहीं, इसलिये पदार्थों को भावरूप कथन करना ठीक नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

व्याहतत्वादयुक्तम् । ४० ।

पद०—व्याहतत्वात् । अयुक्तम् ।

पदा०—(व्याहतत्वात्) असिद्ध होने से (अयुक्तम्) उक्त कथन ठीक नहीं ।

भाष्य – " सापेक्षत्वस्य तुच्छत्वव्यासेर्व्याहतत्वादसिद्धत्वादित्यर्थः "=अन्य पदार्थों की अपेक्षा द्वारा सिद्ध मानकर पदार्थों को अभावरूप कथन करना इसलिये ठीक नहीं कि

घट पटादि पदार्थों के परस्पर सापेक्ष होने में कोई प्रमाण नहीं पायाजाता प्रत्युत उक्त रीति से उनका भावरूप होना ही प्रमाण सिद्ध है ।

सं०—अब "सङ्ख्यैकान्तवाद" का खण्डन करते हैं:—

सङ्ख्यैकान्तासिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् । ४१ ।

पद०—सङ्ख्यैकान्तासिद्धिः । कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ।

पदा०—(कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्) कारण=प्रमाण की अनुपपत्ति तथा उपपत्ति पाये जाने से (सङ्ख्यैकान्तासिद्धिः) सङ्ख्यैकान्तवाद की सिद्धि नहीं होसक्ती ।

भाष्य—कोई संख्या नियत कर मानने का नाम "संख्यैकान्तवाद" सिद्धि का नाम "उपपत्ति" और असिद्धि को "अनुपपत्ति" कहते हैं, प्रमाण की उपपत्ति तथा अनुपपत्ति से "संख्यैकान्तवाद" की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि उक्त वाद में पक्षासिद्धि आदि अनेक दोष पाये जाते हैं अर्थात् जो कई एक वादी "घटः सन्"=घट है, "पटः सन्"=पट है, इस प्रकार पदार्थों में अस्तित्व प्रतीति मानकर पदार्थमात्र को सद्रूप से एक मानते हैं अथवा नित्यानित्य भेद मानकर पदार्थों में केवल द्वित्व संख्या कथन करते हैं वह इसलिये ठीक नहीं कि उक्त अर्थ में कोई प्रमाण नहीं पाया जाता, यदि "संख्यैकान्तवाद" की

सिद्धि के लिये प्रमाण मानाजाय तो भी वादी की इष्टसिद्धि नहीं होती क्योंकि प्रमाण मानने से प्रतिज्ञात संख्या से अधिक संख्यासिद्ध होने के कारण किसी एक संख्या का नियम नहीं रहता।

वृत्तिकार "विश्वनाथ" का कथन है कि यह प्रकरण अद्वैतवाद के खण्डनार्थ आया है अर्थात् जो अद्वैतवादी ब्रह्म को ही एक पदार्थ मानते हैं वह प्रमाणशून्य होने से आदरणीय नहीं, यदि अद्वैतवादी ब्रह्मवाद=अद्वैतब्रह्म के साधनार्थ प्रमाण मानें तो प्रमाण ब्रह्मरूप प्रमेय से भिन्न होने के कारण एक पदार्थ=अद्वैतवाद सिद्ध नहीं होसक्ता, इसलिये प्रमाण प्रमेयरूप व्यवहार पाये जाने के कारण पदार्थ नाना हैं एक नहीं।

सं०—अब वादी उक्त अर्थ में आक्षेप करता है:—

न कारणावयवभावात्। ४२।

पद०—न। कारणावयवभावात्।

पदा०—(कारणावयवभावात्) साधन साध्य का अवयव होने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य—"सर्वमेकं सदविशेषात्"=सद्रूप होने से पदार्थ मात्र एक है, इत्यादि "संख्यैकान्तवाद" में प्रमाणभूत साधन=हेतु भी "सर्वमेकं" इत्यादि प्रतिज्ञा वाक्य का अवयव है, इस प्रकार साधन साध्य से अतिरिक्त न होने के कारण उक्त वाद में प्रमाणाभाव का दोष नहीं आता।

सं०—अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं:—

निरवयवत्वादहेतुः । ४३ ।

पद०—निरवयवत्वात् । अहेतुः ।

पदा०—(निरवयवत्वात्) पक्षरूप होने से (अहेतुः) उक्त हेतु ठीक नहीं ।

भाष्य—उक्त हेतु को प्रतिज्ञावाक्य का अवयव मानकर "संख्यैकान्तवाद" की सिद्धि कथन करना इसलिये ठीक नहीं कि प्रतिज्ञावाक्य का कोई एकदेश हेतु नहीं होता अर्थात् हेतु तथा प्रतिज्ञावाक्य भिन्न २ होने पर ही साध्य की सिद्धि होती है अन्यथा नहीं परन्तु संख्यैकान्तवाद में उक्त नियम न होने के कारण पदार्थों की एकही नियत संख्या मानना सर्वथा असङ्गत है, यही रीति "सर्वं त्रिधा"=सब तीन प्रकार के हैं किंवा "सर्वंचतुर्धा"= पदार्थमात्र की चारसंख्या ही नियत है, इत्यादि संख्यैकान्तवादों के खण्डनार्थ जाननी चाहिये, यहां केवल ग्रन्थगौरवभय से दिक्-प्रदर्शन किया है ।

सं०—अब अवसरसङ्गति से "फल" रूप प्रमेय की परीक्षा का आरम्भ करते हुए प्रथम उसमें संशय कथन करते हैं:—

सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः । ४४ ।

पद०—सद्यः । कालान्तरे । च । फलनिष्पत्तेः । संशयः ।

पदा०-(सद्यः) शीघ्र (च) और (कालान्तरे) कालान्तर में (फलनिष्पत्तेः) फलसिद्धि के पाये जाने से (संशयः) यह संशय होता है कि शुभाशुभ क्रिया का फल तात्कालिक है किंवा कालान्तर-भावी है ।

भाष्य-पाकादि क्रिया का फल तात्कालिक तथा कृषि आदि क्रिया का फल कालान्तरभावी देखे जाने के कारण उपलब्धि की अव्यवस्था से यह संशय होता है कि जीवहिंसादि अशुभ कर्मों का और यज्ञादि शुभकर्मों का फल तत्काल ही होता है किंवा कालान्तर में होता है ।

सं०-अब उक्त अर्थ में सिद्धान्त कथन करते हैं:—

न सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात् । ४५ ।

पद०-न । सद्यः । कालान्तरोपभोग्यत्वात् ।

पदा०-(कालान्तरोपभोग्यत्वात्)कालान्तर में भोग्य होने से यज्ञादि क्रियाओं का फल (सद्यः) तात्कालिक (न) नहीं होता ।

भाष्य-"**तद्य इह कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन् अथ ह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमिति**"=निषिद्ध आचरण वाले पुरुष कूकर सूकरादि योनियों को और वेदविहित यज्ञादि कर्म करने वाले ऋषि, देवता तथा मनुष्यादि उत्तम योनियों को प्राप्त होते हैं, इत्यादि वाक्यों से पाया जाता है कि शुभाशुभ क्रियायों का फल तात्कालिक ही नहीं होता किन्तु तत्तत् क्रिया द्वारा उत्पन्न हुए अदृष्ट से कालान्तर में फलप्राप्ति होती है ।

स्मरण रहे कि यद्यपि पुण्यपाप करने वाले पुरुषों को इस लोक में भी तात्कालिक ही यश अपयश आदि फलों की प्राप्ति देखी जाती है परन्तु वह गौण है मुख्य नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:—

कालान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतुविनाशात्। ४६।

पद०—कालान्तरेण। अनिष्पत्तिः। हेतुविनाशात्।

पदा०—(हेतुविनाशात्) हेतुभूत कर्म का नाश होजाने से (कालान्तरेण) कालान्तर में (अनिष्पत्तिः) फल की सिद्धि नहीं होसक्ती।

भाष्य—कार्य्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में विद्यमान होने पर ही कारण द्वारा कार्य्य की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं,इस नियम के अनुसार अनुष्ठान के अनन्तर यज्ञादि क्रियाओं के नष्ट होजाने से कालान्तर में फलप्राप्ति कथन करना सर्वथा असङ्गत है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

प्राङ्निष्पत्तेर्वृक्षफलवत्तत्स्यात्। ४७।

पद०—प्राक्। निष्पत्तेः। वृक्षफलवत्। तत्। स्यात्।

पदा०—(वृक्षफलवत्) वृक्ष के फल की भांति (निष्पत्तेः) स्वर्गादि फल भी (तत्, स्यात्) मिलते हैं।

भाष्य-जिसप्रकार वृक्षमूल में जल सेचनादिक्रिया के उत्तर काल में तत्तत् क्रिया नष्ट होने पर भी पत्र पुष्पादि अवयवों के उपचयद्वारा कालान्तर में फल की उत्पत्ति देखी जाती है इसी प्रकार यागादि तत्तत् क्रियाओं के नष्ट होने पर भी क्रिया से उत्पन्न हुए अदृष्ट द्वारा स्वर्ग=सुखविशेषादि फलों की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं, इस प्रकार नष्ट कारण द्वारा कार्य्योत्पत्ति तथा कारण के विना ही कार्य्य की उत्पत्ति का दोष न होने से यज्ञादि क्रिया तथा स्वर्गादि फलों के परस्पर कार्य्यकारणभाव में कोई अनुपपत्ति नहीं।

सं०-अब पूर्वपक्षी "कार्य्यकारणभाव" में दोष कथन करता है:—

नासन्नसन्नसदसत्सदसतोर्वैधर्म्यात्। ४८।

पद०-न। असत्। न। सत्। न। सदसत्। सदसतोः। वैधर्म्यात्।

पदा०-(सदसतोः) सत् और असत् का (वैधर्म्यात्) वैधर्म्य पाये जाने के कारण उत्पत्ति से पूर्व कार्य्य (न, असत्) असत् नहीं (न, सत्) सत् नहीं (न, सदसत्) सदसत्=भावाभावरूप भी नहीं होसक्ता।

भाष्य-भाव का नाम "सत्" तथा अभाव का नाम "असत्" है, पूर्व जो यज्ञादि क्रिया और स्वर्गादि फल का परस्पर कार्य्य-कारणभाव कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि प्रथम तो कार्य्यकारणभाव ही नहीं बनसक्ता अर्थात् यदि उत्पत्ति से पूर्व

कार्य्य को सत्=वर्त्तमान मानाजाय तो उसकी उत्पत्ति के लिये कारक व्यापार व्यर्थ होजायगा, क्योंकि असिद्ध कार्य्य के लिये कर्त्ता आदि कारकों का व्यापार देखा जाता है वर्त्तमान कार्य्य के लिये नहीं, और उत्पत्ति से पूर्व कार्य्य को असत् मानना इसलिये ठीक नहीं कि असत्=तुच्छ पदार्थ की उत्पत्ति के लिये कारक व्यापार नहीं होता जैसाकि शशशृङ्ग तथा कूर्म रोमों में प्रसिद्ध है अर्थात् सहस्रवार अनेक व्यापारों के होने पर भी शश से शृङ्ग और कूर्म=कच्छप से रोमों की उत्पत्ति नहीं होती, यदि कारक व्यापार से असत्पदार्थ की उत्पत्ति होती तो तिलों की भांति तैलार्थी पुरुष की सिकता=बालु के ग्रहण करने में भी प्रवृत्ति पाई जाती परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य्य "असत्" नहीं और परस्पर विरोधी होने से एक ही कार्य्य को "सदसत्" मानना भी युक्ति सिद्ध नहीं, इस प्रकार कार्य्यकारणभाव का निर्वचन न होसकने से यज्ञादि क्रियाओं का कालान्तरभावी स्वर्गादि फलों के साथ कार्य्यकारणभाव कथन करना सर्वथा असङ्गत है ।

सं०-अब उक्त दोष का समाधान करते हैं:—

उत्पादव्ययदर्शनात् । ४९ ।

पद०-एकपद० ।

पदा०-(उत्पादव्ययदर्शनात्) उत्पत्ति तथा विनाश पाये जाने से कार्य्यकारणभाव का अभाव नहीं ।

भाष्य—आविर्भाव का नाम "उत्पाद" तथा तिरोभाव को "व्यय" कहते हैं, आविर्भाव, उत्पत्ति, उत्पाद यह तीनों तथा तिरोभाव, नाश और व्यय यह तीनों एकार्थवाची शब्द हैं, तत्तत् कारण द्वारा पदार्थों की उत्पत्ति तथा विनाश पाये जाने से स्पष्ट है कि उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में सूक्ष्मरूप से विद्यमान होने के कारण कारक व्यापार से केवल कार्य्य का आविर्भाव होता है वस्तुतः वह शशशृङ्गादि की भांति तुच्छ नहीं और नाही उत्पत्ति से पूर्व स्थूलरूप से विद्यमान है, इस प्रकार सत्कार्य्यवाद में कार्य्यकारणभाव की अनुपपत्ति का उद्भावन करना ठीक नहीं।

सं०—अब सद्रूपकार्य्य में "असत्" व्यवहार की उपपत्ति कथन करते हैं:—

बुद्धिसिद्धन्तु तदसत् । ५० ।

पद०—बुद्धिसिद्धं । तु । तत् । असत् ।

पदा०—(तु) और (तत्) सद्रूपकार्य्य (बुद्धिसिद्धम्) भविष्यबुद्धि का विषय होने के कारण (असत्) उत्पत्ति से पूर्व असत् कहाता है।

भाष्य—"इह घटो भविष्यति"=कपालों में घट का आविर्भाव होगा वा "इह पटोभविष्यति"=तन्तुओं में पट की उत्पत्ति होगी, इस प्रकार भविष्यबुद्धि का विषय होने से सद्रूप कार्य्य में असत् व्यवहार की उपपत्ति होती है वस्तुतः शशशृङ्गादि की भांति कार्य्य स्वरूप से "असत्" नहीं, वैदिकसिद्धान्त के अनुसार

सत्कार्य्यवाद तथा असत्कार्य्यवाद की परिभाषा को विस्तार पूर्वक "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में निरूपण किया है, इसलिये यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं ।

सं०—अब पूर्वपक्षी उक्त अर्थ में फिर आक्षेप करता है :-

आश्रयव्यतिरेकाद्वृक्षफलोत्पत्तिव-दित्यहेतुः ॥ ५१ ॥

पद०—आश्रयव्यतिरेकात् । वृक्षफलोत्पत्तिवत् । इति । अहेतुः ।

पदा०—(आश्रयव्यतिरेकात्) क्रियाश्रय शरीर का नाश होजाने के कारण (वृक्षफलोत्पत्तिवत्, इति) वृक्ष से फलोत्पत्ति का दृष्टान्त कथन करना (अहेतुः) ठीक नहीं ।

भाष्य—क्रियाश्रय शरीर के नष्ट होजाने से वृक्ष का दृष्टान्त सिद्धान्त का साधक नहीं अर्थात् कार्य्यकारणभाव के सिद्ध होने पर भी वृक्ष से फलोत्पत्ति का दृष्टान्त यज्ञादि कर्म द्वारा कालान्तरीय फलसिद्धि में सङ्गत नहीं होता, क्योंकि जिस वृक्ष के मूल में जल सेचनादि क्रिया कीजाती है उसी में रसादि परिणाम द्वारा फलादि की उत्पत्ति देखी जाती है अन्यत्र नहीं परन्तु यज्ञादि क्रिया वर्त्तमान शरीर से और स्वर्गादि फल दूसरे शरीर में होते हैं इस प्रकार क्रिया फल का व्यधिकरण होने के कारण वृक्ष से फलोत्पत्ति का दृष्टान्त सर्वथा असङ्गत है ।

सं०—अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं :—

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ॥ ५२ ॥

पद०—प्रीतेः । आत्माश्रयत्वात् । अप्रतिषेधः ।

पदा०—(प्रीतेः) फल (आत्माश्रयत्वात्) आत्माश्रित होने से (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य—प्रीति=शरीरावच्छेद से उत्पन्न होने वाला स्वर्गात्मक सुखविशेष आत्मसमवेत होने के कारण "आश्रयव्यतिरेकात्" हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है अर्थात् यज्ञादि कर्म करने वाले जीवात्मा में समवायसम्बन्ध से रहने वाला यागादिक्रियाजन्य अदृष्ट ही कालान्तर में अन्य शरीर द्वारा जीवात्मा के स्वर्गादि भोग का हेतु होता है, इस प्रकार पूर्वशरीर के नष्ट होने पर भी फल और क्रिया का सामानाधिकरण्य है वैयधिकरण्य नहीं, समानअधिकरण में होने का नाम "**सामानाधिकरण्य**" तथा भिन्न २ अधिकरण में होने का नाम "**वैयधिकरण्य**" है ।

सं०—अब वादी उक्त अर्थ में दोष कथन करता है :—

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादि-फलनिर्देशात् ॥ ५३ ॥

पद०—न । पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् ।

पदा०—(पुत्रपशु०) पुत्र, पशु, स्त्री, परिच्छद, हिरण्य और अन्नादि फल पाये जाने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—यज्ञादि शुभाशुभ कर्मों के पुत्रादि फल भी माने गये हैं

परन्तु वह आत्माश्रित नहीं होते, क्योंकि वह आत्मरूप अधिकरण से भिन्न अधिकरण में उपलब्ध होते हैं, इसलिये आत्मसमवेत अदृष्ट का फल के साथ समानाधिकरण न होने से उनका परस्पर कार्य्य-कारणभाव मानना सर्वथा असङ्गत है।

सं०—अब उक्त दोष का परिहार करते हैं:—

तत्सम्बन्धात्फलनिष्पत्तेस्तेषु फल-वदुपचारः ॥ ५४ ॥

पद०—तत्सम्बन्धात्। फलनिष्पत्तेः। तेषु। फलवत्। उपचारः।

पदा०—(तत्सम्बन्धात्) पुत्रादि के सम्बन्ध से (फलनिष्पत्तेः) सुखादि फल पाये जाने के कारण (तेषु) उनमें (फलवत्, उपचारः) फल का व्यवहार औपचारिक है।

भाष्य—जिस प्रकार "घृतमायुर्मनुष्याणां"=घृत मनुष्यों का आयु है, इस वाक्य में जीवनहेतुक घृत में आयुः शब्द का प्रयोग औपचारिक=गौण है इसी प्रकार सुख दुःखादि फल के साधनभूत पुत्रादिकों में "फल" शब्द का प्रयोग भी उपचार सिद्ध है इसलिये सुखदुःखात्मक फल आत्माश्रित होने के कारण व्यधिकरण दोष की आपत्ति नहीं होसक्ती।

सं०—अब क्रमप्राप्त "दुःख" प्रमेय की परीक्षा करते हैं:—

विविधबाधनायोगाद्दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः ॥ ५५ ॥

पद०–विविधबाधनायोगात् । दुःखम् । एव । जन्मोत्पत्तिः ।

पदा०–(विविधबाधनायोगात्) अनेक विध पीड़ा सम्बन्ध पाये जाने से (जन्मोत्पत्तिः) शरीरादि की संघात उत्पत्ति (दुःखं) दुःख (एव) ही है ।

भाष्य–शरीर सब दुःखोपभोग का कारण होने से उसमें दुःख पद का व्यवहार होता है अर्थात् जो "बाधनालक्षणं दुःखं" न्या० १।१।१२में पीड़ाको दुःख का लक्षण मानकर"दुःखत्वजातिमत्त्वं दुःखं"=दुःखत्व जाति वाले का नाम "दुःख" है, यह दुःख का निष्कृष्ट लक्षण किया है सो ठीक नहीं, क्योंकि शरीरादिकों में दुःखत्व जाति नहीं पाई जाती, इस अव्याप्ति की निवृत्ति के लिये सब दुःखों के कारणभूत शरीर में "दुःख" पद का व्यवहार औपचारिक जानना चाहिये ।

तात्पर्य्य यह है कि दुःखानुषङ्गी होने से शरीर में हेयभावना के बोधनार्थ दुःख का उपदेश किया है वस्तुतः शरीर दुःख का साधन है दुःखरूप नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :—

न सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः ॥ ५६ ॥

पद०–न । सुखस्य । अन्तरालनिष्पत्तेः ।

पदा०–(सुखस्य, अन्तरालनिष्पत्तेः) दुःखों के मध्य सुखोत्पत्ति पाये जाने से शरीर को केवल दुःखरूप मानना (न) ठीक नहीं ।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं:—

बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयतः पर्य्येषणदोषाद-प्रतिषेधः ॥ ५७ ॥

पद०-बाधनानिवृत्तेः। वेदयतः। पर्य्येषणदोषात्। अप्रतिषेधः।

पदा०-(वेदयतः) सुखसाधन जानकर प्रवृत्त होने वाले पुरुष में (पर्य्येषणदोषात्) पर्य्येषणदोष पाये जाने के कारण (बाधना-निवृत्तेः) पीड़ा के निवृत्त न होने से (अप्रतिषेधः) शरीरादि में दुःखभावना का प्रतिषेध नहीं होसक्ता।

भाष्य-सुख के लिये होने वाली प्रवृत्ति में वर्त्तमान अनेकविध क्लेशों का नाम "पर्य्येषणदोष" है, सुखसाधनों को जानकर सुख प्राप्त्यर्थ प्रयत्न करने वाले पुरुष को मध्य में अनेक प्रकार के आयासों द्वारा नानाविध दुःखों की प्राप्ति देखी जाती है अर्थात् ऐसा कोई सुख नहीं जिसके प्राप्त करने के लिये नानाविध क्लेश नहों, इस अभिप्राय से सुखों को दुःखमिश्रित मानकर शरीरादि पदार्थों में दुःखभावना का उपदेश किया है सर्वथा सुखाभाव के अभिप्राय से नहीं।

भाव यह है कि सर्वत्र दुःखभावना करने से अपरवैराग्य द्वारा परवैराग्य की प्राप्ति होती है, इसलिये पुरुषमात्र को उचित है कि वह समाधिलाभार्थ शरीरादि सब पदार्थों में दुःख की भावना करे।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ॥ ५८ ॥

पद०—दुःखविकल्पे । सुखाभिमानात् । च ।

पदा०—(च) और (दुःखविकल्पे) अनेकविध दुःखों में (सुखाभिमानात्) सुख का अभिमान होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—"दुःखस्य विविधः कल्पो यत्र तादृशे प्रतिषिद्धहिंसाभोजनमैथुनादौ प्रवृत्तिर्माभूदित्ययमुपदेश इतिभावः"=अनेकविध हिंसा आदि प्रतिषिद्ध कर्मों में सुखाभिमानी पुरुषों की प्रवृत्ति के निषेधार्थ भी सर्वत्र दुःखभावना का उपदेश किया है सर्वथा सुखाभाव बोधन के अभिप्राय से नहीं ।

सं०—अब क्रमप्राप्त "अपवर्ग" प्रमेय की परीक्षा का आरम्भ करते हुए प्रथम उसमें पूर्वपक्ष करते हैं :—

ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः ॥ ५९ ॥

पद०—ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धात् । अपवर्गाभावः ।

पदा०—(ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धात्) ऋण, क्लेश और प्रवृत्ति का प्रतिबन्ध होने से (अपवर्गाभावः) मोक्ष का अभाव है ।

भाष्य—"जायमानो हवै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्य्येणऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति"=उत्पन्न होते ही ब्राह्मण ऋषिऋण आदि तीन ऋणों वाला होता है, इत्यादि वाक्यों द्वारा ऋषिऋण,

देवऋण तथा पितृऋण भेद से तीन ऋण, रागद्वेषादि क्लेश और कायिकादि भेद से पूर्वोक्त तीन प्रकार की प्रवृत्तिरूप प्रतिबन्धकों के पाये जाने से तत्वज्ञान का अवसर न मिलने के कारण तद्द्वारा होने वाले मोक्ष का उपदेश निरर्थक है।

भाव यह है कि गुरुकुल में निवास करने से ऋषिऋण, यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान से देवऋण और वैदिकविवाहसंस्कारपूर्वक प्रजोत्पत्ति से पितृऋण की निवृत्ति होती है, इसी अभिप्राय से मनु में वर्णन किया है कि "ऋणानि त्रीण्यपाकृत्यमनोमोक्षे निवेशयेत" = तीन ऋणों की निवृत्ति के पश्चात् मन को मोक्षमार्ग में लगाना चाहिये परन्तु जन्म से लेकर मृत्यु पर्य्यन्त उक्त तीन ऋणों का निवृत्त होना दुर्घट है, एवं रागद्वेष तथा शुभाशुभ प्रवृत्ति का निवृत्त होना भी प्रायः असम्भव के तुल्य प्रतीत होता है, इसलिये मोक्षोपयोगीविवेकार्थ अवसर के न मिल-सकने से अपवर्गरूप प्रमेय का उपदेश करना सर्वथा असङ्गत है।

स्मरण रहे कि उक्त विषयवाक्य में ब्राह्मण पद क्षत्रियादि का उपलक्षण होने से ब्राह्मण की भांति क्षत्रिय तथा वैश्य में भी तीन ऋणों की समानता बोधन करता है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादोनिन्दाप्रशंसोपपत्तेः । ६० ।

पद०-प्रधानशब्दानुपपत्तेः। गुणशब्देन। अनुवादः। निन्दाप्रशंसोपपत्तेः।

पदा०-(प्रधानशब्दानुपपत्तेः) ऋण शब्द का मुख्यार्थ न बनसकने और (निन्दाप्रशंसोपपत्तेः) निन्दा तथा प्रशंसा की उपपत्ति पाये जाने के कारण (गुणशब्देन) औपचारिक शब्द से (अनुवादः) अनुवादमात्र किया है इसलिये मोक्ष की अनुपपत्ति नहीं।

भाष्य-"यत्र खल्वेकः प्रत्यादेयं ददाति द्वितीयश्च प्रतिदेयं गृह्णाति तत्रास्य दृष्टत्वात्प्रधानमृणशब्दः" न्या० भा० = जहां दाता अपने धन को फिर लेने के अभिप्राय से और ग्रहीता उसको फिर देने के भाव से ग्रहण करता है वहां "ऋण" शब्द का प्रयोग मुख्यार्थ में देखा गया है अन्यत्र नहीं, इसलिये प्रकृत में "ऋण" शब्द मुख्यार्थ का वाचक न होने से औपचारिक है अर्थात् जिसप्रकार ऋणी ऋण के न उतारने से निन्दनीय तथा उसके उतार देने से प्रशंसनीय होता है इसी प्रकार सन्ध्या अग्निहोत्रादि नित्य तथा यागादि नैमित्तिक कर्मों के परित्याग से पुरुष निन्दनीय तथा उक्त कर्मों के यथावत् पालन करने से प्रशंसनीय होता है, और जो यह कहा गया है कि जन्मते ही पुरुष के ऊपर तीन ऋणों के होने से मोक्षोपयोगी तत्त्वज्ञान का अवसर ही दुर्लभ है? इसका उत्तर यह है कि उक्त विषयवाक्य में "जायमानः" पद जन्मकालीन पुरुष

का बोधक नहीं, क्योंकि उस समय जीव को किसी कर्म का अधिकार नहीं होता किन्तु उक्त पद उपनयनकाल किंवा गृहस्थ-काल को बोधन करता है अर्थात् उपनयन संस्कारोत्तर काल में ब्रह्मचर्य्याश्रमविहित वेदाध्ययनादि और गृहस्थ होने के पश्चात् सस्त्रीक होने से कई एक यज्ञादि कर्मों का अधिकार विधान किया है अन्यथा नहीं, इसी अभिप्राय से "**वात्स्यायनमुनि**" का कथन है कि "**यदा तु मातृतो जायते कुमारो न तदा कर्मभिरधिक्रियते अर्थिनः शक्तस्य चाधिकारात्**" न्या० भा० = उत्पन्न होते ही बालक को अग्निहोत्रादि यज्ञसम्बन्धि कर्मों का अधिकार नहीं, क्योंकि "**अग्निहोत्रंजुहुयात्स्वर्गकामः**"=स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र करे, इत्यादि विधिवाक्य शक्त=योग्यता वाले पुरुष की प्रवृत्ति को बोधन करते हैं, इसप्रकार "ऋण" शब्द गौण होने से यज्ञोपवीत संस्कार से लेकर उत्तरोत्तर कर्मों के अनुष्ठान को बोधन करता है जिनके अनुष्ठान द्वारा पुरुष नित्यानित्यवस्तु का विवेक होने से मोक्षोपयोगी तत्त्वज्ञान का अधिकारी बनजाता है, इस रीति से तत्त्वज्ञान का यथायोग्य अवसर पाये जाने के कारण मोक्षप्राप्ति बन सकने से "**दुःख जन्मप्रवृत्ति०**" न्या० १।१।२ में कथन किये हुए अपवर्गरूप प्रमेय का उपदेश निरर्थक नहीं, और जो मनुवाक्य से ऋणों का अपाकरण= उतारना बोधन करते हुए मोक्ष का अभाव कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि उक्त वाक्य के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट रूप से

वर्णन किया गया है कि "अनपाकृत्यमोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः"=उक्त ऋणों की निवृत्ति के विना मोक्ष का प्रयत्न करने वाला पुरुष अधोगति को प्राप्त होता है, यदि अपवर्गरूप प्रमेय न होता तो महर्षि "मनु" कदापि उक्त वाक्य में "मनोमोक्षे" "मोक्षन्तु" इत्यादि पदों का निवेश न करते परन्तु उक्त पदों के स्फुट पाये जाने से सिद्ध है कि अपवर्ग का अभाव न होने के कारण उसका उपदेश सार्थक है निरर्थक नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त ऋणों की निवृत्ति अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा पुरुष को मोक्षोपयोगी तत्वज्ञान का अधिकारी वनाती है, यदि एक दो ऋणों के निवृत्त करने पर ही पुरुष को तीव्रतर वैराग्य होजाय तो वह निरन्तर योगाभ्यासादि साधनों से विवेकज्ञान को प्राप्त होसक्ता है सव ऋणों के निवृत्त करने में कोई आग्रह नहीं, इसी अभिप्राय से औपनिषद वाक्यों में भी वर्णन किया है कि "यदहरेवविरजेत्तदहरेवप्रव्रजेत् ब्रह्मचर्य्यादेववेति"= चाहे ब्रह्मचर्य्याश्रम में हो वा किसी अन्य आश्रम में हो जिस दिन पुरुष को तीव्रतर वैराग्य उत्पन्न होजाय उसी दिन संन्यास ग्रहण करे, और जो मन्वादि महर्षियों ने ऋणत्रय निवृत्ति की अवश्य कर्त्तव्यता वोधन की है वह अपरिपक्वबुद्धि पुरुषों के लिये है विरक्त पुरुषों के अभिप्राय से नहीं अर्थात् जिन पुरुषों के चित्त में अभी भोगवासना शेष हैं यदि वह उक्त ऋणों की निवृत्ति के विना

ही मोक्षमार्ग में प्रवेश करना चाहें वा संन्यास ग्रहण करें तो वह अनधिकारी होने से अधोगति को प्राप्त होते हैं और जो वादी ने रागद्वेषादि किंवा शुभाशुभ प्रवृत्ति के सर्वदा बने रहने से अपवर्ग को निरर्थक सिद्ध करने की चेष्टा की है वह इसलिये नहीं कि अन्तःकरण शुद्धि के हेतुभूत अग्निहोत्रादि नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान करने वाले पुरुष को रागादि मोक्ष के प्रतिबन्धक नहीं होते, अतएव अशुभप्रवृत्ति प्रतिबन्धक होने पर भी शुभप्रवृत्ति मोक्षमार्ग का प्रतिबन्धक नहीं प्रत्युत उपयोगी है, जैसाकि प्रथमाध्याय में वर्णन कर आये हैं और इसी भाव से "**सांख्यार्य्यभाष्य**" में "**समसमुच्चयवाद**" निरूपण किया है, इसप्रकार ऋणआदि की व्यवस्था बनसकने से अपवर्ग का अभाव नहीं और नाही मोक्षोपदेश के निरर्थक होने में कोई प्रमाण पाया जाता है।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

अधिकाराच्च विधानं विद्यान्तरवत् ॥ ६१ ॥

पद०—अधिकारात्। च। विधानं। विद्यान्तरवत्।

पदा०—(च) और (विद्यान्तरवत्) अपराविद्या की भांति (अधिकारात्) अधिकार होने से (विधानं) मोक्ष का विधान पाया जाता है।

भाष्य—जिस प्रकार "**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**"=स्वाध्याय=वेद पढ़ना चाहिये, इत्यादि वाक्यों से उपनयनोत्तर यथाधिकार

स्वाध्याय का विधान किया है इसी प्रकार "**तमेव विदित्वाति मृत्युमेति**" यजु० इत्यादि मंत्रों में शमदमादि सम्पन्न पुरुषों के लिये भी मुक्ति का विधान पाये जाने से सिद्ध है कि अपवर्गात्मक प्रमेय का उपदेश सार्थक है निरर्थक नहीं।

सं०—ननु, शास्त्र में जीवन पर्य्यन्त अग्निहोत्रादि नित्यकर्मों का अनवरत विधान पाये जाने से मोक्षोपयोगी तत्त्वज्ञान का अवसर न मिलने के कारण अपवर्गोपदेश निरर्थक है? उत्तर:—

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः । ६२ ।

पद०—समारोपणात् । आत्मनि । अप्रतिषेधः ।

पदा०—(आत्मनि) अपने आत्मा में (समारोपणात्) अग्निहोत्रादि बाह्य कर्मों का समारोपण करने से (अप्रतिषेधः) अपवर्ग का प्रतिषेध करना ठीक नहीं।

भाष्य—अग्निहोत्रादि बाह्य कर्मों की आध्यात्मिक रीति से भावना का नाम "**समारोपण**" है, यद्यपि "**यावज्जीवमग्निहोत्रंजुहुयात्**"=जब तक जीवे अग्निहोत्र करे, इत्यादि वाक्यों से जीवनपर्य्यन्त अग्निहोत्र का विधान पाया जाता है तथापि "**प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सार्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत्**"=प्रजापति=प्रजापालक ईश्वर के उद्देश से "प्राजापत्य" नामक यज्ञ करके और संन्यासाश्रम से पूर्व २ आश्रमों के लिये विधान किये हुए कर्मों का त्याग

पूर्वक ब्राह्मण अपने अन्तरात्मा में वाह्य अग्नियों का समारोपण=भावनाविशेष करता हुआ संन्यास ग्रहण करे, इन वाक्यों से स्पष्ट पाया जाता है कि जो जीवनपर्य्यन्त वाह्य अग्निहोत्रादि कर्मों का विधान किया है वह तत्वज्ञान का विरोधी नहीं, क्योंकि उन्हीं कर्मों को संन्यासी आध्यात्मिक रीति से करता है, जैसाकि गीता के चतुर्थाध्याय में वर्णन किया है कि:—

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ॥
शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणिचापरे ॥
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणः ॥

अर्थ—कई एक योगी जीवात्मा को आत्मसमर्पण द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में हवन करते हैं और दूसरे श्रोत्रादि इन्द्रियों को धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों की एकतारूप संयम में हवन कर देते हैं, एवं ज्ञान से प्रदीप्त हुई आत्मसंयमरूप अग्नि में ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के विषयभूत शब्द स्पर्शादि तथा कर्मेन्द्रियों के विषयभूत वचनादि कर्मों को और प्राणादि की क्रिया को हवन करते हुए निष्पाप होजाते हैं, और संन्यासी

लोग योगावस्था में निरन्तर अपान वायु में प्राण तथा प्राण-वायु को अपान में हवन करते हुए प्राणापान की गति को सर्वथा निरुद्ध करके प्राणायाम में तत्पर होते हैं, इस प्रकार संन्यासी के निरन्तर मोक्षार्थ तत्त्वज्ञान का अवसर पाये जाने से अपवर्गोपदेश निरर्थक कथन करना केवल साहसमात्र है ।

तात्पर्य्य यह है कि "चत्वारः पथयो देवयानाः"= ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास यह चारो आश्रम "देवमार्ग" कहाते हैं और इनकी प्रवृत्ति साक्षात् किंवा परम्परा द्वारा केवल मुक्ति के उद्देश से पाई जाती है, क्योंकि "न स पुनरावर्त्तते"=मुक्त पुरुष बद्ध की भांति पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता, इत्यादि वाक्यों में अपवर्ग को ही परमपुरुषार्थ कथन किया है, इसलिये शास्त्र में अपवर्ग का उपदेश सार्थक है निरर्थक नहीं,इसी अभिप्राय से "प्रजावित्तलोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यंचरन्ति" = पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा रहित हुए यति लोग भिक्षा ग्रहण करते हैं, इन वाक्यों में मुक्ति के अन्तरङ्गसाधनभूत तत्वज्ञान की वृद्धि के लिये संन्यासविधि को बोधन किया है ।

सं०—अब मुक्ति में रागादि दोषों का अभाव बोधन करते हुए अपवर्ग की सिद्धि कथन करते हैं :—

सुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गः ।६३।

पद०—सुप्तस्य । स्वप्नादर्शने । क्लेशाभावात् । अपवर्गः ।

पदा०—(स्वप्नादर्शने) सुषुप्ति में (सुप्तस्य) गाढ़निद्रा वाले पुरुष के (क्लेशाभावात्) दुःखाभाव की भांति मोक्ष में रागादि क्लेश न होने से (अपवर्गः) अपवर्ग की सिद्धि होती है ।

भाष्य—जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में विषयेन्द्रिय संयोगादि कारणों के न होने से पुरुष को किसी प्रकार का क्लेश अनुभव नहीं होता इसी प्रकार मोक्षावस्था में भी रागद्वेषादि कारणों के न होने से मुक्त पुरुष को किसी प्रकार का दुःखानुभव नहीं होता किन्तु उस अवस्था में परमात्मा के अपहतपाप्मादि गुणों के धारण करने से मुक्तजीव स्वस्वरूप से ही ब्रह्मानन्द का उपभोग करता हुआ आनन्द को प्राप्त होता है जैसाकि औपनिषद वाक्यों में वर्णन किया है कि "**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति**"=ब्रह्मसदृश गुणों के धारण करने से मुक्त जीव ब्रह्म में मग्न होकर ब्रह्मानन्द का उपभोग करता है, और इसी भाव से महर्षि "**कपिल**" का कथन है कि "**समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता**" सां० ५ । ११६=समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में जीव ब्रह्म के आनन्दादि धर्मों को धारण करता है ।

सं०—अब विरक्त पुरुष की प्रवृत्ति को मोक्ष का अप्रतिबन्धक कथन करते हैं :—

न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य । ६४ ।

पद०—न । प्रवृत्तिः । प्रतिसन्धानाय । हीनक्लेशस्य ।

पदा०—(हीनक्लेशस्य) वीतराग पुरुष की (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति (प्रतिसन्धानाय) मोक्ष की प्रतिबन्धक (न) नहीं होती ।

भाष्य-"क्लिश्यन्तेऽनेनेति क्लेशो रागादिः"=दुःख हेतु होने से रागद्वेषादि का नाम "क्लेश" है, जैसाकि "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः" यो० २।३ में वर्णन किया है कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश भेद से पांच प्रकार के क्लेश हैं,जिनके उक्त क्लेश निवृत्त होजाते हैं उनका नाम "वीतराग" है, वीतराग पुरुषों की कायिक आदि प्रवृत्ति संसारहेतुक धर्माधर्म को उत्पन्न न करने के कारण मोक्ष का प्रतिबन्धक नहीं होती।

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :—

न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात्। ६५।

पद०-न। क्लेशसन्ततेः। स्वाभाविकत्वात्।

पदा०-(क्लेशसन्ततेः) क्लेशप्रवाह (स्वाभाविकत्वात्) स्वाभाविक होने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं।

भाष्य-मुक्ति अवस्था में क्लेशों का न मानना इसलिये ठीक नहीं कि रागद्वेषादि क्लेशों का प्रवाह स्वाभाविक है और स्वाभाविक=स्वतः सिद्ध पदार्थ की निवृत्ति किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होसक्ती जैसाकि आत्मादि पदार्थों में प्रसिद्ध है, इस प्रकार मोक्षावस्था में क्लेशप्रवाह बने रहने से मोक्ष का मानना सर्वथा असङ्गत है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का प्रथम "एकदेशी" के सिद्धान्तानुसार दो सूत्रों से समाधान करते हैं :-

प्रागुत्पत्तेरभावानित्यत्ववत्स्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम् । ६६ ।

पद०—प्राक् । उत्पत्तेः । अभावानित्यत्ववत् । स्वाभाविके । अपि । अनित्यत्वम् ।

पदा०—(उत्पत्तेः) उत्पत्ति के (प्राक्) पूर्व (अभावानित्यत्ववत्) अनादि प्रागभाव के अनित्यत्व की भांति (स्वाभाविके) स्वाभाविक वस्तु (अपि) भी (अनित्यत्वं) अनित्य होती है ।

भाष्य—जिस प्रकार अनादि प्रागभाव कार्य्य की उत्पत्ति से नष्ट होजाता है इसीप्रकार स्वाभाविक होने पर भी रागादि क्लेशों की निवृत्ति में कोई बाधा नहीं ।

अणुश्यामतानित्यत्ववद्वा । ६७ ।

पद०—अणुश्यामतानित्यत्ववत् । वा ।

पदा०—(वा) अथवा (अणुश्यामतानित्यत्ववत्) परमाणुवृत्ति स्वाभाविक श्यामरूप की भांति मोक्ष में क्लेशों की निवृत्ति होती है ।

भाष्य—जैसे परमाणु का अनादि=स्वाभाविक श्यामरूप अग्निसंयोग से नष्ट होजाता है वैसे ही अनादि होने पर भी रागादि क्लेश मोक्षावस्था में नहीं रहते ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का महर्षि "गौतम" स्वसिद्धान्तानुसार समाधान करते हैं :—

न संकल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् । ६८ ।

पद०-न । संकल्पनिमित्तत्वात् । रागादीनाम् ।

पदा०-(रागादीनाम्) रागादि संकल्पजन्य होने के कारण उक्त कथन (न) ठीक नहीं ।

भाष्य-प्रकृत में मिथ्याज्ञान का नाम "संकल्प" है, रागद्वेषादि क्लेशों का निमित्तकारण मिथ्याज्ञान और उसका निवर्त्तक तत्वज्ञान मानागया है, जैसाकि "दुःखजन्मप्रवृत्ति०" न्या० १। १। २ के भाष्य में वर्णन कर आये हैं, इसलिये "निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः"=निमित्त के नष्ट होने से नैमित्तिक की निवृत्ति होती है, इस नियम के अनुसार तत्वज्ञानद्वारा मिथ्याज्ञान के निवृत्त होने पर तज्जन्य क्लेशों की निवृत्ति में कोई अनुपपत्ति नहीं, इस प्रकार रागादि दोषों के निवृत्त होने से ब्रह्मानन्दोपभोगरूप अपवर्ग का मानना ही सङ्गत है, अपवर्ग का विशेष विचार "योगार्य्यभाष्य" में स्फुट है यहां ग्रन्थगौरवभय से अधिक विस्तार नहीं किया ।

इति न्यायार्य्यभाष्ये चतुर्था-
ध्याये-प्रथमान्हिकं
समाप्तम्

ओ३म्

अथ न्यायार्य्यभाष्ये चतुर्थाध्याये द्वितीयान्हिकं प्रारभ्यते

सं०—प्रथमान्हिक में प्रवृत्ति से लेकर अपवर्ग पर्य्यन्त प्रमेय की परीक्षा का विस्तारपूर्वक निरूपण किया, अब मिथ्याज्ञान की निवृत्ति में परमोपयोगी तत्वज्ञान के विवेचनार्थ द्वितीयान्हिक का आरम्भ करते हुए प्रथम तत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति कथन करते हैं :—

दोषनिमित्तानां तत्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः । १ ।

पद०—दोषनिमित्तानां । तत्त्वज्ञानात् । अहङ्कारनिवृत्तिः ।

पदा०—(दोषनिमित्तानां) रागादि दोषों के निमित्तभूत शरीरादि के (तत्त्वज्ञानात) तत्त्वज्ञान से (अहङ्कारनिवृत्तिः) मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है ।

भाष्य—"**अहमित्यभिमानोनात्मनि शरीरादावात्मप्रत्ययोमिथ्याज्ञानमित्यभिधीयते**"=शरीरादि अनात्म पदार्थों में अहंबुद्धिरूप आत्मप्रतीति के अभिमान का नाम "**मिथ्याज्ञान**" है, और इसी मिथ्याज्ञान से शरीरादि अनात्मपदार्थ रागद्वेषादि के

सं०—अब उक्त अर्थ को स्फुट करते हैं:—

तन्निमित्तन्त्ववयव्यभिमानः । ३ ।

पद०—तन्निमित्तं । तु । अवयव्यभिमानः ।

पदा०—(तु) और (अवयवव्यभिमानः) अवयवी में अभिमान करना (तन्निमित्तं) रागादि दोषों का मुख्य कारण है ।

भाष्य—स्त्री पुत्रादि आपातरमणीय अवयवी पदार्थों में अभिमान=ममता बुद्धि करना ही दोषों का मुख्य कारण है, इसलिये मुमुक्षु पुरुष को उचित है कि वह उनमें उक्त बुद्धि का परित्याग करे ।

सं०—अब प्रसङ्गसङ्गति से " अवयवी " की सिद्धि के लिये प्रथम उसमें संशय कथन करते हैं:—

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात्संशयः । ४ ।

पद०—विद्याविद्याद्वैविध्यात् । संशयः ।

पदा०—(विद्याविद्याद्वैविध्यात्)विद्या तथा अविद्या भेद से ज्ञान भेद पायेजाने के कारण (संशयः) सन्देह होता है कि अवयवी कोई स्वतन्त्र पदार्थ है वा नहीं ।

भाष्य—विद्या=यथार्थज्ञान, अविद्या=अयथार्थज्ञान भेद से दो प्रकार के ज्ञान में ज्ञानत्वरूप साधारण धर्म पाये जाने के कारण प्रथम अवयवी के ज्ञान में सन्देह होता है कि अवयवी का ज्ञान मिथ्या है किंवा सत्य है? और उक्त ज्ञान विषयक सन्देह से पुनः यह

संशय होता है कि "अवयवी अस्ति नवा"=अवयवी कोई पदार्थ है वा नहीं।

सं०-अब उक्त संशय का समाधान करते हैं:—

तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् । ५ ।

पद०-तदसंशयः । पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ।

पदा०-(पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात्) पूर्वोक्त हेतुओं से अवयवी के सिद्ध होने पर (तदसंशयः) उसके होने में कोई संशय नहीं।

भाष्य-"सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः" न्या० २।१।३४ "धारणाकर्षणोपपत्तेश्च" न्या०२।१।४९ में सम्यक् रीति से अवयवी की सिद्धि कथन कर आये हैं, इसलिये उक्त हेतुओं द्वारा उसके सिद्ध होने में कोई सन्देह नहीं।

सं०-अब पूर्वपक्षी उक्त अर्थ में पांच सूत्रों द्वारा आक्षेप करता है:-

वृत्त्यनुपपत्तेरपितर्हि न संशयः । ६ ।

पद०-वृत्त्यनुपपत्तेः । अपि । तर्हि । न । संशयः ।

पदा०-(तर्हि) समान युक्ति द्वारा (वृत्त्यनुपपत्तेः) वृत्ति की उपपत्ति न होने से (अपि) भी (संशयः, न) अवयवी के न होने में कोई सन्देह नहीं।

कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः । ७ ।

पद०-कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वात् । अवयवानां । अवयव्यभावः ।

निमित्तकारण होते हैं, इस प्रकार रागादि दोषों के निमित्तभूत शरीरादि प्रमेय पदार्थों में अनात्मत्व बुद्धि के निश्चय से उक्त अभिमान की निवृत्ति पायेजाने के कारण पुरुषमात्र को शरीरादि प्रमेय विषयक तत्वज्ञान ही उपादेय है, क्योंकि इसी से त्रिविध दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति होती है अन्य ज्ञान से नहीं, जैसाकि महर्षि "कपिल" का कथन है कि "ज्ञानान्मुक्तिः" सां० ३।२३ = ज्ञान से मुक्ति तथा "बन्धोविपर्य्ययात्" सां० ३।२४ = विपरीत ज्ञान से बन्ध होता है, इसी विपरीत ज्ञान को वैदिकसिद्धान्त में "अख्याति" किंवा "अन्यथाख्याति" कहते हैं जिसका निरूपण "सांख्यार्य्यभाष्य" में विस्तारपूर्वक किये जाने के कारण यहां विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि आत्मादि द्वादश प्रमेयों के मिथ्याज्ञान से जन्ममरणात्मक संसाररूप बन्ध तथा उसके यथार्थज्ञान से ब्रह्मपद की प्राप्ति होने के कारण उक्त प्रमेय विषयक तत्वज्ञान ही उपादेय है।

सं०—अब विशेषरूप से चिन्तन किये हुए रूपादि विषयों को रागादि दोषों का निमित्त कथन करते हैं:—

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः संकल्पकृताः ॥ २ ॥

पद०—दोषनिमित्तं । रूपादयः । विषयाः । संकल्पकृताः ।

पदा०—(संकल्पकृताः) संकल्पविशेष से भावन किये हुए (रूपादयः) रूपादि (विषयाः) विषय (दोषनिमित्तं) रागादि दोषों के निमित्त हैं।

भाष्य—" समीचीनत्वेन भावनं संकल्पः "=यह पदार्थ अत्यन्त सुन्दर है, इस प्रकार सौन्दर्य्य बुद्धि से विषयचिन्तन को " संकल्प " कहते हैं, संकल्प द्वारा चिन्तन किये हुए रूप, रसादि विषय ही राग, द्वेष तथा मोहरूप दोषों के निमित्त होते हैं अर्थात् उक्त रीति से विषयचिन्तन द्वारा रागादि दोष उत्तरोत्तर बने रहने से अनवरत संसारचक्र के प्रवाह में पड़े हुए पुरुष कदापि मुक्तिमार्ग के अधिकारी नहीं होसक्ते और जब वह रञ्जनीय, द्वेषणीय और मोहनीय भेद से त्रिविधभावनापूर्वक विषयों में हेय बुद्धि करते हैं तब विवेक द्वारा तत्वज्ञान से मुक्तिपद के अधिकारी होजाते हैं, पदार्थों में सौन्दर्य्य बुद्धि का नाम " रञ्जनीयभावना " द्वेष बुद्धि का नाम " द्वेषणीयभावना " और अपने तथा अपने भोग्य पदार्थों में अभिमान का नाम " मोहनीयभावना " है।

तात्पर्य्य यह है कि बाह्य तथा अध्यात्म भेद से विषय दो प्रकार के हैं स्त्री, पुत्र आदि "बाह्य" तथा स्वशरीरादि "अध्यात्म" कहाते हैं, मुमुक्षु के लिये उचित है कि वह प्रथम रागादि दोषों के निमित्त-भूत स्त्री पुत्रादि बाह्य विषयों से उपरत होकर पश्चात् शरीरादि अध्यात्म विषयक अभिमान को दूर करे, इस प्रकार बाह्याध्यात्म विषयों से विरक्त हुआ पुरुष तत्वज्ञान द्वारा जीवन्मुक्त होजाता है।

इसलिये ठीक नहीं कि अधिक परिमाण होने के कारण सम्पूर्ण अवयवी का एक अवयव में रहना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि छोटे परिमाण वाला पदार्थ बड़े परिमाण वाले पदार्थ में रहसक्ता है बड़े परिमाण वाला छोटे में नहीं, और दूसरे पक्ष में दोष यह है कि अवयवी का वही अवयव उसी अवयव में रहता है अथवा किसी दूसरे अवयव में रहता है? अभेद में समवायसम्बन्ध न होने से अपने स्वरूप में अवयव का रहना सम्भव नहीं, और अवयवों का भी परस्पर समवाय न होने के कारण एक अवयव की दूसरे अवयव में वृत्ति कथन करना केवल साहसमात्र है, इत्यादि अनेक दोष पाये जाने के कारण अवयवी का मानना ठीक नहीं।

पृथक्चावयवेभ्योऽवृत्तेः।९।

पद०-पृथक्। च। अवयवेभ्यः। अवृत्तेः।

पदा०-(च) और (अवयवेभ्यः) अवयवों से (पृथक्) भिन्न (अवृत्तेः) अवयवों की सिद्धि न होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि नहीं होसक्ती।

भाष्य-यदि अवयविवादी अवयवों में अवयवी की वृत्ति न माने अर्थात् अवयवी को दूसरे पदार्थ के आश्रय से रहित अनाश्रित मानें तो अवयवी भी परमाणु आदि पदार्थों की भांति अवृत्ति होने से नित्य होजायगा परन्तु उसका नित्य होना सिद्धान्ती को भी इष्ट नहीं और नाही उसकी नित्यता में कोई प्रमाण पायाजाता है, इसलिये उसका न मानना ही ठीक है।

नचावयव्यवयवाः । १० ।

पद०–न । च । अवयवी । अवयवाः ।

पदा०–(च) और (अवयवी) अवयवी (अवयवाः, न) अवयवस्वरूप न होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य–यदि अवयवी का अवयवों के साथ अभेद=तादात्म्य सम्बन्ध मानाजाय तो इसका उत्तर यह है कि अवयवावयवी के परस्पर तादात्म्यसम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं,क्योंकि उनका तादात्म्य-सम्बन्ध होता तो "तन्तु पटः"=तन्तु पट है, "मृत्पिण्डोघटः"=मृत्पिण्ड घट है, इत्यादि, इसप्रकार तन्त्वादि अवयवों में भी घट पटादि अवयवी की प्रतीति पाई जाती परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध है कि अवयवावयवी का परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध नहीं और नाही उक्त युक्तियों के पाये जाने से अवयवी कोई स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध होता है इसलिये उसका मानना सर्वथा असङ्गत है ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

एकस्मिन्भेदाभावाद्भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः । ११ ।

पद०–एकस्मिन् । भेदाभावात् । भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेः । अप्रश्नः ।

पदा०–(एकस्मिन्) एक पदार्थ में (भेदाभावात्) भेद न होने के कारण (भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेः) भेदविषयक शब्दों का प्रयोग न बनसकने से (अप्रश्नः) उक्त प्रश्न ठीक नहीं ।

पदा०—(अवयवानां, कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वात्) अवयवों में कृत्स्न तथा एकदेशवृत्ति के न बनसकने से (अवयव्यभावः) अवयवी का अभाव है।

भाष्य—"**अनेकस्याशेषता कृत्स्नशब्दस्यार्थः, अशेषस्य कस्यचिदभिधानमेकदेशशब्दस्यार्थः**"=अनेक पदार्थों की शेषता के अभाव का नाम "कृत्स्न" है, या यों कहो कि अनेक पदार्थों की सम्पूर्णता का नाम "**कृत्स्न**" सम्पूर्ण पदार्थों के किसी एक भाग का नाम "**एकदेश**" और कार्य्य द्रव्य के कारणाश्रित होने को "**वृत्ति**" कहते हैं, कृत्स्न, सम्पूर्ण यह दोनों तथा एकदेश और भाग यह दोनों समानार्थक शब्द हैं, कृत्स्न और एकदेश में वृत्ति के सिद्ध न होने से अवयवी पदार्थ का मानना ठीक नहीं अर्थात् अवयवी को स्वतन्त्र पदार्थ मानने वाले सिद्धान्ती से प्रष्टव्य है कि "**अवयवा अवयविनि वर्त्तेरन् अवयवी वा अवयवेषु, अवयवा अवयविनि वर्त्तमानाः कृत्स्नेन वर्त्तन्ते एकदेशेन वा**" न्या० वा०=अवयव अवयवी में रहते हैं किंवा अवयवी अवयवों में रहता है? यदि प्रथमपक्ष मानाजाय तो प्रश्न यह होता है कि कृत्स्न=सम्पूर्णरूप से अवयव अवयवी में रहते हैं अथवा किसी एकदेश से रहते हैं? प्रथमपक्ष इसलिये ठीक नहीं कि अवयव तथा अवयवी का परस्पर परिमाणभेद पाया जाता है अर्थात् "**अल्प-**

परिमाणोऽवयवो महापरिमाणश्चावयवी" न्या० वा०=
अवयव अल्पपरिमाणवाले होते हैं और अवयवी का अवयवों की अपेक्षा महत्परिमाण पाया जाता है, यदि सम्पूर्ण अवयव अवयवी में माने जायं या यों कहो कि सब अवयव एक अवयवी का स्वरूप होते हैं तो उनका परस्पर परिमाण भेद न होना चाहिये, क्योंकि वह दोनों स्वरूप से अभिन्न हैं परन्तु जितना परिमाण किसी एक शरीर रूप अवयवी पदार्थ का होता है उतना उसके हस्त-पादादि अवयवों का नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि सम्पूर्ण अवयव अवयवी में नहीं रहते, और दूसरा पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि प्रत्यक्षसिद्ध अवयवों से अतिरिक्त कोई अवयवी के अवयव उपलब्ध नहीं होते जिससे अवयवी में अवयवों की एकदेश-पूर्वक वृत्ति मानीजाय किञ्च अवयवी के एकदेश में रहने वाला अवयव भी एकदेश अथवा सर्वदेश से रहता है, इसप्रकार उत्तरोत्तर विकल्प बने रहने से दूसरा पक्ष भी समीचीन नहीं।

तेषु चावृत्तेरवयव्यभावः।८।

पद०—तेषु। च। अवृत्तेः। अवयव्यभावः।

पदा०—(च) और (तेषु) अवयवों में (अवृत्तेः) अवयवी की वृत्ति न बनसकने से (अवयव्यभावः) अवयवी कोई पदार्थ नहीं।

भाष्य—अवयवों में अवयवी रहता है, इस द्वितीयपक्ष में यह विकल्प होता है कि प्रत्येक अवयव में सम्पूर्ण अवयवी रहता है किंवा अवयवी का कोई एकदेश=एक भाग रहता है? प्रथम पक्ष

भाष्य—अवयवी सम्पूर्ण अवयवों में रहता है किंवा एकदेश में? इत्यादि विकल्पजाल जो अवयवी के खण्डनार्थ रचा गया है वह इसलिये ठीक नहीं कि अवयवी एक पदार्थ है जैसाकि द्वितीयाध्याय में वर्णन कर आये हैं, और एक=भेदरहित पदार्थ में उक्त प्रश्न नहीं बनसक्ता क्योंकि अनेक पदार्थों के समूह का नाम "कृत्स्न" और अनेक पदार्थों में से प्रत्येक पदार्थ को "एकदेश" कहते हैं, इसलिये एक अवयवी में अनेक पदार्थों के समूह और उस समूह के प्रत्येक भाग में व्यवहार योग्य कृत्स्न तथा एकदेश शब्द का प्रयोग करना भ्रान्तिमूलक होने से आदरणीय नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ की सिद्धि में और हेतु कथन करते हैं:—

अवयवान्तराभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः।१२।

पद०—अवयवान्तराभावे। अपि। अवृत्तेः। अहेतुः।

पदा०—(अवयवान्तराभावे) अन्य अवयव के न होने पर (अपि) भी (अवृत्तेः) वृत्ति के सिद्ध न होने से (अहेतुः) उक्त हेतु ठीक नहीं।

भाष्य—प्रत्यक्षसिद्ध अवयवों से भिन्न अवयव न होने के कारण अवयवी अपने अवयवों में एकदेश से नहीं रहता, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि अवयव में अवयवान्तर रहता है अवयवी नहीं अर्थात् अवयवों में अवयवी एकदेश तथा कृत्स्नरूप से नहीं रहता किन्तु आश्रयाश्रयिभाव नामक समवायसम्बन्ध से अवयवी

की अवयवों में वृत्ति पाईजाती है, इसलिये अवयवों से भिन्न अवयवी का मानना ही ठीक है।

भाव यह है कि " यस्ययतोऽन्यत्रात्मलाभानुपपत्तिस्ततत्रैववर्त्तत इति,न खलु कारणद्रव्येभ्योऽन्यत्र कार्य्यद्रव्यमात्रमात्मानंलभत इति " न्या० वा०=जिसके विना जिस वस्तु का स्वरूपलाभ नहीं होता वह उसके आश्रित होती है, इस नियम के अनुसार कारणद्रव्य के विना कार्य्यद्रव्य की स्थिति न होने से समवायसम्बन्ध द्वारा कार्य्य अपने कारण में रहता है, इसलिये कार्य्यद्रव्य में कृत्स्नैकदेश का विकल्प करना ठीक नहीं? दूसरी वात यह है कि यदि अवयवी कोई पदार्थ न होता तो उसकी प्रत्यक्ष से उपलब्धि न पाई जाती क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष के विषय नहीं और नाही उनके समूह का प्रत्यक्ष होसक्ता है जैसाकि द्वितीयाध्याय में वर्णन कर आये हैं, इसप्रकार पूर्वोक्त हेतुओं के पाये जाने से अवयवी के होने में कोई सन्देह नहीं।

सं०—अव पूर्वपक्षी पुनः आक्षेप करता है:—

केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ।१३।

पद०—केशसमूहे। तैमिरिकोपलब्धिवत्। तदुपलब्धिः।

पदा०—(केशसमूहे) केशों के समूह में (तैमिरिकोपलब्धिवत्) तैमिरिक पुरुष को होनेवाली उपलब्धि के समान (तदुपलब्धिः)

परमाणु समूह की उपलब्धि होती है।

भाष्य—अन्धकार से आवृत चक्षु वाले पुरुष का नाम "तैमिरिक" है, जिसप्रकार तैमिरिक पुरुष को अल्पान्धकार में एक केश का प्रत्यक्ष न होने पर भी केशसमूह का प्रत्यक्ष होजाता है इसी प्रकार एक परमाणु का प्रत्यक्ष नहोने पर भी परमाणुओं के समुदायरूप घट पटादि पदार्थों के प्रत्यक्ष में अनुपपत्ति न होने से अवयवी पदार्थ के मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

सं०—अब उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं:—

स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्द-भावाद्विषयग्रहणस्य तथाभावो-नाविषये प्रवृत्तिः । १४ ।

पद०—स्वविषयानतिक्रमेण। इन्द्रियस्य। पटुमन्दभावात्। विषयग्रहणस्य। तथाभावः। न। अविषये। प्रवृत्तिः।

पदा०—(स्वविषयानतिक्रमेण) अपने विषय को न छोड़कर (इन्द्रियस्य) इन्द्रियों के (पटुमन्दभावात्) पटु तथा मन्दभाव के अनुसार ही (विषयग्रहणस्य, तथाभावः) विषयज्ञान का पटुमन्दभाव पाये जाने से (अविषये) अविषय में इन्द्रियों की (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य—तीक्ष्ण का नाम "पटु" तथा इन्द्रियों के तीक्ष्ण और

मन्द होने को "पटुमन्दभाव" कहते हैं, पटु इन्द्रिय अपने विषय में शीघ्र तथा मन्द इन्द्रिय स्वविषय में विलम्ब से ज्ञान उत्पन्न करते हैं, इसप्रकार इन्द्रियों का "पटुमन्दभाव" अपने २ विषय में होता है विषय को छोड़कर नहीं, क्योंकि अविषय में इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती, यदि अविषय में इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती तो तीक्ष्ण होने पर भी चक्षुरिन्द्रिय से शब्द का तथा श्रोत्रेन्द्रिय से रूप का ज्ञान पाया जाता परन्तु ऐसा नहीं, इससे स्पष्ट है कि स्वविषय को छोड़कर इन्द्रियों की अविषय में प्रवृत्ति मानना ठीक नहीं,प्रकृत में तात्पर्य्य यह निकला कि अन्धकार में एक केश का प्रत्यक्ष न होने पर भी विषय के पटुभाव से समूह का प्रत्यक्ष होसक्ता है, क्योंकि केश अतीन्द्रिय पदार्थ नहीं और अतीन्द्रिय परमाणुओं में प्रत्यक्षयोग्यता का अभाव पाये जाने से तत्समूहरूप घटादि का भी प्रत्यक्ष नहीं होसक्ता परन्तु उक्त प्रत्यक्ष में किसी वादी की विप्रतिपत्ति न होने से प्रत्यक्षप्रमाण सिद्ध घटपटादि अवयवी पदार्थ का मानना ही आवश्यक है।

सं०—अब वादी के उक्त प्रश्न की प्रकारान्तर से अनुपपत्ति कथन करते हैं:—

अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ।१५।

पद०—अवयवावयविप्रसङ्गः। च। एवं। आप्रलयात्।

पदा०—(च) यदि (एवं) उक्त रीति से अवयवी न माना जाय तो (आप्रलयात्) प्रलयपर्य्यन्त (अवयवावयविप्रसङ्गः) अवयवों में

अवयवी के समान उत्तरोत्तर विकल्पों की आपत्ति होगी।

भाष्य—अवयवों में अवयवी सर्वदेश किंवा एकदेश से रहता है? इत्यादि विकल्प उठाकर जो वादी ने अवयवी का खण्डन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि प्रलयपर्य्यन्त=कार्य्यद्रव्य के नाशपर्य्यन्त उत्तरोत्तर वृत्तिविकल्प का होना ही उक्त प्रश्न की अनुपपत्ति को बोधन करता है अर्थात् जिस प्रकार घटादि अवयवी में उक्त विकल्प पायेजाते हैं इसीप्रकार उनके अवयवों में भी उत्तरोत्तर विकल्प होसक्ते हैं क्योंकि उत्तरोत्तर अवयव भी स्वभिन्न अवयवों के आश्रित होने से अवयवी हैं, इस प्रकार कार्य्यद्रव्य के नाश पर्य्यन्त उक्त विकल्पों के बने रहने से वादी के सिद्धान्तानुसार शून्यरूप द्रव्यनाश प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय न होने के कारण विकल्पों का आश्रय नहीं होसक्ता।

भाव यह है कि यदि वादी शून्यवाद की रीति से उक्त विकल्पों द्वारा अवयवी का खण्डन करे तो प्रमाणों का अविषय होनेसे शून्य और तत्कार्य्यभूत शून्यरूप अवयवी विकल्पों का विषय नहीं होसक्ता क्योंकि उक्त विकल्प प्रत्यक्षसिद्ध अवयवी के आश्रित हैं निराश्रित नहीं, यदि अणुसञ्चयवाद के अभिप्राय से उक्त विकल्प मानें तो उत्तर यह है कि "परमाणूनामप्यतीन्द्रियत्वेन दर्शनविषयत्वाभावादनाश्रयता विकल्पस्य तदवस्थैव" न्या० वा० ता० टी०=अतीन्द्रिय होने के कारण परमाणु भी उत्तरोत्तर वृत्तिविकल्प का विषय न होने से अवयवी का खण्डन

करना सर्वथा भ्रान्तिमूलक जानना चाहिये, अणुमश्चयवाद का पीछे विस्तारपूर्वक खण्डन कर आये हैं यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं ।

सार यह निकला कि यदि वादी अवयवी पदार्थ के खण्डनार्थ उक्त विकल्पों के अन्त में पदार्थमात्र को शून्यरूप मानें तो भावरूप समवायिकारण के न होने से अवयवी की उत्पत्ति ही असम्भव है फिर "अवयवों में अवयवी रहता है किंवा अवयव अवयवों में रहते हैं" इत्यादि विकल्प जाल किसके आश्रित होगा ? परन्तु कार्य्यपदार्थों की प्रत्यक्ष से उपलब्धि पाये जाने के कारण उनका उपादानकारण शून्यरूप नहीं और नाही निराश्रित उक्त विकल्पों द्वारा अवयवी का खण्डन होसक्ता है, इसलिये अवयवी का मानना ही समीचीन है।

सं०—ननु,उक्त विकल्पों से अन्त में पदार्थमात्र अभाव=शून्यरूप रहे इसमें क्या हानि ? उत्तर :—

न प्रलयोऽणुसद्भावात् । १६ ।

पद०—न । प्रलयः । अणुसद्भावात् ।

पदा०—(अणुसद्भावात्) परमाणुओं के पाये जाने से (प्रलयः) सर्वथा अभाव (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य—जहां अवयवगत क्रिया द्वारा लोष्ठादि अवयवी द्रव्य के अवयवों का परस्पर उत्तरोत्तर विभाग होता है अर्थात् अवयवी द्रव्य में अवयवों की क्रिया से उत्तरोत्तर विभाग होने के कारण जहां "अवयवावयविभाव" का प्रवाह निवृत्त होकर शेष में जो

परमसूक्ष्म अवयव है वही "परमाणु" है, या यों कहो कि जिसके उत्तर अन्य किसी अवयव का विभाग न होसकने से जो परमसूक्ष्म अन्त्यावयव स्वयं निरवयवरूप द्रव्य है उसको "परमाणु" कहते हैं, और परमाणुओं के पायेजाने से उक्त विकल्पों के अवसान = अन्त में सर्वथा अभाव मानना ठीक नहीं।

सं०-अब सूत्रकार स्वयं परमाणु का लक्षण कथन करते हैं:-

परं वा त्रुटेः । १७ ।

पद०-परं । वा । त्रुटेः ।

पदा०-(त्रुटेः) त्रुटि से (वा) भी (परं) अत्यन्तसूक्ष्म द्रव्य का नाम परमाणु है।

भाष्य-" जालसूर्य्यमरीचिस्थंत्रसरेणुरजःस्मृतं " न्या० वा० ता० टी०=झरोखे में सूर्य्य की किरणों के पड़ने से जो सूक्ष्म रज प्रतीत होता है उसका नाम "त्रुटि" है, त्रुटि, त्रसरेणु और त्र्यणुक यह तीनों एकार्थवाची शब्द हैं, जो त्र्यणुक से अत्यन्त-सूक्ष्म अर्थात् उसके अवयवभूत द्व्यणुक का अवयव स्वयं निरवयव होने से नित्य द्रव्य है वही "परमाणु" कहाता है, परमाणु का लक्षण तथा उसकी सिद्धि का प्रकार विस्तारपूर्वक "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में निरूपण किया गया है, इसलिये यहां पुनः विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में दो सूत्रों द्वारा पूर्वपक्ष करते हैं:—

आकाशव्यतिभेदात्तदनुपपत्तिः । १८ ।

पद०—आकाशव्यतिभेदात् । तदनुपपत्तिः ।

पदा०—(आकाशव्यतिभेदात्) भीतर बाहिर आकाश के व्याप्त होने से (तदनुपपत्तिः) परमाणु की सिद्धि नहीं होसक्ती ।

भाष्य—विभु होने से आकाश परमाणु के बाह्याभ्यन्तर व्यापक और उसकी व्यापकता के कारण परमाणु का विभाग=अंश पाये जाने से सिद्ध है कि वह सावयव अनित्य द्रव्य है नित्य निरवयव द्रव्य नहीं,अतएव उसकी परमाणु संज्ञा मानना ठीक नहीं ।

आकाशासर्वगतत्वं वा । १९ ।

पद०—आकाशासर्वगतत्वं । वा ।

पदा०—(वा) अथवा परमाणुओं को निरवयव मानने से (आकाशासर्वगतत्वं)आकाश सर्वव्यापक नहीं रहता ।

भाष्य—परमणुओं के भीतर बाहिर आकाश न मानाजाय तो वह विभु नहीं रहसक्ता क्योंकि सर्वव्यापक द्रव्य ही विभु कहाता है परन्तु आकाश का विभु न होना परमाणुवादी को भी इष्ट नहीं, इसलिये परमाणुओं का मानना सर्वथा असङ्गत है ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

अन्तर्बहिश्चकार्य्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनादकार्य्ये तदभावः । २० ।

पद०—अन्तर्वहिः । च । कार्य्यद्रव्यस्य । कारणान्तरवचनात् । अकार्य्ये । तदभावः ।

पदा०—(अन्तर्वहिः, च) अन्तर्वहि शब्द द्वारा (कार्य्यद्रव्यस्य) कार्य्यद्रव्य सम्बन्धी (कारणान्तरवचनात्) कारणों का व्यवहार पाये जाने से (अकार्य्ये) निरवयव द्रव्य में (तदभावः) उक्त व्यवहार नहीं होसक्ता ।

भाष्यं—" अन्तर्वहिः "=भीतर वाहिर, यह दोनों शब्द कार्य्यद्रव्यों के अवयवों को वोधन करते हैं अर्थात् कार्य्यद्रव्य में उक्त शब्द का प्रयोग होता है अकार्य्य में नहीं, इसलिये निरवयव= नित्य परमाणुओं में उक्त शब्द का व्यवहार मानकर पूर्वपक्ष करना सर्वथा असङ्गत है ।

भाव यह है कि " **अन्तरिति पिहितं कारणान्तरैः कारणमुच्यते,वहिरिति च व्यवधायकमव्यवहितं कारण मेवोच्यते** " न्या०भा०=अन्य अवयवों से आवृत अवयवों का नाम " अन्तर " = भीतर तथा आवृत अवयवों का व्यवधान करने वाला स्वयं अव्यवहित अवयवद्रव्य का नाम " वहिः "= वाहिर है, उक्त दोनों शब्दों का अर्थ अवयवी द्रव्य में पाये जाने के कारण निरवयव द्रव्य में उनका प्रयोग करना केवल साहसमात्र है ।

सं०—अब आकाश में विभुत्व व्यवहार का उपपादन करते हैं:-

सर्वसंयोगशब्दविभवाच्च सर्वगतम् । २१ ।

पद०—सर्वसंयोगशब्दविभवात् । च । सर्वगतम् ।

पदा०—(च) और (सर्वसंयोगशब्दविभवात्) सब पदार्थों के साथ संयोग तथा सर्वत्र शब्द की उत्पत्ति पाये जाने के कारण (सर्वगतं) आकाश सर्वगत=व्यापक है ।

भाष्य—सब मूर्त्तपदार्थों के साथ संयोग और शब्दोत्पत्ति पाये जाने से आकाश को विभु मानागया है परमाण्वादि निरवयव पदार्थों के भीतर विद्यमान होने के अभिप्राय से नहीं ।

वृत्तिकार "विश्वनाथ" का कथन है कि सर्वत्र शब्दोत्पत्ति पाये जाने से अनुमान होता है कि शब्द का कारण आकाशसंयोग सब मूर्त्तपदार्थों के साथ विद्यमान है, यदि उक्त संयोग मूर्त्त मात्र के साथ न होता तो सर्वत्र शब्द की उत्पत्ति न होती पर होती है, इससे स्पष्ट है कि मूर्त्तमात्र पदार्थों के साथ संयोगी होना ही आकाश की सर्वव्यापकता है, विभु, सर्वगत और व्यापक यह तीनों समानार्थक शब्द हैं ।

सं०—ननु, सर्वगत होने से आकाश में व्यूह तथा विष्टम्भ क्या नहीं ? उत्तरः—

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानिचाकाश-धर्माः । २२ ।

पद०—अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि । च । आकाशधर्माः ।

पदा०—(च) और (अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि) अव्यूह, अवि-

ष्टम्भ तथा विभुत्व यह तीनों (आकाशधर्माः) आकाश के धर्म हैं ।

भाष्य-"**प्रतिहतस्य परावर्त्तनं व्यूहः, उत्तरदेशगतिप्रतिबन्धश्च विष्टम्भः**"=प्रक्षिप्त पदार्थ का प्रतिघात=टक्करखाकर पीछे हटने का नाम "**व्यूह**" और उत्तरदेश में गति के प्रतिबन्ध=रुकजाने को "**विष्टम्भ**" कहते हैं, व्यूहन, व्यूह यह दोनों तथा विष्टम्भन और विष्टम्भ यह दोनों एकार्थवाची शब्द हैं, आकाश में अव्यूह=व्यूहाभाव, अविष्टम्भ=विष्टम्भाभाव और विभुत्व यह तीनों धर्म स्वाभाविक हैं अर्थात् विभु होने पर भी आकाश में व्यूह तथा विष्टम्भ नहीं होते, क्योंकि उक्त दोनों धर्म स्पर्शवाले मूर्त्तद्रव्यों में पाये जाते हैं अमूर्त्त द्रव्यों में नहीं, इसलिये विभु होने पर भी आकाश में व्यूह तथा विष्टम्भ का मानना ठीक नहीं ।

सं०-अब वादी पुनः दो सूत्रों से पूर्वपक्ष करता हैः—

मूर्त्तिमताञ्च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः।२३

पद०-मूर्त्तिमतां । च । संस्थानोपपत्तेः । अवयवसद्भावः ।

पदा०-(मूर्त्तिमतां) परिच्छिन्न पदार्थों की (संस्थानोपपत्तेः) आकृति पाये जाने से (अवयवसद्भावः) परमाणु सावयव हैं ।

भाष्य-सूत्र में "च" शब्द मूर्त्तत्व, सावयवत्व और सावयवत्व तथा अनित्यत्व के परस्पर "हेतुहेतुमद्भाव" को बोधन करने के लिये आया है, जिस प्रकार घटपटादि मूर्त्तिमान्=परिच्छिन्न पदार्थों

में संस्थान=त्रिकोण, चतुष्कोण किंवा चतुरस्र=गोलाकार आकृति विशेष के पाये जाने से वह सावयव हैं और सावयव होने से अनित्य होते हैं इसी प्रकार परमाणु भी परिमण्डलाकार होने के कारण सावयव और सावयव होने से घटादि की भांति उत्पत्ति विनाश वाले जानने चाहियें।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त रीति से परमाणु अनित्य होने के कारण कार्य्यकारणात्मक प्रपञ्च को शून्यरूप मानना ही समीचीन है।

संयोगोपपत्तेश्च । २४ ।

सं०-संयोगोपपत्तेः । च ।

पदा०-(च) और (संयोगोपपत्तेः) संयोग पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"मध्ये सन्नणुः पूर्वापराभ्यामणुभ्यां संयुक्तस्तयोर्व्यवधानं कुरुते व्यवधानेनानुमीयते पूर्वभागेन पूर्वेणाणुना संयुज्यते परभागेणापरेणाणुना संयुज्यते यौ तौ पूर्वापरौभागौ तावस्यावयवौ" न्या० भा०=जिस प्रकार दो आमलक फलों के मध्य तीसरे आमलक फल से व्यवधान होने पर मध्यस्थ आमलक का उन दोनों के साथ संयोग होजाता है इसी प्रकार दो परमाणुओं के मध्य तीसरे परमाणु का व्यवधान होने से अनुमान किया जाता है कि मध्यस्थ परमाणु भी अपने पूर्वापर

भाग से पूर्वोत्तर परमाणुओं के साथ संयुक्त है, और जो मध्यस्थ परमाणु का पूर्वापर भाग है वही उसके अवयव हैं, इस प्रकार मूर्त्तिमान् पदार्थों की भांति सावयव होने से परमाणु अनित्य हैं, और जो अनित्य होता है वह द्व्यणुकादि पदार्थों की भांति परमाणु नहीं होसक्ता जैसाकि सिद्धान्ती के मत से स्पष्ट है, इसलिये परमाणुओं का मानना युक्तिशून्य होने से आदरणीय नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का सामाधान करते हैं:—

अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चा-प्रतिषेधः । २५ ।

पद०-अनवस्थाकारित्वात्। अनस्थानुपपत्तेः। च। अप्रतिषेधः।

पदा०-(अनवस्थाकारित्वात्) अनवस्था पाये जाने से (च) और (अनवस्थानुपपत्तेः) अनवस्था के प्रामाणिक न होने से (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य-जो मूर्त्त=परिच्छिन्न मानकर घटपटादि पदार्थों की भांति सावयव होने से परमाणुओं का प्रतिषेध किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि परमाणुओं को सावयव मानने से उत्तरोत्तर अवयव कल्पना द्वारा अनवस्थादोष की आपत्ति होती है, यदि उक्त अनवस्था को प्रामाणिक मानकर परमाणुओं का प्रतिषेध ही मानाजाय तो भी वादी की इष्टसिद्धि नहीं होसक्ती, क्योंकि ऐसा मानने से हिमालय तथा सर्षप=सरसों के दाने का परिमाण भी समान मानना पड़ेगा अर्थात् जिस द्रव्य के आरम्भक अवयवों की संख्या अधिक

होती है वह अधिक परिमाण वाला तथा जिसके अवयवों की संख्या न्यून होती है वह न्यून परिमाण वाला होता है, यह नियम है, इस नियम के अनुसार हिमालयपर्वत तथा सरसों का परस्पर भेद है, क्योंकि हिमालय के आरम्भक अवयवों की संख्या अधिक तथा सरसों के आरम्भक अवयवों की संख्या न्यून है, सो यदि अवयवी द्रव्यगत अवयवों के उत्तरोत्तर विभाग द्वारा निरन्तर अवयवधारा को मानते चले जायं अर्थात् कोई परमसूक्ष्म अन्त्यावय न मानें तो हिमालय तथा सर्षप के परिमाण का परस्पर कोई भेद न रहेगा।

भाव यह है कि हिमालय के उत्तरोत्तर अवयवों के विभाग की समाप्ति न होने के समान सर्षपगत अवयवों के उत्तरोत्तर विभाग की भी कहीं समाप्ति न होगी, एवं उत्तरोत्तर अवयवविभाग की समाप्ति न होने से दोनों तुल्यपरिमाण वाले होने चाहिये परन्तु उनको समपरिमाण मानना वादी को भी इष्ट नहीं और नाही उन दोनों के तुल्यपरिमाण में कोई प्रमाण पाया जाता है, इससे स्पष्ट है कि उक्त अनवस्था के प्रामाणिक न होने से कहीं न कहीं अवयव-धारा की समाप्ति अवश्य माननी पड़ती है और जहां उक्त अवयव-धारा की समाप्ति है वही निरवयव द्रव्य "परमाणु" है, अतएव उसके नित्य होने में भी कोई बाधा नहीं, और जो परमाणुओं का संयोग मानकर उनमें अवयवत्व कल्पना द्वारा अनित्य सिद्ध करने की चेष्टा की है वह केवल भ्रान्तिमात्र है क्योंकि स्पर्शवाला एक

परमाणु दोनों परमाणुओं के मध्य प्रतिघात करने से व्यवधायक होता है,इसलिये उसमें भाग=अंश की कल्पना औपचारिक है वस्तुतः परमाणुओं का कोई अवयव नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि जो एक परमाणु के किसी एक देश में अन्यपरमाणु का संयोग तथा दूसरे देश में संयोगाभाव पायाजाता है वह केवल परिच्छिन्न होने से ऊर्ध्व,अधः आदि दिशाओं के भेद द्वारा प्रतीत होता है,इसलिये परमाणुओं के एकदेश में जुड़ने की युक्ति से उनको सावयव मानकर अनित्य मानना सर्वथा असङ्गत है ।

सं०—अब उक्त अर्थ में "वाह्यार्थभङ्गवादी" पूर्वपक्ष करता है:—

बुद्ध्याविवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणेपटसद्भावानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः । २६ ।

पद०—बुद्धया । विवेचनात् । तु । भावानां । याथात्म्यानुपलब्धिः । तन्त्वपकर्षणे । पटसद्भावानुपलब्धिवत् । तदनुपलब्धिः ।

पदा०—(तन्त्वपकर्षणे) तन्तुओं के पृथक् २ करने से (पटसद्भावानुपलब्धिवत्, तदनुपलब्धिः) पट की तथा अंशुओं के पृथक् २ करने से तन्तुओं की अनुपलब्धि के समान (बुद्धया) बुद्धि द्वारा (विवेचनात्) विवेचन करने से (भावानां) पदार्थों की (याथात्म्यानुपलब्धिः) सत्यता उपलब्ध नहीं होती ।

भाष्य—सूत्र में "तु" शब्द प्रकरणविच्छेद के बोधनार्थ आया है, घटपटादि वाह्य पदार्थों की असिद्धि का नाम "वाह्यार्थभङ्ग"

और उसके माननें वाले "वाह्यार्थभङ्गवादी" कहाते हैं, जो पीछे अनेक युक्तियों से अवयवी की सिद्धि कीगई है उसमें "वाह्यार्थभङ्गवादी" का यह कथन है कि ज्ञान से अतिरिक्त वाह्य कोई पदार्थ नहीं, इसलिये अवयवी का मानना ही निष्फल है अर्थात् "प्रमेयत्वं ज्ञानत्वव्याप्यं नवा"=प्रमेय=विषय ज्ञान से भिन्न है वा नहीं, इस संशय में केवलज्ञानवादी=वाह्यार्थभङ्गवादी का यह पूर्वपक्ष है कि जिस प्रकार एक २ तन्तु के निकालने से पट कोई पदार्थ नहीं रहता किंवा प्रत्येक तन्तु के अंशुओं को पृथक् २ करने से तन्तु भी स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध नहीं होते इसी प्रकार बुद्धि द्वारा पदार्थों का विवेचन करने से सिद्ध होता है कि घटपटादि सब पदार्थ ज्ञान से भिन्न कोई वस्तु नहीं किन्तु ज्ञानस्वरूप हैं और जो उनमें ज्ञान से अतिरिक्त विषयाकार प्रतीति होती है वह मिथ्या है सत्य नहीं, क्योंकि "अयं घटः इति ज्ञानं मम जातं"=मुझको यह घट है, इस प्रकार का ज्ञान हुआ है, इत्यादि प्रतीतियों से घटादि पदार्थों का ज्ञान के साथ कोई भेद नहीं पाया जाता, क्योंकि घटादि पदार्थ ज्ञानाकार ही प्रतीत होते हैं, इस रीति से ज्ञानातिरिक्त उक्त प्रतीति का विषय सिद्ध न होने के कारण ज्ञान से भिन्न पदार्थों का मानना भ्रममात्र है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

व्याहतत्वादहेतुः । २७ ।

पद०—व्याहतत्वात् । अहेतुः ।

पदा०—(व्याहतत्वात्) व्याघात पाये जाने से (अहेतुः) उक्त हेतु ठीक नहीं ।

भाष्य—जो घटपटादि बाह्यपदार्थों की असिद्धि=मिथ्यासिद्धि के लिये "बुद्ध्याविवेचनात्" हेतु दिया गया है वह "विरुद्ध" हेत्वाभास होने के कारण पदार्थों के मिथ्यात्व का साधक नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य में प्रतिज्ञा हेतु का परस्पर विरोध पायाजाता है अर्थात् "भवानां याथात्म्यानुपलब्धिः" यह प्रतिज्ञावाक्य और "बुद्ध्याविवेचनात्" यह हेतुवाक्य है, सो यदि पदार्थों का बुद्धि से विवेचन=ज्ञान माने तो सब पदार्थों की असिद्धि नहीं होसक्ती, यदि पदार्थमात्र की अनुपपत्ति कहें तो बुद्धि से विवेचन करना ही दुर्घट है, क्योंकि विवेचन=विषयानुसार होता है विषय के विना नहीं, इस प्रकार उक्त विरोध दोष पाये जाने के कारण वादी का पदार्थमात्र को मिथ्या कथन करना भ्रान्तिमूलक है ।

सं०—अब अवयवी की अवयवाभिन्न प्रतीति में हेतु कथन करते हैं :—

तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् । २८ ।

पद०—तदाश्रयत्वात् । अपृथक् । ग्रहणम् ।

पदा०—(तदाश्रयत्वात्) अवयवाश्रित होने से (अपृथक्,

ग्रहणम्) अवयवी की अवयवों से अतिरिक्त उपलब्धि नहीं होती ।

भाष्य—अवयवी अवयवाश्रित होने के कारण अवयवरूप अधिकरण से पृथक् उपलब्धि का विषय नहीं होता अर्थात् जो एक २ तन्तु के अपकर्षण से पट की अनुपलब्धिद्वारा बाह्यपदार्थ की प्रतीति को मिथ्या कथन किया है- वह इसलिये ठीक नहीं कि पटादि कार्य्यों के आश्रयभूत तन्तु आदि कारणद्रव्य कार्य्योत्पत्ति से लेकर नाश पर्य्यन्त तत्तत्कार्य्यों से विभक्त होकर स्थित नहीं होते किन्तु नाशपर्य्यन्त उनकी प्रतीति कार्य्यद्रव्य से अविभक्त पाई जाती है, इसलिये अवयवी अवयवसमवेत होने के कारण अभिन्न प्रतीति का विषय है मिथ्या होने से नहीं ।

सं०—अब "बाह्यार्थ" की सिद्धि में और हेतु कथन करते हैं :—

प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः । २९ ।

पद०—प्रमाणतः । अर्थप्रतिपत्तेः ।

पदा०—(प्रमाणतः) प्रमाणद्वारा (अर्थप्रतिपत्तेः) अर्थसिद्धि पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—जो वस्तु मिथ्या है वह प्रमाण सिद्ध नहीं होती, या यों कहो कि जिसका प्रमाण से बाध हो वह मिथ्या और जिसकी प्रमाण से सिद्धि पाईजाय वह सत्य होती है, इस नियम के अनुसार बाह्यपदार्थ मिथ्या नहीं, क्योंकि उनकी प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा सिद्धि पाईजाती है, यदि घटपटादि बाह्यपदार्थ मिथ्या होते तो उनकी चक्षुरादि प्रमाणों से यथार्थ उपलब्धि न पाई जाती किन्तु शुक्तिरजत की भांति मिथ्या

उपलब्धि होती परन्तु ऐसा न होने से स्पष्ट है कि बाह्यपदार्थ शुक्तिरजत की भांति मिथ्या नहीं और नाही उनका स्वविषयक ज्ञान से अभेद है, इसलिये ज्ञान, ज्ञेय यह दोनों पृथक् २ पदार्थ होने से ज्ञेय का अभाव कथन करना ठीक नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ को स्फुट करते हैं:—

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्। ३०।

पद०-एकपद०।

पदा०-(प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्) प्रमाण की अनुपपत्ति तथा उपपत्ति पाये जाने से भी बाह्यार्थ का अभाव सिद्ध नहीं होता।

भाष्य-"बाह्यार्थभङ्गवादी" से प्रष्टव्य है कि बाह्यार्थ के अभाव में कोई प्रमाण है वा नहीं? प्रथमपक्ष इसलिये ठीक नहीं कि बाह्यार्थ के अभाव में प्रमाण मानने से बाह्यार्थभङ्ग की सिद्धि नहीं होसक्ती, क्योंकि प्रमाण भी एक बाह्यपदार्थ है, और दूसरा पक्ष प्रमाण के विना बाह्यार्थाभावरूप प्रमेय सिद्धि न होने के कारण आदरणीय नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि यदि बाह्यार्थभङ्गवादी उक्त वाद की सिद्धि के लिये प्रमाण माने तो समान न्याय से उसी प्रमाणद्वारा बाह्यार्थ की सिद्धि होजाती है और उक्तार्थ की सिद्धि में प्रमाण न मानें तो प्रमाण के विना घटपटादि पदार्थों को ज्ञानस्वरूप मानना सर्वथा युक्तिविरुद्ध होने के कारण ठीक नहीं।

सं०-अब वादी उक्त अर्थ में दो सूत्रों से पूर्वपक्ष करता है:—

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेय-व्यवहारः । ३१ ।

पद०—स्वप्नविषयाभिमानवत् । अयं । प्रमाणप्रमेयव्यवहारः ।

पदा०—(अयं) प्रत्यक्षसिद्ध (प्रमाणप्रमेयव्यवहारः) प्रमाणप्रमेय व्यवहार (स्वप्नविषयाभिमानवत्) स्वप्न पदार्थों की भांति मिथ्या है।

मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा । ३२ ।

पद०—मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावत् । वा ।

पदा०—(वा) अथवा (माया०) माया, गन्धर्वनगर और मृगतृष्णिका=मृगतृष्णा की भांति उक्त व्यवहार मिथ्या है।

भाष्य—जिसप्रकार स्वप्नावस्था में स्वरूप से अविद्यमान विषयों की प्रतीति होती है किंवा माया=इन्द्रजाल के बने हुए तथा गन्धर्व-नगरादि पदार्थों की प्रतीति मिथ्या पाईजाती है इसीप्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाण और घटपटादि विषयों के न होने पर भी रज्जुसर्प्प के समान प्रमाणप्रमेयव्यवहार की प्रतीति भ्रममात्र होने से बाह्यार्थ की साधक नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

हेत्वभावादसिद्धिः । ३३ ।

पद०—हेत्वभावात् । असिद्धिः ।

पदा०-(हेत्वभावात्) प्रमाण के न पाये जाने से (असिद्धिः) उक्त अर्थ की सिद्धि नहीं होसक्ती !

भाष्य-जो स्वप्नादि दृष्टान्त से बाह्यपदार्थों का अभाव कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि बाह्यपदार्थों के मिथ्या होने में कोई हेतु=प्रमाण उपलब्ध नहीं होता अर्थात् "स्वप्नावस्था में असत् विषय प्रतीति होते हैं" इसमें कोई हेतु नहीं दिया गया जिसके बल से बाह्यार्थ का अभाव मानाजाय, यदि वादी का यह अभिप्राय हो कि "**प्रतिबोधेऽनुपलम्भात्**"=जाग्रत् अवस्था में उपलब्ध न होने से स्वप्नपदार्थ मिथ्या हैं तो यह बात अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होगई कि जो विषय प्रतिबुद्ध=जाग्रत् पुरुष को प्रमाण से उपलब्ध होते हैं वह स्वरूप से सत्य हैं मिथ्या नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि यदि जाग्रत् अवस्था के पदार्थ मिथ्या होते तो स्वप्नावस्था में उनकी प्रतीति न पाई जाती, क्योंकि मिथ्या प्रतीति यथार्थ प्रतीति के आश्रित होती है जैसाकि कईवार पीछे वर्णन कर आये हैं, इसलिये प्रमाणों के विना बाह्यपदार्थों को मिथ्या मानना वादी का केवल साहसमात्र है।

सं०-अब उक्त अर्थ को चार सूत्रों से स्फुट करते हैं:-

स्मृतिसंकल्पवच्चस्वप्नविषयाभिमानः । ३४ ।

पद०-स्मृतिसंकल्पवत् । च । स्वप्नविषयाभिमानः ।

पदा०-(च) और (स्मृतिसंकल्पवत्) स्मृति तथा संकल्प

की भांति (स्वप्नविषयाभिमानः) स्वप्न पदार्थों का अभिमान पूर्वज्ञात विषय के अनुसार होता है अन्यथा नहीं ।

भाष्य—जिस प्रकार उद्बोधक कारणों के सम्बन्ध द्वारा अनुभूत पदार्थ की स्मृति किंवा संकल्प = इच्छाविशेष होते हैं इसीप्रकार स्वप्नावस्था मेंभी अनुभूत पदार्थों का ज्ञान होता है अननुभूत पदार्थों का अन्यथा नहीं, यदि बाह्यपदार्थ स्वरूप से सत् न होते तो संस्कारों के बिना स्वाप्न पदार्थों की प्रतीति न होती पर ऐसा नहीं, इससे स्पष्ट है कि बाह्यपदार्थ स्वरूप से सत्य हैं जिनके संस्कारों से स्वप्नावस्था में केवल ज्ञान की भ्रान्तिद्वारा विषयों की मिथ्या प्रतीति पाई जाती है, इसलिये सर्वथा बाह्यपदार्थों का अभाव कथन करना ठीक नहीं ।

स्मरण रहे कि जो कई एक लोग यह कथन करते हैं कि अनुभूत पदार्थ के स्मरण होने का कोई नियम नहीं, क्योंकि स्वप्नावस्था में कईवार पुरुष अपना शिरछेद तथा अपने आपको खाता हुआ देखता है, इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो स्वशिरःछेद का स्वप्न में कोई प्रमाण नहीं, यदि दुर्जनतोषन्याय से मान भी लिया जाय तो उसका कारण यह है कि छेदन क्रिया तथा शिर आदि अवयवों का अनुभव जाग्रत् अवस्था में कईवार होचुका है जिनका सम्बन्ध अन्यथा प्रतीत होकर स्वशिरःछेदनादि उपलब्धि का नियामक होता है, तात्पर्य्य यह है कि अनुभव जन्य संस्कार स्मृति का तथा विशेषणज्ञान विशिष्टज्ञान का हेतु होता है संस्कार और विशेषणज्ञान के बिना स्मृति तथा विशिष्टज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये स्वप्नावस्था में निद्रादि दोष किंवा किसी

अदृष्टविशेष से जाग्रत् अवस्था के अनुभूत पदार्थों का सम्बन्ध ही अन्यथा प्रतीत होता है सर्वथा अननुभूत पदार्थों की प्रतीत नहीं होती, इसी अभिप्राय से अतएव स्वप्नज्ञान को विपर्य्ययज्ञान के अन्तर्गत माना है और जो इन्द्रजाल के दृष्टान्तद्वारा बाह्य पदार्थों को मिथ्या सिद्ध करने की चेष्टा की है वह इसलिये ठीक नहीं कि बाज़ीगर लोग भी उन्हीं पदार्थों की मिथ्या रचना दिखलाते हैं जो स्वरूप से सत्य होते हैं असत्य की नहीं, अतः उक्त दृष्टान्त ठीक नहीं ।

मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्वज्ञानात्स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्प्रतिबोधे । ३५ ।

पद०—मिथ्योपलब्धिविनाशः । तत्त्वज्ञानात् । स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत् । प्रतिबोधे ।

पदा०—(प्रतिबोधे) जाग्रत् अवस्था में (स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्) स्वप्नपदार्थविषयक मिथ्याज्ञान के नाश की भांति (तत्त्वज्ञानात्) यथार्थज्ञान द्वारा (मिथ्योपलब्धिविनाशः) मिथ्याज्ञान का नाश होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—स्थाणु में पुरुष बुद्धि, रज्जु में सर्प्पबुद्धि अर्थात् अन्य वस्तु में अन्य प्रतीति का नाम "मिथ्याज्ञान" है, सो यदि प्रमाणप्रमेयव्यवहार किसी स्थल में सत्य न होता तो उक्त मिथ्या प्रतीति कदापि न पाई जाती और नाही स्थाणु किंवा रज्जु के तत्वज्ञान = यथार्थज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होसक्ती परन्तु ऐसा न होने से सिद्ध है कि जिस प्रकार प्रतिबोध=

जाग्रत् होने पर स्वप्न पदार्थों का मिथ्या अभिमानमात्र निवृत्त हो-जाता है वस्तुतःपदार्थसत्ता का अभाव नहीं होता इसी प्रकार किसी एक स्थल में मिथ्याप्रतीति के होने पर भी सर्वथा बाह्य पदार्थों में प्रमाणप्रमेयव्यवहार को मिथ्या मानना ठीक नहीं।

मिथ्याबुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोप-लम्भात् ।३६।

पद०-मिथ्याबुद्धेः । च । एवं । निमित्तसद्भावोपलम्भात् ।

पदा०-(च) और (एवं) उक्त रीति से (मिथ्याबुद्धेः) मिथ्यज्ञान का (निमित्तसद्भावोपलम्भात्) निमित्त पाये जाने से भी बाह्यपदार्थ मिथ्या नहीं।

भाष्य-" सामान्यदर्शनं विशेषादर्शनञ्च मिथ्याबुद्धे निमित्तम्"=पदार्थ का सामान्यरूप से ज्ञान तथा विशेषरूप से अज्ञान मिथ्याबुद्धि का निमित्त है जैसाकि संशयलक्षण में वर्णन कर आये हैं, इस प्रकार उक्त निमित्त द्वारा मिथ्याज्ञान के होने से सिद्ध है कि प्रथम रज्जुसर्प्पादि पदार्थों का रज्जुत्व सर्प्पत्वादि धर्मों के साथ विशेषणविशेष्य भाव से यथार्थज्ञान होचुका है जिससे आत्मा में रहने वाले संस्कारों के निमित्तवशात् उद्बुद्ध होने और तिमिरादि दोष पायेजाने से रज्जु आदि पदार्थों के इदन्तारूप सामान्यज्ञान द्वारा " अयंसर्प्पः "= यह सर्प्प है, इत्यादि मिथ्याज्ञान होते हैं, इस रीति से मिथ्याज्ञान का निमित्त पाये जाने के कारण बाह्यपदार्थों के सिद्ध होने से

घटपटादि वाह्यार्थ विषयक प्रमाण प्रमेय व्यवहार को यथार्थ मानना ही समीचीन है ।

कई एक "आचार्य्य" इस सूत्र का इसप्रकार लापन करते हैं कि ननु—यथार्थज्ञान की भांति मिथ्याज्ञान को विषयाधीन होने से प्रमारूप क्यों न माना जाय ? उत्तर—विशेषण के अभाव वाले पदार्थ में तद्विशिष्ट बुद्धि का नाम "मिथ्याज्ञान" है, जैसाकि सर्प्पत्वरूप विशेषण=धर्म के अभाव वाली रज्जु में "अयं सर्प्पः"=यह सर्प्प है, इत्यादि ज्ञान मिथ्या कहाता है, इस प्रकार रज्जु सर्प्पादि भ्रम स्थलों में मिथ्या बुद्धि का उक्त निमित्त पाये जाने के कारण उसको प्रमारूप मानना ठीक नहीं ।

तत्वप्रधानभेदाच्चमिथ्याबुद्धेर्द्वै विध्योपपत्तिः । ३७ ।

पद०—तत्वप्रधानभेदात् । च । मिथ्याबुद्धेः । द्वैविध्योपपत्तिः ।

पदा०—(च) और (तत्वप्रधानभेदात्) तत्व तथा प्रधान के भेद द्वारा (मिथ्याबुद्धेः) मिथ्याज्ञान के (द्वैविध्योपपत्तिः) दो प्रकार पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—प्रकृत में रज्जु, शुक्ति आदि मिथ्याज्ञान के धर्म्मी पदार्थों का नाम "तत्त्व" और आरोप्य=मिथ्याज्ञान के विषयभूत सर्प्प, रजतादि पदार्थों का नाम "प्रधान" है अर्थात् पूर्व दृष्ट सत्यसर्प्प तथा सत्यरज्जुके अनुभवोत्तर संस्कारों द्वारा कालान्तर में उक्तनिमितसे होने

वाला रज्जु सर्प्पज्ञान मिथ्या कहाता है जैसाकि पीछे कथन कर आये हैं, यदि रज्जु किंवा शुक्ति कोई पदार्थ न होता तो किसी आश्रय= यथार्थ विषय के बिना सर्प्पादि की मिथ्याप्रतीति न होती पर होती है, इससे स्पष्ट है कि जिन पदार्थों के संस्कारों से दोषवशात् मिथ्याज्ञान होता है वह मिथ्या नहीं किन्तु सत्य हैं।

सं०-अब "तत्वज्ञान" की दृढ़ता के लिये उपाय कथन करते हैं:-

समाधिविशेषाभ्यासात् । ३८ ।

पद०-एकपद० ।

पदा०-(समाधिविशेषाभ्यासात्) समाधिविशेष के अभ्यास से तत्त्वज्ञान की वृद्धि होती है।

भाष्य-अन्य विषयों से निवृत्त होकर चित्त को परमात्मा में स्थिर करने का नाम "**समाधि**" है, जैसाकि "**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**" यो० । १ । २ में वर्णन किया है कि चित्तवृत्ति का निरोध ही "योग" पद का वाच्यार्थ है, प्रकृत में योग, समाधि यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, उक्त समाधि का अभ्यास=बारंबार प्रवृत्ति तत्त्वज्ञान की वृद्धि का मुख्य साधन है, इसी अवस्था का नाम "निदिध्यासन" है और यही तत्त्वज्ञान उत्तरोत्तर स्थिर हुआ संस्कारसहित मिथ्याज्ञान की निवृत्ति का कारण होता है, जैसाकि "**तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी**" यो० १ । ५० में वर्णन किया है कि समाधिप्रज्ञा से उत्पन्न हुआ संस्कार व्युत्थान संस्कारों का प्रतिबन्धक होता है, इसलिये पुरुषमात्र को उचित है

कि तत्त्वज्ञान की दृढ़तार्थ "समाधि" का अभ्यास करे, सामाधि को विस्तारपूर्वक निरूपण "योगार्य्यभाष्य" में किये जाने से यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में दो सूत्रों द्वारा पूर्वपक्ष करते हैं:—

नार्थविशेषप्राबल्यात् ।३९।

पद०—न। अर्थविशेषप्राबल्यात्।

पदा०—(अर्थविशेषप्राबल्यात्) अर्थविशेष की प्रबलता होने से (न) समाधि नहीं होसक्ती।

भाष्य—अर्थविशेष=स्त्री पुत्रादि विषयक राग की प्रबलता से निरन्तर प्रवृत्ति पाये जाने के कारण चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधि के न बनसकने से तत्वज्ञान की वृद्धि मानना ठीक नहीं।

क्षुधादिभिः प्रवर्त्तनाच्च ।४०।

पद०—क्षुधादिभिः। प्रवर्त्तनात्। च।

पदा०—(च) और (क्षुधादिभिः) क्षुधा तृषा आदि की (प्रवर्त्तनात्) निरन्तर प्रवृत्ति पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुपपत्तिः ।४१।

पद०—पूर्वकृतफलानुबन्धात्। तदुपपत्तिः।

पदा०—(पूर्वकृत०) पूर्वजन्मकृत अभ्यास से (तदुपपत्तिः)

समाधि की सिद्धि होती है।

भाष्य—पूर्वजन्म में किये हुए अभ्यासद्वारा होने वाले निरोध विषयक संस्कारों के सम्बन्ध से समाधि की सिद्धि में कोई बाधा नहीं।

कई एक लोग इस सूत्र को इसप्रकार लापन करते हैं कि पूर्व जन्म में किये हुए ईश्वराराधन रूप सत्कर्म=पुण्यविशेष के सम्बन्ध से समाधि की सिद्धि होती है, जैसाकि महर्षि "**पतञ्जलि**" का कथन है कि "**ईश्वरप्रणिधानाद्वा**" यो० १।२३=ईश्वर के प्रणिधान=भक्तिविशेष से समाधि का लाभ होता है।

तात्पर्य्य यह है कि ईश्वराराधनपूर्वक अभ्यास, वैराग्यद्वारा स्वतः ही चित्त विषयों से निवृत्त होकर समाहित होजाता है और उसके समाहित होने से निखिलवृत्तियों के निरोधपूर्वक समाधि-लाभद्वारा तत्त्वज्ञान की वृद्धि में कोई सन्देह नहीं।

सं०—अब समाधिलाभार्थ एकान्त स्थानों का उपदेश करते हैं:—

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासो-पदेशः।४२।

पद०—अरण्यगुहापुलिनादिषु। योगाभ्यासोपदेशः।

पदा०—(अरण्यगुहा०) अरण्य=वन आदि निर्जनस्थान, गुहा=पर्वतकन्दरा, पुलिन=नदी का तटआदि स्थानों में (योगाभ्यासोपदेशः) समाधि का अभ्यास कर्त्तव्य है।

भाष्य—अरण्यादि एकान्तस्थान समाधिलाभार्थ योगी को उपादेय हैं अन्य नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में "तटस्थ" आशंका करता है :—

अपवर्गेप्येवं प्रसङ्गः । ४३ ।

पद०—अपवर्गे । अपि । एवं । प्रसङ्गः ।

पदा०—(एवं) विषयों की प्रबलता से (अपवर्गे) मोक्ष में (अपि) भी (प्रसङ्गः) शब्दादि विषयों का साक्षात्कार होना चाहिये ।

भाष्य—शब्दादि विषयों के आन्तरीय संस्कारों की प्रबलता से मोक्षावस्था में भी उनके सम्बन्ध द्वारा सुखदुःखान्यतर साक्षात्कार रूप भोग होना आवश्यक है ।

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते है :—

न निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् । ४४ ।

पद०—न । निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ।

पदा०—(निष्पन्नावश्यम्भावित्वात्) शरीरादि शब्दादिज्ञान के कारण होने से मोक्षावस्था में तद्विषयक ज्ञानों का मानना (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—शरीर, इन्द्रियादि के होने से शब्दादि विषयों का ज्ञान होता है न होने से नहीं, इस नियम के अनुसार मोक्ष में शरीरादि के न होने से वाह्य शब्दादि विषयों के साथ सम्बन्ध न होने के कारण मुक्त पुरुषों को शब्दादि विषयक सुखदुःखोपभोग की आपत्ति

नहीं होसक्ती अर्थात् मुक्त जीव केवल स्वस्वरूप से परमात्मा के आनन्द का उपभोग करते हैं, इसलिये मुक्ति में दुःखोपभोग की सम्भावना असम्भव है।

सं०—अब मोक्षावस्था में शरीर का अभाव कथन करते हैं :—

तदभावश्चापवर्गे । ४५ ।

पद०—तदभावः । च । अपवर्गे ।

पदा०—(च) और (अपवर्गे) मोक्ष में (तदभावः) शरीर का अभाव होता है।

भाष्य—धर्माधर्मात्मक शरीरकारणों के निवृत्त होने से मोक्ष में शरीर का अभाव होता है, अतएव बाह्यशब्दादि का उपभोग नहीं रहता।

सं०—अब समाधिलाभार्थ साधनों द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि को कर्त्तव्यरूप से कथन करते हैं :—

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारोयोगा-च्चाध्यात्मविध्युपायैः । ४६ ।

पद०—तदर्थं । यमनियमाभ्यां । आत्मसंस्कारः । योगात् । च । अध्यात्मविध्युपायैः ।

पदा०—(तदर्थं) समाधिलाभार्थ (योगात्, अध्यात्मविध्युपायैः) योगशास्त्रोक्त प्राणायामादि साधनों से (च) और (यमनियमाभ्याम्) यम नियमों से (आत्मसंस्कारः) अन्तःकरण की

शुद्धि कर्त्तव्य है ।

भाष्य—योगशास्त्रोक्त अहिंसादि यम, शौचसन्तोषादि नियम तथा प्राणायाम प्रत्याहारादि योग के अष्टाङ्गसाधनों से निर्बीज समाधि लाभार्थ अन्तःकरण की शुद्धि कर्त्तव्य है, यमादि का विस्तारपूर्वक निरूपण "योगार्य्यभाष्य" में किया है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं ।

स्मरण रहे कि "वात्स्यायनमुनि" तथा "उद्योतकराचार्य्य" ने "तदर्थ" पद से "अपवर्ग" का परामर्श किया है, उनका आशय यह है कि मोक्ष के लिये प्रथम यमादि साधनों द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि कर्त्तव्य है जिससे पुरुष को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति निराबाध होती है ।

सं०—ननु, समाधिद्वारा मोक्षप्राप्ति होने के कारण मोक्षहेतु तत्त्वज्ञान के लिये न्यायशास्त्र का पढ़ना निष्फल है ? उत्तरः—

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः । ४७ ।

पद०—ज्ञानग्रहणाभ्यासः । तद्विद्यैः । च । सह । संवादः ।

पदा०—(ज्ञानग्रहणाभ्यासः) मोक्षप्राप्ति के लिये न्यायशास्त्र का अध्ययन, मनन (च) और (तद्विद्यैः, सह) शास्त्रवेत्ताओं के साथ (संवादः) संवाद कर्त्तव्य है ॥

भाष्य—परस्पर मिलकर सम्यक्रीति से विचार करने का नाम

"संवाद" है, मोक्षप्राप्ति के लिये यम नियमादि साधनों से अतिरिक्त न्यायशास्त्रादि के श्रवण मनन द्वारा तत्त्वज्ञान का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि श्रवण के विना मनन तथा मनन के विना निदिध्यासन नहीं होता, इसलिये निदिध्यासनोपयोगी मननरूप न्यायशास्त्र का अध्ययन करना निष्फल नहीं ।

सं०-अब दो सूत्रों से संवाद की रीति कथन करते हैं:-

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात् । ४८ ।

पद०-तं । शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिः । अनुसूयिभिः । अभ्युपेयात् ।

पदा०-(अनसूयिभिः) राग द्वेषरहित (शिष्यगुरु०, तं, अभ्युपेयात्) शिष्य, गुरु, सब्रह्मचारी=सहाध्यायी, विशिष्ट=प्रतिभाशाली और मुमुक्षुजनों के साथ मिलकर संवाद करना चाहिये ।

भाष्य-जिज्ञासु पुरुषों के लिये उचित है कि वह स्तुति, निन्दा तथा विजिगीषा=जयपराजय की इच्छा से रहित गुरु आदि के पास जाकर विनयपूर्वक संवाद करें, जिससे वह संशय विपर्य्यय से रहित होकर तत्वज्ञान द्वारा ब्रह्मानन्दोपभोगरूप मोक्ष के अधिकारी बनसकें ।

प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ।४९।

पद०-प्रतिपक्षहीनं । अपि । वा । प्रयोजनार्थं । अर्थित्वे ।

पदा०-(अर्थित्वे) जिज्ञासा होने पर (प्रयोजनार्थी) तत्त्वनिर्णय के लिये (प्रतिपक्षहीनं, अपि) प्रतिपक्ष का त्याग करके संवाद करे।

भाष्य-सूत्र में "वा" शब्द निश्चयार्थ आया है, इस सूत्र से महर्षि "गोतम" यह उपदेश करते हैं कि प्रतिपक्ष=विरुद्धपक्ष का आग्रह छोड़कर गुरु आदि के साथ संवाद करता हुआ तत्वज्ञान का परिशोधन करे, क्योंकि विजिगीषा=जयपराजय की इच्छावाला पुरुष रागद्वेष युक्त होने के कारण भले प्रकार तत्वनिर्णय नहीं करसक्ता।

सं०-अब नास्तिक लोगों से तत्वज्ञान की रक्षा के लिये जल्प तथा वितण्डा को संवाद का उपयोगी कथन करते हैं:—

तत्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्।५०।

पद०-तत्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं। जल्पवितण्डे। बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं। कण्टकशाखावरणवत्।

पदा०-(बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं) बीजाङ्कुर की रक्षा के निमित्त (कण्टकशाखावरणवत्) कण्टक तथा शाखाओं के आवरण की भांति (तत्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं) तत्वज्ञान की सम्यक् रक्षा के लिये (जल्पवितण्डे) जल्प तथा वितण्डा कथा का उपयोग है।

भाष्य–जिस प्रकार किसान बोए हुए बीजाङ्कुरों की चारो ओर से आवरण द्वारा रक्षा करता है इसी प्रकार जल्प तथा वितण्डा यह दोनों कथा तत्वज्ञान की रक्षा के लिये जाननी चाहियें अर्थात् वादी के दूषणों का उद्धार करके तत्वज्ञान में अप्रमात्व शंका के निवारणार्थ उक्त दोनों कथाओं का उपयोग है।

सं०–अब उक्त अर्थ को स्फुट करते हैं:—

ताभ्यां विगृह्य कथनम् । ५१ ।

पद०–ताभ्यां। विगृह्य। कथनं।

पदा०–(ताभ्यां) जल्प तथा वितण्डा द्वारा (विगृह्य, कथनं) यथाक्रम नास्तिक के आक्षेपों का समाधान करे।

भाष्य–यदि वैदिकसिद्धान्त पर कुतर्कशील नास्तिक लोग आक्षेप करें तो प्रकरणानुसार जल्प, वितण्डा कथा द्वारा उन आक्षेपों का उद्धार अवश्य कर्त्तव्य है।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त दोनों कथाओं का प्रयोजन केवल प्रतिष्ठा तथा ख्याति ही नहीं किन्तु वेदविद्या का परिपालन करना ही मुख्य-फल मानागया है, इसी अभिप्राय से सर्वतन्त्रस्वतन्त्र "वाचस्पतिमिश्र" का कथन है कि "विगृह्य जल्पवितण्डाभ्यां तत्वकथनं करोति विद्यापरिपालनाय माभूदीश्वराणां मतिविभ्रमेण तच्चरितानुवर्त्तिनीनां प्रजानां धर्मविप्लव इति" न्या० वा० ता० टी०=कुतार्किक नास्तिक लोगों की

युक्तियों द्वारा राजा तथा प्रजा की बुद्धि धर्म से विपरीत न होजाय इसलिये वेदविद्या के परिपालनार्थ जल्प वितण्डा द्वारा नास्तिक-कृत कुतर्कों का खण्डन करना चाहिये ।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
न्यायार्य्यभाष्ये चतुर्था-
ध्याये-द्वितीयान्हिकं
समाप्तम्

ओ३म्

अथ न्यायार्य्यभाष्ये पञ्चमाध्याये प्रथमान्हिकं प्रारभ्यते

सङ्गति—तृतीय तथा चतुर्थाध्याय में प्रमेय परीक्षा का विस्तारपूर्वक निरूपण किया, अब इस अध्याय में जाति तथा निग्रहस्थानों की परीक्षा का वर्णन करने के लिये प्रथमान्हिक का आरम्भ करते हुए प्रथम जातियों के चौबीस भेद कथन करते हैं:—

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्य्यसमाः । १ ।

पद०—एकपद० ।

पदा०—(साधर्म्य०) साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा, प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसमा, प्रसङ्गसमा, प्रतिदृष्टान्तसमा, अनुत्पत्तिसमा, संशयसमा, प्रकरणसमा, हेतुसमा, अर्थापत्तिसमा, अविशेषसमा,

उपपत्तिसमा, उपलब्धिसमा, अनुपलब्धिसमा, नित्यसमा, अनित्यसमा और कार्य्यसमा भेद से जातियें चौवीस प्रकार की हैं ।

भाष्य–"असदुत्तरं जातिः"=उत्तराभास का नाम "जाति" है, जैसाकि प्रथमाध्याय में वर्णन कर आये हैं, साधर्म्यसमा आदि जातियों के चौवीस भेद हैं, इनका लक्षण तथा प्रतिषेध की रीति आगे सूत्रकार स्वयं स्पष्ट करेंगे, यहां केवल वक्तव्य यह है कि "वात्स्यायनमुनि" तथा "उद्योतकराचार्य्य" ने इस सूत्र में "समा" शब्द स्त्रीलिङ्ग माना है परन्तु उत्तरोत्तर सूत्रों में "समौ" इत्यादि पाठ के देखने से प्रतीत होता है कि सूत्रकार को "सम" शब्द पुंलिङ्गवाची अभिप्रेत है सो यद्यपि विशेषणभूत पुल्लिङ्गवाची "सम" शब्द के साथ स्त्रीलिङ्गवाची विशेष्यभूत "जाति" शब्द का अन्वय नहीं होसक्ता तथापि "प्रतिषेध" शब्द को विशेष्य मानकर "सम" शब्द के साथ अन्वयोपपत्ति में कोई बाधा नहीं, इस विषय में "वृत्तिकार" का कथन है कि "तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम्" न्या० १ । २ । २०= "विकल्प" पद को विशेष्य मानकर "साधर्म्यसम" आदि चौवीस प्रकार की जातियों के विशेष भेद मानना समीचीन है और यही रीति अन्यसूत्रों में उक्त पद के लापन की जाननी चाहिये ।

सार यह निकला कि "जाति" पद के विशेष्यपक्ष में "साधर्म्यसमा" और "प्रतिषेध" किंवा "विकल्प" पद के विशेष्य पक्ष में "साधर्म्यसम" आदि नाम से जातियों के चौवीस भेद होते हैं ।

सं०-अब "साधर्म्यसमा" तथा "वैधर्म्यसमा" जातियों के लक्षण कथन करते हैं:—

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्य्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ।२।

पद०-साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्। उपसंहारे। तद्धर्मविपर्य्ययोपपत्तेः। साधर्म्यवैधर्म्यसमौ।

पदा०-(उपसंहारे) साध्य का उपसंहार करने पर (साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां, तद्धर्मविपर्य्ययोपपत्तेः, साधर्म्यवैधर्म्यसमौ) केवल साधर्म्य से साध्याभाव को आपादन करने का नाम "साधर्म्यसमा" तथा वैधर्म्यद्वारा साध्याभाव की उपपत्ति से दोषोद्भावन को "वैधर्म्यसमा" कहते हैं।

भाष्य-"**साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा, वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा**"=अन्वयव्याप्ति किंवा व्यतिरेकव्याप्ति द्वारा साध्य का उपसंहार=साधन करने पर व्याप्ति की अपेक्षा से रहित केवल साधर्म्यद्वारा साध्यविरुद्ध धर्म के आपादन का नाम "साधर्म्यसमा" है, या यों कहो कि व्याप्ति की अपेक्षा छोड़कर साध्य विपरीत धर्म के आपादनपूर्वक साध्याभाव को सिद्ध करने का नाम "साधर्म्यसमा" और व्याप्तिनिरपेक्ष हेतुद्वारा साध्याभाव की आपत्ति का नाम "वैधर्म्यसमा" है, जैसाकि

"शब्दोऽनित्यः कार्य्यत्वात् घटवत् व्यतिरेके आत्मवत्"=घट की भांति कार्य्य होने से अथवा आत्मा की भांति अजन्य न होने से शब्द अनित्य है, इसप्रकार "कार्य्यत्व" हेतु की अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्तिद्वारा शब्द के अनित्यत्व साधक अनुमान में यथार्थोत्तर=सत्प्रतिपक्ष किंवा अनैकान्तिक हेत्वाभास न बनसकने से जातिवादी व्याप्ति की अपेक्षा छोड़कर केवल साधर्म्यमात्र से यह दोष देता है कि यदि शब्द को घट के साधर्म्य से कार्य्य होने के कारण अनित्य मानें तो आत्मवृत्ति "अमूर्त्तत्व" साधर्म्य से नित्य ही क्यों न मानाजाय? अर्थात् यदि आत्मा के अमूर्त्तत्व साधर्म्य से शब्द नित्य नहीं तो कार्य्यत्वरूप घट के साधर्म्य से अनित्य भी नहीं होसक्ता, इस प्रकार व्याप्ति की अपेक्षा से रहित केवल साधर्म्य द्वारा "कार्य्यत्व" हेतु को साध्यसिद्धि में असमर्थ सूचित करना ही "**साधर्म्यसमा**" जाति कहाती है, और जो आत्मादि नित्य पदार्थों के वैधर्म्य=कार्य्यत्वरूप विरुद्धधर्म पाये जाने के कारण शब्द को उनसे विपरीत अनित्यत्व धर्म वाला कथन किया है, इस पर जातिवादी का यह आक्षेप है कि यदि नित्य आत्मा के कार्य्यत्वरूप वैधर्म्य से शब्द को अनित्य माने तो अनित्य घट के अमूर्त्तत्वरूप वैधर्म्य से नित्य ही क्यों न माना जाय? अर्थात् "कार्य्यत्व" हेतु में कोई विशेषता नहीं पाई जाती जिससे शब्द को आत्मवृत्ति अमूर्त्तत्व=निरवयत्व साधर्म्य से नित्य न मानकर घटवृत्ति कार्य्यत्व साधर्म्य से अनित्य ही माने, इसलिये विशेष हेतु उपलब्ध न होने के कारण उसको अनित्य मानना

समीचीन नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि जो केवल साधर्म्य तथा वैधर्म्य से जातिवादी ने सिद्धान्ती के शब्दानित्यत्व साधक अनुमान का खण्डन किया है वही "साधर्म्यसमा" तथा "वैधर्म्यसमा" जाति कहाती हैं, उक्त दोनों जातियों को "सत्प्रतिपक्षदेशनाभासा" कहते हैं, जिसके साध्याभाव का साधक अन्य हेतु हो उसका नाम "सत्प्रतिपक्ष" और उक्त हेत्वाभास के मिथ्या प्रयोग का नाम "सत्प्रतिपक्षदेशनाभासा" है, वार्त्तिककार "उद्योतकराचार्य्य" उक्त दोनों जातियों को "अनैकान्तिकदेशनाभासा" कथन करते हैं अर्थात् उक्त जातियों में अयथार्थ=मिथ्या व्यभिचार का प्रयोग होने से वह "अनैकान्तिकदेशनाभासा" हैं, क्योंकि नियम=व्याप्ति न होने के कारण इन दोनों जातियों से साध्य किंवा साध्याभाव की सिद्धि नहीं पाई जाती ।

सं०—अब उक्त जातियों का समाधान करते हैं :—

गोत्वाद्गोसिद्धिवत्तत्सिद्धिः । ३ ।

पद०—गोत्वात् । गोसिद्धिवत् । तत्सिद्धिः ।

पदा०—(गोत्वात्) गोत्व से (गोसिद्धिवत्) गोसिद्धि की भांति (तत्सिद्धिः) शब्दवृत्ति अनित्यत्व की सिद्धि होती है ।

भाष्य—जिस प्रकार "अयं=पुरोवर्त्ती पिण्डः गौर्गोत्वात्"=गोत्वधर्म के पाये जाने से यह पुरोवर्त्ती पिण्डविशेष गौ है,

इस अनुमान में "गोत्व" हेतु द्वारा पिण्डविशेष में "गो" पद के व्यवहार की सिद्धि होती है अर्थात् "यत्र गोत्वं तत्र गौरिति व्यवहारः"=जिसमें गोत्व जाति रहे वही गौ है, इस व्याप्ति के पाये जाने से प्रकृत अनुमान में गोत्व हेतु द्वारा गोसिद्धि पाई जाती है इसी प्रकार "यत्र कार्य्यत्वं तत्रानित्यत्वं"=जो कार्य्य है वह अनित्य है, इस व्याप्ति से भी घट की भांति शब्द के अनित्यत्व में कोई बाधा नहीं, क्योंकि शब्द भी घट के समान कारणों से जन्य होता है।

भाव यह है कि व्याप्ति और पक्षधर्मता=हेतु का पक्षवृत्ति होना, इन दोनों के पाये जाने से हेतु साध्य का साधक होता है व्याप्तिपक्षधर्मता से रहित केवल साधर्म्य किंवा वैधर्म्य द्वारा साध्य की सिद्धि किंवा साध्याभाव का आपादन करना ठीक नहीं अर्थात् जातिवादी ने जो साधर्म्यसमा तथा वैधर्म्यसमा के प्रयोग से शब्द को नित्यसिद्ध करने की चेष्टा की है अथवा शब्दरूप पक्ष में रहने वाले अनित्यत्व साध्य का खण्डन किया है वह व्याप्ति तथा पक्षधर्मता से रहित होने के कारण असदुत्तर होने से सिद्धान्ती के पक्ष का बाधक नहीं और नाही उससे प्रतिवादी का पक्ष सिद्ध होता है, यदि साधर्म्य किंवा वैधर्म्य मात्र ही साधक बाधक मानाजाय तो जातिवादी का प्रयोग=जातिवाक्य भी सिद्धान्ती के अनुमान में दोष देने के लिये समर्थ नहीं होसक्ता, क्योंकि दोष देने में असमर्थ अन्य वाक्यों के साथ

जातिवाक्य का प्रमेयत्वरूप धर्म समान पायाजाता है, इसलिये उक्त व्याप्ति द्वारा शब्द को अनित्य मानना ही ठीक है।

सं०—अब "उत्कर्षसमा" आदि छः जातियों का लक्षण कथन करते हैं:—

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वा-च्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः।४

पद०—साध्यदृष्टान्तयोः। धर्मविकल्पात्। उभयसाध्यत्वात्। च। उत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः।

पदा०—(साध्यदृष्टान्तयोः) पक्ष तथा दृष्टान्त के (धर्मविकल्पात्) धर्मविकल्प से (च) और (उभयसाध्यत्वात्) उन दोनों की साध्यरूप सदृशता से प्रतिषेध का नाम (उत्कर्षा०) उत्कर्ष, अपकर्ष, वर्ण्य, अवर्ण्य, विकल्प और साध्यसमा है।

भाष्य—"**साध्यतेऽत्रेति साध्यं पक्षः**"=जिसमें हेतु द्वारा साध्य की सिद्धि कीजाय उसको "**साध्य**" कहते हैं, प्रकृत में साध्य, पक्ष यह दोनों समानार्थक शब्द हैं, पक्ष और दृष्टान्तवृत्ति धर्मों का विकल्प "उत्कर्षसमा" आदि पांच जातियों का तथा उभय-साध्यत्व=पक्ष दृष्टान्त दोनों की साध्यरूप से सदृशता "साध्यसमा" जाति का बीज है अर्थात् "**अविद्यमानधर्मारोप उत्कर्ष-स्तेन समत्वमुत्कर्षसमा**"=अविद्यमान धर्म के आरोप=आपा-दन का नाम "**उत्कर्ष**" और उत्कर्ष की सदृशता से प्रतिषेध का

नाम "उत्कर्षसमा" है, या यों कहोकि व्याप्ति की अपेक्षा छोड़कर पक्ष तथा दृष्टान्त दोनों में से किसी एक में साध्य अथवा हेतु द्वारा अविद्यमान धर्म की आपत्ति देने को "उत्कर्षसमा" कहते हैं जैसाकि "जीवो न विभुः उत्क्रान्तिमत्वात् क्रियावत्त्वाच्च खगशरीरवत्"=उत्क्रान्ति अथवा क्रिया वाला होने से जीवात्मा विभु नहीं, सिद्धान्ती के इस अनुमान में जातिवादी यह दोष देता है, कि "विभुत्वाभावः उत्क्रान्तिमत्वं क्रियावत्वञ्च खगशरीरे रूपसहचरितमतः जीवोऽपि रूपवान् स्यात्" = विभुत्वाभावरूप साध्य तथा "उत्क्रान्तिमत्व" किंवा "क्रियावत्व" हेतु यह दोनों "रूप" गुण के साथ एक अधिकरण=खगशरीर में पाये जाते हैं, इसलिये खगशरीर की भांति जीवात्मा में "रूप" भी होना चाहिये क्योंकि उसमें रूपसहचारी उक्त साध्य तथा हेतु को सिद्धान्ती ने स्वयं माना है इस प्रकार विभुत्वाभावरूप साध्य तथा क्रियावत्त्व हेतु से अविद्यमान=आत्मा में न रहने वाले "रूप" गुण का आपादन करना ही "उत्कर्षसमा" जाति कहाती है, इसको शास्त्र की परिभाषा में मिथ्या विरुद्ध हेतु का प्रयोग होने से "विरुद्धदेशनाभासा" कहते हैं।

कई एक लोग उक्त जाति का यह लक्षण करते हैं कि "परोक्तसाधनादेव तदव्यापकस्य धर्मस्य पक्षे आपादनमुत्कर्षसमा"=वादी के कथन किये हुए साधन द्वारा उसी

साधन के अव्यापक=असहचारी धर्म की आपत्ति का नाम "उत्कर्षसमा" है, जैसाकि उक्त अनुमान में जातिवादी यह आपत्ति देता है कि "यदि जीव उत्क्रान्तिमत्वात् क्रियावत्वाच्च विभुर्नस्यात् तर्हि तेनैव हेतुना जीवः खगशरीरवत् सावयवोऽपि स्यात्"=यदि जीवात्मा उत्क्रान्ति किंवा क्रिया के पायेजाने से विभु नहीं तो खगशरीरवर्त्ती विभुत्वाभाव के सहचारी उन्हीं हेतुओं से खगशरीरकी भांति सावयव होना चाहिये अर्थात् यदि उक्त हेतुओं के होनेपर भी जीवात्मा सावयव नहीं तो उत्क्रान्तिमत्व किंवा क्रियावत्व के पाये जाने से विभुत्वाभाव वाला भी नहीं होसक्ता, इस प्रकार जीवरूप पक्ष में उत्क्रान्तिमत्वादि हेतुओं द्वारा उनके अव्यापक विभुत्वाभावाभाव=विभुत्वधर्म की आपत्ति ही "उत्कर्षसमा" जाति कहाती है।

"विद्यमानधर्मस्यापचयोपकर्षः, पक्षदृष्टान्तान्यतरस्मिन् व्याप्तिमपुरस्कृत्य सहचरितधर्माभावेन हेतुसाध्यान्यतराभावप्रसञ्जनमपकर्षसमा."=विद्यमान धर्म के अपचय=ह्रास का नाम "अपकर्ष" तथा व्याप्ति की अपेक्षा छोड़कर किसी एक सहचारी धर्म के न होने से पक्ष किंवा दृष्टान्त में साध्य तथा हेतु के अभाव को आपादन करने का नाम "अपकर्षसमा" है जैसाकि पूर्वोक्त शब्दानित्यत्व अनुमान में जातिवादी का

यह आक्षेप है कि यदि अनित्य घट के कार्य्यत्वरूप साधर्म्य से शब्द अनित्य माना जाय तो घटवृत्ति कार्य्यत्व तथा अनित्यत्व के सहचारी नीलपीतादि रूपों के न होने से शब्द में "कार्य्यत्व" और "अनित्यत्व" धर्म का भी अभाव होना चाहिये अर्थात् घटदृष्टान्तगत कार्य्यत्व तथा नित्यत्व के सहचारी नीलपीतादिरूपों का शब्द में अभाव होने के कारण उक्त दोनों धर्मों का अभाव मानना ही ठीक है, क्योंकि वादी ने किसी विशेष हेतु का निवेश नहीं किया जिससे शब्द में घट की भांति रूप न मानें और कार्य्यत्व तथा अनित्यत्व को माना जाय, इसप्रकार शब्दरूप पक्ष में दृष्टान्तगत कार्य्यत्वादि के सहचारी रूप गुण के अभाव से उक्त हेतु तथा साध्य के अभाव का आपादन करना ही "अपकर्षसमा" जाति कहाती है, और उक्त जाति को मिथ्या स्वरूपासिद्धि का प्रयोग होने के कारण "स्वरूपासिद्धिदेशनाभासा" तथा मिथ्या बाध पाये जाने से "बाधदेशनाभासा" कहते हैं, क्योंकि जातिवादी ने "कार्य्यत्व" हेतु के स्वरूप को मिथ्या ही असिद्ध कथन किया है और "अनित्यत्व" साध्य का बाध भी मिथ्या दिखलाया है वस्तुतः नहीं।

दृष्टान्त में उक्त जाति के लापन का प्रकार यह है कि यदि घट की भांति कार्य्य होनेसे शब्द को अनित्य मानाजाय तो दृष्टान्तभूत घट में शब्दवर्त्ती कार्य्यत्व तथा नित्यत्व के सहचारी "श्रावणत्व" हेतु के अभाव से अनित्यत्व तथा कार्य्यत्व का भी अभाव होना चाहिये

अर्थात् यदि घट की भांति शब्द कार्य्य और अनित्य होता तो शब्द की भांति घट भी श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होता परन्तु ऐसा न होने से सिद्ध है कि शब्द घट की भांति कार्य्य तथा अनित्य नहीं, इस प्रकार शब्दरूप पक्षवृत्ति "श्रावणत्व" धर्म के अभाव से घटरूप "दृष्टान्त" में कार्य्यत्व हेतु तथा अनित्यत्वरूप साध्य के अभाव का आपादन करना ही " अपकर्षसमा " जाति कहाती है, इस रीति से कई एक आचार्य्य उक्त जाति को "साध्यसाधनवैकल्यदेशनाभासा" कहते हैं, क्योंकि इस में मिथ्या दृष्टान्तासिद्धि का प्रयोग किया जाता है, वृत्तिकार "विश्वनाथ" का कथन है कि जो वार्त्तिककार "उद्योतकराचार्य्य" ने " उत्कर्षसमा " का यह उदाहरण दिया है कि "शब्दोनीरूप इतिघटोऽपि नीरूपः स्यात्"= कार्य्य होने से घट की भांति शब्द अनित्य हो तो शब्द की भांति घट भी रूप रहित होना चाहिये, क्योंकि शब्द में स्ववृत्ति कार्य्यत्व तथा अनित्यत्व का सहचारी रूपाभाव पायाजाता है, यह इसलिये ठीक नहीं कि दृष्टान्तभूत घट में रूपाभाव की आपत्ति देने से " अर्थान्तर " नामक निग्रहस्थान होजाने के कारण जाति का प्रयोग नहीं होसक्ता।

स्मरण रहे कि वैधर्म्यसमा में केवल विरुद्धधर्म द्वारा साध्याभाव की और अपकर्षसमा में किसी एक सहचारी धर्म के अभाव द्वारा साध्याभाव किंवा हेत्वभाव की आपत्ति देने से दोनों जातियें परस्पर भिन्न हैं एक नहीं।

"वर्ण्यस्य=स्थापनीयस्य सन्दिग्धसाध्यकत्वादेः पक्षधर्म्मस्य दृष्टान्त आपादनं वर्ण्यसमा"=जिसमें साध्य का सन्देह हो उसको "पक्ष" कहते हैं, दृष्टान्त में पक्षवृत्ति साध्य-सन्देहादि धर्मों के आपादन का नाम "वर्ण्यसमा" है, जैसाकि खगशरीर की भांति क्रियावाला होने से जीवात्मा विभु नहीं, सिद्धान्ती के इस अनुमान में जातिवादी का यह आक्षेप है कि पक्ष में वर्त्तमान हेतु ही अनुमिति का गमक=साधक होता है अन्य नहीं, और साध्यसन्देह वाले पक्ष में रहने वाला हेतु दृष्टान्त में अवश्य माना जाता है अन्यथा "दृष्टान्तासिद्धि" की आपत्ति होती है, इस प्रकार प्रकृत अनुमान में "क्रियावत्त्व" हेतु के आश्रयभूत जीवरूप पक्ष की भांति खगशरीररूप दृष्टान्त भी उक्त हेतु का आश्रय होने से पक्ष के समान साध्यसन्देह वाला है, सपक्ष = निश्चितसाध्यवाला नहीं, इसलिये पक्षमात्रवृत्ति होने से सिद्धान्ती का "क्रियावत्त्व" हेतु "असाधारण" हेत्वाभास है, इसप्रकार पक्षवृत्ति साध्यसन्देहरूप धर्म की दृष्टान्त में आपत्ति देना ही "वर्ण्यसमा" जाति कहाती है, और इस को असाधारण हेत्वाभास का मिथ्याप्रयोग होने के कारण "असाधारणदेशनाभासा" कहते हैं, उक्त जातिवादी का अभिप्राय यह है कि यदि सिद्धान्ती पक्षवृत्ति हेतु को दृष्टान्त में माने तो "असाधारण" और दृष्टान्त=सपक्ष में हेतु न माने तो "स्वरूपासिद्धि" दोष होने से सिद्धान्ती का हेतु असद्धेतु होता है।

"सिद्धसाध्यके दृष्टान्ते वर्त्तमानस्य हेतोः पक्षेपि असन्दिग्धसाध्यकत्वापादनमवर्ण्यसमा"=पक्ष में हेतुद्वारा दृष्टान्त वृत्ति साध्यसन्देहाभावादि धर्मके आपादन का नाम "अवर्ण्यसमा" है, जैसाकि यदि उक्त अनुमान में क्रियावत्त्व हेतु से दृष्टान्तभूत खगशरीर में विभुत्वाभावरूप साध्य को निश्चित मानें तो उसी हेतु से जीवरूप पक्ष में उक्त साध्य का निश्चय पाया जाता है सन्देह नहीं, उक्त हेतु के होने पर भी दृष्टान्त में साध्य सन्देह माना जाय तो समान युक्ति से पक्ष में भी साध्य सन्देह ज्यों का त्यों बना रहेगा, इसलिये पक्षावृत्ति होने से सिद्धान्ती का हेतु "स्वरूपासिद्ध" हेत्वाभास होजाता है, और यदि स्वरूपासिद्धिदोष की निवृत्ति के लिये सिद्धान्ती साध्य निश्चय का सहचारी हेतु पक्षमें माने तो साध्य सन्देह का कोई आश्रय न होने से "पक्षासिद्धि" दोष पाये जाने के कारण "उत्क्रान्तिमत्वात्" किंवा "क्रियावत्त्वात्" हेतु "आश्रयासिद्ध" हेत्वाभास जानने चाहियें, इसप्रकार मिथ्या आश्रयासिद्धि दोष का प्रयोग पाये जाने से "अवर्ण्यसमा" जाति "असिद्धिदेशनाभासा" कहाती है।

सार यह निकला कि साध्यनिश्चय के आश्रयभूत दृष्टान्त में रहने वाले हेतु से पक्ष में साध्य निश्चय की आपत्ति को "अवर्ण्यसमा" कहते हैं, जैसाकि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है।

"कस्याचिद्धर्मस्य कचिद्व्यभिचारदर्शनेन धर्मत्वा-

विशेषात् प्रकृतहेतोः प्रकृतसाध्यं प्रति व्यभिचारापादनं विकल्पसमा "=किसी एक धर्म का किसी स्थल में व्यभिचार देखकर सब धर्मों की समानता से प्रकृत हेतु में प्रकृत साध्य की व्यभिचारापत्ति का नाम " विकल्पसमा " है, जैसाकि अनित्य घटादि की भांति कार्य्य होने से शब्द अनित्य है, इस अनुमान में जातिवादी यह आपत्ति देता है कि गुरुत्वरहित वायु में वर्त्तमान होने से " कार्य्यत्व " हेतु " गुरुत्व " का व्यभिचारी है, एवं नित्य पार्थिवपरमाणुओं में वर्त्तमान होने के कारण गुरुत्व अनित्यत्व का व्यभिचारी और मूर्त्तत्व से रहित रूपादि में वर्त्तमान होने से अनित्यत्व भी मूर्त्तत्व धर्म का व्यभिचारी होता है,इसप्रकार उत्तरोत्तर व्यभिचारसादृश्य पाये जाने के कारण कार्य्यत्व तथा गुरुत्वादि सब धर्म परस्पर समान हैं असमान नहीं, इसलिये अनित्यत्व के व्यभिचारी गुरुत्व का व्यभिचारी होने से "कार्य्यत्व" हेतु अनित्यत्व साध्य का भी व्यभिचारी है,इस रीति से प्रकृतसाध्य तथा हेतु से अतिरिक्त स्थलों में व्यभिचारोद्भावनपूर्वक व्यभिचारत्व धर्म की समानता द्वारा प्रकृत हेतुसाध्य के व्यभिचार की आपत्ति देना ही "विकल्पसमा" जाति कहाती है, और मिथ्या व्यभिचार का प्रयोग होने के कारण उक्त जाति को "व्यभिचारदेशनाभासा" कहते हैं,

"पक्षदृष्टान्तादेः प्रकृतसाध्यतुल्यतापादनं साध्यसमा"= पक्ष तथा दृष्टान्त आदि को साध्य के समान आपादन करने का नाम " साध्यसमा " है,जैसाकि घटकी भांति कार्य्य होने के कारण

पृथिव्यादि चेतनकर्त्ता से जन्य हैं, इस अनुमान में जातिवादी का यह आक्षेप है कि प्रतिज्ञा आदि पांच अवयवों द्वारा सिद्ध करने योग्य पदार्थ अनुमिति के विषय होते हैं, इस नियम के अनुसार अनुमिति का विषय होने से पक्ष भी साध्य है सिद्ध नहीं, यदि उक्त रीति से सिद्धान्ती पक्ष को साध्य न माने तो वह अनुमिति का विषय न होने के कारण प्रथम ही सिद्ध होने से अनुमिति में पक्षभूत आश्रय के ज्ञानाभाव द्वारा ईश्वरसाधक "कार्य्यत्व" हेतु "आश्रयासिद्धि" दोष वाला होने के कारण प्रामाणिक नहीं होसक्ता, इसप्रकार पृथिव्यादि पक्ष को साध्य के साथ सदृशता की आपत्ति देना ही "साध्यसमा" जाति कहाती है, और मिथ्या आश्रयासिद्धि का प्रयोग होने से उक्त जाति को "आश्रयासिद्धिदेशनाभास" कहते हैं।

सं०–अब उक्त छः जातियों का समाधान करते हैं:—

किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्याद-प्रतिषेधः ।५।

पद०–किञ्चित्साधर्म्यात्। उपसंहारसिद्धेः। वैधर्म्यात्। अप्रतिषेधः।

पदा०–(किञ्चित्साधर्म्यात्) व्याप्तिविशिष्ट किसी एक साधर्म्य से (उपसंहारसिद्धेः) साध्यसिद्धि पाये जाने के कारण (वैधर्म्यात्, अप्रतिषेधः) व्याप्तिनिरपेक्ष साधर्म्यमात्र से प्रतिषेध करना ठीक नहीं।

भाष्य–जो जातिवादी ने केवल विरुद्ध धर्म के उद्भावन से

सिद्धान्ती के उक्त अनुमानों का प्रतिषेध किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि व्याप्ति तथा पक्षधर्मताविशिष्ट हेतु द्वारा साध्य की सिद्धि होती है साधर्म्य किंवा वैधर्म्यमात्र से नहीं, यदि जातिवादी केवल साधर्म्यादि से साध्यसिद्धि माने तो भी उक्त प्रतिषेधवाक्य सिद्धान्त के बाधक नहीं होसक्ते, क्योंकि साध्य के असाधक अन्य पदार्थों के साथ उक्त वाक्यों का प्रमेयत्वरूप धर्म समान पाया जाता है, जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं परन्तु ऐसा मानना जातिवादी को भी इष्ट न होने से स्पष्टसिद्ध है कि व्याप्तिपक्षधर्मता सापेक्ष हेतु द्वारा ही साध्य किंवा साध्याभाव की सिद्धि होती है अन्यथा नहीं, और जो जातिवादी ने खगशरीर की भांति "उत्क्रान्तिमत्वादि" हेतुओं से जीव में तथा घट की भांति "कार्य्यत्व" हेतु से शब्द में "रूपगुण" की आपत्ति दी है ? इसका उत्तर यह है कि विभुत्वाभाव के व्याप्य "उत्क्रान्तिमत्व" हेतु से जीवात्मवृत्ति विभुत्वाभाव की तथा अनित्यत्व के व्याप्य "कार्य्यत्व" हेतु से शब्दवृत्ति अनित्यत्व की सिद्धि में कोई बाधा नहीं परन्तु विभुत्वाभाव तथा अनित्यत्व यह दोनों धर्म "रूप" के व्याप्य नहीं जिससे जीवात्मा में व्यापक रूप गुण के अभाव द्वारा विभुत्वाभाव तथा शब्द में उक्त रूप के अभाव से अनित्यत्वाभाव की सम्भावना होसके, इसलिये उन्हीं हेतुओं से पक्ष में अविद्यमान धर्म का आरोप करना जातिवादी का साहसमात्र है, यही रीति अपकर्षसमा तथा वर्ण्यसमा आदि के प्रतिषेध की जाननी चाहिये।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे व्याप्तिविशिष्ट हेतु साध्यसिद्धि में

उपयोगी होता है वैसे ही व्याप्तिविशिष्ट हेतु के दृष्टान्तवृत्ति होने से व्याप्ति की उपपत्ति द्वारा दृष्टान्त भी साध्यसिद्धि में उपकारी है, इसलिये जातिवादी का " जिन विशेषणों से विशिष्ट हुआ हेतु पक्ष में पाया जाय उन्हीं विशषणों से विशिष्ट होकर दृष्टान्त में किंवा जिन विशेषणों से विशिष्ट होकर दृष्टान्त में रहता है तद्विशिष्ट होकर ही पक्ष में रहना चाहिये " यह नियम कथन करना सर्वथा असङ्गत है, यदि दुर्जनतोषन्याय से उक्त नियम मान भी लियाजाय तो भी जातिवादी की इष्टसिद्धि नहीं होसक्ती, क्योंकि उक्त वादी भी दूषणीय सिद्धान्ती के पक्ष को दृष्टान्त मानकर ही स्वमत में प्रकृत साध्य के विरुद्ध पक्ष को स्थापन करता है अन्यथा नहीं अर्थात् जातिवादी भी स्वपक्षसिद्धि के लिये सिद्धान्तपक्ष का दृष्टान्तरूप से अवलम्बन करता हुआ उसके सब धर्मों को नहीं मानता, इसलिये साध्यसिद्धि में व्याप्तिपक्षधर्मतादि का उपयोग मानना ही ठीक है, और जो " विकल्पसमा " जाति से उत्तरोत्तर व्यभिचारोद्भावन द्वारा सिद्धान्त का प्रतिषेध किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि जिस धर्म में व्यभिचारदोष पायाजाय वही धर्म दुष्ट होता है अन्य नहीं, यह नियम है, इस नियम के अनुसार किसी एक धर्म में व्यभिचार देकर प्रकृत हेतु को व्यभिचारी मानना भ्रममात्र है, और " साध्यसमा " का उत्तर यह है कि व्याप्तिविशिष्ट हेतु से पक्ष में साध्यसिद्धि पाये जाने पर भी पक्ष तथा दृष्टान्त साध्य कोटि के अन्तर्गत नहीं होते, यदि साध्य की भांति पक्ष तथा दृष्टान्त को भी साध्य मानाजाय तो अनुमानमात्र का उच्छेद होने से किसी अनुमेय पदार्थ की सिद्धि न होसकेगी, एवं जाति वादी का दूषण भी

असिद्ध होने से सिद्धान्त का बाधक न रहेगा, अतएव पक्ष दृष्टान्त को साध्य से भिन्न मानना ही समीचीन है।

सं०-अब "वर्ण्यसमा" आदि तीन जातियों का प्रकारान्तर से समाधान करते हैं:—

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः । ६ ।

पद०—साध्यातिदेशात् । च । दृष्टान्तोपपत्तेः ।

पदा०—(च) और (साध्यातिदेशात्) साध्य के निश्चयमात्र से ही (दृष्टान्तोपपत्तेः) दृष्टान्त की सिद्धि पाये जाने के कारण उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य—साध्य का निश्चय पाये जाने से प्रथम ही दृष्टान्त सिद्ध है साध्य नहीं, इसलिये उसमें साध्यसन्देहादि पक्षधर्म नहीं होते अर्थात् "दृश्यमानार्थोदृष्टान्तः"=जिसमें साध्य का निश्चय हो वही "दृष्टान्त" कहाता है, यदि पक्ष के सब धर्म दृष्टान्त में माने जायं तो पक्ष दृष्टान्त का भेद न रहने से व्याप्तिनिश्चित न होने के कारण अनुमान की कल्पना ही निरर्थक होजायगी परन्तु ऐसा न होने से स्पष्ट है कि पक्ष तथा दृष्टान्त यह दोनों परस्पर भिन्न हैं, यही रीति "साध्यसमा" के परिहार की जाननी चाहिये ।

तात्पर्य्य यह है कि "दृष्टोन्तो दृष्टान्तः पक्षः तस्मात्साध्यवानित्यतः पक्षोत्कीर्त्तनात्तथाच साध्यस्यातिदेशात्साधनात् पक्ष इत्युच्यते नतु पक्षोऽपि साध्यतेऽति-

प्रसङ्गात्"=साध्य के अतिदेश=साधन का अधिकरणरूप से विषय होने के कारण पक्ष को साध्य कहा जासक्ता है वस्तुतः वह्नि आदि साध्यों की भांति साधनीय होने के अभिप्राय से नहीं, अतएव सिद्धान्ती के उक्त अनुमानों में वर्ण्यसमा आदि दोषों की कल्पना तर्काभास होने से आदरणीय नहीं ।

सं०—अब "प्राप्तिसमा" तथा "अप्राप्तिसमा" का लक्षण कथन करते हैं:—

प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याविशिष्टत्वादप्राप्त्यासाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ।७।

पद०—प्राप्य । साध्यम् । अप्राप्य । वा । हेतोः । प्राप्त्या । अविशिष्टत्वात् । अप्राप्त्या । असाधकत्वात् । च । प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ।

पदा०—(प्राप्य, साध्यं) साध्य को प्राप्त होकर (वा) अथवा (अप्राप्य, साध्यं) साध्य की प्राप्ति के विना ही हेतु साधक होता है, इसप्रकार (हेतोः) हेतु की (प्राप्त्या) प्राप्ति द्वारा (अविशिष्टत्वात्) साध्यहेतु की समानता पाये जाने (च) और (अप्राप्त्या) प्राप्ति के विना (असाधकत्वात्) साधक न होने से दोष देने का नाम (प्राप्त्यप्राप्तिसमौ) प्राप्तिसमा तथा अप्राप्तिसमा है ।

भाष्य—"**साध्यहेत्वोः सामानाधिकरण्यं प्राप्तिः, प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पनपूर्वकमुभयत्रापिदोषापादनं प्राप्त्यप्राप्तिसमौ**"=साध्य साधन के सामानाधिकरण्य का नाम

"प्राप्ति" और उसके अभाव को "अप्राप्ति" कहते हैं, प्राप्ति से दोपापत्ति का नाम "प्राप्तिसमा" तथा अप्राप्ति से दोपापत्ति का नाम "अप्राप्तिसमा" है, जैसाकि अनुमानमात्र में जातिवादी का यह आक्षेप कि हेतु साध्य के अधिकरण में प्राप्त होकर किंवा साध्याधिकरण की प्राप्ति के विना ही साध्य का साधक होता है, प्रथमपक्ष इसलिये ठीक नहीं कि साध्य के समान पक्ष में रहने वाले हेतु से साध्यसिद्धि की भांति साध्य द्वारा भी हेतु की सिद्धि होनी चाहिये, क्योंकि दोनों का सामानाधिकरण्यरूप धर्म्म समान पायाजाता है और उक्त धर्म की समानता से विनिगमना=एकपक्ष की निश्चायक युक्ति न होने के कारण हेतु द्वारा केवल साध्य की सिद्धि मानना ठीक नहीं, दूसरे पक्ष में यह दोप है कि अप्राप्ति=सम्बन्ध के विना हेतु को साध्य का साधक मानने से समान युक्ति द्वारा वही हेतु साध्याभाव का भी साधक होसक्ता है फिर साध्य सिद्धि के लिये हेतु का प्रयोग ही निरर्थक है अर्थात् साध्याभाव के अधिकरण में वर्त्तमान होने के कारण व्यभिचारी होने से हेतु प्रकृत साध्यसिद्धि का साधक नहीं रहता, इसप्रकार यथाक्रम प्राप्ति से दोप का आपादन करना "प्राप्तिसमा" और अप्राप्तिद्वारा दोष का अपादान करना "अप्राप्तिसमा" जाति कहाती है, और इन दोनों को "प्रतिकूलतर्कदेशनाभासा" कहते हैं, क्योंकि इनमें प्रतिकूलतर्क=तर्काभास का प्रयोग किया जाता है अनुकूल तर्क का नहीं।

स्मरण रहे कि प्रकृत में " साधक " पद से ज्ञापकहेतु=पदार्थ ज्ञान के कारण तथा कारकहेतु=पदार्थोत्पत्ति के कारण, इन दोनों प्रकार के कारणों का ग्रहण है, इसलिये पदार्थमात्र के कार्य्यकारण भाव में दोनों जातियों का प्रसङ्ग जानना चाहिये, यहां ग्रन्थगौरव भय से अधिक विस्तार नहीं किया।

सं०-अब उक्त जातियों का समाधान करते हैं :—

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्पीडने चाभिचारा-दप्रतिषेधः । ८ ।

पद०-घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् । पीडने । च । अभिचारात् । अप्रतिषेधः ।

पदा०-(घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्) घटादि कार्य्यों की उत्पत्ति पाये जाने (च) और (पीडने) शत्रुवध में (अभिचारात्) अभिचार द्वारा कार्य्यसिद्धि होने से (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य-" आभिमुख्येन शत्रुवधार्थं चारः कार्य्यकरणमभिचारो शत्रुमारणमित्यर्थः " =नीति से शत्रु के मारने का नाम " अभिचार " है, दण्ड, चक्रादि कारण सामग्री द्वारा घटादि कार्य्यों की उत्पत्ति तथा अभिचार द्वारा शत्रुपीड़ा पायेजाने से सिद्ध है कि "प्राप्ति" तथा "अप्राप्ति" दोनों अवस्थाओं में हेतु साध्य का साधक होता है, इसलिये प्रमाणसिद्ध पदार्थों के कार्य्यकारण-

भाव का तर्काभास से प्रतिषेध करना जातिवादी का साहसमात्र है।

भाव यह है कि घटादि कार्य्यों की उत्पत्ति से पूर्व ही दण्डादि कारणों का उनके साथ सम्बन्ध अपेक्षित नहीं किन्तु उक्त कार्य्यों के उपादानकारण कपाल, मृत्तिका आदि के साथ सम्बन्ध का होना आवश्यक है क्योंकि घटादि कार्य्य कपालादि कारणों में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं अन्यत्र नहीं, और जहां "अभिचार" कर्म्म द्वारा शत्रु मारा जाता है वहां दूतादि प्रयोगों का शत्रुओं के साथ साक्षात्सम्बन्ध न होने पर भी कार्य्यकारणभाव में कोई बाधा नहीं, ऐसे स्थलों में उद्देश्यतासम्बन्ध आदि उत्तरोत्तर सम्बन्धों द्वारा "अप्राप्ति" होने पर भी हेतु=कारण स्वकार्य्य सिद्धि में समर्थ देखे जाते हैं, इसलिये जातिवादी के उक्त दोनों विकल्प तर्काभास होने से आदरणीय नहीं, प्रकृत में जिस सम्बन्धद्वारा शत्रुओं को उद्देश रखकर मारने के लिये राजा लोग दूत आदि का एकान्तप्रयोग करते हैं उसका नाम "**उद्देश्यतासम्बन्ध**" है।

तात्पर्य्य यह है कि साक्षात् किंवा परम्परासम्बन्ध से कारणद्वारा उसके समानाधिकरण में कार्य्योत्पत्ति होती है अन्यत्र नहीं, इस अभिप्राय को छिपाकर जातिवादी ने केवल तर्काभास किया है।

सं०-अब "प्रसङ्गसमा" तथा "प्रतिदृष्टान्तसमा" का लक्षण कथन करते हैं:-

दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्था-

नाप्र प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ । ९ ।

पद०—दृष्टान्तस्य । कारणानपदेशात् । प्रत्यवस्थानात् । च । प्रतिदृष्टान्तेन । प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ ।

पदा०—(दृष्टान्तस्य, कारणानपदेशात्) दृष्टान्त सम्बन्धी कारण के अनपदेश से (च) और (प्रतिदृष्टान्तेन) प्रतिदृष्टान्तद्वारा (प्रत्यवस्थानात्) दोष देने से प्रतिषेध का नाम (प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ) प्रसङ्गसमा तथा प्रतिदृष्टान्तसमा है ।

भाष्य—दृष्टान्त में साध्यसाधनार्थ प्रमाणके अनपदेश=कथन करनेसे दोषापत्ति का नाम "प्रसङ्गसमा" या यों कहो कि "साधनपरम्पराप्रश्नः प्रसङ्गसमा" = उत्तरोत्तर प्रमाण परम्परा के आपादान का नाम "प्रसङ्गसमा" तथा विरोधी दृष्टान्तद्वारा साध्याभाव के आपादन को "प्रतिदृष्टान्तसमा" कहते हैं, जैसाकि दृष्टान्तभूत खगशरीर की "उत्क्रान्ति" में हेतु कथन न करने से जातिवादी यह दोष देता है कि जो जीवात्मा के विभुत्वाभाव में "उत्क्रान्तिमत्व" हेतु कथन किया है उसमें जीवों का अदृष्टविशेष कारण है परन्तु अदृष्टविशेष में क्या हेतु ? पुनः उस हेतु में क्या हेतु ? इस प्रकार उत्तरोत्तर हेतुपरम्परा की आपत्ति से दोष देना ही "प्रसङ्गसमा" जाति कहाती है, और अनुमान द्वारा सिद्धान्ती के माने हुए जीवात्मद्दृत्ति विभुत्वाभाव में जातिवादी का यह आक्षेप

है कि यदि क्रियावत्त्व साधर्म्य से जीवात्मा में विभुत्वाभाव मानो तो आत्मत्वधर्म्म वाले ईश्वर किंवा पदार्थत्व धर्म्म वाले आकाश के दृष्टान्त से उसको विभु ही क्यों न माना जाय, क्योंकि खगदृष्टान्त से जीवात्मा विभु नहीं और ईश्वर तथा आकाश के दृष्टान्त से विभु है, इन दोनों पक्षों में विनिगमना = एकतर पक्ष की निश्चायक युक्ति नहीं पाई जाती, इस रीति से प्रकृत खग दृष्टान्त को छोड़कर तद्विरुद्ध ईश्वर तथा आकाश के दृष्टान्त से विभुत्वाभाव रूप साध्य के अभाव को आपादन करना ही "प्रतिदृष्टान्तसमा" जाति कहाती है।

स्मरण रहे कि यद्यपि दृष्टान्त में साध्यसाधक प्रमाण न होने के कारण "प्रसङ्गसमा" की रीति से दोषोद्भावन करना यथार्थ है मिथ्या नहीं तथापि उत्तरोत्तर प्रमाणों की मिथ्या अनवस्था को उद्भावन करना ही "प्रसङ्गसमा" जाति है, अतएव मिथ्या अनवस्था का प्रयोग करने से उक्त जाति को "अनवस्थादेशनाभासा" और मिथ्या बाध तथा मिथ्या सत्प्रतिपक्ष का प्रयोग करने से प्रतिदृष्टान्तसमा को "बाधदेशनाभासा" तथा "सत्प्रतिपक्षदेशनाभासा" कहते हैं, "प्रतिदृष्टान्तसमा" में जातिवादी का यह अभिप्राय है कि "हेतुरनङ्गं दृष्टान्तबलादेव साध्यसिद्धिः" = केवल दृष्टान्तद्वारा साध्यसिद्धि हो सकने से हेतु को साध्यसिद्धि का अङ्ग मानना निरर्थक है।

सं०—अब उक्त "प्रसङ्गसमा" जाति का समाधान करते हैं :—

प्रदीपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः ।१०

पद०-प्रदीपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत् । तद्विनिवृत्तिः ।

पदा०-(प्रदीपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्) दीप प्रकाश के लिये दीपान्तर की भान्ति (तद्विनिवृत्तिः) प्रकृत साध्य के साधनार्थ उत्तरोत्तर साधन परम्परा की आवश्यकता नहीं ।

भाष्य-जिसप्रकार एक दीप के प्रकाशार्थ अन्यान्य दीपों की आवश्यकता नहीं होती इसीप्रकार एक साध्यसिद्धि के लिये प्रयुक्त किये हुए यथार्थ हेतु के साधनार्थ भी उत्तरोत्तर हेतुओं का उद्भावन करना निरर्थक है ।

सं०-अब " प्रतिदृष्टान्तसमा " जाति का समाधान करते हैं :-

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः । ११ ।

पद०-प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे । च । न । अहेतुः । दृष्टान्तः ।

पदा०-(च) और (प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे) प्रतिदृष्टान्त साधक होने के कारण (दृष्टान्तः) सिद्धान्ती का दृष्टान्त (अहेतुः) प्रकृत साध्यसिद्धि में समर्थ है असमर्थ नहीं ।

भाष्य-प्रतिदृष्टान्तसमा का प्रयोग करने वाले जातिवादी से प्रष्टव्य है कि प्रतिदृष्टान्त=अन्य विरोधी दृष्टान्त का प्रयोग सिद्धान्त के निराकरणार्थ किंवा विरुद्ध पक्ष के स्थापनार्थ कियाजाता है, प्रथमपक्ष इसलिये ठीक नहीं कि जैसे प्रतिदृष्टान्त स्वपक्ष की सिद्धि में समर्थ है वैसे ही सिद्धान्ती का दृष्टान्त भी साध्य का साधक

है असाधक नहीं, इसप्रकार अन्यतर पक्ष का खण्डन न होने के कारण प्रकारान्तर से सिद्धान्ती के पक्ष का ही मण्डन होने से जाति-वादी का उक्त प्रयोग वस्तुतः "बाध" नहीं किन्तु बाधाभास है, और दूसरे पक्ष में यह दोष है कि प्रतिदृष्टान्त=विरुद्धदृष्टान्त द्वारा स्वपक्ष सिद्ध करने पर भी सिद्धान्ती का पक्ष ही बलवान् रहता है, क्योंकि सिद्धन्ती के दृष्टान्त में व्याप्तिविशिष्ट हेतु का सम्बन्ध पाया जाता है जातिवादी के दृष्टान्त में नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि जबतक व्याप्तिविशिष्ट हेतु का सम्बन्ध न पाया जाय केवल प्रतिदृष्टान्त से प्रथम हेतु सत्प्रतिपक्षित नहीं होसक्ता, इसलिये जातिवादी का यह वाक्य "पदार्थत्व धर्म से आकाशदृष्टान्त द्वारा जीव को विभु ही क्यों न मानाजाय" आभास मात्र होने से सिद्धान्त का बाधक नहीं।

सं०—अब "उत्पत्तिसमा" का लक्षण कथन करते हैं:—

प्रागुत्पत्तेःकारणाभावादनुत्पत्तिसमः ।१२।

पद०—प्राक्। उत्पत्तेः। कारणाभावात्। अनुत्पत्तिसमः।

पदा०—(उत्पत्तेः) उत्पत्ति से (प्राक्) पूर्व (कारणाभावात्) हेतु न बनसकने से दोषापत्ति का नाम (अनुत्पत्तिसमः) अनुत्पत्तिसमा है।

भाष्य—"अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमा"=साध्य सिद्धि के अङ्गभूत पक्ष तथा हेतु आदि की उत्पत्ति के पूर्व तद्भावद्वारा दोष देने का नाम "अनुत्पत्तिसमा" है या यों कहो कि पक्षा-

दि की उत्पत्ति से प्रथम ही उन में हेत्वभाव के आपादन को "अनुत्पत्तिसमा" कहते हैं, जैसाकि "घटो रूपवान् गन्धात् पटवत्"=पट की भांति रूपवाला होने से घट गन्धवाला है, इस अनुमान में जातिवादी का यह आक्षेप है कि घट तथा गन्ध की उत्पत्ति से प्रथम गन्धाभाव होने के कारण उक्त हेतु में "स्वरूपासिद्धि" गन्धोत्पत्ति से प्रथम पट में "गन्ध" हेतु का अभाव होने से "दृष्टान्तासिद्धि" और उत्पत्तिकालीन घट पक्ष में "रूप" साध्य के न होने से "बाध" दोष भी पायाजाता है, इसलिये उक्त हेतु प्रकृत साध्य का साधक नहीं,इसप्रकार उत्पत्ति से प्रथम हेतु को असिद्ध मानकर दोष का आपादन करना ही "अनुत्पत्तिसमा" जाति कहाती है, मिथ्या असिद्धि आदि का प्रयोग पाये जाने से उक्त जाति को "असिद्ध्यादिदेशनाभासा" कहते हैं।

सं०—अब उक्त जाति का समाधान करते हैं:—

तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः ।१३।

पद०—तथाभावात्। उत्पन्नस्य। कारणोपपत्तेः। न। कारणप्रतिषेधः।

पदा०—(उत्पन्नस्य) उत्पत्ति के अनन्तर (तथाभावात्) घटपटादि संज्ञा की सिद्धिपूर्वक (कारणोपपत्तेः) हेतु बनसकने से (कारणप्रतिषेधः, न) उक्त हेतु का प्रतिषेध करना ठीक नहीं।

भाष्य-उत्पत्ति के अनन्तर कार्य्य पदार्थों की घट पटादि सञ्ज्ञा पाये जाने से उनके हेतुहेतुमद्भाव की कल्पना की जाती है अन्यथा नहीं,इसलिये गन्धादि हेतुओं की पूर्वावस्थाद्वारा प्रतिषेध करना आग्रह मात्र है अर्थात् पक्ष की अपेक्षा छोड़कर केवल हेतु का अभाव ही "स्वरूपासिद्धि" दोष नहीं कहाता किन्तु सिद्ध पक्ष में हेत्वभाव का नाम स्वरूपासिद्धि है, इसप्रकार जब उत्पत्ति से पूर्व घटादि पक्ष सिद्ध नहीं तो फिर उनमें हेत्वभाव का कथन करना ही दुर्घट है,यदि दुराग्रहवशात् जातिवादी हेत्वभावमात्र को स्वरूपासिद्धि माने तो समानयुक्ति से जातिवादी के हेतु में भी उक्त दोष ज्यों का त्यों बना रहेगा,क्योंकि उसका भी किसी न किसी स्थल में अभाव पायाजाता है परन्तु ऐसा मानना जातिवादी को भी इष्ट नहोने से स्पष्ट है कि पक्ष की अपेक्षा के विना हेत्वभाव स्वरूपासिद्धि नहीं कहाता, यही रीति प्रकृत में "दृष्टान्तासिद्धिदेशनाभासा" तथा "बाधदेशनाभासा" के समाधान की जाननी चाहिये, यहां केवल ग्रन्थगौरवभय से दिक्प्रदर्शन किया है।

सं०-अब "संशयसमा" का लक्षण कथन करते हैं:-

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात् संशयसमः । १४ ।

पद०-सामान्यदृष्टान्तयोः । ऐन्द्रियकत्वे । समाने । नित्यानित्यसाधर्म्यात् । संशयसमः ।

पदा०-(सामान्यदृष्टान्तयोः) सामान्य=जाति तथा घटादि दृष्टान्तों में

(ऐन्द्रियकत्वे) ऐन्द्रियकत्व धर्म के (समाने) समान होने पर (नित्यानित्यसाधर्म्यात्) नित्य तथा अनित्य धर्म के साधर्म्य से प्रतिषेध का नाम (संशयसमः) संशयसमा है ।

भाष्य—नित्यानित्य के साधर्म्यद्वारा संशयपूर्वक दोष देने का नाम " **संशयसमा** " है या यों कहो कि " **समानधर्मदर्शनादियत्किञ्चित्संशयकारणबलात् संशयेन प्रत्यवस्थानं संशयसमः** " =साधारणधर्मज्ञानादि संशय के कारणों में से किसी एक कारण के साधर्म्य द्वारा संशय पूर्वक दोषापत्ति को " संशयसमा " कहते हैं, जैसाकि घट की भान्ति कार्य्य होने से शब्द अनित्य है, इस अनुमान में जातिवादी का यह आक्षेप है कि सामान्य=गोत्वादि जाति तथा घटपटादि दृष्टान्तों में " ऐन्द्रियकत्व " धर्म के समान पाये जाने से " कार्य्यत्व " हेतुद्वारा शब्द के अनित्यत्व का निश्चय नहीं होता किन्तु गोत्वादि नित्य और घटादि अनित्य पदार्थों में रहनेवाले " ऐन्द्रियकत्व " धर्म से सन्देह बना रहता है कि ऐन्द्रियक होने के कारण गोत्व की भान्ति शब्द नित्य है किंवा घट की भान्ति अनित्य है अर्थात् यदि ऐन्द्रियक होने पर भी गोत्व की भान्ति शब्द नित्य नहीं तो समानयुक्ति से घट की भान्ति अनित्य भी नहीं होसक्ता, इसप्रकार नित्यानित्य धर्मों की सदृशता से शब्द में अनित्यत्व सन्देह की आपत्ति देना ही " संशय समा " जाति कहाती है, यही रीति उक्त जाति के सर्वत्र लापन करने में जाननी चाहिये ।

स्मरण रहे कि यद्यपि " साधर्म्यसमा " की भान्ति " संशय-समा " में भी समानधर्म से दोषापत्ति दीजाती है तथापि उक्त दोनों का परस्पर भेद है अभेद नहीं, क्योंकि संशयसमा में संशयहेतुक दोनों धर्मों की सदृशता से और साधर्म्यसमा में केवल एक साधर्म्य से दोष दियाजाता है।

सं०—अब उक्त जाति का समाधान करते हैं:—

साधर्म्यात्संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथावासंशयेऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः । १५ ।

पद०—साधर्म्यात् । संशये । न । संशयः । वैधर्म्यात् । उभयथा । वा । संशये । असन्तसंशयप्रसङ्गः । निसत्वानभ्युपगमात् । च । सामान्यस्य । अप्रतिषेधः ।

पदा०—(साधर्म्यात्) साधारणधर्म के ज्ञान से (संशये) संशय होने पर भी (वैधर्म्यात्) विशेषधर्म के ज्ञान से (संशयः) संशय (न) नहीं रहता (वा) यदि (उभयथा, संशयः) उक्त दोनों ज्ञानों के होने पर भी संशय माना जाय तो (असन्तसंशयप्रसङ्गः) अत्यन्तसंशय की आपत्ति होगी, (च) इसलिये (सामान्यस्य) साधारण धर्म का ज्ञान (निसत्वानभ्युपगमात्) निस संशय का कारण न होने से (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य—जातिवादी ने नित्यानित्यत्वसाधर्म्य से जो शब्द की अनित्यता में संशय कथन कियाहै वह इसलिये ठीकनहीं कि वैधर्म्य=विशेषधर्म के ज्ञान से संशय की निवृत्ति होती है अर्थात् यह स्थाणु है किंवा पुरुष है, इसप्रकार का संशय स्थाणु तथा पुरुष के उच्चैस्त्वादि समानधर्मों के ज्ञान से होकर विशेषदर्शन=वक्रकोटरादिमत्व किंवा करचरणादिमत्व विशेषधर्मों के ज्ञान से निवृत्त होजाती है इसमें किसी वादी की विप्रतिपत्ति नहीं,यदि साधर्म्य की भांति विशेषधर्म का ज्ञान भी संशय का हेतु होता तो कदापि संशय की निवृत्ति न होती किन्तु अत्यन्तसंशय बनारहता परन्तु ऐसा नहीं होता और नाही सामान्य धर्म के ज्ञान को नित्यसंशय का हेतु किसी वादी ने माना है,इससे सिद्ध है कि विशेषधर्म के ज्ञान से संशय का अभाव होता है जैसाकि संशय परीक्षा में पीछे वर्णन कर आये हैं, प्रकृत में तात्पर्य्य यह निकला कि यद्यपि नित्यानित्यवृत्ति "ऐन्द्रियकत्व" साधर्म्य से शब्द में उक्त संशय होसक्ता है तथापि "कार्य्यत्वरूप" विशेषधर्म के ज्ञान से उसकी निवृत्ति में कोई अनुपपत्ति नहीं और नाही उक्त संशय के होने से शब्द के अनित्यत्व में कोई बाधक सम्भावना होसक्ती है।

कई एक लोग इस सूत्र को इसप्रकार लापन करते हैं कि यदि एकमात्र साधरणधर्म का ज्ञान ही संशय कारण माना जाय तो समानन्याय से आकाशादि नित्य तथा घटादि अनित्य पदार्थ में रहने वाले प्रमेयत्वरूप साधारण धर्म के ज्ञान से गोत्वादि जातियों में

नित्यत्व की सिद्धि नहीं होसक्ती अर्थात् सर्वदा नित्यत्व का संशय ही बनारहेगा परन्तु ऐसा मानना जातिवादी को भी इष्ट न होने से स्पष्ट है कि उक्त धर्म का ज्ञानमात्र संशय का हेतु नहीं किन्तु विशेष-धर्म के अज्ञानपूर्वक ही उक्त ज्ञान संशय का हेतु होता है नित्यसंशय किंवा अत्यन्तसंशयका हेतु नहीं, इसलिये जातिवादी का उक्त रीति से शब्द में अनित्यत्व सन्देह आपादन करना साहसमात्र है।

सं०—अब "प्रकरणसमा" लक्षण कथन करते हैं:—

उभयसाधर्म्यात्प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः । १६ ।

पद०—उभयसाधर्म्यात् । प्रक्रियासिद्धेः । प्रकरणसमः ।

पदा०—(उभयसाधर्म्यात्) उभयसाधर्म्य द्वारा (प्रक्रियासिद्धेः) साध्य तथा साध्याभाव की सिद्धि से प्रतिषेध का नाम (प्रकरणसमः) प्रकरणसमा है।

भाष्य—उभयसाधर्म्य=अन्वयसहचार तथा व्यतिरेक सहचार से साध्य किंवा साध्याभाव के आपादन का नाम "**प्रकरणसमा**" है या यों कहो कि "**अधिकबलवत्त्वेन आरोपितप्रमाणान्तरेण बाधेन प्रत्यवस्थानं प्रकरणसमः**"=व्याप्ति आदि के अधिकबल से आरोपित=अयथार्थ प्रमाण द्वारा बाध दोष की आपत्ति को "प्रकरणसमा" कहते हैं, जैसाकि शब्द के कार्य्यत्वानुमान में जातिवादी का यह आक्षेप है कि शब्दत्व की भांति

श्रोत्रद्वारा प्रत्यक्ष का विषय होने से शब्द नित्य है, इस अनुमानरूप अन्य प्रमाण द्वारा शब्दानित्यवादी के अनुमान में बाध दोष पायेजाने के कारण शब्द को नित्य मानना ही ठीक है, इसप्रकार मिथ्या बाध दोष द्वारा प्रकृत में शब्दवृत्ति अनित्यत्व का प्रतिषेध करना ही "प्रकरणसमा" जाति कहती है, और मिथ्या बाध दोष का प्रयोग होने से उक्त जाति को "बाधदेशनाभासा" कहते हैं, नवीन "नैयायिक" प्रकरणसमा का यह लक्षण कथन करते हैं कि "वाद्युक्तहेतोः साध्यविपरीतसाधकहेत्वन्तरोद्भावनं प्रकरणसमा"=वादी के हेतु से विपरीत=साध्याभावसाधक अन्य हेतु का उद्भावन करना ही "प्रकरणसमा" जाति है और सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास का उदाहरण ही उसका उदाहरण जानना चाहिये।

सं०—अब उक्त जाति का समाधान करते हैं:—

प्रतिपक्षात्प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः। १७।

पद०—प्रतिपक्षात्। प्रकरणसिद्धेः। प्रतिषेधानुपपत्तिः। प्रतिपक्षोपपत्तेः।

पदा०—(प्रतिपक्षोपपत्तेः) सिद्धान्त पक्ष सिद्ध होने के कारण (प्रतिपक्षात्) विरुद्ध हेतु द्वारा (प्रकरणसिद्धेः) प्रकरणसिद्धि मानकर (प्रतिषेधानुपपत्तिः) प्रतिषेध की उपपत्ति नहीं होसक्ती।

भाष्य—जातिवादी ने जो प्रतिपक्ष=अनित्यत्वाभावरूप नित्यत्व साध्य के साधक "श्रावणत्व" हेतु से विरुद्ध पक्ष की सिद्धि मानकर शब्द के अनित्यत्व का खण्डन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि व्याप्ति आदि की अधिक सामर्थ्य द्वारा सिद्धान्ती का पक्ष=शब्दवृत्ति अनित्यत्व साध्य प्रथम ही सिद्ध हो चुका है, अतएव बलवत् प्रमाणसिद्ध पदार्थ का प्रमाणान्तरद्वारा बाध नहोसकने से उक्त प्रतिषेध आभासमात्र है।

भाव यह है कि जब जातिवादी पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों के साधर्म्य से प्रकरण को सिद्ध मानले तो प्रकारान्तर से सिद्धान्ती के पक्ष का मण्डन होजाता है, क्योंकि उसने प्रथम व्याप्ति आदि के साधर्म्य से स्वपक्ष स्थापन किया है अन्यथा नहीं।

सं०—अब "अहेतुसमा" जाति का लक्षण कथन करते हैं :—

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः। १८।

पद०—त्रैकाल्यासिद्धेः। हेतोः। अहेतुसमः।

पदा०—(हेतोः) हेतु की (त्रैकाल्यासिद्धेः) त्रैकालिक असिद्धि द्वारा दोषापत्ति का नाम (अहेतुसमः) अहेतुसमा है।

भाष्य—"**कालसम्बन्धखण्डनेनाहेतुतया प्रत्यवस्थानमहेतुसमः**"=साध्य के साथ तीनों कालों में हेतु की असिद्धि से प्रतिषेध का नाम "**अहेतुसमा**" है जैसाकि यदि "कार्य्यत्व" हेतु "अनित्यत्व" आदि साध्यों से पूर्वकालवर्त्ती हो तो साध्याभाव होने के कारण साधन का प्रयोग करनाही निरर्थक है, यदि हेतु साध्य

के उत्तरकालवर्त्ती माना जायं तो हेत्वभाव होने से साध्य की सिद्धि कथनमात्र होगी,और दोनों को समकालवर्त्ती मानने से समकाल उत्पन्न होने वाले शृङ्गादि पदार्थों की भांति उनका परस्पर कार्य्यकारण-भाव कथन करनाही दुर्घट है,इसप्रकार साध्य के साथ तीनों कालों में हेतु के सम्बन्धाभाव को सिद्ध करना "अहेतुसमा"जाति कहाती है और मिथ्या विरोधी तर्क का प्रयोग होने से उक्त जाति को " प्रतिकूलतर्कदेशनाभासा " कहते हैं ।

स्मरण रहे कि प्रकृत में हेतु पद से उत्पादक, ज्ञापक दोनों हेतुओं का ग्रहण है, इसलिये धूमादि ज्ञापक हेतुओं की भान्ति दण्डादि उत्पादक हेतुओं में भी उक्त जाति का प्रसङ्ग जानना चाहिये ।

सं०—अब उक्त जाति का दो सूत्रों से समाधान करते हैं :—

न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः । १९

पद०—न । हेतुतः । साध्यसिद्धेः । त्रैकाल्यासिद्धिः ।

पदा०—(हेतुतः) हेतुद्वारा (साध्यसिद्धेः) साध्यसिद्धि पाये जाने के कारण (त्रैकाल्यासिद्धिः) त्रैकालिक असिद्धि नहीं होसक्ती ।

भाष्य—तीनों कालों में साध्य हेतु के परस्पर कार्य्यकारण-भावात्मक सम्बन्ध का खण्डन करना इसलिये ठीक नहीं कि हेतु द्वारा साध्य की सिद्धि होती है अन्यथा नहीं, यदि ऐसा न माना जाय तो प्रमाणसिद्ध कार्य्यकारणभाव के लोप द्वारा व्यवहारमात्र

का उच्छेद होने से जातिवादी का प्रतिषेध भी निरर्थक होजायगा, परन्तु ऐसा मानना जातिवादी को भी इष्ट न होने के कारण उक्त रीति से हेतु की त्रैकालिक असिद्धि कथन करना भ्रममात्र है ।

प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ।२०।

पद०—प्रतिषेधानुपपत्तेः । प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ।

पदा०—(प्रतिषेधानुपपत्तेः) कार्य्यकारणभाव का खण्डन होने पर प्रतिषेध के न बन सकने से (प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः) सिद्धान्त हेतु का प्रतिषेध नहीं होसक्ता ।

भाष्य—कार्य्य के अव्यहित पूर्वक्षण में विद्यमान होनाही कार्य्य के प्रति कारणता का गमक होता है, इसलिये उसमें भूत भविष्यत् कालों के सम्बन्धाभाव की आपत्ति देना निरर्थक है अन्यथा जातिवादी का प्रतिषेधवाक्य भी समान दोष युक्त होने के कारण सिद्धान्त का बाधक न रहेगा, इस विषय का विशेष विस्तार प्रमाणपरीक्षा में किये जाने से यहां पुनः विस्तार की आवश्यकता नहीं ।

सं०—अब " अर्थापत्तिसमा " लक्षण कथन करते हैं :—

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः । २१ ।

पद०—अर्थापत्तितः । प्रतिपक्षसिद्धेः । अर्थापत्तिसमः ।

पदा०—(अर्थापत्तितः) अर्थापत्तिद्वारा (प्रतिपक्षसिद्धेः) विरोधी पक्ष की सिद्धि मानकर दोषापत्ति का नाम (अर्थापत्तिसमः) अर्थापत्तिसमा है ।

भाष्य-" **अर्थापत्तिपुरस्कारेण साध्याभावोद्भावनमर्थापत्तिसमा** "=अर्थापत्ति के भ्रम से साध्याभाव के अपादान का नाम " अर्थापत्तिसमा " है जैसा कि सिद्धान्ती के शब्दानित्यत्वानुमान " में जातिवादी का यह आक्षेप है कि यदि " शब्दोऽनित्यः "=शब्द अनित्य है, ऐसा कथन करें तो यह बात अर्थ से पाई गई कि शब्द भिन्न सब पदार्थ नित्य हैं, इसलिये शब्द से भिन्न होने के कारण दृष्टान्तभूत घट में अनित्यत्व के अभाव से सिद्धान्ती के " कार्य्यत्व " हेतु में " दृष्टान्तासिद्धि " दोष आता है, क्योंकि उक्त रीति से घट दृष्टान्त में अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा नित्यत्व सिद्ध है अनित्यत्व नहीं, इसप्रकार अर्थापत्ति के आभासमात्र से साध्याभाव को सिद्ध करके "बाध" तथा "सत्प्रतिपक्ष" की मिथ्या उद्भावन द्वारा दोष का आपादन करना भी " अर्थापत्तिसमा " जाति जाननी चाहिये, जैसाकि " **अनुमानादनित्य इत्युक्ते प्रत्यक्षान्नित्य इतिबाधः** "=यदि शब्द को अनुमान से अनित्य माने तो यह बात अर्थापत्ति से सिद्ध होगई कि वह प्रत्यक्ष प्रमाण से नित्य है, इसप्रकार प्रत्यक्षद्वारा शब्द में मिथ्या बाध का उद्भावन करना " अर्थापत्तिसमा " जाति है, किसी एक पदार्थ का विशेष रूप से विधान करने पर शेष पदार्थों का निषेध मानकर उक्त जाति में सब दोषों का मिथ्या प्रयोग किया जाता है, इसलिये "अर्थापत्तिसमा" को " **सर्वदोषदेशनाभासा** " कहते हैं।

सं०-अब उक्त जाति का समाधान करते हैं:-

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः।२२।

पद०—अनुक्तस्य। अर्थापत्तेः। पक्षहानेः। उपपत्तिः। अनुक्तत्वात्। च। अर्थापत्तेः।

पदा०—(अनुक्तस्य, अर्थापत्तेः) यदि अनुक्तमात्र की अर्थापत्ति से साध्य का प्रतिषेध माना जाय तो (अनुक्तत्वात्) अनुक्त होने से (च) और (अर्थापत्तेः) अर्थापत्ति के (अनैकान्तिकत्वात्) अनैकान्तिक होने से (पक्षहानेः, उपपत्तिः) जातिवादी के पक्ष का प्रतिषेध होता है सिद्धान्त का नहीं।

भाष्य—कथन किये हुए को "उक्त" तथा जो कथन न किया जाय उसको "अनुक्त" कहते हैं, अर्थापत्तिसमा का प्रयोग करने वाले जातिवादी से प्रष्टव्य है कि अर्थापत्ति प्रमाणद्वारा उक्त अर्थ से अनुक्तमात्र का अथवा उक्त अर्थ के साधक अर्थ का आपादन किया जाता है, यदि प्रथमपक्ष माना जाय तो समानयुक्ति से अनुक्त होने के कारण जातिवादी के पक्ष का प्रतिषेध होगा सिद्धान्त का नहीं और दूसरे पक्ष में यह दोष है कि अनैकान्तिक होने से अर्थापत्ति सिद्धान्त का बाधक नहीं होसक्ती अर्थात् जैसे शब्द को नित्य मानने वाले जातिवादी ने अर्थापत्ति के आभास से शब्दवृत्ति अनित्यत्व का प्रतिषेध किया है वैसा ही उत्तराभास जातिवादी के पक्ष में भी समान पाया

जाता है जैसाकि यदि "आकाशवृत्ति अस्पर्शत्व साधर्म्य से आकाश की भांति शब्द नित्य है" ऐसा कथन कियाजाय तो यह बात अर्थ से सिद्ध होगई कि घट की भांति "कार्य्यत्व" साधर्म्य से शब्द अनित्य है, इस प्रकार एकतर पक्ष की निश्चायक युक्ति न बन सकने से उक्त अर्थापत्ति द्वारा सिद्धान्त का खण्डन करना जातिवादी का साहसमात्र है।

तात्पर्य्य यह है कि किसी पदार्थ का विशेषरूप से विधान करने पर तद्भिन्न पदार्थमात्र का निषेध नहीं होता, यह नियम है, इस नियम के अनुसार शब्दरूप धर्मी में अनित्यत्वरूप विशेष धर्म का आपादन करना शब्दभिन्न घटादि पदार्थों में नित्यत्व का उपपादक नहीं होसक्ता यदि किसी एक पदार्थ का विशेष कथन अन्य पदार्थ का निषेधक होता तो "नीलो घटः"=घट नील है, इस कथन से घटभिन्न पटादि पदार्थों में नीलवर्ण की उपलब्धि न होती परन्तु होती है इससे सिद्ध है कि किसी तात्पर्य्यविशेष के बिना अर्थापत्ति द्वारा विषय की सिद्धि वा प्रतिषेध नहीं होते या यों कहो कि प्रमाण होने पर भी अर्थापत्ति की स्वविषय में प्रवृत्ति होती अविषय में नहीं जैसाकि प्रमाण परीक्षा में वर्णन कर आये हैं, इसलिये जातिवादी का उक्त प्रतिषेध अर्थापत्ति के भ्रम से है वस्तुतः नहीं।

सं०—अब विशेषसमा का लक्षण कथन करते हैं :—

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात्सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः। २३।

पद०—एकधर्मोपपत्तेः । अविशेषे । सर्वाविशेषप्रसङ्गात् । सद्भावोपपत्तेः । अविशेषसमः ।

पदा०—(एकधर्मोपपत्तेः, अविशेषे) किसी एकधर्म की उपपत्ति द्वारा सदृशता पाये जाने पर (सद्भावोपपत्तेः, अविशेषप्रसङ्गात्) पदार्थों के सत्ता आदि धर्मों से सब को सदृश मानकर दोष देने का नाम (अविशेषसमः) अविशेषसमा है ।

भाष्य—" सन्मात्रवृत्तिधर्मेणाविशेषापादनमविशेषसमा "=प्रमेयत्व तथा सत्ता आदि धर्मों से पदार्थमात्र की सदृशता आपादन करने का नाम "अविशेषसमा" है, जैसाकि यदि "कार्य्यत्व" धर्म से घट तथा शब्द को सदृश मानाजाय तो प्रत्येक पदार्थ में रहने वाले "प्रमेयत्व" "अभिधेयत्व" आदि धर्मों से पदार्थमात्र एकरूप होने के कारण परस्पर भेद न रहने से घट की भांति सामान्यादि नित्यपदार्थ भी अनित्य होजायंगे, इसप्रकार घट तथा शब्दवृत्ति अनित्यत्व की सदृशता से प्रमेयत्वादि धर्मों को सदृश मानकर नित्यपदार्थ में अनित्यत्व की आपत्ति देना ही "अविशेषसमा" जाति कहाती है ।

सं०—अब उक्त जाति का समाधान करते हैं :—

क्वचित्तद्धर्मोपपत्तेः क्वचिच्चानुपपत्तेः प्रतिषेधाभावः । २४ ।

पद०—क्वचित् । तद्धर्मोपपत्तेः । क्वचित् । च । अनुपपत्तेः ।

प्रतिषेधाभावः ।

पदा०-(क्वचित्) किसी एक स्थल में (तद्धर्मोपपत्तेः) हेतु-वृत्ति धर्म के पाये जाने (च) और (क्वचित्) किसी स्थल में (अनुपपत्तेः) न पाये जाने से (प्रतिषेधाभावः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य-किसी एक अनुमान वाक्य के हेतु में व्याप्ति आदि धर्म्म पाये जाते हैं और दूसरे में नहीं, इसलिये व्याप्ति निरपेक्ष हेतु द्वारा सिद्धान्त का प्रतिषेध नहीं होसक्ता अर्थात् "यत्कार्य्यं तदनित्यं"=जो कार्य्य है वह अनित्य होता है, इसप्रकार कार्य्यत्व हेतु में अनित्यत्व की व्याप्ति पाई जाती है प्रमेयत्वादि हेतुओं में नहीं, क्योंकि आत्मादि पदार्थ प्रमेय होने पर भी अनित्य नहीं होते प्रत्युत अजन्यत्वादि हेतुओं से उनकी नित्यता प्रमाणसिद्ध है, अत एव प्रमेयत्वादि हेतुओं से पदार्थमात्र को सदृश मानकर अनित्य कथन करना केवल साहसमात्र है ।

सं०-अब "उपपत्तिसमा" का लक्षण कथन करते हैं :—

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः । २५ ।

पद०-उभयकारणोपपत्तेः । उपपत्तिसमः ।

पदा०-(उभयकारणोपपत्तेः) पक्ष तथा प्रतिपक्ष में प्रमाण की उपपत्ति द्वारा दोष देने का नाम (उपपत्तिसमः) उपपत्तिसमा है ।

भाष्य-" उभयपक्षसाधर्म्येण साधनोपपत्तिकथनमु-

पपत्तिसमा "=व्याप्ति की अपेक्षा छोड़कर पक्ष तथा प्रतिपक्ष के साधर्म्य से स्वपक्षसिद्धिपूर्वक सिद्धान्त में दोषोद्भावन का नाम "उपपत्तिसमा"=है जैसाकि "प्रपञ्चो न मिथ्या प्रमाणविषयत्वात् ब्रह्मवत्"=ब्रह्म की भांति प्रमाणों का विषय होने से प्रपञ्च मिथ्या नहीं,सिद्धान्ती के इस अनुमान में जातिवादी यह दोष देता है कि यदि "प्रपञ्च मिथ्या नहीं" इस पक्ष को वादी सप्रमाण माने तो "प्रपञ्च मिथ्या है" यह मेरा पक्ष भी पक्षत्व धर्म की समानता से सप्रमाण है अर्थात् उक्त रीति से "प्रपञ्च मिथ्या है" यह पक्ष सप्रमाण होने के कारण प्रकारान्तर से प्रपञ्चसत्यत्ववादी का पक्ष ही परास्त होता है मिथ्यात्ववादी का नहीं, इसप्रकार पक्षत्व की समानता से स्वपक्षसाधनपूर्वक प्रपञ्च में मिथ्यात्वाभाव का प्रतिषेध करना ही "उपपत्तिसमा" जाति कहाती है,और मिथ्या बाध का प्रयोग पायेजाने के कारण उक्त जाति को "बाधदेशनाभासा" कहते हैं।

सं०-अब उक्त जाति का समाधान करते हैं :—

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ।२६।

पद०-उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानात् । अप्रतिषेधः ।

पदा०-(उपपत्ति०) उपपत्ति कारण की अभ्यनुज्ञा पाये जाने से (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य-अङ्गीकार करने का नाम "अभ्यनुज्ञा" है, "प्रपञ्च मिथ्या नहीं" इस पक्ष की सदृशता से जो जातिवादी ने "प्रपञ्च

मिथ्या है” इस पक्ष को सप्रमाण स्थापन करके प्रतिषेध किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि जातिवादी ने स्वयं सिद्धान्ती के पक्ष को प्रमाणसिद्ध मान लिया है और प्रमाणसिद्ध वस्तु का तर्काभास से बाध नहीं होसक्ता यदि प्रमाणसिद्ध वस्तु का भी केवल तर्काभास द्वारा बाध माना जाय तो समानयुक्ति से उक्त वादी के अभिमत अद्वैतवाद का भी बाध होगा परन्तु ऐसा मानना जातिवादी को इष्ट न होने से स्पष्ट है कि उक्त अनुमान में आभासमात्र बाध कथन किया है वस्तुतः नहीं ।

सं०—अब “ अनुपलब्धिसमा ” का लक्षण कथन करते हैं :—

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भा-दुपलब्धिसमः । २७ ।

पद०—निर्दिष्टकारणाभावे । अपि । उपलम्भात् । उपलब्धिसमः ।

पदा०—(निर्दिष्टकारणाभावे, अपि) साध्यसाधनार्थ प्रयुक्त हेतु के बिना भी हेत्वन्तर से (उपलम्भात्) साध्य की उपलब्धि मानकर प्रतिषेध करने का नाम (उपलब्धिसमः) उपलब्धिसमा है ।

भाष्य—“ **वाद्युपदर्शितसाधनाभावेऽपि साध्यस्योपलब्धिकथनादुपलब्धिसमा** ”=पक्ष, हेतु आदि के कथन करने पर भी प्रकृत साधन के विना साध्य की उपलब्धि द्वारा आक्षेप का नाम “ **उपलब्धिसमा** ” है जैसाकि “ महानस की भांति धूमवाला होने से पर्वत वन्हिवाला है, इस अनुमान में जातिवादी का यह

आक्षेप है कि पर्वत में आलोक=प्रकाश आदि कारणों से भी वन्हि की सिद्धि पाईजाती है,इसलिये केवल धूम को वन्हि का साधन मानने में क्या प्रमाण ? और दूसरी बात यह है कि अनेक पर्वत वन्हिरहित उपलब्ध होने के कारण "धूम" बाधित होने से भी वन्हिसिद्धि में ऐकान्तिक हेतु नहीं, इसप्रकार प्रकृत धूमादि साधनों को छोड़कर अन्य साधनों द्वारा उसी साध्य की उपलब्धि मानकर आक्षेप करना किंवा साध्यसाधन के अभाव वाले कई एक पर्वतादि पक्षों में मिथ्या बाध का उद्भावन करना ही "उपलब्धिसमा" जाति कहाती है, और इसको मिथ्या विरोधी तर्क का प्रयोग होने से "**प्रतिकूल-तर्कदेशनाभासा**" तथा मिथ्या बाध का उद्भाव करने से "**बाधदेशनाभासा**" कहते हैं।

सं०—अब उक्त जाति का समाधान करते हैं:—

कारणान्तरादपितद्धर्मोपपत्तेर-प्रतिषेधः । २८ ।

पद०—कारणान्तरात् । अपि । तद्धर्मोपपत्तेः । अप्रतिषेधः ।

पदा०—(कारणान्तरात्) अन्य हेतु द्वारा (अपि) भी (तद्धर्म्मोपपत्तेः) साध्यसिद्धि पायेजाने से (अप्रतिषेधः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य—यदि प्रकृत साधनद्वारा साध्य की सिद्धि होने पर भी हेत्वन्तर से साध्यसिद्धि होजाय तो प्रथम हेतु दुष्ट नहीं होता, क्योंकि द्वितीय हेतु की भांति प्रथम हेतु का भी उसी साध्य के साथ व्याप्तिसम्बन्ध निराबाध पाया जाता है।

भाव यह है कि केवल धूम से वन्हि की सिद्धि होती है आलोकादि से नहीं इस अभिप्राय से धूमद्वारा वन्ह्यनुमान का प्रयोग नहीं कियाजाता किन्तु " पर्वते वन्हिर्नवा "=पर्वत में वन्हि है किंवा नहीं, इस सन्देह के निवारणपूर्वक वन्हि के साधनार्थ उक्त अनुमान का प्रयोग होता है अर्थात् जिन हेतुओं का स्वसाध्य के साथ अव्यभिचरितसम्बन्ध पाया जाय वही साध्य की सिद्धि में समर्थ होते हैं केवल एक हेतु से साध्यसिद्धि में कोई आग्रह नहीं और नाही प्रथम हेतुद्वारा साध्यसन्देह निवृत्त होने पर तत्समान हेत्वन्तर के प्रयोग की आवश्यकता है, यही रीति सर्वत्र उक्त जात्युत्तर के खण्डनार्थ जाननी चाहिये ।

सं०—अब अनुपलब्धिसमा का लक्षण कथन करते हैं:—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः । २९ ।

पद०—तदनुपलब्धेः । अनुपलम्भात् । अभावसिद्धौ । तद्विपरीतोपपत्तेः । अनुपलब्धिसमः ।

पदा०—(तदनुपलब्धेः, अनुपलम्भात्) आवरणादिकों की अनुपलब्धि का उपलम्भ न होने से (अभावसिद्धौ) हेत्वभाव के सिद्ध होने पर (तद्विपरीतोपपत्तेः) आवरण की उपपत्तिद्वारा प्रतिषेध करने का नाम (अनुपलब्धिसमः) अनुपलब्धिसमा है ।

भाष्य—प्रतीति का नाम "उपलब्धि" तथा उसके अभाव को

"अनुपलब्धि" कहते हैं,उपलब्धि, उपलम्भ यह दोनों एकार्थवाची हैं, "वादिनानुपलब्धिवशात्कस्यचित्पदार्थस्यानङ्गीकारेऽनुपलब्धिवशादेव वाद्यभिमतस्यापि यत्किञ्चित्पदार्थस्याभावसाधनमनुपलब्धिसमा"=अनुपलब्धिद्वारा किसीएक पदार्थ का खण्डन करने पर उसी अनुपलब्धि से सिद्धान्ती के माने हुए पदार्थके प्रतिषेधका नाम"अनुपलब्धिसमा"है,जैसाकि मृत्तिकादि आवरण पाये जाने से भूमि के भीतर विद्यमान होने पर भी जल की उपलब्धि नहीं होती इसी प्रकार उच्चारण से प्रथम विद्यमान होने पर भी आवरण होने के कारण शब्द की उपलब्धि नहीं होती और जब कण्ठताल्वादि अभिघात से आवरण निवृत्त होजाता है तब उसकी उपलब्धि होती है, यह शब्दनित्यत्ववादी का सिद्धान्त है इस पर अनित्यत्ववादी=सिद्धान्ती का यह कथन है कि यदि आवरणवशात् शब्द की अनुपलब्धि मानी जाय तो जलादिविषयक मृत्तिकादि आवरण की भांति शब्दावरण की भी उपलब्धि होनी चाहिये परन्तु नहीं होती इससे स्पष्ट है शब्द का कोई आवरण नहीं और नाही आवरण के होने से उसकी अनुपलब्धि मानना ठीक है किन्तु संयोगादि कारणों से उत्पन्न होने पर ही शब्द का साक्षात्कार होता है अन्यथा नहीं,इसलिये उसको अनित्य मानना ही समीचीन है जैसाकि पीछे द्वितीयाध्याय में वर्णन कर आये हैं, इस प्रकार शब्दानित्यत्व के स्थापन करने पर पुनः शब्दनित्यत्ववादी सिद्धान्ती के उक्त कथन में जाति द्वारा यह दोष देता है कि

"यद्यनुपलब्धित आवरणवशाच्छब्दो नोपलभ्यते तदानुपलब्धेरप्यनुपलब्ध्यभावे सिद्धे तदभावादावरणसिद्धिः"=यदि आवरण की अनुपलब्धि से शब्दावरण का अभाव माना जाय तो आवरणानुपलब्धि=आवरण की अनुपलब्धि का उपलम्भ=प्रत्यक्ष न होने से शब्दावरण के मानने में क्या हानि ? अर्थात् जैसे सिद्धान्ती ने शब्दावरण का प्रत्यक्ष न होने से आवरणाभाव मानकर शब्द को अनित्य कथन किया है वैसेही समान न्याय से आवरण की अनुपलब्धि का भी प्रत्यक्ष न होने के कारण आवरण ही सिद्ध होता है आवरणाभाव नहीं, इस प्रकार आवरणविषयक अनुपलब्धि की अनुपलब्धि आवरणरूप होने से सिद्ध है कि शब्द नित्य है अनित्य नहीं, इस रीति से वादी के समान अनुपलब्धि द्वारा सिद्धान्ती का प्रतिषेध करके स्वपक्ष का स्थापन करना ही "अनुपलब्धिसमा"=जाति कहाती है और मिथ्या विरुद्धतर्क का प्रयोग पाये जाने से उक्त जाति को "प्रतिकूलतर्कदेशनाभासा" कहते हैं।

सं०—अब उक्त जाति का समाधान करते हैं:—

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः । ३० ।

पद०—अनुपलम्भात्मकत्वात् । अनुपलब्धेः । अहेतुः ।

पदा०—(अनुपलब्धेः) आवरणानुपलब्धि (अनुपम्भात्मकत्वात्) उपलम्भाभाव होने से (अहेतुः) उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं ।

भाष्य-जातिवादी ने आवरण की अनुपलब्धि का प्रत्यक्ष न मानकर जो शब्दावरण उपपादन करते हुए शब्द को नित्य मानने की चेष्टा की है वह इसलिये ठीक नहीं कि उपलब्धि के अभावरूप अनुपलब्धि का प्रत्यक्ष अन्तरिन्द्रिय से होता है जैसाकि उत्तर सूत्र से स्पष्ट किया जायगा और मृत्तिकादि आवरणों की भांति शब्दावरण किसी प्रमाण से सिद्ध न होने के कारण स्पष्ट है कि शब्द की अनुपलब्धि में संयोगादि कारणों का अभाव ही नियामक है अर्थात् उक्त कारणों के होने पर शब्द की उत्पत्ति होती है न होने से नहीं अतएव उसके प्रत्यक्षाभाव को उपपादन करने के लिये आवरण मानकर नित्य मानना ठीक नहीं, शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि विस्तारपूर्वक पीछे वर्णन किये जाने से यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ को स्फुट करते हैं:—

ज्ञानविकल्पनाञ्च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम् । ३१ ।

पद०-ज्ञानविकल्पानां। च। भावाभावसंवेदनात्। अध्यात्मम्।

पदा०-(च) और (ज्ञानविकल्पानाम्) प्रत्येक ज्ञान के (अध्यात्मं, भावाभावसंवेदनात्) भाव तथा अभाव का मन से साक्षात्कार पाये जाने के कारण अनुपलब्धि का प्रत्यक्ष न मानना ठीक नहीं।

भाष्य-जैसे "घटंसाक्षात्करोमि"=घट को प्रत्यक्ष से जानता हूं, "वन्हिमनुमिनोमि"=वन्हि का अनुमान करता हूं,इत्यादि

अनुभवों का मनसे प्रत्यक्ष होता है क्योंकि अन्तरिन्द्रिय होने से आत्मा के विशेषगुणों की उपलब्धि का वही एकमात्र साधन है इसी प्रकार "अत्रघटाभावः"=यहां घटका अभाव है, इत्यादि ज्ञानाभाव का प्रत्यक्ष भी मन से होने के कारण अनुपलब्धि की अनुपलब्धि कथन करना जातिवादी का केवल साहसमात्र है।

सं०—अब "अनित्यसमा" का लक्षण कथन करते हैं:—

साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेःसर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः। ३२।

पद०—साधर्म्यात्। तुल्यधर्मोपपत्तेः। सर्वानित्यत्वप्रसङ्गात्। अनित्यसमः।

पदा०—(साधर्म्यात्) साधर्म्य से (तुल्यधर्मोपपत्तेः) समानरूपता की आपत्ति द्वारा (सर्वानित्यत्वप्रसङ्गात्) पदार्थमात्र में अनित्यता आपादन करनेका नाम (अनित्यसमः) अनित्यसमा है।

भाष्य— "अनित्यदृष्टान्तसाधर्म्यात्सर्वानित्यत्वप्रसङ्गोद्भावनमनित्यसमा"=अनित्यदृष्टान्तके साधर्म्य से पदार्थमात्र में अनित्यत्व की आपत्ति को "अनित्यसमा" कहते हैं, जैसाकि यदि दृष्टान्तभूत घटके कार्य्यत्वरूप साधर्म्य से शब्द को अनित्य मानें तो प्रमेयत्वादि साधारणधर्मों के सम्बन्ध से पदार्थमात्रको अनित्य ही क्यों न मानाजाय अर्थात् यदि अनित्यघटादिवृत्ति प्रमेयत्वादि साधर्म्य से पदार्थमात्र अनित्य नहीं तो उक्त साधर्म्य से शब्द भी अनित्य

नहीं होसक्ता, इस प्रकार मिथ्या विरोधी तर्क पाये जाने के कारण उक्त जाति को "प्रतिकूलतर्कदेशनाभासा" कहते हैं।

वृत्तिकार "विश्वनाथ" का कथन है कि व्याप्ति की अपेक्षा छोड़कर दृष्टान्त के किसी एक साधर्म्य से पदार्थमात्र में साध्यरूपता की आपत्ति देना ही "अनित्यसमा" है और "अविशेषसमा" से पदार्थमात्र में "सादृश्य" की आपत्ति तथा "अनित्यसमा" से सब पदार्थों में अनित्यरूप साध्य की आपत्ति देने के कारण उक्त दोनों जातियें परस्पर भिन्न हैं,और जो कईएक लोग अक्षरार्थ के अनुसार केवल अनित्यत्व की समता द्वारा दोषापत्ति को "अनित्य समा" कहते हैं यह उनकी भूल है,क्योंकि "वन्हिमान्धूमान्महानसवत्"=महानस की भांति पर्वतधूम हेतु से वन्हिवाला है,इस अनुमान में महानस दृष्टान्त के "प्रमेयत्व" साधर्म्य से पदार्थमात्र में वान्हि की आपत्ति देना भी एक प्रकार की पृथक् जाति माननी पड़ेगी परन्तु उक्त गौरव किसी न्यायाचार्य्य को इष्ट न होनेके कारण अक्षरार्थानुसारी लक्षण समीचीन नहीं।

सं०-अब उक्त जाति का दो सूत्रोंसे समाधान करते हैं:—

साधर्म्यादसिद्धेःप्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्यात् । ३३ ।

पद०-साधर्म्यात् । असिद्धेः । प्रतिषेधासिद्धिः । प्रतिषेध्यसाधर्म्यात् ।

पदा०-(साधर्म्यात्, असिद्धेः) किसी एक साधर्म्य के पायेजाने पर साध्यसिद्धि न होने से (प्रतिषेधासिद्धिः) प्रतिषेध की सिद्धि नहीं होसक्ती, क्योंकि (प्रतिषेध्यसाधर्म्यात्) सिद्धान्त पक्ष के साथ जातिवाक्य का भी साधर्म्य पाया जाता है ।

भाष्य-यदि किसी एक समानधर्म द्वारा पदार्थमात्र में साध्य की आपत्ति देनें से प्रकृत हेतु साध्य का गमक न माना जाय तो उक्त जातिवाक्य भी प्रतिषेध का साधक न रहेगा अर्थात् "कार्य्यत्वं-हेतुर्नानित्यत्वसाधकं घटादिदृष्टान्तसाधर्म्यात् प्रमेय-त्ववत्"=प्रमेयत्व की भांति घटादि दृष्टान्तों के साथ साधारणधर्म पायेजाने से कार्य्यत्व हेतु शब्दवृत्ति अनित्यत्व का साधक नहीं,इस अनु-मान वाक्यमें "घटादिदृष्टान्तसाधर्म्यात्" हेतु भी जातिवादी के इष्ट का साधक नहींहोसक्ता,क्योंकि उक्त हेतु का प्रमेयत्वादिरूप साधर्म्य कार्य्य त्व तथा घटादिदृष्टान्तों में समान पायाजाता है, इसलिये केवल साधर्म्य को साधक बाधक मानना युक्तियुक्त न होने से आदरणीय नहीं ।

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्यधर्म-स्यहेतुत्वात्तस्यचोभयथाभावान्ना-विशेषः । ३४ ।

पद०-दृष्टान्ते । च । साध्यसाधनभावेन । प्रज्ञातस्य । धर्मस्य । हेतुत्वात् । तस्य । च । उभयथा । भावात् । न । अविशेषः ।

पदा०-(दृष्टान्ते) दृष्टान्त में (साध्यसाधनभावेन) साध्यसाधन-भाव=व्याप्तिज्ञानपूर्वक (प्रज्ञातस्य, धर्मस्य) जाना हुआ धर्म (हेतुत्वात्) साधक होने से (च) तथा (तस्य, उभयथा, भावात्) उसी साधक हेतु का अन्वयव्यतिरेकभाव पाये जाने से (अविशेषः, न) केवल साधर्म्य द्वारा दोष देना ठीक नहीं।

भाष्य-दृष्टान्त में प्रथम जिस हेतु का व्याप्तिज्ञान होचुका है वही व्याप्तिविशिष्टत्व तथा पक्षधर्मताबल से प्रकृत पक्ष में साध्य सिद्धि का गमक होता है अन्य नहीं यह नियम है, इस नियम के अनुसार घटादि दृष्टान्तों में "कार्य्यत्व" हेतु की व्याप्ति पायेजाने तथा प्रकृत शब्दरूप पक्ष में उक्त हेतु के पक्षधर्मता ज्ञान से अनित्यत्व साध्य की सिद्धि में कोई बाधा नहीं, इस प्रकार जातिवादी के प्रमेयत्वादि हेतुओं में उक्त नियम न पाये जाने से "कार्य्यत्व" हेतु में प्रमेयत्वादि साधर्म्य द्वारा दोषोद्भावन करना सर्वथा असङ्गत है, यही रीति सर्वत्र उक्त जाति के उपपादन तथा खण्डन की जाननी चाहिये।

सं०-अब "नित्यसमा" का लक्षण कथन करते हैं:—

नित्यमनित्यभावादनित्येनित्यत्वोपपत्ते नित्यसमः। ३५।

पद०-नित्यम्। अनित्यभावात्। अनित्ये। अनित्यत्वोपपत्तेः। नित्यसमः।

पदा०-(नित्यं, अनित्यभावात्) अनित्य नित्य होने के कारण (अनित्ये) अनित्य पदार्थ में (नित्यत्वोपपत्तेः) नित्यता की उपपत्ति द्वारा दोष देने का नाम (नित्यसमः) नित्यसमा है ।

भाष्य-" **धर्मस्य नित्यानित्यत्वविकल्पाद्धर्मिणो नित्यत्वसाधनं नित्यसमा** "=धर्म के नित्यानित्यत्व विकल्प द्वारा धर्मी को नित्य सिद्ध करने का नाम " **नित्यसमा** " है या यों कहो कि किसी एक धर्मीके अनित्यत्व धर्म में नित्य तथा अनित्य-विकल्प द्वारा दोषापत्ति को "नित्यसमा" कहते हैं, जैसाकि शब्दादि अनित्य पदार्थों में अनित्यत्व धर्म नित्य है किंवा अनित्य है, यदि प्रथम पक्ष मानें तो अनित्यत्व धर्म के सर्वदा बने रहने से धर्मो में अनित्यत्वाभावरूप नित्यत्वही सिद्ध होगा अर्थात् जैसे दण्डके न होने पर पुरुष दण्डी नहीं कहाता वैसे ही " अनित्यत्व " धर्म के न रहने पर शब्दादि धर्मी भी अनित्य न रहेंगे, यदि वादी धर्मी को अनित्य सिद्ध करने के लिये तद्गत अनित्यत्व धर्म को अनित्य मानें तो भी अनित्यत्व के नाश से अनन्तकाल पर्य्यन्त नित्यत्व ही बना रहेगा, इस प्रकार अनित्यत्वविषयक विकल्प " नित्यसमा " जाति कहाती है, और मिथ्या बाध किंवा मिथ्या सत्प्रतिपक्ष का प्रयोग होनेसे उक्त जाति को "**बाधदेशनाभासा**" अथवा "**सत्प्रतिपक्षदेशनाभासा**" कहते हैं, उक्त जातिप्रयोग करनेवाले वादी का अभिप्राय यह है कि अनित्यत्व धर्म के अनित्य

होने से धर्मी नित्य होता है और यदि उक्त धर्म को अनित्य माना जाय तो भी धर्मी का नित्य होना निराबाध है।

सं०—अब उक्त जाति का समाधान करते हैं:—

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः । ३६ ।

पद०—प्रतिषेध्ये। नित्यं। अनित्यभावात्। अनित्ये। नित्यत्वोपपत्तेः। प्रतिषेधाभावः।

पदा०—(प्रतिषेध्ये) प्रतिषेध्य पक्ष में (नित्यं, अनित्यभावात्) सर्वदा अनित्यत्व बने रहने से और (अनित्ये) अनित्य में (नित्यत्वोपपत्तेः) नित्यता पाये जाने से (प्रतिषेधाभावः)उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं।

भाष्य—प्रतिषेध्य=शब्द को अनित्य मानने वाले सिद्धान्ती के पक्ष में अनित्यत्व धर्म के सर्वदा बने रहने पर भी शब्दादि धर्मी नित्य नहीं होसक्ते अर्थात् सिद्धान्तपक्ष का खण्डन करने के लिये जो जातिवादी ने "नित्यं अनित्यभावात्" यह हेतु दिया है उससे प्रतीत होता है कि उक्त वादी स्वयं "अनित्यत्व" को मानता है यदि वह ऐसा न माने तो "हेतु" न बन सकने से जातिवाक्य द्वारा अनित्यत्व का प्रतिषेध नहीं होसक्ता, दूसरी बात यह है कि "अनित्य पदार्थ की अनित्यता नित्य होती है" इस वाक्य द्वारा तीनों कालों में वर्त्तमान होना "नित्य" पद का अर्थ नहीं अपितु उत्पत्ति से लेकर विनाश पर्य्यन्त बने रहने का नाम "नित्य" है और ऐसी अनित्यता शब्दरूप धर्मी में सदा पायेजाने के कारण कोई दोष

नहीं आता अर्थात् उत्पत्ति से लेकर विनाशपर्य्यन्त ऐसा कोई समय नहीं जिसमें शब्दवृत्ति " अनित्यत्व " न पाया जाय अथवा उसके न होने से शब्द को नित्य ही मानाजाय, इस प्रकार जातिवादी का उक्त तर्क आभासमात्र होने से सिद्धान्त का बाधक नहीं ।

स्मरण रहे कि कईएक लोग "अनित्ये, अनित्यत्वोपपत्तेः" ऐसा पदच्छेद मानकर यह अर्थ करते हैं कि अनित्य पदार्थों में अनित्यत्व की उपपत्ति पाये जाने से भी जातिवादी का उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्ध कारणों से जन्य होना ही अनित्य पदार्थों की अनित्यता का गमक है और प्रमाणसिद्ध वस्तु का केवल तर्काभास द्वारा खण्डन न बनसकने से उक्त प्रश्न की अनुपपत्ति होने के कारण शब्दादि धर्मियों को अनित्य मानना ही समीचीन है ।

सं०-अब " कार्य्यसमा " जाति का लक्षण कथन करते हैं:-

प्रयत्नकार्य्यानेकत्वात्कार्य्यसमः । ३७ ।

पद०-प्रयत्नकार्य्यानेकत्वात् । कार्य्यसमः ।

पदा०-(प्रयत्नकार्य्यानेकत्वात्) प्रयत्न से होने वाले कार्य्यों की अनेकरूपता द्वारा दोषापादन का नाम (कार्य्यसमः) कार्य्यसमा है ।

भाष्य-" **वाद्युक्तहेतोरन्यकार्य्येणापि सम्भवाभिधानं कार्य्यसमा** "=सिद्धान्ती के कथन किये हुए हेतु का अन्य कार्य्य में उपयोग दिखलाकर दोष देने का नाम " कार्य्यसमा " है,

जैसाकि "शब्दोऽनित्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् पट वत्"=पट की भांति प्रयत्न के विना उत्पन्न न होसकने से शब्द अनित्य है, इस अनुमान में जातिवादी यह दोष देता है कि "प्रयत्नानन्तरीयकत्व"=प्रयत्न के विना न होनारूप हेतु प्रयत्नजन्य पटादि-पदार्थों में तथा प्रयत्न के अनन्तर मृत्तिकादि आवरणों की निवृत्ति-पूर्वक उपलब्ध होने वाले जलादि पदार्थों में समान पाया जाता है परन्तु जलादि पदार्थ पट की भांति उक्त जीवप्रयत्न से जन्य नहीं, जैसाकि कूपादि जलों में प्रसिद्ध है, इसलिये शब्द भी प्रथमसिद्ध जलादि की भांति प्रयत्नजन्य न होने से नित्य है अर्थात् पूर्वसिद्ध पदार्थों के आवरणनिवृत्ति की भांति पुरुषप्रयत्न का केवल शब्दा-वरण की निवृत्तिरूप कार्य्य में उपयोग होने से उक्त हेतु "असिद्ध" होने के कारण शब्दवृत्ति अनित्यत्व का साधक नहीं होसक्ता, इस प्रकार प्रकृत साध्य को छोड़कर हेतु का अन्य कार्य्य में उपयोग प्रतिपादन करना ही "कार्य्यसमा" जाति कहाती है, और मिथ्या असि-द्धि दोष का प्रयोग होने से उक्त जाति को "असिद्धिदेशनाभा-सा" कहते हैं।

कईएक "आचार्य्य" उक्त जाति का इस प्रकार लक्षण करते हैं कि "प्रयत्नकार्य्याणामनेकविधत्वादुक्तान्यस्य व्याघा-तकमुत्तरं जातिः"=प्रयत्न से होने वाले कार्य्यों का परस्पर विरोध कथन करके दोषापादन का नाम "कार्य्यसमा" है, जैसाकि

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है, परन्तु इस लापन में केवल प्रकार भेद है वस्तु भेद नहीं।

स्मरण रहे कि आकृतिगण होने से उक्त सूत्र में अनुक्त जातियों का भी ग्रहण जानना चाहिये, जैसाकि "**त्वत्पक्षेऽपि किञ्चिद्दूषणं भविष्यतीति शंकापि शाठीसमा जातिः**"= सदुत्तर न बन सकने से जातिवादी सिद्धान्ती के प्रति यह कथन करे कि आपके पक्ष में कोई न कोई दोष अवश्य होगा, क्योंकि निर्दोष कोई वस्तु नहीं, इसप्रकार दुराग्रह से दोषापत्ति देने का नाम "**शाठीसमा**" अथवा कार्य्यकारण की परस्पर अपेक्षा दिखलाकर अन्योन्याश्रयादिपूर्वक मिथ्या अनवस्था दोष देने का नाम "**अनुपकारसमा**" जाति है, इत्यादि, जिस समुदाय की संख्या नियत नहो किन्तु स्वरूप से जानाजाय उसको "**आकृतिगण**" कहते हैं।

सं०—अब उक्त जाति का समाधान करते हैं :—

कार्य्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः । ३८ ।

पद०—कार्य्यान्यत्वे। प्रयत्नाहेतुत्वं। अनुपलब्धिकारणोपपत्तेः।

पदा०—(अनुपलब्धिकारणोपपत्तेः) उपलब्धि कारण के न पाये जाने से (कार्य्यान्यत्वे) शब्द के नित्य होने में (प्रयत्नाहेतुत्वम्) जातिवादी का माना हुआ प्रयत्न हेतु नहीं बनसक्ता।

भाष्य—जातिवादी ने जो प्रयत्नद्वारा आविर्भाव मानकर शब्द को नित्य कथन किया है अर्थात् पुरुषप्रयत्न का जो शब्दावरण की निवृत्ति में उपयोग माना है वह इसलिये ठीक नहीं कि जलादिकों के मृत्तिकादि आवरणों की भांति शब्द का कोई आवरण उपलब्ध नहीं होता, यदि शब्द नित्य होता और उसका कोई आवरण पायाजाता तो शब्दावरण की उपलब्धि किसी न किसी प्रमाण से अवश्य पाई जाती परन्तु ऐसा न होने से स्पष्ट है कि शब्द घटादि कार्य्यों की भांति प्रयत्न के विना न होसकने से प्रयत्नजन्य है, अतएव उसके अनित्य होने में कोई अनुपपत्ति नहीं और नाही उक्त रीति से "प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्" हेतु "असिद्ध" होसक्ता है, यही रीति सर्वत्र "कार्य्यसमा" जाति के उपपादन तथा समाधान की जाननी चाहिये, यहां ग्रन्थगौरवभय से दिक्प्रदर्शन मात्र किया है।

स्मरण रहे कि जातियों के आकृतिगण पक्ष में उक्त सूत्र का यह अर्थ है कि "**कार्य्याणां जातीनां नानाविधत्वे०**"=दोष देने के लिये जातिवादी का प्रयत्न=जातिवाक्य का प्रयोग अहेतु=निष्फल है, क्योंकि सिद्धान्तपक्ष की भांति उक्त वाक्य में व्याप्तिपक्षधर्मतादि धर्म उपलब्ध नहीं होते अर्थात् जातिवाक्य प्रमाण न होने से सिद्धान्त के बाधक नहीं, यही रीति प्रायः सर्वत्र जात्युत्तर के अनुसार दोष देकर जातियों के खण्डन की जाननी चाहिये।

भाव यह है कि वादादि कथा में वादी प्रतिवादी दोनों सदुत्तरों से स्वपक्ष स्थापन तथा परपक्ष का प्रतिषेध करें उत्तराभास

से नहीं, क्योंकि सदुत्तर से ही तत्वनिर्णय किंवा विजयादिफल सिद्ध होते हैं, यदि वादी प्रतिवादी दोनों उत्तराभास से प्रवृत्त हों तो "षट्पक्षी" होने के कारण तत्वनिर्णयादि के अभावद्वारा कथाप्रसङ्ग ही निष्फल होजाता है; इसलिये उत्तराभासपूर्वक कथाप्रसङ्ग अनुचित होने के कारण सिद्धान्ती को उचित है कि वह जात्युत्तर के प्रति सदुत्तर का प्रयोग करे जाति का नहीं।

सं०—अब शिष्यों के बोधनार्थ महर्षि "गोतम" षट्पक्षी का निरूपण करते हैं:—

प्रतिषेधेपि समानोदोषः । ३९ ।

पद०—प्रतिषेधे । अपि । समानः । दोषः ।

पदा०—(प्रतिषेधे) प्रतिषेधवाक्य में (अपि) भी (दोषः) जातिवादी का दिया हुआ दोष (समानः) समान होता है ।

भाष्य—जातिवादी का उद्भावन किया हुआ दोष उसके प्रतिषेधवाक्य में समान होने के कारण सिद्धान्त का बाधक नहीं होसक्ता अर्थात् प्रकृत में प्रथम स्वपक्ष स्थापन करने वाले वादी का नाम "स्थापनावादी" जात्युत्तर से उसका प्रतिषेध करने वाले वादी का नाम "प्रतिषेधवादी" और कथाप्रसङ्ग में वादियों के दुराग्रह से उत्तरोत्तर होने वाले असदुत्तररूप छः पक्षों को "षट्पक्षी" कहते हैं, षट्पक्षी तथा मिथ्याषट्पक्ष यह दोनों शब्द समानार्थक हैं, "शब्दोऽनित्यः प्रयत्नानन्तरीय-

कत्वात् घटवत्"=घट की भांति प्रयत्न के विना न होसकने से शब्द अनित्य है,यह "स्थापनावादी" का प्रथम पक्ष है,इसपर द्वितीय-पक्षस्थ "प्रतिषेधवादी" जातिद्वारा यह आक्षेप करता है कि "प्रयत्नकार्य्यानेकत्वात्"=प्रयत्न से होने वाले कार्य्यों की अनेकता पाये जाने के कारण उक्त हेतु "अनैकान्तिक" हेत्वाभास होने से सिद्धान्त का साधक नहीं अर्थात् जो प्रयत्न के विना न होसके वह जन्य होने से अनित्य होता है यह नियम नहीं, क्योंकि नित्य शब्द प्रयत्न से अभिव्यक्त होने पर भी प्रयत्नजन्य नहीं होता जैसाकि जिस प्रकार प्रयत्नद्वारा मृत्तिकादि आवरणों की निवृत्ति से पूर्वसिद्ध भूमिस्थ जलादि अभिव्यक्त होने पर भी प्रयत्नजन्य नहीं होते इसी प्रकार शब्द भी प्रयत्नजन्य न होने के कारण "प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्" हेतु "अनैकान्तिक" है, इसपर यदि तृतीयपक्षस्थ स्थापनावादी "आवरणादि की उपलब्धि न होने से शब्द नित्य नहीं" इत्यादि क्रम से तदुत्तर का प्रयोग करे जैसाकि द्वितीयाध्याय में वर्णन कर आये हैं तो विशेष हेतु के निवेश-पूर्वक यथार्थ उत्तर बन सकने से "षट्पक्षी" का अवकाश नहीं होता, यदि स्थापनावादी=प्रथमपक्षस्थ पुरुष उक्त क्रम को अवलम्बन न करके तृतीय कोटि=पक्ष में स्थित होकर "प्रतिषेध-वादी" के प्रति यह उत्तर कथन करे कि "तावकः प्रतिषेधोप्यनैकान्तिकः किञ्चित्प्रतिषेधति किञ्चिन्नेति हेतोः साधकत्वं प्रतिषेधति न स्वरूपमिति"=उक्त प्रतिषेधवाक्य

भी अनैकान्तिक है, क्योंकि मेरे हेतु को साध्यसिद्धि में असमर्थ सूचित करने पर भी उसके स्वरूप का प्रतिषेधक नहीं होता, इस रीति से "प्रयत्नकार्य्यानेकत्व" हेतु से कथन किया हुआ दोष दोनो पक्षों में समान होने के कारण केवल आपके पक्ष का साधक न बनसकने से "शब्द अनित्य है" यही पक्ष स्थिर होता है, इस प्रकार तीन पक्षों के प्रवृत्त होने पर जब प्रतिषेधवादी चतुर्थपक्ष का उसी रीति से अवलम्बन करे तो वादादि कथा कथाभासरूप षट्पक्षी के स्वरूप से प्रवृत्त होती हैं।

सं०—अब उक्त नियम का जातिमात्र में अतिदेश कथन करते हैं:—

सर्वत्रैवम् । ४० ।

पद०—सर्वत्र । एवम् ।

पदा०—(एवं) उक्त रीति से (सर्वत्र) सब जातियों में उत्तरोत्तर असदुत्तर का प्रसङ्ग होने के कारण षट्पक्षी की प्रवृत्ति होती है।

भाष्य—जिस प्रकार कार्य्यसमा जाति से उत्तरोत्तर उत्तराभास द्वारा षट्पक्षी का प्रसङ्ग होता है इसी प्रकार जातिमात्र में उत्तराभासपूर्वक षट्पक्षी की प्रवृत्ति जाननी चाहिये, जैसाकि कार्य्य होने से शब्द अनित्य है, जब स्थापनावादी के इस प्रथमपक्ष में प्रतिषेधवादी दूसरे पक्ष को साधर्म्यसमा जाति से अवलम्बन करे कि आकाश के अमूर्त्तत्व साधर्म्य से शब्द नित्य है तब पुनः स्थापनावादी तृतीयपक्ष में उत्कर्षसमा जाति द्वारा "प्रतिषेधवादी" के प्रति

यह उत्तर दे कि यदि शब्द को आकाश के साधर्म्य से नित्य मानें तो वह उसी साधर्म्य से आकाश की भांति महत्परिमाण वाला होना चाहिये अर्थात् यदि अमूर्त्तत्व साधर्म्य के होने पर शब्द को महत्परिमाणवाला न मानें तो वह आकाश के समान नित्य भी नहीं होसक्ता, क्योंकि साधर्म्यसमा जाति का प्रयोग करने वाले वादी ने किसी विशेषहेतु का उपन्यास नहीं किया जिससे शब्द को आकाशवृत्ति अमूर्त्तत्व साधर्म्य से नित्य मानें और उसी साधर्म्य द्वारा परममहत्परिमाण वाला न मानाजाय परन्तु शब्द महत्परिमाण वाला जातिवादी को भी इष्ट न होने से स्पष्ट है कि वह अमूर्त्तत्व साधर्म्यमात्र से नित्य नहीं, इसी प्रकार उत्तरोत्तर उत्तराभास द्वारा जातिमात्र में षट्पक्षी की प्रवृत्ति जाननी चाहिये।

स्मरण रहे कि यद्यपि "षट्पक्षी" की समाप्ति पर उक्त अतिदेश करना उचित था परन्तु "त्रिपक्षी" आदि कथाभासों को स्फुट करने के लिये षट्पक्षी के मध्य में ही उक्त अतिदेश कथन किया गया है और जो तत्वनिर्णयादि का अभावरूप फल षट्पक्षी से होता है वही "त्रिपक्षी" से भी जानना चाहिये; उत्तराभासरूप तीन पक्षों का नाम "त्रिपक्षी" है।

तात्पर्य्य यह है कि जब "मध्यस्थ" तृतीयपक्ष के अनन्तर ही "पर्य्यनुयोज्योपेक्षण" नामक निग्रहस्थान का उद्भावन करे तो कथासमाप्त होने पर पुनः षट्पक्षी का अवकाश नहीं रहता, इस पर "वृत्तिकार" का कथन है कि उक्त निग्रहस्थान के उद्भावन

करने पर भी बुद्धि वैचित्र्य होने से पट्पक्षी की प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं, और दूसरों का कथन है कि यदि "मध्यस्थ" उक्त निग्रहस्थान को उद्भावन करे तो "त्रिपक्षी" के अन्त में और कथन न करे तो "पट्पक्षी" पर्य्यन्त ही कथा की समाप्ति होती है।

सं०—अब प्रतिषेधवादी का चतुर्थपक्ष कथन करते हैं:—

प्रतिषेधविप्रतिषेधेऽपि प्रतिषेध-दोषवद्दोषः । ४१ ।

पद०—प्रतिषेधविप्रतिषेधे । अपि । प्रतिषेधदोषवत् । दोषः ।

पदा०—(प्रतिषेधविप्रतिषेधे) प्रतिषेध का विप्रतिषेध करने पर (अपि) भी (प्रतिषेधदोषवत्) प्रतिषेधदोष की भांति (दोषः) दोष होता है।

भाष्य—तुल्यसामर्थ्यवाले दो पदार्थों के परस्पर विरोध का नाम "**विप्रतिषेध**" है, प्रकृत में द्वितीयपक्ष "प्रतिषेध" तथा तृतीयपक्ष "विप्रतिषेध" कहाता है, जैसे स्थापनावादी ने जो तृतीयकोटि में स्थित होकर प्रतिषेधनामक द्वितीयपक्ष का विप्रतिषेध किया है वैसेही उसके कथन किये हुए द्वितीयपक्ष में होने वाले दोष की भांति तृतीयपक्ष में भी समान दोष पाया जाता है, इसलिये स्थापनावादी का उक्त दोष ठीक नहीं अर्थात् प्रयत्न के विना न होसकने से शब्द अनित्य है यह प्रथमपक्ष,

प्रयत्न के विना प्राप्त न होने वाले भूमिस्थ जलादिकों की भांति शब्द भी प्रयत्न का कार्य्य न होने से सिद्धान्ती का उक्त हेतु व्यभिचारी किंवा असिद्ध है, इस प्रकार मिथ्या व्यभिचार अथवा असिद्ध दोष का उद्भावन करना द्वितीयपक्ष, इन दोनों पक्षों में उक्त रीति से व्यभिचारादि दोषों को समान कथन करना स्थापनावादी का तृतीयपक्ष और इसपर पुनः स्थापनावादी की भांति व्यभिचार किंवा अन्य दोषों को समानरूप से उद्भावन करना प्रतिषेधवादी का चतुर्थपक्ष है।

सं०-अब स्थापनावादी का पञ्चमपक्ष कथन करते हैं:—

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गोमतानुज्ञा।४२।

पदा०-प्रतिषेधं। सदोषं। अभ्युपेत्य। प्रतिषेधविप्रतिषेधे। समानः। दोषप्रसङ्गः। मतानुज्ञा।

पदा०-(प्रतिषेधं) द्वितीयपक्ष को (सदोषं) दोषवाला (अभ्युपेत्य) मानकर (प्रतिषेधविप्रतिषेधे) तृतीयपक्ष में (समानः, दोषप्रसङ्गः) समान दोष देने से प्रतिषेधवादी (मतानुज्ञा) मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान को प्राप्त होता है।

भाष्य-अपने पक्ष को दोषवाला मानकर दूसरे पक्ष में दोष देने का नाम "मतानुज्ञा" है, प्रतिषेधवादी ने द्वितीयपक्ष में दिये हुए दोष का उद्धार न करके जो प्रतिषेधविप्रतिषेध=द्वितीय-

पक्ष के खण्डनभूत तृतीयपक्ष में समानदोष की आपत्ति दी है उससे जातिवादी को "मतानुज्ञा" नामक निग्रहस्थान की प्राप्ति होती है अर्थात् स्थापनावादी=सिद्धान्ती के कथन किये हुए दोषों का समाधान न करने से स्पष्ट है कि उक्त दोष जातिवादी को स्वीकृत हैं इस प्रकार उक्त निग्रहस्थान की प्राप्ति होने के कारण प्रतिषेधवादी पराजित है ।

सं०—अब प्रतिषेधवादी का षष्ठपक्ष कथन करते हैं:—

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमात्समानो दोष इति । ४३ ।

पद०—स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे । हेतुनिर्देशे । परपक्षदोषाभ्युपगमात् । समानः । दोषः । इति ।

पदा०—(स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे, हेतुनिर्देशे) प्रथमपक्ष के खण्डनभूत द्वितीयपक्ष में दोषोद्धार के बिना ही स्वपक्षसिद्धि के लिये उसी हेतु का निर्देश करने पर (परपक्षदोषाभ्युपगमात्) प्रतिषेधवादी का दोष मानने से (समानः, दोषः इति) सिद्धान्ती के मत में भी दोषापत्ति समान है ।

भाष्य—"स्वपक्षो मूलसाधनवाद्युक्तः प्रयत्नकार्य्यानन्तरीयकत्वादनित्यः शब्द इति, तल्लक्षणस्तत्समुत्थानस्तद्विषयः प्रयत्नकार्य्यानेकत्वादिति प्रतिषेधः तमपेक्ष-

माणस्तमनुद्धृत्यानुज्ञाय प्रवृत्तः प्रतिषेधेऽपि समानो दोष इत्युपपद्यमानः परपक्षेऽनैकान्तिकत्वदोषोपसंहारस्तस्य हेतुनिर्देश इत्ययमनैकान्तिकः प्रतिषेध इति"=जिस प्रकार "प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्" इस प्रथम पक्ष के उद्देश से प्रवृत्त हुए "प्रयत्नकार्य्यानेकत्वात्" इस द्वितीयपक्ष में दोषोद्धार के बिना ही अनैकान्तिक दोष की आपत्ति देने के अनन्तर प्रतिषेध-वादी के चतुर्थपक्ष में स्थापनावादी ने पञ्चमपक्ष द्वारा "मतानुज्ञा" नामक निग्रहस्थान उद्भावन किया है इसी प्रकार स्थापनावादी के मत में भी उक्त निग्रहस्थान समान पाया जाता है, क्योंकि प्रतिषेध-वादी के द्वितीयपक्ष में दोषोद्धार के बिना ही तृतीयपक्ष में दोष देने के कारण स्थापनावादी ने भी प्रकारान्तर से प्रतिषेधवादी का पक्ष अङ्गीकार करलिया है, इस प्रकार षष्ठपक्ष में मतानुज्ञा के उद्भावन पर्य्यन्त "षट्पक्षी" की प्रवृत्ति होती है परन्तु उक्त कथा का कोई प्रयोजन सिद्ध न होने के कारण स्थापनावादी को उचित है कि वह जाति-वादी के प्रति दोषोद्धार के लिये यथार्थ उत्तर का प्रयोग करे उत्तरा-भास का नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि स्थापनावादी का प्रथम, तृतीय तथा पञ्चम और प्रतिषेधवादी का द्वितीय, चतुर्थ तथा षष्ठ पक्ष है परन्तु उक्त पक्ष परस्पर दोषयुक्त होने के कारण निर्णय के लिये समर्थ नहीं, क्योंकि चतुर्थ तथा षष्ठपक्ष में अर्थभेद न होने से पुनरुक्ति और सिद्धा-

न्ती के मत में समान दोषापत्ति तथा तृतीयपक्ष में प्रतिषेधवादी को समानदोषापत्तिपूर्वक पञ्चमपक्ष में मतानुज्ञा तथा षष्ठपक्ष में पञ्चमपक्ष के समान ही उक्त दोष की आपत्ति पाई जाती है, इसलिये निर्णयार्थी पुरुष कदापि षट्पक्षी का प्रयोग न करे, जैसाकि न्या० मं० में "जयन्तभट्ट" का कथन है कि :—

वाच्यमुत्तरमतो निरवद्यं जातिवादिनमपिप्रतितज्ज्ञः ।
कश्मलोत्तरगिरा नतुकार्य्यापक्षषट्कपरिकल्पनगोष्ठी ॥

अर्थ—न्यायशास्त्र में प्रवीण पुरुष जातिवादी के प्रति सदुत्तर का प्रयोग करे षट्पक्षी का नहीं, क्योंकि वह तत्वनिर्णय का प्रतिबन्धक होती है ।

इति न्यायार्य्यभाष्ये पञ्चमाध्याये-प्रथमान्हिकं समाप्तम्

ओ३म्

अथ न्यायार्य्यभाष्ये पञ्चमाध्याये द्वितीयान्हिकं प्रारभ्यते

सं०—प्रथमान्हिक में जातियों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया, अब निग्रहस्थानों का वर्णन करने के लिये द्वितीयान्हिक का प्रारम्भ करते हुए प्रथम उनका भेद कथन करते हैं:—

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासोहेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपोमतानुज्ञा पर्य्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि । १ ।

पद०—प्रतिज्ञाहानिः । प्रतिज्ञान्तरं । प्रतिज्ञाविरोधः । प्रतिज्ञासंन्यासः । हेत्वन्तरं । अर्थान्तरं । निरर्थकं । अविज्ञातार्थं । अपार्थकं ।

अप्राप्तकालं। न्यूनं। अधिकं। पुनरुक्तं। अननुभाषणं। अज्ञानं। अप्रतिभा। विक्षेपः। मतानुज्ञा। पर्य्यनुयोज्योपेक्षणं। निरनुयोज्यानुयोगः। अपसिद्धान्तः। हेत्वाभासाः। च। निग्रहस्थानानि।

पदा०—(प्रतिज्ञाहानिः) प्रतिज्ञाहानि (प्रतिज्ञान्तरं) प्रतिज्ञान्तर (प्रतिज्ञाविरोधः) प्रतिज्ञाविरोध (प्रतिज्ञासंन्यासः) प्रतिज्ञासंन्यास (हेत्वन्तरं) हेत्वन्तर (अर्थान्तरं) अर्थान्तर (निरर्थकं) निरर्थक (अविज्ञातार्थं) अविज्ञातार्थ (अपार्थकं) अपार्थक (अप्राप्तकालं) अप्राप्तकाल (न्यूनं) न्यून (अधिकं) अधिक (पुनरुक्तं) पुनरुक्त (अननुभाषणं) अननुभाषण (अज्ञानं) अज्ञान (अप्रतिभा) अप्रतिभा (विक्षेपः) विक्षेप (मतानुज्ञा) मतानुज्ञा (पर्य्यनुयोज्योपेक्षणं) पर्य्यनुयोज्योपेक्षण (निरनुयोज्यानुयोगः) निरनुयोज्यानुयोग (अपसिद्धान्तः) अपसिद्धान्त (च) और (हेत्वाभासाः) हेत्वाभास भेद से (निग्रहस्थानानि) बाईस निग्रहस्थान हैं।

भाष्य—"प्रतिज्ञाहानि" आदि भेद से निग्रहस्थान बाईस प्रकार के हैं जिनके लक्षण सूत्रकार आगे स्वयं कथन करेंगे, यहां विशेष वक्तव्य यह है कि अपस्मार=मृगी आदि रोगविशेष किंवा शीघ्रता से वाणी का रुकजाना आदि निग्रहस्थान नहीं होसक्ते, इस अर्थ के बोधनार्थ सूत्र में "च" शब्द आया है, और नव्यों का यह कथन है कि "च" शब्द से साधनवैकल्यादि=दृष्टान्त में साधन का न होना, इत्यादि सूत्रानुक्त निग्रहस्थानों का भी ग्रहण जानना चाहिये।

सं०—अब "प्रतिज्ञाहानि" का लक्षण कथन करते हैं:—

प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः । २ ।

पद०-प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा । स्वदृष्टान्ते । प्रतिज्ञाहानिः ।

पदा०-(स्वदृष्टान्ते) स्वदृष्टान्त में (प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा) प्रतिदृष्टान्तधर्म की अभ्यनुज्ञा का नाम (प्रतिज्ञाहानिः) प्रतिज्ञाहानि है ।

भाष्य-"प्रतिकूलोदृष्टान्तो यत्र स प्रतिदृष्टान्तः परपक्षः स्वः स्वीयोदृष्टान्तो यत्र सः स्वदृष्टान्तः स्वपक्ष इति"= स्वमत से विरुद्ध दृष्टान्तवाला होने के कारण प्रतिवादी के पक्ष का नाम "प्रतिदृष्टान्त" तथा स्वसिद्धान्त से अविरोधी दृष्टान्त वाला होने के कारण स्वपक्ष का नाम "स्वदृष्टान्त" और स्वीकार करने को "अभ्यनुज्ञा" कहते हैं,प्रकृत में प्रतिदृष्टान्त, परपक्ष तथा प्रतिपक्ष यह तीनों और स्वदृष्टान्त तथा यह स्वपक्ष यह दोनों पर्य्यायशब्द हैं "स्वपक्षे परपक्षधर्माभ्यनुज्ञा प्रतिज्ञाहानिः"=स्वपक्ष=स्वमत में प्रतिपक्षधर्म=प्रतिवादी के माने हुए सिद्धान्त की अभ्यनुज्ञा का नाम "प्रतिज्ञाहानि" है, या यों कहो कि "प्रतिज्ञातार्थपरित्यागः प्रतिज्ञाहानिः"=साध्यसिद्धि के लिये की हुई प्रतिज्ञा के परित्याग को "प्रतिज्ञाहानि" कहते हैं, जैसाकि जो कार्य्य है वह शरीरधारी कर्त्ता से जन्य होता है, इस नियमा-

नुसार जगत् कर्त्ता ईश्वर साकार है, इस पर सिद्धान्ती ने कहा कि कार्य्य तो ईश्वर का शरीर भी है फिर वह शरीरधारी कर्त्ता से जन्य क्यों नहीं ? इसके उत्तर में वादी का यह कथन कि ईश्वर का शरीर किसी साकार कर्त्ता से जन्य नहीं किन्तु उसका कर्त्ता निराकार ईश्वर स्वयं है, इस प्रकार सिद्धान्ती के पक्षगत निराकार कर्तृत्व को स्वीकार करना ही प्रकृत में " प्रतिज्ञाहानि " कहाती है। अथवा "**ब्रह्म मिथ्या अविद्यावदुत्पन्नज्ञानविषयत्वात् शुक्तिरजतवत्**"=शुक्तिरजत की भांति अविद्याविशिष्ट जीव में उत्पन्न होने वाले ज्ञान का विषय होने से ब्रह्म मिथ्या है, वादी के इस अनुमानाभास में सिद्धान्ती इसप्रकार जाति को उद्भावन करता है कि "**नेदं सदुत्तरं त्रैकालाबाध्ये ब्रह्मणि अविद्यमानस्य मिथ्यात्वस्यारोपणात् उत्कर्षसमा जातिरियम्**"=यह अनुमान सदुत्तर नहीं किन्तु त्रैकालाबाध्य=तीनो कालों में एकरस सद्रूप ब्रह्म में न रहने वाले मिथ्यात्व धर्म के आरोप से उत्कर्षसमा नामक जात्युत्तर है, इस जात्युत्तर का उद्धार न करसकने से जब वादी अपनी प्रथम प्रतिज्ञा को छोड़कर "**अस्तु ब्रह्म सत्यं**"=ब्रह्म सत्य रहो, इससे हमारी क्या हानि ? यह कथन करता है तब वादादि कथाओं में " प्रतिज्ञाहानि " नाम निग्रहस्थान की प्राप्ति से पराजित होता है, इत्यादि प्रकार से प्रतिज्ञाहानि के उद्भावन की रीति प्रकरणानुसार जाननी चाहिये, यहां ग्रन्थगौरवभय से दिक्प्रदर्शनमात्र किया है शेष प्रकारों को जिज्ञासु स्वयं अपनी प्रज्ञा से जानलें।

सं०-अब "प्रतिज्ञान्तर" का लक्षण कथन करते हैं :—

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्त-दर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् । ३ ।

पद०—प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे । धर्मविकल्पात् । तदर्थनिर्देशः । प्रतिज्ञान्तरम् ।

पदा०-(प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे) प्रतिज्ञात अर्थ का प्रतिषेध होने पर (धर्मविकल्पात्) अन्य विशेषण के निवेशद्वारा (तदर्थनिर्देशः) उसी अर्थ के निर्देश=कथन का नाम (प्रतिज्ञान्तरम्) प्रतिज्ञान्तर है ।

भाष्य-" परोक्तदोषोद्दिधीर्षया पूर्वानुक्तविशेषणविशिष्टतया प्रातिज्ञातार्थकथनं प्रतिज्ञान्तरम् "=प्रतिज्ञात अर्थ में वादी के कथन किये हुए दोषों के उद्धारार्थ अन्य विशेषण के निवेश का नाम " प्रतिज्ञान्तर " है, जैसाकि " क्षित्यंकुरादिकंगुणजन्यं कार्य्यत्वात् पटवत् "=पट की भांति कार्य्य होने से पृथिव्यादि निखिलब्रह्माण्ड ईश्वरीय ज्ञानेच्छादि गुणों से जन्य है, इस अनुमान के "गुणजन्यत्व" साध्य में कर्म से सृष्टि मानने वाले अनीश्वरवादी का यह आक्षेप कि अदृष्टरूप गुणों से जन्य होना तो पृथिव्यादिकों में प्रथम ही सिद्ध है, इसलिये उक्त अनुमान " सिद्धसाधन " दोषयुक्त होने के कारण प्रकृत साध्य का साधक नहीं, इस सिद्धसाधन दोष के निवारणार्थ पश्चात् "गुण" पद के साथ "सविषयक" विशेषण का निवेश करना अर्थात् पृथिव्यादि पदार्थ उपादान

कारण को विषय करनेवाले ज्ञानादि गुणों से जन्य हैं" इसप्रकार दूसरी प्रतिज्ञा का स्थापन करना ही "प्रतिज्ञान्तर" कहाता है।

सं०—अब "प्रतिज्ञाविरोध" का लक्षण कथन करते हैं:—

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ।४।

पद०—प्रतिज्ञाहेत्वोः। विरोधः। प्रतिज्ञाविरोधः।

पदा०—(प्रतिज्ञाहेत्वोः) प्रतिज्ञा तथा हेतु के (विरोधः) परस्पर विरोध का नाम (प्रतिज्ञाविरोधः) प्रतिज्ञाविरोध है।

भाष्य—"**स्वोक्तसाध्यविरुद्धहेतुकथनंप्रतिज्ञाविरोधः**"= स्वसाध्य से विरुद्ध हेतु के निवेश का नाम "**प्रतिज्ञाविरोध**" है, जैसाकि "**द्रव्यं गुणभिन्नं रूपादितः पृथक्त्वेनानुपलभ्यमानत्वात्**"=रूपादिकों से पृथक् प्रतीति का विषय न होने के कारण द्रव्य गुणों से भिन्न हैं,इस अनुमान में "गुणभिन्नत्व" साध्य तथा "रूपादितः०" इत्यादि हेतु वाक्य का अपने साध्य के साथ विरोध ही "प्रतिज्ञाविरोध" कहाता है अर्थात् जो गुणों से भिन्न हो उसकी प्रतीति रूपादिकों से पृथक् होती है अपृथक् नहीं और जो रूपादिकों से पृथक् प्रतीति का विषय नहीं वह कदापि गुणों से भिन्न नहीं होसक्ता जैसाकि रूपादिगुण गुणों से भिन्न नहीं क्योंकि "स्वस्मिन् स्वभेदाभावः"=अपने स्वरूप में अपना भेद नहीं रहता, इस प्रकार प्रतिज्ञाहेतु के परस्पर विरोध का नाम "प्रतिज्ञाविरोध" है इसका विशेष विचार पीछे विरुद्ध हेत्वाभास के भाष्य में कर आये हैं इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

स्मरण रहे कि यद्यपि काञ्चनमय पर्वत में वन्हिसिद्धि के समय "पक्षासिद्धि" काञ्चनमय वन्हि के साधनकाल में "साध्याप्रसिद्धिः" और काञ्चनमय धूम हेतु से वन्ह्यनुमान में "हेत्वप्रसिद्धि" दोष होते हैं और वहां "प्रतिज्ञाविरोध" नामक निग्रहस्थान भी पाया जाता है तथापि दोषवालों का सांकर्य्य=इकट्ठा होने पर भी दोषों का अभेद नहीं होता अर्थात् एक ही स्थल म कोई एक हेत्वाभास तथा कईएक निग्रहस्थानों के दोषों की प्राप्ति होने पर भी वह एक नहीं।

सं०—अब "प्रतिज्ञासंन्यास" का लक्षण कथन करते हैं :—

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः । ५ ।

पद०—पक्षप्रतिषेधे । प्रतिज्ञातार्थापनयनं । प्रतिज्ञासंन्यासः ।

पदा०—(पक्षप्रतिषेधे) पक्ष का प्रतिषेध=खण्डन होने पर (प्रतिज्ञातार्थापनयनं) प्रतिज्ञात अर्थ के त्याग का नाम (प्रतिज्ञासंन्यासः) प्रतिज्ञासंन्यास है ।

भाष्य—"**स्वोक्तेऽर्थे परेण दूषिते तदपलापः प्रतिज्ञासंन्यासः**"=प्रतिवादी द्वारा अपने अर्थ का खण्डन होजाने पर प्रतिज्ञा के अपलाप=त्याग का नाम "**प्रतिज्ञासंन्यास**" है, जैसा-कि "**शब्दः नित्यः शब्दत्वात्**"=शब्दत्व धर्म्मवाला होने से शब्द नित्य है, इस अनुमान में शब्दत्व हेतु पक्षमात्रवृत्ति होने के

कारण असाधारण हेत्वाभास है, इस रीति से हेत्वाभासद्वारा दोष देने पर यदि शब्दनित्यत्ववादी यह कथन करे कि "कएव माह शब्दः नित्यः"=शब्द के नित्य होने की प्रतिज्ञा किसने की है ? अर्थात् मैंने शब्द को नित्य कथन नहीं किया इसप्रकार अपनी प्रतिज्ञा को छोड़देना ही "प्रतिज्ञासंन्यास" कहाता है।

सं०—अब "हेत्वन्तर" का लक्षण कथन करते हैं:—

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्। ६।

पद०—अविशेषोक्ते। हेतौ। प्रतिषिद्धे। विशेषं। इच्छतः। हेत्वन्तरम्।

पदा०—(अविशेषोक्ते, हेतौ) विशेषण के विना कथन किये हुए हेतु का (प्रतिषिद्धे) प्रतिवादी द्वारा खण्डन होजाने पर उसी (विशेषं, इच्छतः) हेतु में विशेषणान्तर के निवेश का नाम (हेत्वन्तरम्) हेत्वन्तर है।

भाष्य—"परोक्तदूषणोद्दिधीर्षया पूर्वोक्तहेतुकोटौ विशेषणान्तरोपादानं हेत्वन्तरम्"=प्रतिपक्षी के दिये हुए दोषों का समाधान करने के लिये अपने हेतु में अन्य विशेषण का निवेश अथवा पूर्वोक्त हेतु के त्यागपूर्वक अन्य हेतु के प्रयोग का नाम "हेत्वन्तर" है, जैसाकि बाह्य इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने के कारण शब्द अनित्य है, इस अनुमान में शब्दनित्यत्व-वादी इस प्रकार व्यभिचार देता है कि बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होना

घटत्वादि जातियों में पाया जाता है परन्तु वह अनित्य नहीं, इसलिये "ऐन्द्रियकत्वात्" हेतु व्यभिचारी है, जब उक्त दोष के निवारणार्थ शब्दाऽनित्यत्ववादी हेतु के साथ "सामान्यवत्त्वेसति" इस विशेषण का निवेश करे किंवा "कार्य्यत्वात्" इस अन्य हेतु का प्रयोग करे तब "हेत्वन्तर" नामक निग्रहस्थान को प्राप्त होता है अर्थात् उक्त अनुमान वाक्य में व्यभिचार दोष की निवृत्ति के लिये "जाति वाला होकर प्रत्यक्ष का विषय होने से शब्द अनित्य है, अथवा कार्य्य होने से शब्द अनित्य है" इस प्रकार का कथन करना ही "हेत्वन्तर" कहाता है।

सं०—अब "अर्थान्तर" का लक्षण कथन करते हैं:—

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् । ७ ।

पद०—प्रकृतात् । अर्थात् । अप्रतिसम्बद्धार्थम् । अर्थान्तरम् ।

पदा०—(प्रकृतात्, अर्थात्) प्रकृत अर्थ को छोड़कर (असम्बद्धार्थम्) असम्बद्ध=अनुपयुक्त अर्थ के कथन का नाम (अर्थान्तरम्) अर्थान्तर है।

भाष्य—"**प्रकृतानुपयुक्तार्थकथनमर्थान्तरम्**"=प्रकृत अर्थ के अनुपयोगी अर्थ का नाम "**अर्थान्तर**" है या यों कहो कि प्रकृत=कार्य्यसिद्धि में जिस अर्थ का कोई उपयोग न हो उसको "अर्थान्तर" कहते हैं जैसाकि "क्रियावत्त्वात्" हेतु द्वारा जीवात्मा में विभुत्वाभावरूप साध्यसिद्धि का प्रकरण चलाने पर कोई वादी

यह कथन करे कि " हि " धातु के उत्तर " तुन् " प्रत्यय लगाने से " हेतु " पद की सिद्धि होती है, नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात भेद से पद चार प्रकार का है इत्यादि उत्तरोत्तर प्रकरण के असम्बद्ध अर्थ का कथन करना ही " अर्थान्तर " कहाता है।

सं०-अब " निरर्थक " का लक्षण कथन करते हैं:—

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् । ८ ।

पद०-वर्णक्रमनिर्देशवत् । निरर्थकम् ।

पदा०-(वर्णक्रमनिर्देशवत्) अक्षरों के क्रमनिर्देश की भांति अर्थशून्य शब्दों के प्रयोग का नाम (निरर्थकम्) निरर्थक है।

भाष्य-"अवाचकशब्दप्रयोगो निरर्थकम्"=जो शब्द किसी अर्थ का वाचक न हो उसका नाम "अवाचक" और अवाचक शब्द के प्रयोग का नाम "निरर्थक" है अर्थात् शक्ति किंवा लक्षणाद्वारा अर्थबोध में असमर्थ शब्दों के प्रयोग को "निरर्थक" कहते हैं जैसाकि "ज, ब, ग, ड, द, श होने से शब्द नित्य है" इस वाक्य में " निरर्थक " निग्रहस्थान पाया जाता है, क्योंकि प्रकृत में ज, ब, आदि अक्षर किसी प्रकरणानुसारी अर्थ के वाचक नहीं।

सं०-अब "अविज्ञातार्थ" का लक्षण कथन करते हैं:—

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञात-मविज्ञातार्थम् । ९ ।

पद०—परिषत्प्रतिवादिभ्यां । त्रिः । अभिहितं । अपि । अविज्ञातार्थम् ।

पदा०—(त्रिः, अभिहितम्) तीन वार कथन करने पर (अपि) भी जिसको (परिषत्प्रतिवादिभ्याम्) मध्यस्थ अथवा प्रतिवादी (अविज्ञातं) न जान सकें, ऐसे वाक्य प्रयोग का नाम (अविज्ञातार्थम्) अविज्ञातार्थ है।

भाष्य—"परिषत्प्रतिवाद्यबोधप्रयोजकपदप्रयोगोऽविज्ञातार्थम्"=अतिशीघ्रता आदि दोषों से तीनवार कथन करने पर भी मध्यस्थ आदि की वुद्धि में न आने वाले पदों के प्रयोग का नाम "अविज्ञातार्थ" है "अन्य पुरुषों की वुद्धि में न आसकने से मेरा विजय होगा" इस भाव से कई एक वादी क्लिष्टार्थक पदों का प्रयोग करते हैं परन्तु उक्त प्रयोग "अविज्ञातार्थ" निग्रहस्थान होने से वादी के ही पराजय का हेतु है प्रतिवादी का नहीं, इसलिये उक्त निग्रहस्थान के भय से सभासदों की वुद्धि में आने वाले पदों का प्रयोग करना चाहिये ।

स्मरण रहे कि जैसे "अविज्ञातार्थ" में शक्तिवृत्ति द्वारा पदों का प्रयोग किया जाता है वैसे "निरर्थक" तथा "अपार्थक" में नहीं, अतएव इनका परस्पर भेद मानना ही समीचीन है ।

सं०—अत्र "अपार्थक" का लक्षण कथन करते हैं:—

पौर्वापर्य्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् । १० ।

पद०—पौर्वापर्य्यायोगात् । अप्रतिसम्बद्धार्थं । अपार्थकम् ।

पदा०—(पौर्वापर्य्यायोगात्) पूर्वापर सम्बन्ध न होने से (अप्रतिसम्बद्धार्थं) असङ्गत अर्थ के कथन का नाम (अपार्थकं) अपार्थक है ।

भाष्य—"परस्परानन्वितार्थपदसमूहोऽपार्थकम्"= योग्यता, आकांक्षा आदि शाब्दबोध के कारणों से रहित पदों के प्रयोग का नाम "अपार्थक" है, या यों कहो कि परस्पर सम्बन्ध-शून्य पदों के प्रयोग को "अपार्थक" कहते हैं जैसाकि "दश दाडिमानि षट् पुष्पानि कुण्डमजाजिनं पितापुत्रोऽश्वो-गर्धभ इत्यादि" दश अनार, छः पुष्प, कुण्ड, अजा=बकरी, चर्म, पिता, पुत्र, अश्व, गधा इत्यादि असम्बद्ध पदों का प्रयोग ही "अपार्थक" कहाता है, यद्यपि उक्त पदों का अवान्तर वाक्यार्थ-बोध होने से अव्याप्ति तथा अर्थशून्य पदों का प्रयोग होने के कारण "निरर्थक" निग्रहस्थान में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होती है तथापि वाञ्छित वाक्यार्थबोध के अनुकूल आकांक्षा योग्यतादि से रहित पदों का उच्चारण करना ही "अपार्थक" कहाता है, इस प्रकार विलक्षणता पायेजाने के कारण कोई दोष नहीं, और "अविज्ञातार्थ" में मध्यस्थ तथा प्रतिवादी को बोध न होने पर भी वादी को वाक्यार्थबोध होने से उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होसक्ती, इसलिये उक्त लक्षण सर्वथा निर्दोष है ।

सं०—अब "अप्राप्तकाल" का लक्षण कथन करते हैं:—

अवयवविपर्य्यासवचनमप्राप्तकालम् । ११ ।

पद०—अवयवविपर्य्यासवचनं । अप्राप्तकालम् ।

पदा०—(अवयवविपर्य्यासवचनं) प्रतिज्ञादि पांच अवयवों का सूत्रोक्त क्रम त्यागकर विपरीत क्रम से कथन करने का नाम (अप्राप्तकालम्) अप्राप्तकाल है ।

भाष्य—कथाविपर्य्यास=संकेत से माने हुए प्रतिज्ञादि अवयवों के क्रमको त्यागकर तद्विरुद्ध क्रमसे वाक्यप्रयोग का नाम "अप्राप्त-काल" है, या यों कहो कि अन्य अवयव के अवसर में अन्य अवयव का कथन करना ही "अप्राप्तकाल" कहाता है, इसका विशेषविचार प्रथमाध्याय में कर आये हैं, इसलिये यहां पुनरुल्लेख की अवश्यकता नहीं ।

सं०—अब " न्यून " का लक्षण कथन करते हैं :—

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् । १२ ।

पद०—हीनं । अन्यतमेन । अपि । अवयवेन । न्यूनम् ।

पदा०—(अन्यतमेन) प्रतिज्ञा आदि अवयवों में से (अवयवेन, हीनं, अपि) किसी एक अवयव से रहित वाक्यप्रयोग का नाम (न्यूनम्) न्यून है ।

भाष्य—" किञ्चिदवयवशून्यावयवाभिधानं न्यूनम् "= स्वप्रक्रियानुसार अभिमत अवयवों में से किसी एक अवयव को छोड़कर न्यायवाक्य के प्रयोग का नाम " न्यून " है ।

सं०—अब " अधिक " का लक्षण कथन करते हैं :—

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् । १३ ।

पद०—हेतूदाहरणाधिकम् । अधिकम् ।

पदा०—(हेतूदाहरणाधिकं) हेतु किंवा उदाहरण के अधिक प्रयोग का नाम (अधिकम्) अधिक है ।

भाष्य—"**अधिकहेत्वादिकथनमधिकम्**"=एक हेतु तथा एकदृष्टान्त द्वारा साध्यसिद्धि के होने पर भी हेतु आदि के अधिक प्रयोग का नाम "**अधिक**" है, जैसाकि महानस की भांति तथा भट्ठीस्थान के समान धूम तथा आलोक हेतु के पाये जाने से पर्वत वन्हिवाला है, इस स्थल में दृष्टान्त आदि का अधिक प्रयोग करना ही "अधिक" निग्रहस्थान कहाता है ।

सं०—अब "पुनरुक्त" का लक्षण कथन करते हैं :—

शब्दार्थयोः पुनर्वचनंपुनरुक्तमन्य-त्रानुवादात् । १४ ।

पद०—शब्दार्थयोः।पुनः।वचनं। पुनरुक्तं।अन्यत्र।अनुवादात् ।

पदा०—(अन्यत्र, अनुवादात्) अनुवाद के विना (शब्दार्थयोः) शब्द तथा अर्थ का (पुनः, वचनं) पुनः कथन करने का नाम (पुनरुक्तं) "**पुनरुक्त**" है ।

भाष्य—"शब्दपुनरुक्त" तथा "अर्थपुनरुक्त" भेद से पुनरुक्त का उदाहरणसहित पीछे वर्णन कियागया है, इसलिये यहां विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं ।

सं०—अब अनुवाद में उक्त दोष का अभाव कथन करते हैं :—

अनुवादेत्वपुनरुक्तमर्थविशेषोपपत्तेः । १५ ।

पद०—अनुवादे । तु । अपुनरुक्तं । अर्थविशेषोपपत्तेः ।

पदा०—(तु) निश्चय करके (अर्थविशेषोपपत्तेः) अर्थविशेष के पाये जाने से (अनुवादे) अनुवाद में (अपुनरुक्तम्) पुनरुक्त निग्रहस्थान नहीं होता ।

भाष्य—जहां किसी तात्पर्य विशेष से अर्थविशेष की उपलब्धि हो वहां उक्त निग्रहस्थान का अभाव जानना चाहिये, इसका विशेष विचार शब्दप्रामाण्य परीक्षा प्रकरण में वर्णन किये जाने से यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं ।

सं०—अब सूत्रकार " अर्थपुनरुक्त " का स्वयं लक्षण कथन करते हैं :—

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् । १६ ।

पद०—अर्थात् । आपन्नस्य । स्वशब्देन । पुनः । वचनम् ।

पदा०—(अर्थात्, आपन्नस्य) अर्थसिद्ध पदार्थ का (स्वशब्देन) शब्द द्वारा (पुनः, वचनम्) पुनः कथन करने का नाम अर्थ-पुनरुक्त है ।

भाष्य—किसी एक शब्द द्वारा अर्थ के सिद्ध होने पर भी पुनः उसी अर्थ को शब्दान्तर से कथन करने का नाम **"अर्थपुनरुक्त"** है जैसाकि " **वन्हिरस्तिगेहेनास्तीति** "=बाहर है घर में नहीं, " बाहर है " इस कथन से ही घर में न होना सिद्ध होगया था इस-लिये पुनः " घर में नहीं " यह कथन अर्थपुनरुक्त कहाता है ।

सं०—अब " अननुभाषण " का लक्षण कथन करते हैं :—

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यनु-च्चारणमननुभाषणम् । १७ ।

पद०—विज्ञातस्य । परिषदा । त्रिः । अभिहितस्य । अपि । अनुच्चारणम् । अननुभाषणम् ।

पदा०—(परिषदा) परिषद् के (विज्ञातस्य) जानने पर तथा (त्रिः) वादी के तीनवार (अभिहितस्य) कथन करने पर (अपि) भी (अननुभाषणम्) अनुवाद न करने का नाम अननुभाषण है ।

भाष्य—" **परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यननुवादः अननुभाषणम्** "=मध्यस्थ तथा वादी के तीनवार कथन करने पर भी अनुवाद न करने का नाम " **अननुभाषण** " है, उक्त लक्षण से यह भी पायाजाता है कि जब कोई अर्थ प्रतिवादी की बुद्धि में न आवे तो मध्यस्थ किंवा वादी उसको तीन वार कथन करें ।

सं०—अब " अज्ञान " का लक्षण कथन करते हैं :—

अविज्ञातञ्चाज्ञानम् । १८ ।

पद०—अविज्ञातम् । च । अज्ञानम् ।

पदा०—(च) परिषद्=मध्यस्थ के जानने पर तथा वादी के तीनवार दृढ़ निश्चय कराने पर भी (अविज्ञातं) न जानने का नाम (अज्ञानम्) अज्ञान है ।

सं०—अब " अप्रतिभा " का लक्षण कथन करते हैं :—

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा । १९ ।

पद०—उत्तरस्य । अप्रतिपत्तिः । अप्रतिभा ।

पदा०-(उत्तरस्य) उत्तर की (अप्रतिपत्तिः) स्फूर्त्ति न होने का नाम (अप्रतिभा) अप्रतिभा है।

भाष्य-" उत्तरार्हपरोक्तं बुद्ध्वापि उत्तरस्यास्फूर्त्तिरप्रतिभा "=प्रतिवादी के प्रश्नवाक्य को उत्तर देने योग्य समझ कर भी उत्तर की स्फूर्त्ति न होने से तूष्णींभाव का नाम " अप्रतिभा " है।

सं०-" अब " विक्षेप " का लक्षण कथन करते हैं :—

कार्य्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदो विक्षेपः।२०

पद०-कार्य्यव्यासङ्गात्। कथाविच्छेदः। विक्षेपः।

पदा०-(कार्य्यव्यासङ्गात्) प्रकृत कथारूप कर्त्तव्य को छोड़कर किसी अन्य आवश्यक कार्य्य के वहाने से (कथाविच्छेदः) कथा में विच्छेद्=व्यवधान करने का नाम (विक्षेपः) विक्षेप है।

भाष्य-" कार्य्यव्यासङ्गमुद्भाव्य कथाविच्छेदो विक्षेपः "=कार्य्य के वहाने से वादादि कथा के परित्याग का नाम " विक्षेप " है।

स्मरण रहे कि राजपुरुषों से बुलाया जाना, आवश्यक सत्य कार्य्य के लिये घर जाना, और वस्तुतः शिर आदि अंगों में पीड़ा का होना इत्यादि कारणों से कथा परित्याग करने पर भी " विक्षेप " निग्रहस्थान नहीं होता, यहां कई एक लोग यह आशंका करते हैं कि " कार्य्यव्यासङ्ग "=कार्य्य का वहाना सभा के भय से किंवा उत्तर के न बन सकने से होता है ? यदि प्रथमपक्ष मानाजाय तो " अन-

नुभाषण " नामक निग्रहस्थान की आपत्ति होगी और दूसरे पक्ष में " अप्रतिभा " द्वारा निर्वाह होने के कारण " विक्षेप " का मानना सर्वथा निरर्थक है ? इसका उत्तर यह है कि उत्तरस्फूर्त्ति होने पर भी दोषान्तर के भय से कार्य का वहाना करने पर ही " विक्षेप " की प्राप्ति होती है, इसलिये कोई दोष नहीं आता जैसा-कि घटादि की भांति कार्य होने से पृथिव्यादि कर्त्ता से जन्य हैं, सिद्धान्ती के इस अनुमान में अंकुरादिविषयक व्यभिचार के स्फुरण होने पर भी जव नास्तिक यह विचार करे कि यदि उक्त अनुमान में व्यभिचार कथन करूंगा तो आस्तिक अंकुरादि पदार्थों को भी " पक्ष " के अन्तर्गत मान लेगा फिर उत्तर क्या होसक्ता है ? हां इसका उत्तर मेरे ग्रन्थों में स्पष्ट तो किया है तथापि इस समय मेरी स्मृति से वाहिर होने के कारण किसी कार्य के व्याज से घर जाकर देखता हूं, इसप्रकार की भावना से आवश्यक कार्य्य के वहाने से कथाविच्छेद का नाम " विक्षेप " है ।

सं०-अव " मतानुज्ञा " का लक्षण कथन करते हैं :-

स्वपक्षदोषाभ्युपगमात्परपक्षदोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा । २१ ।

पद०-स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् । परपक्षदोषप्रसङ्गः। मतानुज्ञा ।

पदा०-(स्वपक्षदोषाभ्युपगमात्) स्वपक्ष में दोषोद्धार के विना ही (परपक्षदोषप्रसङ्गः) दूसरे के पक्ष में दोष देने का नाम (मतानुज्ञा " मतानुज्ञा " है ।

भाष्य-" मतानुज्ञा " का विशेष विचार जातियों के प्रसङ्ग में किये जाने से यहां विशेष व्याख्यान की आवश्यकता नहीं ।

सं०-अब "पर्य्यनुयोज्योपेक्षण" का लक्षण कथन करते हैंः--

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्य्यनुयोज्योपेक्षणम् । २२ ।

पद०-निग्रहस्थानप्राप्तस्य । अनिग्रहः । पर्य्यनुयोज्योपेक्षणम् ।

पदा०-निग्रहस्थानप्राप्तस्य) निग्रहस्थान में प्राप्त हुए प्रति वादी के (अनिग्रहः) दोषोद्भावन को न करने का नाम (पर्य्यनुयोज्योपेक्षणं) पर्य्यनुयोज्योपेक्षण है ।

भाष्य-"उद्भावनार्हपरकीयनिग्रहस्थानानुद्भावनंपर्य्यनुयोज्योपेक्षणम् "=कथन करने योग्य निग्रहस्थान को प्रकट न करने का नाम " पर्य्यनुयोज्योपेक्षण " है ।

स्मरण रहे कि अनेक निग्रहस्थानों की प्राप्ति में किसी एक निग्रहस्थान के उद्भावन करने पर उक्त निग्रहस्थान की प्राप्ति नहीं होती और " पर्य्यनुयोज्योपेक्षण " का उद्भावन करना मध्यस्थ का काम है वादी का नहीं, क्योंकि वादी लज्जित होने के कारण स्वयं अपने आपको निगृहीत कथन करने में असमर्थ होता है परन्तु गुरु शिष्यादि की वादकथा में उक्त निग्रहस्थान के स्वयं उद्भावन करने में कोई दोष नहीं ।

सं०-अब "निरनुयोज्यानुयोग" का लक्षण कथन करते हैंः--

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः । २३ ।

पद०—अनिग्रहस्थाने । निग्रहस्थानाभियोगः । निरनुयोज्यानुयोगः ।

पदा०—(अनिग्रहस्थाने) निग्रहस्थान के विना ही (निग्रहस्थानाभियोगः) निग्रहस्थान को उद्भावन करने का नाम (निरनुयोज्यानुयोगः) "निरनुयोज्यानुयोग" है।

सं०—अब "अपसिद्धान्त" का लक्षण कथन करते हैं:—

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः । २४ ।

पद०—सिद्धान्तं । अभ्युपेत्य । अनियमात् । कथाप्रसङ्गः । अपसिद्धान्तः ।

पदा०—(सिद्धान्तं, अभ्युपेत्य) स्वाभिमत शास्त्र के माने हुए पदार्थों का स्वीकार करके (अनियमात्) अनियम=स्वशास्त्रविरुद्ध (कथाप्रसङ्गः) कथाप्रसङ्ग का नाम (अपसिद्धान्तः) "अपसिद्धान्त" है।

भाष्य—"एकसिद्धान्तमाश्रित्य कथाप्रवृत्तौ तद्विरुद्धसिद्धान्तमालम्ब्योत्तरदानमपसिद्धान्तः"=किसी एक सिद्धान्त को मानकर उसके विरुद्ध सिद्धान्त का अवलम्बन करके उत्तर देने का नाम "अपसिद्धान्त" है, जैसाकि किसी वादी

ने कहा कि मैं सत्कार्य्यवाद के सिद्धान्तानुसार कार्य्यकारणभाव का विवेचन करूंगा, इस प्रतिज्ञा के उत्तर काल में कथा का आरम्भ होने पर जब प्रतिवादी ने कार्य्यसम्बन्धी आविर्भाव के आविर्भाव से सत्कार्य्यवाद के सिद्धान्त में अनवस्था दोष की आपत्ति दी और उसका उद्धार करने के लिये यदि सत्कार्य्यवादी असत् मानकर आविर्भाव की उत्पत्ति मानले तो "अपसिद्धान्त" नामक निग्रहस्थान होता है, क्योंकि असत्पदार्थ के मानने से ही सत्कार्य्यवादी के स्वसिद्धान्त का परित्याग होजाता है परन्तु ऐसे स्थलों पर वैदिकसिद्धान्ताभिमत सत्कार्यवाद के अनुसार समाधान करने से उक्त निग्रहस्थान की प्राप्ति नहीं होती, उक्त समाधान की रीति "सत्कार्य्यवाद" तथा असत्कार्य्यवाद की परिभाषा जानने से स्फुट होजाती है, जिज्ञासु लोग "वैशेपिकार्य्यभाष्य" तथा पीछे चतुर्थध्याय के उपादानकारणवाद में उक्त स्थल का अव-लोकन करें।

स्मरण रहे कि "प्रतिज्ञाहानि" में सिकी एक पदार्थ को स्वयं विशेष रूप से कथन करके प्रतिज्ञात अर्थ से विरुद्ध अर्थ माना जाता है और अपसिद्धान्त में स्वयं विशेषरूप से पदार्थ का कथन नहीं किया जाता किन्तु स्वाभिमत शास्त्र के विरुद्ध सिद्धान्त का स्वीकार होता है,इसलिये उक्त दोनों का परस्पर भेद है अभेद नहीं।

सं०-अब क्रमप्राप्त हेत्वाभासरूप निग्रहस्थान का लक्षण न करने में हेतु कथन करते हैं:—

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः । २५ ।

पद०-हेत्वाभासाः । च । यथोक्ताः ।

पदा०-(च) और (हेत्वाभासाः, यथोक्ताः) हेत्वाभासों का जैसे पीछे लक्षण किया गया है उनका वैसा प्रयोग करना ही 'हेत्वाभास' नामक निग्रहस्थान कहाता है ।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे न्यायार्य्यभाष्ये पञ्चमाध्याये द्वितीयान्हिकं ।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः